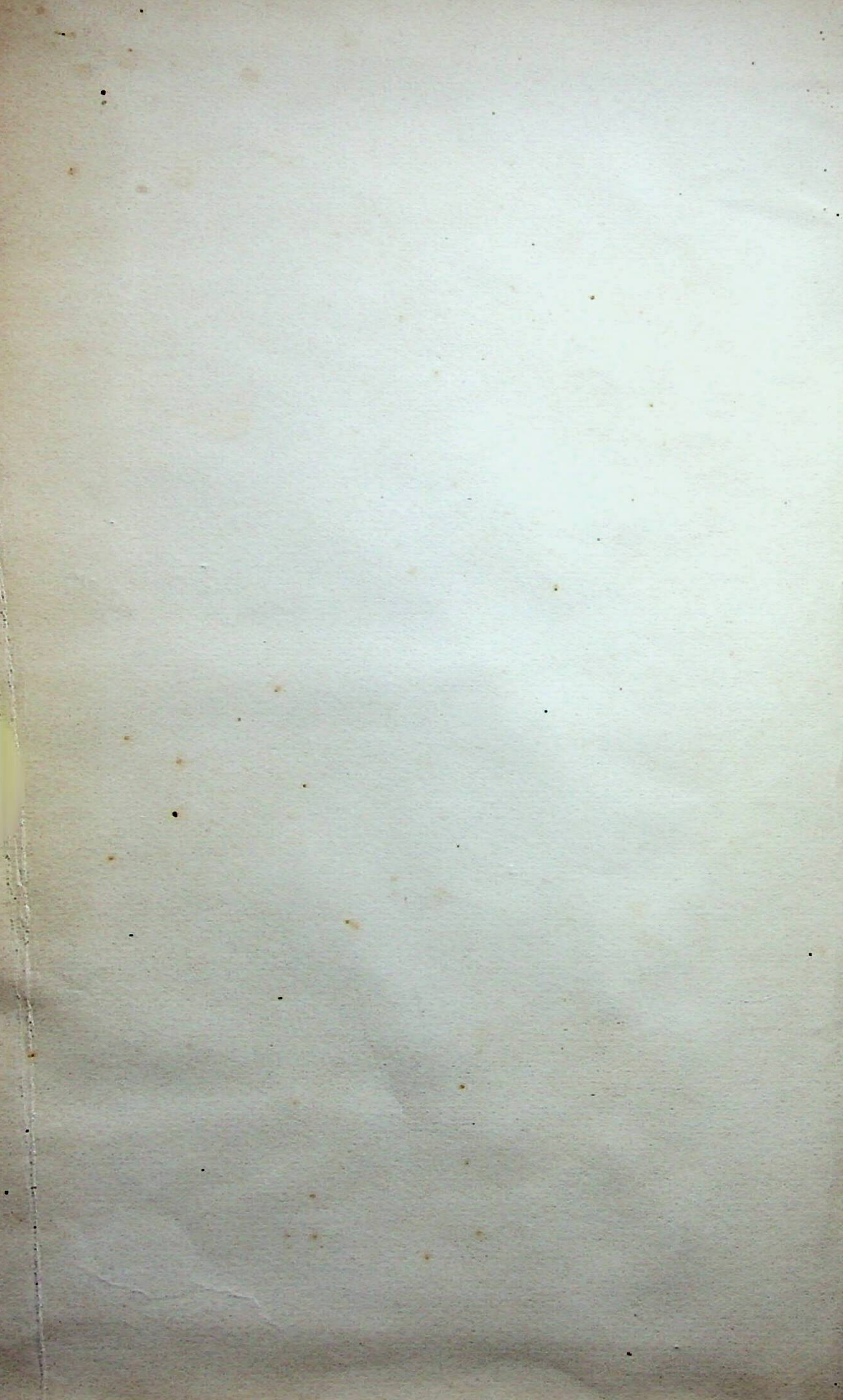


हिन्दी

भक्तिरसामृतसिन्धु

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली



हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु

हिन्दी

भक्तिरसामृतसिन्धु

[श्री रूपगोस्वामिविरचित मूल ग्रन्थ, हिन्दी-अनुवाद
तथा 'दीपिका' हिन्दी-व्याख्या सहित]

प्रधान सम्पादक
डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

अनुवादक तथा व्याख्याकार
स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक :
हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मूल्य : [illegible] रुपये
१०/००

संस्करण : प्रथम, १९६३

मुद्रक :
नवीन प्रेस, दिल्ली

हमारी योजना

'हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्-ग्रन्थमाला का ३१वाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर, सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिनपर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे ऐसे हैं जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्वन्ध है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी रूपान्तर), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, (७) होरेस कृत 'काव्यकला' (८) हिन्दी अभिनव भारती, (९) हिन्दी नाट्यदर्पण, (१०) सौन्दर्य-तत्व और काव्य-सिद्धान्त।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफी मत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम : कवि और आचार्य, (११) आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त, (१२) व्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति, (१३) प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास, (१४) हिन्दी में नीति-काव्य का विकास, (१५) आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, (१६) आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ, (१७) गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-काव्य।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है :

(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध, (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम वर्ग का ११ वाँ प्रकाशन है। श्री रूपगोस्वामी मधुर भाव को भक्तिरस के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले मूर्धन्य आचार्य हैं और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' उनकी साहित्यिक तथा धार्मिक प्रतिभा की प्रौढ़तम अभिव्यक्ति है। काव्य-शास्त्र में भक्ति

को रस-रूप में स्वीकृत नहीं किया गया था, किन्तु रूपगोस्वामी ने काव्यशास्त्रीय रसों का भक्ति में पर्यवसान कर ईश्वर-भक्तों के लिए ही नहीं वरन् सहृदय साहित्य-मर्मज्ञों के लिए भी भक्तिरस का सर्वथा नूतन पथ प्रशस्त कर दिया। हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य पर 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का परोक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अतः साहित्य के अनुसन्धान तथा अनुशीलन में इस ग्रन्थ की उपयोगिता असन्दिग्ध है, और इसका हिन्दी-भाष्य प्रस्तुत करने में हम सुख एवं सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं। हिन्दी-भाष्य का अधिकांश संस्कृत वाङ्मय के उद्भट विद्वान् (अब स्वर्गीय) आचार्य विश्वेश्वर द्वारा लिखा हुआ है। उत्तर विभाग की अष्टमी लहरी के आधे भाग का भाष्य लिखने के बाद श्री आचार्यजी अस्वस्थ हो गए। केवल अष्टमी लहरी का अर्द्धांश तथा नवमी लहरी का भाष्य शेष था। आचार्य जी अपनी रुग्णावस्था में भी पुस्तक के मुद्रण, प्रूफ़-संशोधन आदि में निरन्तर रुचि ले रहे थे, किन्तु चिकित्सकों के कठोर आदेश को मानकर उन्हें लिखना-पढ़ना बन्द कर देना पड़ा। हमें आशा थी कि स्वस्थ होते ही वे ग्रन्थ का शेष भाष्य भी पूरा कर देंगे, किन्तु दुर्भाग्य से इस लम्बी बीमारी में ही उनका ३० जुलाई, १९६२ को देहावसान हो गया। अतः साहित्याचार्य श्री पंडित वंशीधर शास्त्री ने हमारे अनुरोध पर अवशिष्ट भाग का भाष्य लिखने की कृपा की। हम उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने आर्थिक सहायता देकर हमें उपकृत किया है तथा सम्पादक-मण्डल के सदस्यों से हमें समय-समय पर अभीष्ट परामर्श एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है; इन सबके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

—नगेन्द्र
प्रधान सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु

पूर्व विभाग (पृष्ठ १—११०)

पश्चिम विभाग (पृष्ठ ३१७—४२०)

भूमिका

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

माधुर्य भक्ति का मूल :

मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्यभक्ति का मूल उत्स अद्यावधि निर्विवाद रूपसे स्थिर नहीं किया जा सका है। जिस प्रकार भक्तिके विविध स्रोत माने जाते हैं उसी प्रकार माधुर्यभावपूर्ण भक्तिके मूल स्रोतका संधान भी अनेक ग्रन्थों, पद्धतियों एवं मतोंमें किया जाता है। दाम्पत्य-प्रेम-वर्णनको माधुर्यभावका मूल उत्स माननेवाले विद्वान् वेद-संहिताओंमें भी माधुर्यभावका बीज खोज निकालनेका प्रयास करें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। किन्तु माधुर्यभक्तिका संपूर्ण ढाँचा खड़ा करते समय हमें वेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंसे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं होती, फलतः हमें अपने अन्वेषणकी सीमाको मर्यादित करना पड़ता है। ऋग्वेद या बृहदारण्यक उपनिषद्में 'मधुविद्या' और अथर्ववेदमें 'मधुलता' का वर्णन देखकर 'माधुर्यभाव' की ओर दौड़ पड़ना शोधकी तात्विक सरणिका अनुगमन नहीं माना जा सकता। 'मधुविद्या' और 'मधुलता' का प्रतिपाद्य 'मधुरोपासना'से भिन्न कोटिका है। अतः केवल 'मधु' शब्दकी समतासे माधुर्यभावकी स्थापना करनेका प्रयत्न श्लाघ्य नहीं है। वेद में ईश्वरके साथ मानवात्माके विविध सम्बन्धोंका वर्णन है और उनमें माधुर्य (प्रेम) की कल्पना विद्यमान है, किन्तु वे वर्णन माधुर्य भक्तिसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। अथर्ववेद का मन्त्र है—

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहं।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तान उपह्वये ॥

इसमें मनुष्यके प्रेम-सम्बन्धोंका स्पष्ट संकेत मिलता है। सृष्टि विद्याके प्रसंगमें वर्णित 'कामभाव'को भी माधुर्यभावका जनक नहीं माना जा सकता। लिंगोपासनाके भीतर माधुर्य के बीज खोजना भी दूरकी कौड़ी लानेके समान है। अतः इन सब अनुसन्धानोंको हम तात्विक दृष्टिसे ग्राह्य नहीं समझते।

मध्यकालीन भारतीय उपासनामें उपलब्ध प्रेम या अनुराग तत्त्वके सम्बन्धमें कतिपय मनीषी ईसाई विद्वानोंका विचार है कि यह भाव ईसाई सन्तोंकी परम्परासे भारतीय उपासनामें आया है। 'ईसाइयोंका आध्यात्मिक विवाह' (स्पिरिच्युल मैरिज) को माधुर्यकी प्रेरक भावना सिद्ध करनेका प्रयत्न अनेक पुस्तकोंमें दृष्टिगत होता है। रिचार्ड आव सेण्ट विक्टर ने बारहवीं शतीमें प्रेम-पथका वर्णन बड़ी मार्मिक शैलीसे प्रस्तुत किया था। सेण्ट बर्नार्ड प्रेमपूर्ण भक्ति-पद्धतिको स्वीकार करनेवाले सन्त थे। उन्होंने ईसाको पिता न मानकर दूलह के रूपमें चित्रित किया है। सेण्ट टेरेसाने आध्यात्मिक विवाहके प्रसंगमें अपनेको परमात्माकी

दुलहिन कहा है। परमात्माके आलिंगनसे जीवात्मा उसमें लीन हो जाती है। इन वर्णनोंको पढ़कर सन्त कबीरकी वाणीका स्मरण हो जाता है। ईसाइयोंके रहस्यभावनामूलक वर्णनों को पढ़कर उसे भारतीय माधुर्यभक्तिका प्रेरक स्वीकार करना अनुसन्धानकी अवहेलना करना होगा। ईसा मसीहके जन्म-कालसे भी पहले जिस भक्तिके तत्त्व हमें भारतीय साधना में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं उनकी उपेक्षा करना युक्तियुक्त नहीं।

माधुर्यभावका क्रमिक विकास या माधुर्यभक्तिका सांगोपांग इतिवृत्त प्रस्तुत करना हमारा यहाँ उद्देश्य नहीं, हम मध्यकालीन माधुर्यभावके सन्दर्भमें उन सूत्रोंकी ओर केवल संकेत करना चाहते हैं जिनके द्वारा माधुर्यभावका ताना-बाना मध्ययुगमें खड़ा किया गया था।

मध्ययुगको सांस्कृतिक दृष्टिसे ह्रासका युग स्वीकार करने पर भी भक्तिसाधना और साहित्यकी दृष्टिसे उसे उत्कर्ष और अभ्युदयका युग माना जाता है। इस युगमें देशके प्रायः सभी भागोंमें बड़े-बड़े तत्वज्ञानी, दार्शनिक, मननशील गम्भीर विचारक, उच्च कोटिके साधक और वीतराग भगवद्भक्त पैदा हुए। विद्वान् पण्डितों और शास्त्रवेत्ताओंसे लेकर निरक्षर साधु-सन्तों तकने भगवद्भक्तिके सम्बन्धमें अपने शास्त्रसम्मत अथवा स्वानुभूति-निर्भर स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये। योग, तन्त्र, साधना, कर्मकाण्ड आदिके साथ सगुणो-पासनाके लिए पूजन, अर्चन, प्रपत्ति और दैन्य-कार्पण्य आदिका मार्ग ग्रहण किया गया। सगुणोपासनासे पूर्व वैदिक, तान्त्रिक, श्रौत, और मिश्र चार प्रकारकी उपासना पद्धतियाँ प्रचलित थीं, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। वृहद्हारीत स्मृतिमें श्रौत, स्मार्त और आगम तीन प्रकारकी उपासना पद्धतियोंका उल्लेख है। इन विविध उपासनाओंके भीतरसे ही सगुणोपासनाका प्रादुर्भाव हुआ। किसी बाह्य प्रभावसे सगुण या समूर्त्तको स्वीकार नहीं किया गया। आराधनाकी प्रक्रिया या प्रकार पर संहिताओंमें विस्तारसे विचार किया गया है। अभिसंहिताके अनुसार आराधनाकी दो प्रक्रियाएँ हैं—अमूर्त्त और समूर्त्त। अग्निमें आहुति के माध्यमसे उपासना अमूर्त्त आराधना है। यह ब्राह्मणकालके यज्ञ-हवनका ही रूप है। प्रतिमा-पूजन समूर्त्त आराधना कही जाती है जो यज्ञकालके बाद प्रचलित हुई। कदाचित् अमूर्त्त आराधनाको याज्ञिक रूपमें स्वीकार करनेके कारण ही यज्ञोंसे मूर्त्तिपूजाका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। प्रतिमापूजनका प्रारम्भ कबसे हुआ यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। कुछ विद्वानोंने इसे द्राविड़ी पद्धति सिद्ध किया है और कुछ विद्वान् इसे भागवत सम्प्रदायों की ही देन ठहराते हैं। जैन और बौद्धोंमें भी प्रतिमापूजन बहुत प्रारम्भ से चला आ रहा है। अतः यह निर्णय करना कठिन है कि समूर्त्त आराधनाका आलम्बन प्रतिमापूजन किस युग में प्रारम्भ हुआ।

वैष्णव-भक्तिमें स्वीकृत माधुर्यभावके मूल उत्सका संधान करनेके लिए हम उन्हीं स्रोतोंका अवगाहन करना समीचीन समझते हैं जिनमें माधुर्यभक्तिके तत्त्व स्पष्ट रूपसे लक्षित होते हैं। भागवत सम्प्रदायके नामसे पांचरात्र मतके उपासकोंका ग्रहण होता रहता है। पांचरात्र ग्रन्थके लेखक चित्रशिखण्डी आदि सात ऋषियोंको माना जाता है। यह निर्णय करना कठिन है कि पांचरात्र संहिताओंकी रचना किसने की, किस कालमें की और कितनी संहिताएँ पांचरात्रके अन्तर्गत हैं किन्तु, सामान्यतः इनका रचनाकाल महाभारतसे

पहले माना जाता है। कुछ संहिताएँ बादमें भी रची गयीं और पांचरात्रके भीतर ही उनका परिगणन होता रहा। इन संहिताओंमें भक्तिका वर्णन-विवेचन जिस रूपमें हुआ है यदि उसको माधुर्यभक्तिकी पृष्ठभूमिमें रखकर अनुशीलन किया जाय तो बड़े विस्मयकारी तथ्य सामने आते हैं। पांचरात्र संहिताओंमें चार विषयोंका वर्णन माना जाता है जिसे ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापादके नामसे व्यवहृत करते हैं। ज्ञानपादमें ब्रह्म, जीव और जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तोंका निरुपण आता है, योगपादमें यौगिक क्रियाओंका वर्णन है, क्रियापादमें मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माणकी विधि, मूर्तिस्थापन, पूजन आदिका समावेश रहता है, किन्तु क्रियापाद और चर्यापाद ही संहिताओंका मुख्य विषय बन गया था जो परवर्ती सगुणोपासनामें बड़े समारोहके साथ गृहीत हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदायकी सेवा-पूजा पद्धतिमें 'चर्या' का बाहुल्य देखकर कुछ विद्वानोंको उसके ऊपर मुग़लकालीन विलास-वैभवके प्रभावका भ्रम हुआ था, यथार्थमें पांचरात्र संहिताओंके चर्या भागमें इन विधियोंका प्रचुरताके साथ वर्णन हुआ था और परवर्तीकालमें विस्तारको प्राप्त हुआ।

जयाख्य संहितामें समूर्त्तार्चनका विस्तार करते हुए उसके दो भेद किये गए हैं: एक समाधि उपाय और दूसरा मन्त्र उपाय। मन्त्रोपायको समाधि उपायसे श्रेष्ठतर कहा गया है। मन्त्रको विष्णुकी साक्षात् शक्ति माना गया है। मन्त्र-शक्तिका सर्वप्रथम प्रकाश नाद रूप होता है जिसे केवल महायोगी ही अनुभव करता है। नादके बाद बिन्दु आता है। नाद और बिन्दु नाम और रूप की अभिव्यंजना करनेवाले हैं। इनको निर्गुणोपासनामें बहुत स्थान मिला, किन्तु नादको मन्त्र रूपमें सगुणोपासक भी मानते रहे। अहिर्बुध्न्य संहिता में शरणागतिके छह प्रकारोंका वर्णन किया गया है:

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

यह षड्विध शरणागति माधुर्यभक्तिके पूर्वकी स्थितियोंमें प्रपत्ति या पुष्टिका परिचय देनेवाली है। इस संहितामें प्रभुकी शक्तिको उससे अभिन्न स्वीकार किया गया है। इस शक्तिको लक्ष्मी, श्री, कमला, रति, शिवा, नारायणी, विष्णुशक्ति अनेक नामोंसे पुकारा जाता है।

पांचरात्र संहिताके अन्तर्गत ज्ञानामृतसार नामक संहिता है। इसका रचनाकाल संदिग्ध है। विषय-वस्तुको देखकर इसे मध्ययुगके पूर्वभागकी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें प्रभु सेवाकी छह विधियाँ वर्णित हुई हैं, जिनमें स्मरण, कीर्तन, प्रणति, पादवन्दन, अर्चन और समर्पण हैं। इसमें कृष्णकी प्रिय गोपिका राधा का भी वर्णन हुआ है।

पांचरात्र संहिताओंका अनुसरण करनेवाली उपनिषदोंका भी मध्ययुगके उत्तर भाग में निर्माण किया गया; जिसमें नृसिंहतापिनी, रामतापिनी, गोपालतापिनी आदि उपनिषदों का वैष्णवभक्तिके जिस स्वरूपका प्रतिपादन हुआ वह परवर्ती कालमें अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। शंकराचार्य और अप्पय दीक्षितने पांचरात्र संहिताओंको उनके वर्ण्य-

विषयके आधार पर अवैदिक बताकर उनकी पद्धतिका तिरस्कार किया है। फलतः शंकरके विरोधमें विशिष्टाद्वैतवादका प्रचार करनेवाले रामानुजाचार्यने पांचरात्र मतको वेदोंके समान प्रमाण माना और उसका समर्थन किया। इस तथ्यसे एक बात स्पष्ट होती है कि पांचरात्र मत भक्ति पर आश्रित था, ज्ञान-मार्गका ग्रहण होने पर भी एकान्त रूपसे ज्ञानमें उसकी आस्था नहीं थी। क्रिया और चर्या द्वारा उसने ज्ञान, क्रिया और इच्छाके समन्वयकी चेष्टा भक्ति-मार्ग द्वारा की थी। इस भक्ति-मार्गके उन्मेषमें ही माधुर्य-भावके बीजका भी सँधान किया जा सकता है। पांचरात्र मतमें क्रिया और चर्याके अतिरिक्त प्रेम और माधुर्य को भी अप्रत्यक्ष रूपसे स्वीकार किया गया था।

वैखानस आगम भी वैष्णव साधनाके प्रेरक रहे हैं किन्तु उनका माधुर्य भक्तिसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता। वैखानस आगम वैदिक परम्पराके समीप बने रहे और मर्यादा मार्ग पर बल देते हुए आराधनाका विधान करते रहे। मरीचिके अनुसार आराधना के चार प्रकार हैं—जप, अग्निहोत्र, अर्चना, ध्यान। याज्ञिक कर्मकाण्ड वैखानस मतमें विशेष रूपसे मान्य रहा। अतः माधुर्य-भक्तिकी पृष्ठभूमिमें इनका योगदान स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मध्ययुगमें शैव और शाक्त मतका प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। शासक वर्गमें शैव धर्मानुयायी वैष्णवोंकी अपेक्षा अधिक थे। किन्तु बढ़ते हुए वैष्णव धर्मके प्रभावके कारण उत्तर मध्ययुगमें शैव धर्मके प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया था। शैवागम और शाक्त तन्त्रोंकी साधना-पद्धतिका आंशिक प्रभाव माधुर्य-भक्तिके राधा तत्त्व पर अनेक विद्वानोंने दिखाया है। शैवोंमें शिव-भक्तिकी जैसी कल्पना है और शाक्तोंमें त्रिपुर सुन्दरीका जो रूप वर्णित हुआ है उसे राधाभाव, गोपीभाव आदिके साथ मिलाकर देखनेका आग्रह अनेक ग्रन्थोंमें पाया जाता है। युगल तत्त्व या युगनद्ध भावके मूल बीज भी शैव और शाक्तोंकी साधना-पद्धति में उपलब्ध होते हैं। तन्त्रमें कृष्णको काम-बीजात्मक और राधाको रति-बीजात्मिका कहा गया है। युगनद्ध वह स्थिति है, जहाँ संक्लेश और व्यवदानकी अभिज्ञाके द्वारा संसारका सर्वथा निरसन हो जाता है, परम निवृत्तिकी अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह ग्राहक और ग्राह्यका, सान्त और अनन्तका, प्रज्ञा और उपायका, शून्यता और करुणाका, पुरुष और नारीका पूर्णतः सम्मिलन-सामरस्य है। बौद्ध तान्त्रिक साधना, सहजिया साधना और वैष्णव सहजिया साधना सबमें युगल रूपका वर्णन है जिसे माधुर्य भक्तिमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। तान्त्रिक साधनामें शिव-शक्तिका मिलन द्वारा उत्पन्न केवलानन्द ही परमसाध्य माना गया है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजने अपने एक लेख में सिद्ध किया है कि "प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें जो पैंतीस और छत्तीस तत्त्व अथवा शिव और शक्ति है, त्रिपुरा सिद्धान्तमें वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं, और गौड़ीय दर्शनमें वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं।" तन्त्रमें परकीया साधनाका जैसा कामलिप्त वर्णन मिलता है उसे तान्त्रिक रूपसे हटा कर माधुर्यभावमें प्रेमका साधन बनाया गया।

बौद्ध तान्त्रिक साधनाका भी माधुर्यभक्तिके विकासमें अप्रत्यक्ष हाथ रहा है। बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय वास्तवमें मधुरभावका पोषक था। बौद्धोंकी महायान शाखाके अन्तर्गत

मन्त्रयान और वज्रयान भेदोंका उदय हुआ। वज्रयानका ही नाम सहजयान हुआ। योगी साधना द्वारा सहज स्थितिको प्राप्त करना चाहता है। इस सहज स्थितिकी प्राप्ति गुरु-कृपासे मानी गई है। वज्रयानके प्रमुख ग्रन्थ 'गुह्यसमाजतन्त्र' में कठोर कर्मकाण्ड, नियम-पालन और मर्यादाओंकी सर्वथा अवहेलना करके कामनाओंके उपभोगका उपदेश दिया गया है। यही उपदेश परवर्ती वाममार्गके लिए पथ-प्रदर्शक हुआ होगा।

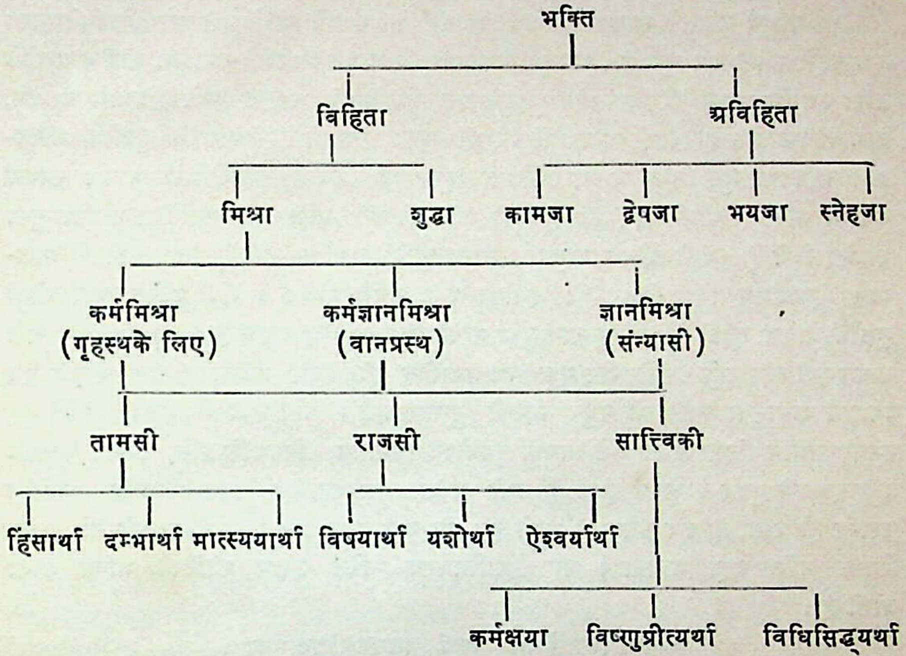
दक्षिण भारतके आलवार भक्तोंके मनमोहक गीतोंमें माधुर्यभक्तिका सुन्दर रूप देखनेमें आता है। आलवारोंके चार सहस्र गीत बताए जाते हैं जिन्हें 'नालायर प्रबन्धम्' में नाथमुनिने संकलित किया है। इस प्रबन्धका आदर दक्षिण भारतके वैष्णव समाजमें वेदोंके समान है। छठी शताब्दीसे नवम शताब्दी तक इनका रचना-काल माना जाता है। बारह आलवार भक्तोंने इन गीतोंकी अपने उल्लासके क्षणोंमें रचना की है। आलवार भक्तों के गीतोंकी मर्मस्पर्शिता उनकी मधुरभाव-व्यंजनामें है। मधुर भावकी व्यंजनाके लिए आलवार भक्तोंने जीवात्माको नायिका और परमात्माको नायकके रूपमें स्वीकार किया है। आलवार भक्त अपने प्रियतम (कृष्ण) के सदृश श्याम वर्णवाले मेघोंको देखकर आनन्दका अनुभव करता है और हंससे प्रियके पास सन्देशा ले जानेके लिए निवेदन करता है। इन भक्तोंमें नम्मालवार, शठकोप, अंजल, गोदा और तिरुमंगईके गीत मधुरभावकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने अपने हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें आलवार भक्तोंके सम्बन्धमें विचार करते हुए माधुर्यभावकी छायाका संकेत किया है। आलवारोंमें तिरुमंगईने सबसे अधिक गीतोंकी रचना की है और मधुरभावका स्वरूप भी स्पष्ट रूपसे इनके गीतोंमें दृष्टिगत होता है। एक गीतमें वे कहते हैं—"हे कमनीयकान्त, मैं इस बात की शपथ कर रही हूँ, जिससे सब लोग इसे सुन लें कि जब तक विराट्रूपधारी जिसने विश्वको दीर्घकाय बनकर नाप लिया था, मेरे सुन्दर और पूर्ण यौवनका रसास्वादन नहीं करता, मैं अचिरात ही उस कदम्ब वृक्षके समीप जाऊँगी, उसकी लताओंमें अपनेको बाँधकर आत्मघात कर लूंगी।" यह विरह-भावसे उत्पन्न एक ऐसी मनोविकृतिका चित्र है जिसमें नायिका (जीवात्मा) परमात्माका वियोग सहनेमें अपनेको असमर्थ पा रही है।

सूफ़ी साधकोंमें भी माधुर्यभावकी झाँकी देखी जा सकती है। सूफ़ी अपने प्रेमको 'ईश्वरीय प्रेम' की संज्ञा देते थे। सूफ़ियोंने अपने ईश्वरको प्रियतमाका रूप दिया और उसकी प्राप्तिके लिए स्वयं साधनप्रिय बनकर भटकनेका बीड़ा उठाया। सूफ़ियोंमें राबिया का उल्लेख मिलता है जो अपने प्रियतमसे मिलनेको निशीथमें अपने घरकी छतपर जाकर परमात्माको सम्बोधन कर, विरहकातर हो ऊँचे स्वरसे पुकारकर कहती है—"हे ईश्वर! संसारका कोलाहल शान्त हो गया है, प्रेमी अपनी प्रियाके साथ है, मेरा तो तू ही एकमात्र प्रेमी है, फिर तू क्यों मुझसे मिलनेको नहीं आता।" जायसीने अपने 'इश्क हकीकी'के वर्णनमें जिन परिस्थितियोंकी उद्भावना की है वे प्रेमकी सांसारिक स्थितियोंके उन्नयन द्वारा ही की गई हैं। यथार्थमें सूफ़ियोंका प्रेम ईश्वरीय था किन्तु उसमें लौकिक प्रेम की झलक इस-लिए बनी हुई थी कि वह लोक-कथाओंके माध्यमसे व्यक्त हुआ था। माधुर्यभावका आधार लोकजीवनसे असम्पृक्त नहीं होता।

मध्ययुगीन निर्गुण सन्तोंकी अभिव्यक्तियोंमें माधुर्यभावका पुट देखा जा सकता है। दाम्पत्य सम्बन्धके रूपकोंकी भरमार तो कबीर, दादू, नानक आदि सभीमें मिलती है। दाम्पत्य भावको पृष्ठभूमिमें रखकर आलंकारिक शैलीसे ईश्वरीय प्रेमका वर्णन निर्गुणधारा में क्यों परिवर्तित हुआ यह प्रश्न विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युगमें प्रेमकी अभिव्यंजनाके लिए लौकिक रूपकोंके आश्रयकी परिपाटी पड़ गई थी। कबीरने तो 'भरतार और पिया', 'रामकी बहुरिया' और 'प्रियतमा' आदि सभीका वर्णन किया है। निर्गुणोपासक सन्तोंकी स्वकीया रूपसे माधुर्यभावकी व्यंजना रससिक्त होने तथा प्रेमके स्वरूपको हृदयंगम करानेमें अधिक समर्थ है, इसी कारण निर्गुणोपासक भी इसकी अवहेलना न कर सके। किन्तु माधुर्य भाव के मर्यादारूपमें इनका अटूट विश्वास था। उच्छृंखल प्रेम और अनैतिक आचरणका वर्णन इन सन्त कवियोंके लिए सर्वथा असम्भव था। नाथ और सिद्ध सम्प्रदायमें भी नैतिकताका आग्रह प्रबल होनेके कारण नारीको उच्च स्थान नहीं मिला था। कौल, पाशुपत, कापालिक आदि मतोंमें सहज साधनाका वर्णन करते हुए पुरुष और नारीके माध्यमसे मधुर भावकी अभिव्यक्ति हुई है। परवर्ती वैष्णव सहजिया सम्प्रदायमें तो मधुर भाव परकीया भावके माध्यमसे अपने चरम विकासको प्राप्त हुआ। कहना न होगा यह विकास माधुर्य भक्तिके उज्ज्वल पक्षको विवृत न कर उसके विकृत रूप को ही सामने लाया।

माधुर्यभक्तिके उपकरणोंका चयन पांचरात्र ग्रन्थोंसे लेकर सहजिया सम्प्रदायकी साधना पद्धतियोंसे होता रहा। इसमें भागवत पुराण तथा नारद और शांडिल्यके भक्तिसूत्रों का बहुत अधिक योगदान रहा। जब माधुर्यभक्ति चैतन्य मतके पण्डितोंके हाथ पड़ी तब उसकी पूरी रूपरेखा ही तैयार नहीं हुई वरन् उसका बाह्याभ्यन्तर सभी सर्वांगपूर्ण बना दिया गया। एक ओर उसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया तो दूसरी ओर उसकी सिद्धिके लिए साहित्य और दर्शनसे प्रमाण-तर्क भी एकत्र किये गये। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामीने अपने ग्रन्थोंमें माधुर्यभक्तिको साहित्यिक आधार पर भक्तिरसके रूपमें प्रतिष्ठित किया जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। उससे पहले इस सम्बन्धमें भक्तिके स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

भक्तिके विभाग या भक्तिके रूपोंका निर्णय करना कठिन है। भक्ति अनेक प्रकार की होती है और उसके आधार भी विभिन्न हो सकते हैं। विभिन्न स्रोतोंके आधार पर, उपास्य देवोंके आधार पर और प्रपत्तियोंके आधार पर भक्तिके विभाग सम्भव हैं। देवता-भेदसे भी भक्ति सम्प्रदायोंका वर्णन देखनेमें आता है। शास्त्रीय दृष्टिसे भक्तिके रूपोंका विवरण अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। प्राचीन विभाजनोंमें बोपदेव कृत विभाजन यहाँ दिखाना आवश्यक है। माधुर्यभक्तिके प्रसंगमें इस विभाजनकी उपादेयता असंदिग्ध है। बोपदेवका विभाजन वैज्ञानिक होनेके साथ सर्वांगपूर्ण भी कहा जा सकता है।



वेद प्रतिपादित मर्यादा पालन करते हुए भगवानमें मनोभिनिवेश 'विहिता भक्ति' कही जाती है। मर्यादाका ध्यान न रखते हुए भगवानमें मनोभिनिवेश 'अविहिता भक्ति' समझना चाहिए। 'विहिता भक्ति' के समस्त प्रकार सगुण भक्तिके नामसे अभिहित होते हैं। इसमें 'ज्ञानमिश्रा भक्ति' को भिक्षु और परमहंसोंके लिए कहा गया है। वह निर्गुण कही गई है। विहिताके भीतर शुद्ध भी एक भेद है जिसके लिए निष्काम और अविच्छिन्न होना आवश्यक है। रजोगुण और तमोगुणसे रहित शुद्ध सत्वसे उद्वेलित अन्तः करण वाला कोई भी भक्त इसका अनुगमन कर सकता है। 'अविहिता भक्ति' के चार भेदोंके क्रमशः चार प्रकारके अधिकारी बताए गये हैं। गोपियाँ, कंस, चैद्यादिक नृप तथा कृष्णवंशी संबंधी :

गोप्यः कामाद्भयात् कंसो, द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।

सम्बन्धाद्वृष्णयस्स्नेहाद्यूयम्भक्त्या वयं विभो॥ भागवत पुराण ७।१।३०

यह सब विवरण मुक्ताफलमें विस्तारसे द्रष्टव्य है। माधुर्य भक्तिके प्रवर्तनमें इस विवरणकी उपादेयताको ध्यानमें रखना आवश्यक है, अतः इसका उल्लेख किया गया।

श्री मधुसूदन सरस्वतीने भक्ति रसायन ग्रन्थमें भक्तिकी परिभाषा करते हुए लिखा है—'द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते।' अथवा—'द्रवीभावपूर्विका मनसोभगवदाकार रूपासविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति।' नारद भक्ति सूत्र में, 'सात्वस्मिन् परमप्रेम रूपा' तथा शांडिल्य भक्ति सूत्रमें 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' द्वारा भक्तिका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इन परिभाषाओं में प्रेम और अनुरागके द्वारा चित्तके द्रवीभावको प्रमुख स्थान दिया गया है। मधुरा भक्तिके क्षेत्रमें इस भावका प्राधान्य इन परिभाषाओंके मार्गसे ही कदाचित् पहुँचा होगा।

माधुर्य भक्तिके स्वरूप-बोधके लिए भक्तिके विषयमें गौड़ीय आचार्योंके विवेचनका हम पहले संकेत कर चुके हैं। साम्प्रदायिक भक्तिमें माधुर्य भावका समावेश गौड़ीय ग्रन्थोंके द्वारा सर्वाधिक हुआ और शास्त्रीय दृष्टिसे इस सम्प्रदायके संस्कृत-ग्रन्थोंका प्रभाव वल्लभ, राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदायों पर भी पड़ा। रूप गोस्वामीने अपने सुप्रसिद्ध भक्ति-ग्रन्थ 'भक्तिरसामृत सिन्धु' में भक्तिके दो प्रमुख भेद किये हैं— गौणी और परा। साधन दशाकी भक्तिको गौणी और सिद्ध दशाकी भक्तिको परा भक्ति कहा गया है। गौणीके पुनः दो भेद किये हैं—वैधी और रागानुगा। शास्त्रानुमोदित भक्ति वैधी है। इस भक्तिके आलम्बन ऐश्वर्यमय विभु ईश्वर हैं। इसीका नाम मर्यादामयी है। वैधी भक्ति अपने दोनों कूलोंमें आबद्ध रहती है। किन्तु रागानुगा भक्ति राग या स्नेह प्रधान है। वह कूल किनारोंके बन्धन स्वीकार नहीं करती और यदृच्छया प्रवाहित होनेवाली नदीके समान चलती है। यथार्थमें रागानुगा भक्ति ही मधुर भावकी मूलाधार हैं। राग शब्दकी व्याख्या करते हुए रूपगोस्वामीने लिखा है कि जैसे विपयी पुरुषोंका स्वभावतः विपयोंके प्रति, विषय संसर्गके प्रति इच्छासे युक्त आकर्षण होता है, उसी प्रकार भक्तका जब भगवानके प्रति आकर्पण उत्पन्न हो जाता है, तब उसे राग कहते हैं। यह राग जहाँ प्रबल या प्रधान रहे उसे रागात्मिका भक्ति कहा जायगा। यह रागात्मिकता भक्ति उत्तम कोटिकी भक्ति मानी जाती है।

'अनन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥'

इस उत्तमा भक्तिके पुनः तीन भेद किये गये हैं—साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेमा भक्ति। इसमें साधन भक्तिके दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। रागानुगाके पुनः दो भेद हैं कामानुगा और सम्बन्धानुगा। इन भेद-प्रभेदोंके प्रपंचमें न पड़कर हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि गौड़ीय सम्प्रदायमें माधुर्य भावका इतना व्यापक विस्तार हुआ कि परवर्ती साम्प्रदायिक भक्तों ने भी किसी-न-किसी रूपमें ग्रहण किया। माधुर्य भावकी भक्तिको शास्त्रीय रूप देनेके लिए 'भक्तिरसामृतसिंधु' में इसका रसानुवर्ती विवेचन हुआ। जैसे काव्य रसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारीसे पुष्ट होकर होती है तथैव इसको भी रस रूपमें प्रस्तुत किया गया। कृष्ण भक्तिके आलम्बन विभागमें कृष्णको विपय माना गया। कृष्ण भक्ति आधार हुई। साधन और सिद्ध आदिका निरूपण हुआ। साधना तथा कृपासे यह भक्ति रस निष्पन्न माना गया। उद्दीपन विभावोंके वर्णनमें कृष्णके गुण, चेष्टा, प्रसाधन तथा अन्यान्य रूपोंका वर्णन किया गया। गुणोंके अन्तर्गत कायिक, बौद्धिक, मानसिकको स्थान मिला। तदनन्तर वय-भेद, रूप-भेद आदिका विस्तार किया गया। इसमें कैशोर अवस्थाको महत्त्व देकर उसका आद्य, मध्य, शेष आदि स्थितियोंमें वर्णन किया गया। गौड़ीय आचार्यों ने भक्ति रसमें मुख्यरूपसे शान्त, प्रीत, प्रेयस, वात्सल्य और मधुरको स्थान दिया। इनके भाव शान्त, विश्वस्त, मित्रता, स्नेह, श्याम माने गये। इसीप्रकार वर्णों तथा देवताओं की भी कल्पना की गई। इस रसके परिपाकके लिए लीलाओंका वर्णन किया गया और प्रकट लीला और अप्रकट लीलाके रूपमें दो भेद किये गये। वन-वृन्दावन में प्रकट लीला, मन-वृन्दावनमें अप्रकट लीला और नित्य-वृन्दावनमें नित्य लीला मानी गई।

माधुर्य भावका विशद विवेचन करनेवाले ग्रन्थोंका उद्धरण या विवरण प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य नहीं है। उपर्युक्त विवरण केवल प्रासंगिक रूपसे इसलिए दिया है जिससे मध्ययुगीन माधुर्य भावकी रूपरेखा पाठकके अन्तर्मनमें उभर सके। मूल प्रश्न तो यह है कि यह माधुर्योपासना मर्यादाका उल्लंघन करनेवाली होने पर भी इस प्रकार ग्राह्य क्यों बनी रही और साधकोंकी विशाल परम्परा इसे क्यों स्वीकार करती रही। यथार्थमें इसका मूल कारण यह है कि भक्तिका यह मार्ग लौकिक जीवनका तिरस्कार नहीं करता। लोकको उसके यथार्थ रूपमें पाकर उसका शोधन करता है। वासनाओंको स्वीकार करते हुए वासनाओंके परिमार्जन, उन्नयन या शोधन की यह प्रक्रिया संसारके प्रत्येक देशके धर्मोंमें किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। इस पद्धतिका लक्ष्य है संसारको ग्रहण करते हुए मानव-मनमें लीन आनन्दको उद्‌बुद्ध करना। इन्द्रिय-दमनसे भी साधकको भगवत् प्रेम ही उपलब्ध करना होता है। उसका लक्ष्य भी यही है। माधुर्य भावसे चलनेवाला भी उसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। मनुष्य अपने समस्त प्रयत्नोंके बावजूद अपने भीतर बैठे हुए काम भावको सर्वथा उच्छिन्न या निरस्त नहीं कर पाता। अतः यदि उसे साधन बनाकर उसका उन्नयन किया जाय तो उसका मार्ग प्रशस्त बन सकता है। उन्नयनकी भावना ही इसका लक्ष्य माना जा सकता है। सम्भवतः इसीलिए बौद्धों, तान्त्रिकों, शैवों, शाक्तों तथा सूफियों आदिने कामका तिरस्कार नहीं किया वरन् उसे दिव्य प्रेमकी उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित कर उसका पूरे समारोहके साथ उन्नयन करनेका प्रयत्न किया। माधुर्य भक्तिमें जिस प्रेमकी स्वीकृति है वह न तो यौन सम्बन्धसे उद्‌भूत कामेच्छापरक प्रेम माना गया है और न इस प्रेमको साधारण सामाजिक बन्धनका आधार ही कहा जा सकता है। इस प्रेमके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा गया है कि वासनाजन्य प्रेममें स्वसुखकी कामनाका प्राधान्य रहता है, उसमें प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है। इस प्रेमको स्वसुख विवर्जित स्वीकार किया गया है। माधुर्यभाव प्रधान भक्तिमें परम्परा-प्राप्त मान्यताओंमें पूरा परिवर्तन किया गया। लोकमें श्रृंगार भावको, जो दाम्पत्य भावसे पूर्णतया संश्लिष्ट है, निम्नकोटिका माना जाता है। उसके ऊपर वात्सल्य भाव है, वात्सल्यसे ऊपर सख्य भावका स्थान है, सख्यसे ऊपर दास्य भाव है और दास्यसे ऊपर निर्वेदका परिपोषक शान्त भाव है। यह क्रम उत्तरोतर उत्कर्षकी दृष्टिसे स्वीकार किया जाता है, किन्तु माधुर्य भावमें इस क्रमका पूर्णतया विपर्यय दृष्टिगत होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य यह क्रम उत्कर्ष-विधानकी दृष्टिसे ग्राह्य है। कान्ता भाव, दाम्पत्य भाव या श्रृंगार भाव एक ही भावके द्योतक हैं। मधुर या उज्ज्वल रस भी इसी भावके द्योतक शब्द हैं। दाम्पत्य भावके वर्णनमें स्वकीया-परकीया विवेचन भी हुआ। चैतन्य मतमें परकीया भावसे कान्ताकी स्वीकृति हुई। निम्बार्क सम्प्रदाय और बल्लभ सम्प्रदायमें स्वकीया भाव गृहीत हुआ। राधाबल्लभ सम्प्रदाय ने स्वकीया-परकीया भेद विवर्जित राधाका स्वरूप माना किन्तु लौकिक दृष्टिसे स्वकीया भाव ही इस सम्प्रदायमें दृष्टिगत होता है।

प्रेमलक्षणा भक्ति या माधुर्य भाव प्रधान भक्तिकी एक विशेषता यह है कि इसमें विधि-निषेधके बाह्य प्रपंचोंसे मुक्ति मिल जाती है। विधि-निषेधका प्रपंच सदैव बाह्याडंबर में पर्यवसित होता है; अतः इससे बचकर यदि भक्तिका पथ प्रशस्त किया जाय तो निश्चय

हो वह सर्वजन-सुलभ और आकर्षक होगा। गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंके लिए तो इस मार्गमें और भी सुविधाएँ प्राप्त हैं। अपने दैनन्दिन जीवनकी अनुभूतियोंको भक्ति पथ पर आरूढ़ करनेकी दिशामें भी इससे सहायता मिलना सम्भव है। राधा-कृष्णका दाम्पत्य भाव अपने लौकिक जीवनके दाम्पत्य भावके मेलमें देखा जा सकता है और शनैः-शनैः काम-वासनाओं का उन्नयन करते हुए भगवत्-प्राप्तिके मार्ग पर बढ़ा जा सकता है। किन्तु यह उन्नयन-प्रक्रिया कहनेमें जितनी सरल है उतनी ही क्रियाभ्यासमें कठिन भी है। इस मार्गका रहस्य भली-भाँति हृदयंगम न करके यदि इसे सामान्य लौकिक काम-वासनाके रूपमें ही ग्रहण किया जाय तो इसका समस्त माधुर्य और उदात्त तत्त्व कामकेलिके कर्दममें पंकिल होकर यौन भावनाओंकी तृप्ति तक ही सीमित रह जायगा। उस दशामें न तो शृंगारका उन्नयन ही सम्भव होगा और न साधककी आत्माका अभ्युदय ही हो सकेगा।

भक्तिके विकासके साथ परमात्माके प्रति अनुराग और प्रेमकी जैसी अभिव्यक्तियाँ हुई यदि उनके क्रमिक विकासका अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि महाभारत कालमें परमात्माके प्रति भय और संभ्रमका ही भाव नहीं था वरन् श्रद्धा, प्रेम और अनुरागका भाव भक्तके मनमें पूरी तरह आ चुका था। पांचरात्र सम्प्रदायके भक्तोंने ईश्वर की भक्तिके जो रूप स्वीकार किये थे उनमें प्रेम और अनुरागका विशेष स्थान था। भागवत सम्प्रदायके नामसे जो अन्य सम्प्रदाय महाभारत कालमें विद्यमान थे वे भी इस भावसे अपरिचित नहीं थे। पुराण कालमें तो इस भावका प्राधान्य ही हो गया था। भागवत पुराणकी नवधा भक्तिके मूलमें इस भावका अंश सबसे अधिक मात्रामें है। आलवारों, सिद्धों, सहजियों, सूफियों और निर्गुणियों तक में इस भावकी रेखाएँ मिलती हैं। उन रेखाओंके द्वारा पूरा चित्र उभारना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः मोटी-मोटी बातोंकी ओर ही पाठकका ध्यान आकृष्ट किया गया है।

माधुर्य भक्तिके शास्त्रीय रूपका विकास चैतन्य मतके विद्वान् गोस्वामियोंके ग्रन्थों द्वारा हुआ किन्तु उनके ग्रन्थ-प्रणयनमें मूल प्रेरक स्वयं चैतन्य महाप्रभु थे। उन्होंने स्वयं तो श्रीकृष्णकी लीलाओंमें निमग्न रहना स्वीकार किया, किन्तु अपने शिष्योंको प्रेरित किया कि वे भक्तिके शास्त्रीय रूपका प्रतिपादन करें और भक्तिके उज्ज्वल रूपको भगवद्भक्तोंके लिए शास्त्रके सुदृढ़ आधार पर खड़ा करें।

चैतन्य मत

चैतन्यके व्यक्तित्वमें प्रबल आकर्षण और उनके नेतृत्वमें विलक्षण सम्मोहन होने पर भी चैतन्य ने अपने नामसे किसी मत, पंथ या सम्प्रदायका प्रवर्तन नहीं किया। यदि उनके जीवनके समस्त कार्यों पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उनका जीवन-प्रवाह इतना दुर्द्धर्ष था कि जो कोई उनके सम्पर्कमें आया वह उसमें बह गया। फलतः उनके चारों तरफ़ सम्प्रदाय-जैसी गरिमा इकट्ठी होती गई और अनजाने ही चैतन्य मतका उदय हो गया। धर्म-प्रवर्तक या सम्प्रदाय खड़े करनेका उत्साह उनके भीतर प्रत्यक्ष या परोक्षमें कहीं नहीं था। यदि कुछ व्यक्तियों ने चैतन्यके मार्गको स्वीकार भी किया तो केवल उनके व्यक्तित्वसे आकृष्ट होकर ही किया—किसी तत्त्ववाद या सिद्धान्तमें फँसकर

नहीं किया। चैतन्यका जीवन एक धर्मपरायण भक्तका जीवन है जो भगवान्‌के सान्निध्यका तो उत्सुक है किन्तु उसके नाम पर किसी मठकी स्थापनामें उनका विश्वास नहीं। चैतन्य ने स्वयं किसी ग्रन्थका प्रणयन नहीं किया। प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य या टीका नहीं लिखी। श्रीमद्‌भागवत पुराणको ही वेदान्तका भाष्य, व्याख्या और टीका मानकर स्वीकार किया। चैतन्य ने कभी संगठनात्मक कार्योंको भी प्रोत्साहन नहीं दिया। गयासे लौटनेके बाद उनके चारों तरफ़ जो शिष्य मण्डली या मित्र मण्डली जुट गई थी वह अनायास ही थी, किसी योजनाबद्ध तरीकेसे यह संगठन नहीं हुआ था। वस्तुतः चैतन्य सम्प्रदायका प्रवर्तन तो उनके शिष्यों द्वारा ही हुआ है जिसमें विशेष रूपमें वृन्दावनके षट् गोस्वामियोंका हाथ है। नवद्वीप की शिष्य मण्डलीमें भक्ति भावनाका प्राबल्य था, अतः उन लोगों ने चैतन्यके सिद्धान्तोंके उद्‌घाटनका श्रम नहीं किया। वृन्दावनके रूप, सनातन आदि षट् गोस्वामी तत्त्ववेत्ता विद्वान् पंडित थे। उन्होंने शास्त्र-निर्माणका कार्य स्वीकार करते समय यह पूरी तरह ध्यानमें रखा कि भक्तिको शास्त्रीय तुला पर खरा सिद्ध करनेके लिए साहित्य शास्त्रकी परम्पराओंकी अवहेलना सम्भव नहीं हो सकती।

चैतन्य सम्प्रदायके दार्शनिक सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें बहुत समय तक विवाद बना रहा। चैतन्य ने स्वयं तो कुछ लिखा नहीं था और परवर्ती गोस्वामियों ने जो लिखा था वह भक्तिके स्वरूप-निर्धारणमें सक्षम होते हुए भी दार्शनिक दृष्टिसे सर्वथा अपुष्ट एवं अव्यवहार्य था। यद्यपि चैतन्यके समयसे ही यह धारणा कुछ लोगोंकी बनी हुई थी कि चैतन्यके विचारोंका आधार माध्व दर्शन है, किन्तु इसका न तो कोई प्रमाण था और न व्यवहार पक्षमें ही यह धारणा घटित होती थी। हाँ, माधवेन्द्रपुरी, ईश्वरपुरी, और केशव-भारतीके माध्व होनेके प्रमाण थे, किन्तु उनके ग्रन्थोंमें माध्व दर्शनकी स्थापना नहीं थी। कवि कर्णपूर-रचित 'गौर गणोद्देश दीपिका' में गुरुपरम्पराका संकेत है; वहाँ माध्वका उल्लेख होनेसे इन्हें माध्व मान लिया गया। वस्तुतः चैतन्यको माध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत रखनेका प्रयत्न बलदेव विद्याभूषणके गोविन्दभाष्य और प्रमेय रत्नावली ग्रन्थों द्वारा प्रारम्भ हुआ। प्रमेय रत्नावलीमें गुरु-परम्परा भी दी गई है जो पूर्ण रूपेण ग्राह्य नहीं है।

इस सन्दर्भमें हम माध्व सम्प्रदायके सिद्धान्तों पर दृष्टि-निक्षेप करना आवश्यक समझते हैं। मध्वाचार्यके मतमें मोक्षके साधन अन्य आचार्योंसे भिन्न प्रकारके हैं। उनके मतमें मोक्षके लिए भेदपंचकका ज्ञान आवश्यक है। अर्थात् (१) ईश्वर और जीवका भेद, (२) ईश्वर और प्रकृतिका भेद, (३) प्रकृति और जीवका भेद, (४) प्राकृतिक पदार्थोंका परस्पर भेद, (५) जीवोंका परस्पर भेद। इस भेदपंचकके ज्ञानके बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। मोक्षका सर्वप्रधान साधन भगवान्‌का साक्षात्कार है, और इस साक्षात्कारके कुछ उपाय वैराग्य, शम, शरणागति और परमात्माभक्ति हैं। परन्तु मोक्षमें भी जीव और ब्रह्मका अभेद नहीं हो सकता। इस प्रकार विशुद्ध द्वैतवादकी स्थापना कर वे उपनिषदोंमें उपलब्ध अभेद-परक वाक्योंकी संगति भिन्न प्रकारसे लगाते हैं। 'तत्वमसि'का अर्थ तस्य त्वं असि, अर्थात्—त्वं तदीयोसि है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'का अर्थ ब्रह्मविद् ब्रह्म सदृश हो जाता है, ऐसा मानते हैं, साक्षात् ब्रह्म होना नहीं मानते।

माध्व सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका निरूपण एक श्लोकमें इस प्रकार पाया जाता है :—

"श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः, सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा, नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला, भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादि त्रतयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः।।"

अर्थात्—मध्वाचार्यके मतमें हरि (विष्णु) ही परतत्त्व है। जगत् सत्य है, भेद वास्तविक है, समस्त जीव हरिके अनुचर हैं, जीवोंमें ऊँच और नीचका तारतम्य है, अपने वास्तविक सुखकी अनुभूति मुक्ति है, निर्मल भक्ति ही मोक्षका साधन है, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण ज्ञानके साधक हैं, वेदका समस्त तात्पर्य (ज्ञातव्य) विष्णु ही हैं। ये नौ सिद्धान्त मध्वाचार्यके मतमें स्वीकृत होते हैं।

'अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन' की स्थापना करते हुए माध्वदर्शनका यथाशक्य समाहार किया गया है, किन्तु उसका सम्बन्ध माध्वके साथ स्थापित नहीं किया जा सका। चैतन्यकी दार्शनिक विचारधाराका रूप अचिन्त्य भेदाभेदवादमें देखा जा सकता है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

चैतन्य मतका दार्शनिक सिद्धांत 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहाता है। जीव गोस्वामीने 'भगवत्सन्दर्भ' नामक ग्रन्थमें इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"स्वरूपाद्य भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वात् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्ति-शक्तिमतोर्भेदोभेदौ अंगीकृतौ। तौच अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्य भेदाभेदावेव अचिन्त्य शक्तित्वात्।" अर्थात् भगवान्में स्वरूप आदि शक्तियोंके अभिन्न होनेके कारण विचार करना शक्य न होनेसे भेद (प्रतीत होता) है और भिन्न होनेसे विचार करना शक्य न होनेसे अभेद प्रतीत होता है; इसलिए इनमें भेदाभेद स्वीकार किया है। वे दोनों अचिन्त्य हैं। इसलिए इस मतको अचिन्त्य भेदाभेद नाम दिया है। अचिन्त्य भेदाभेदको दार्शनिक रूप देते समय रूप गोस्वामी या जीव गोस्वामी के समक्ष माध्व-सम्प्रदायकी कोई दार्शनिक मान्यता नहीं थी। द्वैतवादको दृष्टिमें रखकर इस सिद्धांतको स्वीकार नहीं किया गया। लघुभागवतामृतमें रूपगोस्वामीने लिखा है :—

"एकत्वंच पृथकत्वंच तथाशत्वमुतांशिता।
तस्मिन्नकेत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्तशक्तितः।।"

पुरुषोत्तम भगवान्को विभुचित् और जीवको अणुचित् माननेके कारण दोनोंमें चेतनता है, अतः अभिन्नता है। भगवान् विभु और जीव अणु है, अतः भेद है। फलतः भेदाभेद की सृष्टि सुतरां निष्पन्न हो जाती है। इस सिद्धांतका व्यापक धरातल पर वर्णन बलदेव विद्याभूषणने 'गोविन्दभाष्य' में किया है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म पाँच तत्त्व स्थिर करते हुए ईश्वरको विभुचैतन्य, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, मुक्तिदाता और विज्ञान रूप कहा है। ईश्वर जो जगत्का निमित्त और उपादान कारण है जगत्में परिणत होने पर भी स्वरूपसे अविकृत रहता है। जीव, अणु, चैतन्य, अनादि, मायामोहित और बद्ध है। ईश्वर-विमुख होनेसे बन्धनमें पड़ता है। ईश्वर-कृपासे जीव मुक्तिको प्राप्त होता है। उसे मुक्तिमें

ईश्वरके समान आनन्द तो प्राप्त होता है किन्तु ईश्वरसे पृथकत्व बना रहता है। प्रकृति नित्य और ब्रह्मकी शक्ति रूपा है। ब्रह्मके आश्रित रहती है। काल परिवर्तनशील जड़ द्रव्य है। प्रलय सृष्टिका निमित्त रूप है। कर्म अनादि, नश्वर और जड़ है। वह ईश्वरकी शक्ति का रूप है। मुक्तिका मुख्य साधन चैतन्यमतमें भक्तिको ही स्वीकार किया गया है। भक्ति के पाँच भेद बताए गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

विश्वनाथ चक्रवर्तीने चैतन्यमतके भक्ति-सिद्धान्तोंको एक श्लोकमें इस प्रकार व्यक्त किया है :

> "आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धामवृन्दावनं,
> रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
> शास्त्रं भागवतप्रमाणममलंप्रेमापुमार्थोमहान्,
> श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो न परः॥"

अर्थात्—भगवान् व्रजेशतनय (कृष्ण) चैतन्यमतमें आराध्य देव हैं, उनका धाम वृन्दावन है। उनकी उपासना-पद्धतिका आदर्श व्रजगोपियोंका सुन्दर उपासना-पद्धति है। श्रीमद्भागवतपुराण प्रमाण ग्रन्थ है और प्रेम ही जीवका परम पुरुषार्थ है।

चैतन्यमतके दार्शनिक तथा भक्ति विषयक सिद्धान्तोंके अनुशीलनसे यह तथ्य बहुत स्पष्ट रूपसे सामने आता है कि चैतन्यमतका मूलाधार माध्व सम्प्रदाय नहीं है। इन दोनों मतोंके दार्शनिक सिद्धांतोंमें पर्याप्त मौलिक मतभेद है, अतः इसे मध्वानुगामी मत सिद्ध करने का प्रयत्न चतुःसम्प्रदायकी परम्पराके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चैतन्यमतके सिद्धांतोंका प्रतिपादन करनेवाले रूप, सनातन और जीव गोस्वामीने माध्व परम्पराका कहीं अनुगमन नहीं किया। उन्होंने भक्तिका स्वरूप अपनी मौलिक सरणिसे स्थिर किया है। रूप गोस्वामी के ग्रन्थोंमें कहीं भी मध्वाचार्यकी चर्चा नहीं मिलती। उन्हें सम्प्रदाय-प्रवर्तक आदि आचार्य के रूप में कहीं स्वीकार नहीं किया गया। बलदेव विद्याभूषणके प्रयत्नोंसे चैतन्यमतको माध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत रखा गया, यह ऐतिहासिक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। प्रबोधानन्द रचित चैतन्यचरितामृतकी टीका लिखते हुए आनन्दिन्ने स्पष्ट लिखा है :—

> "श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु. स्वयं भगवान् सम्प्रदाय प्रवर्तकाः।
> तत्पार्शदा एव साम्प्रदायिका गुरुवोनान्ये॥"

चैतन्यमतके इतिहास पर दृष्टि-निक्षेप करनेसे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि बलदेव विद्याभूषणके 'गोविन्द भाष्य' लिखनेसे पूर्व बंगालमें चैतन्यमतको एक स्वतन्त्र भक्ति-मार्ग समझा जाता था किन्तु बादमें इसे माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदायकी संज्ञा दी गई।[1]

रूप गोस्वामी :

चैतन्यमतके सैद्धांतिक तथा भक्तिपरक कर्मकाण्डके स्वरूपको स्थिर करनेमें वृन्दावन के छह गोस्वामियोंका प्रमुख योगदान रहा है। वस्तुतः सनातन और रूप गोस्वामीकी प्रतिभा से ही चैतन्यमतका धार्मिक तथा साहित्यिक रूप प्रकाशमें आया। जैसा कि हम पहले लिख

१. देखिए, 'राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य', डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ ४६-४७

चुके हैं कि चैतन्य गया से वापिस आनेके बाद अपने अध्ययन-अध्यापन तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन से सर्वथा विमुख होकर भक्ति-भावनामें ही लीन रहने लगे थे। शास्त्र-चर्चा और पाण्डित्य-प्रदर्शनके प्रति उनका कोई मोह नहीं रह गया था। अपने आभ्यन्तर अनुभवोंको उन्होंने लेखनी या भाषणके द्वारा व्यक्त करना बन्द कर दिया था। गम्भीर तत्व-चिन्तन-मननकी प्रक्रियामें भी उनकी रुचि नहीं रह गई थी। फलतः शास्त्र-परायणतासे उनका कोई लगाव शेष नहीं था। अतः अपने विचारोंके प्रसार-प्रचारके लिए उन्होंने सनातन और रूप गोस्वामी को वृन्दावन जानेकी प्रेरणा दी थी। इन दोनों भाइयोंके अतिरिक्त गोपाल भट्ट, रघुनाथदास रघुनाथ भट्ट और जीव गोस्वामीका नाम छह गोस्वामियोंमें है। प्रस्तुत प्रसंगमें हम केवल रूप गोस्वामीका संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

रूप गोस्वामीका जन्म संवत् १५४६ के लगभग हुआ था। रूप गोस्वामीके जीवन तथा ग्रन्थोंके सम्बन्धमें जीव गोस्वामीके ग्रन्थोंमें कुछ संकेत मिलते हैं। कृष्णदास कविराजके जीवन-वृत्तान्त तथा प्रेमविलास ग्रन्थमें भी इनका वर्णन है। इन ग्रन्थोंके वर्णनोंसे यह विदित होता है कि रूप गोस्वामीके पूर्वज कर्नाटक प्रांतके रहनेवाले थे, जो चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें बंगालमें आकर बस गये थे। बंगालमें बसनेके बाद नवद्वीपके विद्यालयमें अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनके साथ रूप गोस्वामीने विद्याध्ययन किया तदनन्तर मुग़ल राज्यमें उच्च पद पर राजकर्मचारी नियुक्त हो गये। चैतन्यकी बंगाल-यात्राके समय इन दोनों भाइयोंकी रामकेलि नामक स्थानमें चैतन्यसे भेंट हुई और दोनों भाइयोंने राजकाजके प्रति अनासक्ति व्यक्त करते हुए चैतन्यकी शरणमें रहनेकी इच्छा प्रकट की। उस समय तो चैतन्य इन्हें अपने साथ नहीं ले जा सके किन्तु बादमें जब उत्तर भारतकी यात्राके लिए निकले तब ये दोनों भाई भी विरक्त होकर उनके पास पहुँच गये। सरकारी नौकरीके समय इनके नाम या पदवी साकेर मलिक (सनातन) तथा दबिर खास (रूप) थे। इनका नाम-परिवर्तन भी चैतन्यने ही किया था। रूप और सनातन गोस्वामीके वैराग्यकी बड़ी श्रृंगारपूर्ण कथा प्रेमविलास ग्रन्थमें मिलती है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। गौड़ देशके मुग़ल शासकके यहाँ दोनों भाइयोंने चिरकाल तक कार्य किया था और जब वे विरक्त होकर अपना पद त्यागकर चलने लगे तो उन्हें विवश किया गया कि वे नौकरीसे त्यागपत्र देकर न जाएँ किन्तु उनकी अन्तर्प्रेरणा बलवती थी, संकल्प दृढ़ था और भगवान्का निमन्त्रण राजकीय नियन्त्रणसे प्रबल था। चैतन्यके सम्पर्कमें आनेसे पहले भी रूप गोस्वामीके मनमें भक्ति उमड़ती थी और उन्होंने कृष्णलीलापरक 'दान केलि कौमुदी' की रचना की थी, जो उनकी कृष्णभक्तिका प्रतीक है।

रूप गोस्वामीको दस मास तक चैतन्यके निकट सम्पर्कमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। चैतन्यकी विचारधाराको जितनी गहराईसे इन्होंने समझा और प्रतिपादित किया वैसा अन्य कोई शिष्य नहीं कर सका।

रूप गोस्वामी रचित १३ ग्रन्थोंका उल्लेख जीव गोस्वामीने तथा इनका जीवनवृत्त लिखने वाले अन्य लेखकोंने किया है, किन्तु भक्ति रत्नाकर ग्रन्थमें इनके बनाये हुए चार अन्य ग्रन्थोंके भी नाम उपलब्ध हैं। यदि उन्हें भी सूचीमें समाविष्ट कर लिया जाय तो ग्रन्थ-संख्या १७ होती है। ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) हंसदूत, (२) उद्धव सन्देश, (३) अष्टादश छन्द, (४) उत्कलिकावल्लरी गोविन्द विरुदावलि आदि स्तोत्र, (५) विदग्धमाधव (नाटक), (६) दानकेलि कौमुदी (भाणिका), (७) भक्तिरसामृत सिन्धु (रसशास्त्र), (८) उज्ज्वल नीलमणि (रसशास्त्र), (९) मथुरा महिमा, (१०) पद्यावली, (११) नाटक चन्द्रिका (नाट्यशास्त्र), (१२) संक्षेपभागवतामृत (१३) ललितमाधव (नाटक)

चार अन्य ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) श्रीगणोद्देश दीपिका, (२) प्रयुक्ताख्यात चन्द्रिका (व्याकरण), (३) कृष्ण-जन्म-तिथि विधि (४) अष्टकालिक श्लोकावलि ।

भक्तिरसामृत सिन्धु :

'भक्तिरसामृत सिन्धु' भक्तिरस-प्रतिपादक शास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें रूप गोस्वामीने साहित्य-शास्त्रमें स्वीकृत रसोंको भक्तिमें पर्यवसित किया है। भक्तिको मुख्य रस मानकर अन्य साहित्यिक रसोंको इसके अंग रूपमें वर्णित किया गया है। भक्तिको साहित्य-शास्त्रमें रस कोटिक स्थान प्राप्त न होनेसे रूप गोस्वामीका इस ग्रन्थके प्रणयनमें यह उद्देश्य प्रधान रूपसे रहा है कि रसके समस्त उपकरणोंको इस रूपसे भक्तिमें घटित किया जाय कि भक्ति को रस रूप प्रदान करनेमें काव्यशास्त्रीय दृष्टिसे किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित न हो। विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंका यथावत् ध्यान रखते हुए स्थायी भाव भगवद्रतिकी स्थापना करके भक्तिरसको साहित्यिक धरातल पर खड़ा किया गया है।

'भक्तिरसामृत सिन्धु' नाम रखकर रूप गोस्वामीने इस विशाल ग्रन्थको समुद्रके रूप में ही विभाजित भी किया है। प्राचीन कालमें चार दिशाओंमें स्थित चार समुद्रोंकी कल्पना की गई थी। कालिदासके 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां' पदमें यह कल्पना स्पष्ट लक्षित है। इसी कल्पनाके आधार पर रूप गोस्वामीने भी चार अध्यायोंके नाम—पूर्व विभाग, दक्षिण विभाग, पश्चिम विभाग और उत्तर विभाग रखे हैं। 'पूर्व विभाग' आदि शब्द अध्यायोंके लिए और अवान्तर विभाजनके लिए 'लहरी' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'पूर्व विभाग' में भक्ति-सामान्यके भेदोंका निरूपण है। पहली लहरीमें सामान्याभक्ति, दूसरी लहरीमें साधनभक्ति, तीसरी लहरीमें भावाश्रित भक्ति और चौथी लहरीमें प्रेमनिरूपिका भक्तिका वर्णन है।

पूर्व विभाग :

प्रथम लहरीमें सामान्याभक्तिका वर्णन करते हुए भक्तिका स्वरूप, लक्षण तथा तटस्थ लक्षण प्रस्तुत किया है। अन्य किसीकी अभिलाषासे शून्य ज्ञान और कर्मों आदिसे अनाच्छादित सर्वथा अनुकूल भावनासे श्रीकृष्णका अनुशीलन ही भक्ति है। पुनः इसके छह विशेषण प्रस्तुत किये गए हैं—क्लेशोंका नाश करनेवाली (क्लेशघ्नी), कल्याणोंको प्रदान करनेवाली (शुभदा), मोक्षको भी तुच्छ बना देनेवाली (मोक्षलघुताकृत), अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाली (सुदुर्लभा), अपरिमेय आनन्द-विशेषसे परिपूर्ण (सान्द्रानन्दविशेषात्मा), और भगवान्को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली (श्रीकृष्णाकर्षणी)। तदनन्तर क्लेश, सुख, मोक्ष, आनन्द, दुर्लभत्व तथा श्रीकृष्णके आकर्षणको विस्तारपूर्वक बताया गया है।

दूसरी लहरीमें 'साधनभक्ति'का विस्तारपूवक वर्णन है। साधनभक्तिका लक्षण करते हुए बताया गया है कि जा भक्ति साधकके व्यापारसे सिद्ध हो सकनेवाली हो और जिसके द्वारा भावरूपा भक्तिकी सिद्धि हो सकती हो, वह साधन भक्ति कहाती है। वैधी और रागानुगा भेदसे यह दो प्रकारकी होती है। वैधी भक्तिका लक्षण इस प्रकार है—"जिस भक्तिमें स्वाभाविक रागके न होनेसे केवल शास्त्रकी आज्ञाके वलसे साधककी प्रवृत्ति होती है वह वैधी भक्ति कहाती है।" वैधी भक्ति समस्त वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा समस्त आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) के नैत्यिक रूपमें करनी चाहिए। वैधी भक्तिके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारके अधिकारी बताये गए हैं। शास्त्र और तर्कमें निपुण, निश्चय पर दृढ़ रहने वाला, प्रौढ़ श्रद्धा समन्वित व्यक्ति उत्तम कोटिका भक्त है। शास्त्रमें निपुण न होनेपर भी श्रद्धावान् व्यक्ति मध्यम कोटिका अधिकारी होता है। शास्त्रमें अनिपुण और दुर्बल श्रद्धा-भावनाका व्यक्ति कनिष्ठ कोटिका अधिकारी कहाता है। इसी प्रसंगमें मोक्षकी स्पृहा न रखकर भक्तिको स्वीकार करनेवाले भक्तोंका पुराण आदि ग्रन्थोंके आधारपर लेखकने विस्तारसे वर्णन किया है। लेखकका प्रयत्न रहा है कि वह भक्तिकी तुलनामें मुक्तिको तुच्छ और हेय सिद्ध करे। भक्तिके अधिकारीका वर्णन करते हुए कहा है कि भागवत पुराण आदि शास्त्रोंके अनुसार भक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। शूद्र कहे जाने वाले व्यक्ति भी भक्तिका अधिकार रखते हैं। "अन्त्यजा अपितद्राष्ट्र शंखचक्रांक धारिणः। सम्प्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संवभः।" (पृष्ठ ३६)। भक्तिके अधिकारियोंको भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान न करने पर तो दोष होता है किन्तु प्रायश्चितादि रूप कर्मोंके न करनेपर दोष नहीं होता। प्रायश्चित करना वैधी भक्तिमें अनिवार्य नहीं समझा गया। इसके बाद वैधी भक्तिके चौंसठ अंगोंका सोदाहरण वर्णन किया गया है। इस वर्णनमें विविध पुराणोंसे उदाहरणोंका संकलन कर लेखकने भक्तिके अंगोंका प्रतिपादन किया है। तदनन्तर भक्तिमें कर्मको विहित रूपसे स्वीकृति प्रदान की है—"सम्मतं भक्ति विज्ञानां भक्त्यंगत्वंतु कर्मणाम्।" ज्ञान और वैराग्यको भक्ति के अनुकूल न समझकर इन दोनोंको भक्तिका अंग नहीं माना है। ज्ञान और वैराग्य दोनों चित्तकी कठोरताके हेतु हैं; इसलिए सुकुमार स्वभाववाली भक्तिके प्रति उनकी अंगता नहीं है। योगशास्त्रके यम-नियमादि भी भक्तिके अंग नहीं हैं। शास्त्र-प्रतिपादित प्रबल मर्यादासे युक्त होनेके कारण वैधी भक्तिको 'मर्यादा मार्ग' भी कहते हैं।

साधनभक्तिका दूसरा भेद 'रागानुगाभक्ति' कहाता है। रागानुगाभक्तिका स्वरूप-लक्षण प्रस्तुत करनेसे पूर्व लेखकने रागात्मिका भक्तिका संकेत देते हुए लिखा है—ब्रजकी गोपियोंमें स्पष्ट रूपसे विराजमान रागात्मिका (भावरूपासाध्य) भक्तिका अनुकरण करने वाली जो भक्ति है वह 'रागानुगा' भक्ति कहलाती है। श्रीकृष्ण (इष्टदेव) में स्वाभाविक रूपसे परम आकर्षणका नाम 'राग' है। जो भक्ति रागमयी है उसे रागात्मिका कहा जाता है। वह रागात्मिका भक्ति 'कामरूपा' और 'सम्बन्धरूपा' भेदसे दो प्रकारकी है। कामरूपा भक्ति वह है जिसमें भक्त गोपियों आदिकी सम्भोग-तृष्णाको अपना अंग बना लेता है। इसमें काम-तृष्णाके द्वारा अपने सुखकी प्राप्तिके लिए नहीं अपितु केवल कृष्ण सुखके लिए ही यत्न किया जाता है। यह भक्ति ब्रजगोपियोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध रूपमें पाई जाती

है। रागात्मिका भक्तिका दूसरा भेद सम्बन्धरूपा है। कृष्णके प्रति पितृत्व आदिके अभिमान को सम्बन्धरूपा भक्ति कहते हैं। इस भक्तिके उदाहरण नन्द, आभीर आदि हैं। नन्द आदिकी कृष्णमें ईश्वरत्व बुद्धि न होनेसे पितृत्वादि रूपेण रागकी ही प्रधानता है।

रागात्मिका भक्तिका यह प्रसंग आंशिक रूपमें यहाँ बीचमें प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः लेखकको रागानुगा भक्तिका विवेचन अभीष्ट है, उसीकी पृष्ठभूमिके रूपमें यह प्रसंगतः लिखा है। रागानुगा भक्तिका आधार राग तत्त्व है, अतः रागात्मिकाके समान इसके भी वे ही दो भेद कामरूपा और सम्बन्धरूपा हैं। कृष्णके प्रति प्रेमका लोभ जिसके हृदयमें हो वही रागानुगा भक्तिका अधिकारी है। स्त्री और पुरुष दोनोंको समान रूपमें रागानुगा भक्तिका अधिकारी बताया गया है।

तीसरी लहरीमें भावभक्तिका निरूपण किया गया है। मनकी विशुद्ध सत्वप्रधान अवस्थाका नाम 'भाव' है। इस अवस्थाका उदय होनेपर चित्तमें विशेष प्रकारकी आर्द्रता उत्पन्न होती है, इसलिए ग्रन्थकारने इसे 'चित्तमासृण्यकृत' कहा है। जब भक्ति वैधी और रागानुगा साधन (भक्ति) के अभ्याससे विशुद्ध सत्वप्रधान, और चित्तमें विशेष प्रकारके द्रवीभावको उत्पन्न करनेवाली बन जाती है तब उसको भाव कहते हैं। प्रेमरूप सूर्यकी किरणोंके समान, अपनी कांतियोंके द्वारा चित्तके द्रवीभाव (मासृण्य) को उत्पन्न करनेवाला, शुद्ध सत्व विशेष रूप वह (सामान्य भक्ति ही) भाव नामसे व्यवहृत होती है। (पृष्ठ ९१) प्रेमकी प्रथम अवस्था भाव कही जाती है। इसमें अश्रु, रोमांच आदि सात्विक भाव स्वल्प मात्रामें प्रकट होते हैं। यह भावभक्ति भगवान्‌की कृपा अथवा उनके भक्तोंकी कृपाका फल है। साधनोंके अनुष्ठानसे भी भावभक्तिका उदय होता है। इस प्रकार भावभक्तिके दो भेद हैं—साधनाभिनिवेशजन्य तथा भगवत्कृपाजन्य। भावभक्ति उत्पन्न होनेके बाद भक्तमें कुछ बाह्य चिह्न भी प्रकट होते हैं जिन्हें अनुभाव कहते हैं। भावभक्तिके अनुभाव इस प्रकार हैं—शान्ति (सहनशीलता), समयको व्यर्थ न खोना, वैराग्य, अभिमान-शून्यता, आशा, समुत्कण्ठा, नामकीर्तनमें रुचि, भगवान्‌के गुणगानमें प्रेम, भगवान्‌के वासस्थानमें प्रेम। भावभक्तिके वर्णनका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने मुमुक्षुओंमें भक्तिका अभाव सिद्ध किया है और उनके भगवत्प्रेमको रत्याभास तथा भावाभासके अन्तर्गत रखा है। योग और मोक्ष रूप कामनाओंसे परिपूर्ण मुमुक्षुको शुद्ध भगवत् रति प्राप्त नहीं होती।

चौथी लहरीमें प्रेमभक्तिका निरूपण किया गया है। भक्तिके प्रारम्भमें साधनभक्ति और साध्यभक्ति दो भेद किए थे। साधनभक्तिके पुनः दो भेद वैधी और रागानुगा भक्ति किए। साध्यभक्तिके भावभक्ति और प्रेमभक्ति दो भेद हैं। भाव और प्रेम दोनों साध्यभूत हैं। भावभक्ति प्रारम्भिक दशा है और प्रेमभक्ति उससे उच्चतर दशाका नाम है। प्रगाढ़ और प्रबल भावका नाम ही प्रेम है। प्रेमका लक्षण ग्रन्थकारने इस प्रकार किया है—"अन्तःकरणको अत्यन्त द्रवीभूत करा देनेवाला और अत्यधिक ममतासे युक्त सान्द्र भाव ही प्रेम नामसे व्यवहृत होता है।" प्रेमके दो भेद हैं—एक अपने पूर्ववर्ती भावसे उत्पन्न तथा दूसरा भगवान्‌की अत्यन्त लोकोत्तर कृपासे उत्पन्न। साधकोंके मनमें प्रेमके उत्पन्न होनेकी क्रमिक दशाओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि सबसे पहले श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है,

तदनन्तर साधु संग, भजन क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, विश्वास, रुचि, आसक्ति, भाव, और अन्तमें प्रेम ।

दक्षिण विभाग :

इस विभागमें ग्रन्थकारने साहित्य-शास्त्रकी रस-प्रक्रियाका अवलम्बन कर भक्तिको स्वतन्त्र रस सिद्ध करनेका यत्न किया है। भरतमुनिके 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' इस सूत्रके आधार पर रस-विवेचन किया जाता है। इस लक्षणसूत्र के अनुसार रसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्तिमें विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव और सात्विक भावकी आवश्यकता होती है। साहित्य-शास्त्रके इस रस-सिद्धांतको ज्यों-का-त्यों चरितार्थ करनेके लिए रूप गोस्वामीने इस विभागमें भक्तिरसका सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। इसी दृष्टिसे उन्होंने इस विभागका विभाजन पाँच लहरियोंमें रखा है। यह भगवद्भक्ति-रस-निरूपक विभाग है।

"सामग्री परिपोषेण परमा रसरूपता ।
विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ॥
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
एषा कृष्णरतिः स्थायीभावोभक्ति रसोभवेत् ॥"

—भक्तिरसामृत सिन्धुः, दक्षिणविभाग,
लहरी १, श्लोक ५-६ ।

अर्थात्—सामग्री (विभाव, अनुभाव आदि रूप) के द्वारा पुष्ट होनेसे इस पूर्वकथित भगवद्भक्ति (कृष्णरति) की परम रसरूपताका उपपादन करते हैं। विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव तथा व्यभिचारिभावोंके द्वारा श्रवण (मनन) आदिकी सहायतासे भक्तोंके हृदयमें आस्वाद्यताको प्राप्त हुआ यह भगवद्भक्ति (कृष्ण रति) रूप स्थायिभाव कहलाता है।

भक्तिरसका प्रतिपादन करनेके बाद भक्तिरस और आश्रय और उत्पत्ति प्रकारका वर्णन करते हुए लिखा है कि साधनरूपा वैधीभक्तिके द्वारा जिनके दोषोंका शमन हो गया है, ऐसे प्रसन्न और निर्मल चित्तवाले रसिकजनोंके संसर्गमें मग्न रहनेवाले भगवान्‌में अनुरक्त भक्तोंके हृदयमें, पूर्वजन्म तथा इस जन्मके संस्कारोंसे उज्ज्वल आनन्दरूपा रति ही आस्वाद्य योग्यताको प्राप्त होकर, कृष्ण रूप विभावके द्वारा देखनेसे प्रौढ़ आनन्दके चमत्कारकी पराकाष्ठाको प्राप्त होती है, उसीका नाम भक्तिरस है।

साहित्यशास्त्रके आधार पर रति आदिके कारण, कार्य तथा सहकारियोंको क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावके नामसे कहा जाता है, उसी प्रकार भक्तिरसमें भी ये स्वीकृत होते हैं। रति आस्वादनके जो कारण हैं वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं—एक आलम्बन और दूसरे उद्दीपन। कृष्ण और उनके भक्त आलम्बन विभाव हैं क्योंकि वे रतिके विषय तथा रतिके आधार होते हैं। कृष्णको साहित्यशास्त्रके धीरोदात्त नायकके समान अनेक गुणोंवाला बताया गया है। समस्त ६४ गुणोंका विस्तारसे परिगणन करके उन्हें चार भागोंमें विभक्त किया गया है। पुनः इन ६४ गुणोंके उदाहरण प्रस्तुत

किये गए हैं। तदनन्तर धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत और धीरोद्धत्त श्रीकृष्ण (नायक) का सोदाहरण वर्णन है। इसी प्रसंगमें श्रीकृष्णको १८ दोषोंसे रहित तथा आठ गुणोंसे युक्त बताया गया है।

कृष्ण-भक्तोंका वर्गीकरण करते हुए उन्हें साधक और सिद्ध दो भेदोंमें रखा गया है। जिनके भीतर कृष्णप्रेम तो पूरी तरह उत्पन्न हो गया है किन्तु निर्विघ्नताको जो प्राप्त नहीं हुए हैं वे 'साधकभक्त' कहलाते हैं। बिलमंगल इसी साधक कोटिके भक्त हैं। 'सिद्धभक्त' वह है जो किसी प्रकारके क्लेश (पंचक्लेश) का अनुभव न करता हुआ, भगवदर्पणबुद्धिसे कार्यरत, सतत प्रेम सुखका आस्वादन करता है। ये सिद्धभक्त दो प्रकारके होते हैं—सम्प्राप्तसिद्ध और नित्यसिद्ध। कृष्णभक्तोंका दूसरी प्रकारसे भी वर्गीकरण किया गया है जिसमें पाँच प्रकारके भक्त माने गये हैं—विरक्त, दासपुत्र, मित्र, गुरुवर्ग और प्रेयसीवर्ग।

भक्तिरसके उद्दीपन विभावके वर्णनमें उद्दीपनकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि जो भगवान्के प्रति प्रेमको उद्दीप्त करें वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं और वे श्रीकृष्णके 'गुण', 'चेष्टा' तथा 'अलंकरण' तीन प्रकारके होते हैं। गुण तीन प्रकारके हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। चेष्टामें रासलीला तथा दुष्टोंका वध आदि चेष्टाएँ हैं। अलंकरण में वस्त्रविन्यास, प्रसाधन, आकल्प आदि हैं। इन समस्त उद्दीपनोंका सोदाहरण विस्तारसे इस लहरीमें ग्रंथकारने वर्णन किया है।

दूसरी लहरीमें अनुभावोंका वर्णन है। साहित्य-शास्त्रमें अनुभाव शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए 'अनुपश्चात् भवन्तीति अनुभावाः' कहा गया है। भक्तिशास्त्रमें अनुभावोंका प्रयोजन वही है जो साहित्यशास्त्रमें है। रूप गोस्वामीकी व्याख्या इस प्रकार है—'अनुभाव तो चित्तमें स्थित मुख्य भावोंके बोधक होते हैं। वे प्रायः बाह्य विक्रिया रूप होते हैं और 'उद्भासुर' नामसे कहे जाते हैं। अनुभावके दो भेद हैं—शीत और क्षेपण। पाँच अनुभाव शीत हैं तथा आठ अनुभाव क्षेपण हैं। गाना, जँभाई लेना, लम्बी साँस भरना, लोककी परवाह न करना और लार टपकाना शीत हैं; शेष आठ नाचना, लोटना, चिल्लाना, देह मरोड़ना, हुंकार भरना, अट्टहास करना, चक्कर आना और हिचकी आना ये क्षेपण हैं। इस लहरीमें इन समस्त अनुभावोंके उदाहरणपूर्वक लक्षण आदि प्रस्तुत किये गए हैं।

तीसरी लहरीमें सात्विक भावोंका वर्णन है। सत्वकी परिभाषा करते हुए ग्रंथकारने लिखा है—''साक्षात् अथवा कुछ थोड़े व्यवधानसे कृष्ण-सम्बन्धी भावोंसे आक्रान्त चित्तको सत्व कहा जाता है। इस सत्वसे जो भाव उत्पन्न होते हैं वे सात्विक भाव कहलाते हैं। सात्विक भाव तीन प्रकारके हैं—स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष।'' इनकी संख्या साहित्यशास्त्रके समान आठ ही है। किन्तु स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्षका विभाजन सर्वथा मौलिक है। इसके अतिरिक्त सात्विक भावोंके प्रभावका भी नवीन शैलीसे वर्णन मिलता है। जहाँ केवल एक ही सात्विक भाव रहता है वहाँ धूमायित, जहाँ दो या तीन सात्विक भाव रहते हैं वहाँ ज्वलित, जहाँ तीन-चार या पाँच सात्विक भाव रहते हैं वहाँ दीप्त, और जहाँ छह या आठों सात्विक भाव उपस्थित रहते हैं वहाँ उद्दीप्त की स्थिति होती है। जहाँ उत्तेजना बहुत लम्बे काल तक (भूरिकालव्यापी) व्याप्त रहती है और समस्त अंगोंमें (बहुअंगव्यापी) फैल जाती है या अपने चरम उत्कर्ष पर (स्वरूपेण उत्कर्ष) होती है उसको भक्तिरसमें पृथक रूपसे वर्णित

किया गया है। ऐसा विभाजन साहित्यशास्त्रमें नहीं हुआ है। इसी सन्दर्भमें आभासोंका भी वर्णन हुआ है जो सात्विक भावोंसे मिलते-जुलते हैं। वे चार प्रकारके हैं—१. रत्याभास, २. सत्वाभास, ३. निःसत्व, ४. प्रतीप भाव।

चौथी लहरीमें व्यभिचारी भावोंका वर्णन है। व्यभिचारीको संचारी नामसे पुकारा जाता है। ग्रंथकारने व्यभिचारिभावकी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है :—

विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति।
वागङ्गसत्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते॥

अर्थात्—विशेष रूपसे और स्थायिभावके प्रति अनुकूलतासे चरण करते हैं (अर्थात् 'विशेषेण, आभिमुख्येन च स्थायिनं प्रति चरन्ति', इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यभिचारिभाव कहलाते हैं)। वाचिक, आंगिक और सात्विक रूप जो ३३ भाव हैं व्यभिचारिभाव कहलाते हैं और वे स्थायिभावकी गतिका संचालन करते हैं इसलिए उन्हें संचारिभाव भी कहते हैं।

साहित्यशास्त्रके समान भक्तिरस शास्त्रमें भी ३३ संचारियोंको स्वीकार किया गया है। उनकी संख्या इस प्रकार है—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति और बोध। इनके अतिरिक्त १३ संचारियोंका वर्णन और है किन्तु उनका ३३ के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। इन संचारियोंका वर्गीकरण इस ग्रंथमें विचित्र प्रकारसे किया गया है। उन्हें उस स्थितिमें स्वतन्त्र माना गया है जबकि वे स्थायिभावसे पृथक् रहकर स्वतन्त्र रूपसे विकासको प्राप्त होते हैं। दूसरे स्थान पर उन्हें परतन्त्र भी कहा गया है; जबकि वे स्थायिभावके अनुवर्ती होकर आते हैं, परतन्त्र हैं। अनुवर्ती होकर आया हुआ संचारिभाव साक्षात् या व्यवहित होगा अथवा दो भिन्न रसोंके अधीन होगा। स्वतन्त्र संचारिभाव या तो रति शून्य (स्थायीके सम्पर्कसे रहित) होगा या रति गंधिन् (स्थायीका संकेत देनेवाला) होगा। अन्तमें भावोंके प्रातिकूल्य तथा अनौचित्यका विचार करनेके बाद इस लहरीका उपसंहार भावोत्पत्ति, भावशबलता और भावशान्ति के वर्णनके साथ होता है।

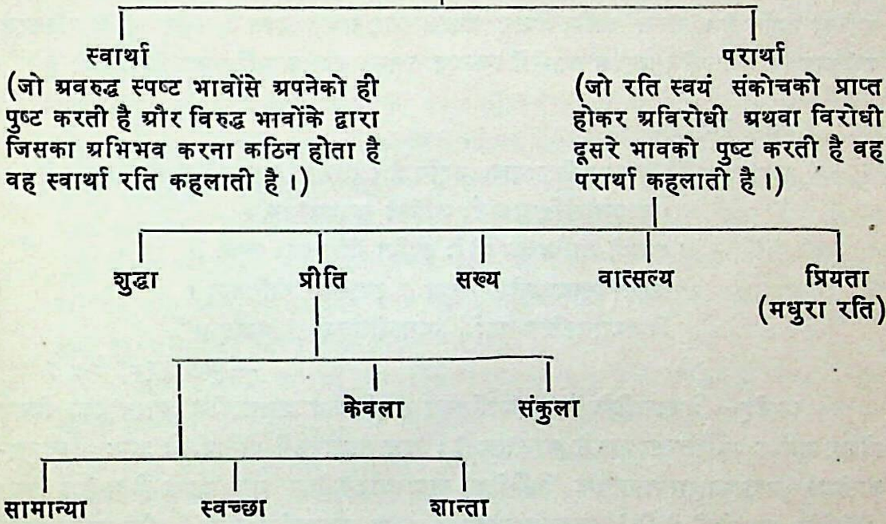
पाँचवी लहरीमें स्थायिभावोंका सविस्तार वर्णन किया गया है। स्थायी भावकी परिभाषा निम्न प्रकार है—

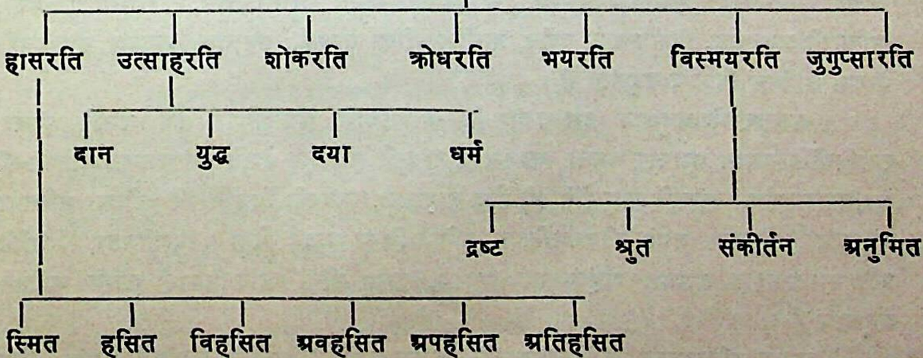
"अविरुद्धान विरुद्धांश्च भावान् यो वशतांनयन्।
सुराजेत विराजेत स स्थायीभाव उच्यते॥"

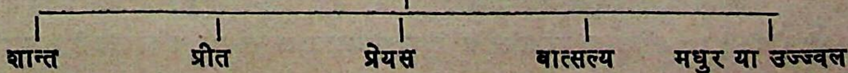
अर्थात्—जो भाव अविरुद्ध और विरुद्ध भावोंको अपने वशमें करके उत्तम राजाके समान शोभित होता है वह स्थायिभाव कहलाता है। भक्तिशास्त्रमें श्रीकृष्ण विषयक रति ही 'स्थायिभाव' है। यह-रति दो प्रकारकी है—मुख्यारति और गौणीरति। रूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में स्थायिभाव तथा रसोंका स्वरूप तो वही स्वीकार किया है जो साहित्यशास्त्रमें स्वीकृत है अर्थात् नौ रस तथा नौ उनके स्थायिभाव, किन्तु उनका वर्गीकरण और व्यवहार भिन्न प्रकारसे किया है।

वैष्णवभक्ति पद्धतिमें मूल स्थायिभाव वह अनुभूति है जो कृष्णको आलम्बन रूपमें

स्वीकार करती है अर्थात् श्रीकृष्णविषया रति ही स्थायी है। साहित्यशास्त्रके नौ स्थायि-भावोंको श्रीकृष्णविषयारतिके आधारपर ही आँका जाता है। कृष्णरतिके मुख्य स्थायिभावों तथा गौण स्थायिभावोंका रूप गोस्वामीने अपनी शैलीसे वर्गीकरण किया है जो निम्नलिखित तालिकाके आधारपर हृदयंगम किया जा सकता है :—







२. गौण भक्तिरस

हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रुद्र	भयानक	वीभत्स

पश्चिम विभाग :

पश्चिम विभाग पाँच लहरियोंमें विभक्त है। इस विभागका प्रतिपाद्य मुख्य भक्ति-रसोंका वर्णन है। शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर भक्ति ये पाँच मुख्य भक्तिरस स्वीकार किये गए हैं। प्रत्येक लहरीमें एक-एक रसका सांगोपांग निरूपण किया गया है।

प्रथम लहरी :

प्रथम लहरीमें शान्त भक्तिरसका वर्णन है। शान्त रसका लक्षण इस प्रकार है :

"वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतांगतः।
स्थायी शान्तिरति धीरैः शान्ति भक्तिरसः स्मृतः ।।
प्रायःस्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम् ।
किन्त्वात्मसौख्यमघनं घनत्वीशमयं सुखम् ।।"

—पृष्ठ ३१८, ४-५ ।

अर्थात्—विभावादिके द्वारा शान्तिरूप स्थायिभाव शमवानोंके आस्वादका विषय होकर शान्ति भक्तिरस नामसे कहलाता है। इस शान्तरसमें योगियोंको प्रायः (स्वसुख-जातीय) आत्मसाक्षात्कारात्मक निर्विशेष ब्रह्मास्वादसहोदर सुख प्राप्त होता है। किन्तु (विशेषता यह होती है कि) आत्मसाक्षात्कारका सुख घनत्वहीन होता है और भगवत्साक्षा-त्कारमय (ईशमयं सुखं अर्थात्) सुख घनत्वमय होता है।

चतुर्भुज कृष्ण तथा शान्त भगवद्भक्त इसके आलम्बन विभाव होते हैं। उपनिषद् श्रवण, एकान्तसेवन, अन्तर्मुखीवृत्ति, कृष्णरूपकी स्फूर्ति, तत्त्वविवेचन, विद्याकी प्रधानता, शक्तिकी प्रधानता, विश्वरूपका दर्शन, ज्ञानी भावोंका सम्पर्क, ब्रह्मसत्र (ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्चा) ये दस उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

शान्तरसके अनुभाव इस प्रकार हैं—नासिकाके अग्रभागपर नेत्र जमाये रहना, त्यागियोंके समान व्यापार करना, चार-पाँच हाथकी दूरी तक देखते हुए चलना, ज्ञानकी-सी मुद्राका प्रदर्शन, कृष्णके शत्रुओंसे भी द्वेष न करना, कृष्णके प्रियोंमें भी अधिक भक्तिका न रखना, सिद्धत्व तथा जीवनमुक्तिके प्रति अधिक आदर होना, उदासीनता, किसीके प्रति ममताका न रखना, अहंकारका अभाव, तथा मौन आदि क्रियाएँ शान्त भक्तिके अनुभाव हैं।

शान्त भक्तिरसके सात्विकभाव हैं—प्रलय अर्थात् मूर्च्छाको छोड़कर रोमांच, स्वेद, कम्प आदि। निर्वेद, धृति, मति, हर्ष, स्मृति, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, वितर्क आदि संचारिभाव हैं।

शान्त भक्तिरसका स्थायिभाव 'शान्ति' है। यह समा और सान्द्रा भेदसे दो प्रकार की होती है। भक्तिरस परोक्षात्मक तथा साक्षात्कारात्मक दो प्रकारका है। शान्तिरसके

बिना मनुष्यकी बुद्धि भगवन्निष्ठ नहीं हो सकती, अतः शान्तिरसकी स्वीकृति अनिवार्य रूपसे आवश्यक है।

दूसरी लहरी :

दूसरी लहरीमें प्रीतिभक्ति रसका वर्णन है। प्रीतिभक्तिरसका लक्षण इस प्रकार है :

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिभक्तिरसोमतः॥

अर्थात्—अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तोंके हृदयमें आस्वादन योग्यताको प्राप्त हुई प्रीति ही 'प्रीतिभक्तिरस' कहलाती है। इसके दो भेद हैं—सम्भ्रम प्रीति और गौरवप्रीति। अपनेको दास माननेवाले भक्तोंकी कृष्णके विषयमें सम्भ्रमतरा (भयमिश्रित) प्रीति होती है। इस सम्भ्रमप्रीतिके आलम्बन विभाव कृष्ण तथा उनके दास होते हैं। कृष्ण आलम्वन गोकुलवासियोंके लिए द्विभुज तथा अन्य लोगोंके लिए कहीं द्विभुज और कहीं चतुर्भुज कृष्ण हैं। आश्रय रूपमें दास भी चार प्रकारके हैं—अधिकृत, आश्रित, पारिषद् और अनुगामी। इनमें अधिकृतको छोड़कर शेष तीन प्रकारके दासोंके तीन भेद होते हैं—नित्यसिद्ध, सिद्ध तथा साधक।

प्रीतिभक्तिके उद्दीपन विभावमें अनुग्रहकी सम्प्राप्ति, चरणधूलिकी प्राप्ति, उनके उच्छिष्टान्नका ग्रहण तथा उनके भक्तोंकी संगति विशेष रूपसे उद्दीपक माने जाते हैं। अनुभावोंके अन्तर्गत कृष्णके प्रति अपने कर्त्तव्योंका सर्वतोभावेन स्वीकार करना, कृष्णभक्तों के प्रति ईर्ष्यालवसे रहित मैत्रीभाव तथा सर्वात्मना कृष्णनिष्ठ होकर रहना है।

सम्भ्रम प्रीतिभक्ति में रसके स्तम्भादि समस्त सात्विक भाव गृहीत होते हैं। व्यभिचारिभावोंमें हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, दैन्य, विषाद, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, औत्सुक्य, चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा, जाड्य, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, श्रम, व्याधि और मरणको स्वीकार किया जाता है। मद आदि शेष आठ व्यभिचारी भाव इसमें अधिक पोपक नहीं होते।

सम्भ्रम प्रीतिरसका स्थायिभाव कृष्णकी प्रभुता-ज्ञानके कारण चित्तमें आदर सहित कम्प होता है। उससे अभिन्न प्रीति ही सम्भ्रम प्रीति है, वही स्थायिभाव है। यह सम्भ्रम प्रीति ही उत्तरोत्तर विकासको प्राप्त होती हुई प्रेम, स्नेह और राग तीन प्रकारकी होती है। इस सम्भ्रम प्रीतिके अयोग और योग दो भेद और किये गए हैं।

गौरवप्रीतिका लक्षण है :—

"लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिर्गौरवोत्तरा।
सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीति उच्यते॥"

अर्थात्—अपनेको कृष्णका कृपापात्र माननेवालोंमें (लाल्याभिमानिनां) कृष्णके प्रति गौरवप्रधान प्रीति होती है, वही विभावादिकों द्वारा परिपुष्ट होकर 'गौरव प्रीति' कहलाती है। 'गौरव प्रीति' के आलम्बन विभाव कृष्ण तथा कृष्णके कृपापात्र (लाल्य) आश्रय आलम्बन होते हैं। इस भक्तिके उद्दीपन विभावोंमें कृष्णका भक्तोंके प्रति वात्सल्य और मुस्कराकर

देखना आदि माने जाते हैं। अनुभावोंमें प्रणाम करना, शान्त रहना, संकोचशील रहना, विनयका बाहुल्य, आज्ञा पालन, सिर नीचा रखना, स्थिरता, खाँसने और हँसनेका परित्याग, कृष्णकी गुप्त क्रीड़ा आदिसे दूर रहना आदि हैं। सात्विक भाव स्तम्भादि माने जाते हैं। पूर्व वर्णित व्यभिचारी भाव गौरव प्रीतिमें भी स्वीकृत होते हैं।

कृष्णमें पितृत्व या गुरुत्व बुद्धिसे जो भाव पैदा होता है और उनके सेवकोंमें कृष्णके प्रति जो स्वाभाविक गौरव-भावना आदि है वही गौरव प्रीति रूप स्थायिभावकी सृष्टि करने वाली होती है। इसके प्रेम, स्नेह और राग तीन भेद होते हैं तथा संयोग-वियोग भेदसे यह दो प्रकारकी होती है।

तीसरी लहरी :

तीसरी लहरीमें 'प्रेयोभक्ति' का वर्णन है। प्रेयोभक्ति (सख्यभक्ति) का लक्षण इस प्रकार है :—

> स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
> नीतिश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥
>
> —पृष्ठ ३६५॥१॥

अर्थात्—सख्यरूप स्थायिभाव अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा सहृदयोंके चित्तमें पुष्टिको प्राप्त होकर प्रेयान् (प्रेयोभक्ति) रस कहलाता है।

प्रेयोभक्ति रसके आलम्बन कृष्ण तथा उनके सखा माने जाते हैं। कृष्णको यहाँ द्विभुजके रूपमें स्वीकार किया जाता है। कृष्ण बुद्धिमान, चतुर, दयालु, क्षमाशील, लोकप्रिय, समृद्धिशाली, वाग्मी पण्डित हैं।

आलम्बन विभावमें सखागण माने जाते हैं जो रूप, वेश, गुण आदिमें कृष्णके समान, विश्वस्त हृदयवाले और अधिक नियन्त्रणसे रहित होते हैं। इन मित्रगणोंके पुरजन, व्रजजन, सुहृद् आदि भेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रेयोभक्ति रसके उद्दीपन विभावमें कृष्णकी आयु, रूप, अंग, बाँसुरी और शंख हैं। कृष्णका हास्य-विनोद, पराक्रम, राजा, देवता, अवतार आदिकी चेष्टाओंका अनुकरण भी उद्दीपन हैं। उद्दीपन विभावके अन्तर्गत कृष्णकी आयुका वर्णन तीन रूपोंमें किया गया है—कौमार, पौगण्ड, कैशोर। इन तीनों अवस्थाओंका सोदाहरण निरूपण है।

प्रेयोभक्तिरसके अनुभावोंमें कन्दुक क्रीड़ा, द्यूतक्रीड़ा, कुश्ती, वाद्य, सवारी आदि द्वारा कृष्णको प्रसन्न करनेका वर्णन रहता है। अनुभावोंमें और भी अनेक प्रकारकी प्रणय-लीलाओंका परिगणन किया गया है। स्तम्भादि सात्विक भाव प्रेयोभक्तिमें भी गृहीत होते हैं। उनमें कोई परिवर्तन या नवीनता नहीं है।

प्रेयोभक्तिके स्थायिभावका लक्षण निरूपित करते हुए कहा गया है कि भय आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर उस भयकी गंध से भी रहित रतिको प्रणय स्थायिभाव कहते हैं। उसके भी प्रेम, स्नेह, राग तीन भेद हैं।

प्रीति भक्तिरस तथा वत्सल भक्तिरसमें कृष्ण तथा उनके भक्त दोनोंके स्नेहकी भिन्नता रहती है—एक जातीयता नहीं होती—इसलिए सारे रसोंमें प्रेयोभक्तिरस ही सर्व-

प्रिय माना जाता है। सख्यभावपूर्ण हृदयवाले सहृदय ही उसका अनुभव कर सकते हैं।

चौथी लहरी

चौथी लहरीमें वत्सल भक्तिरसका वर्णन है। वत्सल भक्तिरसको वात्सल्य शब्दसे भी व्यवहृत किया जाता है। कृष्ण और उनके गुरुजन इस रसके आलम्बन विभाव हैं। मिष्टभाषी, सरल प्रकृति, लज्जाशील, विनयी, पूजनीय जनोंका आदर करनेवाला कृष्ण इस रस में आलम्बन होता है। इन गुणोंसे युक्त कृष्णको ईश्वर रूपके प्रभावसे रहित रूपमें ज्ञात होनेपर ही विभाव माना जाता है। वात्सल्य रसका उद्दीपन विभाव कौमार आयु, रूप, वेष, शैशवका चापल्य, बात करना, मुस्कराना, लीला आदि को माना जाता है। उद्दीपनमें कृष्णकी कौमार तथा पौगंड आयुकी लीलाओंका वर्णन किया जाता है। स्तम्भादि नौ सात्विक भाव तथा अपस्मार सहित प्रीति भक्तिरसमें वर्णित व्यभिचारी भाव इसमें गृहीत होते हैं। स्थायी भावका लक्षण इस प्रकार है:—

> "सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
> रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायीभावो निगद्यते।।"

अर्थात्—अनुकम्पा करनेवाले गुरुजनोंकी अनुकम्पनीयके प्रति भयादिसे रहित जो रति होती है उसीको यहाँ (वत्सल रसमें) वात्सल्य नामक स्थायिभाव कहते हैं।

वत्सलको रस स्वीकार करनेवाले नाट्यशास्त्रके पंडित भी हैं, उनके मतमें वत्सल रसका स्थायिभाव वत्सलता है और पुत्रादि इसके आलम्बन विभाव हैं।

पंचम लहरी

पाँचवीं लहरीमें मधुर भक्तिरसका वर्णन है। मधुर भक्तिरसका लक्षण इस प्रकार है:—

> "आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीतासतां हृदि।
> मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः।।१।।
> निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
> रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते।।२।।"

अर्थात्—अपने अनुरूप विभावादिकोंके द्वारा सहृदयोंके हृदयमें पुष्टिको प्राप्त मधुरा रतिको 'मधुर भक्ति रस' कहा जाता है। विरक्त जनोंके लिए उपयोगी न होनेसे, दुरूह होनेसे और गोप्य होनेके कारण विस्तृत अंगोंवाला होनेपर भी उसका वर्णन किया जाता है। इस मधुर भक्ति रसमें कृष्ण तथा उनकी प्रिय सुन्दरियाँ आलम्बन विभाव होती हैं। उनकी प्रेयसियोंमें राधा सबसे मुख्य है—'प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी।' उद्दीपन विभावमें मुरलीध्वनि आदि हैं तथा कटाक्ष, स्मित आदि अनुभाव हैं। मधुर भक्ति ही मधुर भक्तिरसका स्थायिभाव है। राधा और कृष्णकी यह रति सजातीय अथवा विजातीय किसी प्रकारके भावोंसे कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेदसे यह रस दो प्रकारका होता है। इस भक्ति रसकी सामग्री ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार साहित्य-शास्त्रमें शृङ्गार रसकी स्वीकृत होती है।

उत्तर विभाग

भक्तिरसामृतसिन्धुका चौथा अध्याय 'उत्तर विभाग' है। इस विभागमें नौ लहरियाँ हैं जिनमें प्रथम सात लहरियोंमें सात गौण रसोंका तथा आठवीं लहरीमें रसोंकी परस्पर मैत्री तथा वैर-स्थितिका और नवीं लहरीमें रसाभासोंका वर्णन किया गया है।

इन सात गौण भक्तिरसोंके आलम्बन विभाव पूर्वोक्त पाँच प्रकारके भक्तोंमेंसे ही कहीं एक और कहीं अनेक भक्तगण होते हैं। सबसे प्रथम हास्य रसका निरूपण किया गया है। हास्य रति छह प्रकारकी मानी गई है—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित। उत्तम पात्रोंमें स्मित तथा हसित; मध्यम पात्रोंमें विहसित तथा अवहसित; और नीच पात्रोंमें अपहसित तथा अतिहसित भेद रहते हैं। इन छहों भेदों का सोदाहरण स्वरूप भी इस लहरीमें विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है।

दूसरी लहरीमें अद्भुत भक्तिरसका वर्णन है। अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तके चित्तमें आस्वाद्यताको प्राप्तवह लोकप्रसिद्ध विस्मय रतिको अद्भुत रस कहते हैं। इसमें सब प्रकारके भक्त विस्मयके आश्रय हो सकते हैं, किन्तु लोकोत्तर क्रियाका हेतु कृष्ण ही उसके आलम्बन विभाव होते हैं। कृष्णकी विशेष प्रकारकी चेष्टा उद्दीपन तथा नेत्रोंका फैलना, अश्रु, रोमांच आदि अनुभाव हैं। आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। यह रस साक्षात् तथा अनुमित रूपसे दो प्रकारका होता है।

तीसरी लहरीमें वीर भक्तिरसका वर्णन है। साहित्यशास्त्रके अनुरूप उत्साह रति अपने अनुरूप विभाव आदि के द्वारा आस्वादकी योग्यताको प्राप्त कराई जानेपर वीर रस भक्ति कहलाती है। वीर भक्तिरस चार प्रकारका होता है—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर। कृष्णको प्रसन्न करनेके लिए युद्धमें उत्साह रखनेवाला मित्र या कोई विशेष सम्बन्धी **युद्धवीर** कहलाता है। कभी कृष्ण स्वयं अथवा कभी उनके प्रेक्षक रूपमें स्थित होनेपर उनकी इच्छासे कोई दूसरा उत्तम मित्र प्रतियोद्धा होता है। प्रतियोद्धामें रहनेवाले आत्मश्लाघा, ताल ठोकना, अस्त्र उठाना आदि इस वीर रसमें उद्दीपन होते हैं। चार प्रकारके वीर भक्तिरसोंमें सभी सात्विक वृत्तिके होते हैं। दानवीरमें कृष्णके लिए अपना सर्वस्व दान कर देनेवाला बहुप्रद **दानवीर** कहलाता है। दानवीरोंके भी अनेक भेदोंका इस प्रसंगमें वर्णन किया गया है। कारुण्य के कारण द्रवीभूत होकर जो कृष्णको अपना शरीर टुकड़े-टुकड़े करके अर्पित करदे वह **दयावीर** कहलाता है। दया का उद्रेक करानेवाला उत्साह दयोत्साह कहलाता है। वही इस रसका स्थायिभाव होता है। मयूर-ध्वज राज्य इसका उदाहरण है। वोपदेवने दयावीरको दानवीरके भीतर ही रखा है और तीन भेद स्वीकार किये हैं।

धर्मवीर वह भक्त है जो केवल कृष्णको प्रसन्न रखनेके लिए धर्मानुष्ठानमें लगा रहता है। धर्मोत्साह रतिको विद्वान् इसका स्थायिभाव मानते हैं। धनिक नामक आचार्यने इस धर्मवीर भेदको पृथक् स्वीकार नहीं किया है।

चौथी लहरीमें करुण भक्तिरसका प्रतिपादन है। करुण भक्तिरसमें सर्वदा आनन्दसे परिपूर्ण होनेपर भी विशेष प्रेमके कारण कृष्ण और उनके प्रिय इस रसमें अनिष्ट-प्राप्तिके पात्र अर्थात् करुण रसके विभाव रूपमें प्रतीत होते हैं। कृष्ण, उनके प्रियजन तथा

तीसरा वह जिसने कृष्ण भक्तिका सुख प्राप्त नहीं किया है इस भक्तिके आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। रोना, चिल्लाना, पृथ्वीपर गिरना-लोटना, छाती पीटना आदि सात्विक भाव होते हैं। हृदयमेंसे अंशतः शोक रूपमें परिणत हुई रति शोकरति कहलाती है और वही इसमें स्थायिभाव मानी जाती है।

पंचम लहरीमें रौद्र भक्ति रसका वर्णन है। कृष्ण, कृष्णके मित्र तथा कृष्णके शत्रु, ये तीनों क्रोधके विषय (आलम्बन) होते हैं। कृष्णके विषयमें सखी तथा वृद्धा आदि क्रोधके आश्रय (कृष्णपर क्रोध करनेवाले) होते हैं। इस रसमें क्रोध रति स्थायिभाव होता है। यह क्रोध तीन प्रकारका माना गया है—क्रोध, मन्यु तथा रोष। कोप शत्रुके प्रति होता है, बांधवोंके प्रति मन्यु तथा प्रियतमके प्रति स्त्रियोंका क्रोध रोष कहलाता है। कृष्णके प्रति शिशुपाल आदि शत्रुओंका क्रोध रतिके अभावमें भक्तिरसताको प्राप्त नहीं होता।

छठी लहरीमें भयानक भक्तिरसका वर्णन है। भयानक भक्तिरसके आलम्बन कृष्ण और दारुण (भयानक लोग) होते हैं। दया करने योग्य व्यक्तियों के आराधन करने पर कृष्ण भयानक भक्तिरसके आलम्बन बनते हैं और स्नेहके कारण सदा अनिष्टकी आशंका करनेवाले कृष्णके बन्धुओंके विषयमें दारुण—भयानक लोग—आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। भयजनक वस्तुओं के दर्शन, श्रवण तथा स्मरणसे भयके आलम्बन विभाव होते हैं।

सातवीं लहरीमें वीभत्स भक्तिरसका वर्णन है। जुगुप्सारति ही वीभत्सरति नामसे पुकारी जाती है। इसके आश्रित तथा शान्त आदिको आलम्बन विभाव कहा जाता है। इस रसकी उत्पत्तिके विषयमें उदाहरणपूर्वक यह बताया गया है कि जो पुरुष पहले काम-लिप्त रहकर स्त्री-सुखका अभ्यस्त था वही कृष्णभक्तिमें निमज्जित होकर जब स्त्री-मुखको देखता है तब उसके भीतर घृणाका भाव पैदा होता है और वह स्त्री की ओरसे जुगुप्सा भावसे मुँह मोड़ लेता है। यह जुगुप्सारति दो प्रकारकी होती है—एक प्रायिकी और दूसरी विवेकजा। अपवित्र तथा घृणित दुर्गन्धपूर्ण पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाली जुगुप्साको प्रायिकी जुगुप्सा रति कहते हैं और कृष्ण-प्रेमके कारण देहादिके प्रति विरक्तिसे उत्पन्न जुगुप्साको विवेकजा कहते हैं।

अष्टम लहरीमें रसोंकी पारस्परिक मैत्री तथा वैर-दशाका वर्णन किया गया है। भक्तिरसोंको रूप गोस्वामीने मुख्य और गौण भेदोंमें विभक्त किया है। मुख्य भक्तिरसके अन्तर्गत जिन पाँच रसोंको गिनाया गया है उनकी शत्रुता-मित्रताका लेखकने बड़े विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। साहित्यशास्त्रके अन्य ग्रंथोंसे इस प्रकरणमें पर्याप्त नवीनता पाई जाती है। गौण रसोंका मैत्री-विरोध विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। रसोंके अंगीभूत और अंगभूत होनेका वर्णन भी कारणपुरस्सर प्रस्तुत किया गया है। यह अंगांगिभाव निरूपण साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे भी अत्यन्त उपादेय है। जिन रसोंका पारस्परिक विरोध बताया गया है उसके परिहारके नियमोंका भी उल्लेख है। विरोधी रसोंमें विरसताके हटानेके उपाय भी गिनाये गए हैं। इस लहरीका विषय सम्पूर्ण रूपसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थोंसे मेल न खानेपर भी सुन्दर एवं पठनीय है।

नवम लहरीमें रसाभास प्रकरण है। रस-लक्षणसे हीन रस ही रसाभास कहा जाता

है। रसाभासके तीन प्रकार हैं—उपरस, अनुरस तथा अपरस। ये क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ होते हैं। प्रत्येक रसके रसाभासोंका इस लहरीमें सोदाहरण सविस्तर वर्णन है। रसाभास काव्यशास्त्रमें विवादका विषय रहा है। रस निर्मल होता है—निर्मलता-विहीनको रस नहीं माना जा सकता। अनौचित्यमें रसका निर्वाह सम्भव ही नहीं है। सद्-हेतु और हेत्वाभास एक ही स्थानपर नहीं रहते, अतः रस और रसाभास एक स्थान पर नहीं हो सकते। दूसरा मत है कि इनके एक स्थानमें रहनेकी सम्भावना वैसे ही ठीक है जैसे घोड़ेमें अनुचित दोष आदि रहनेपर भी उसके स्वरूपका नाश नहीं होता—घोड़ा, घोड़ा ही रहता है। उसी प्रकार दोष होनेसे रसाभाव होनेसे रसत्वका सर्वथा लोप नहीं मानना चाहिए। रूप गोस्वामीने इस विवादको प्रत्यक्ष रूपसे यहाँ उठाया नहीं है, किन्तु अपनी परिभाषामें इसका समाधान देनेका प्रयत्न किया है।

—विजयेन्द्र स्नातक



भक्ति-रस-मीमांसा

डॉ० रामसागर त्रिपाठी

विषय-प्रवेश

तत्त्व-चिन्तन सदा लक्ष्य परीक्षाका अनुगामी होता है और पर्याय रूपमें लक्ष्य-प्रवृत्ति भी परिस्थितिका आधार लेती है। 'नर भाषा' अथवा 'धारा नदी' की भाँति काव्य-विषय या काव्य-स्वरूप भी कहीं स्थिर नहीं होता, किन्तु अनेक मोड़ लेता हुआ चलता है। नवीन विचारधाराओंके सम्पर्कसे साहित्य-क्षेत्रमें जो नवोन्मेष होते रहते हैं तथा काव्य-कलेवरके जो अङ्ग बढ़ते रहते हैं उनसे कालान्तरमें काव्यशास्त्र-रूपी वस्त्र छोटे और असामयिक हो जाते हैं और परवर्ती विचारकोंको नवान दिशामें चिन्तन करनेके लिए बाध्य हो जाना पड़ता है जिससे प्रवहमान चिन्ताधारा चिर नवीनताके साथ रमणीयताका अधिष्ठान वन जाया करती है। हमारे आचार्योंने शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छासे काव्य-प्रवृत्तिका निषेध किया है, उसका भी आशय यही है। 'नतु केवलया शास्त्रस्थिति सम्पादनेच्छया।'

उपनिषत्कालसे चली आती हुई दार्शनिक चिन्ताधाराने दक्षिणके मध्यकालीन महात्माओंके हाथमें पड़कर नवीन मोड़को स्वीकार कर लिया था। फलतः शाक्त, शैव और वैष्णव विचारधाराएँ जनमानस पटल पर अङ्कित होकर नवीन आन्दोलनका सृजन कर रही थीं। अद्वैतवादके प्रतिरोधमें विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक विचारधाराएँ अपना स्थान बना चुकी थीं। इस नवीन मोड़में निर्वाणोन्मुख बौद्ध-धर्मका शाखा-प्रशाखाओंमें विभाजन, जनसाधारणमें प्रचलित साधनामूलक अनेक मतवाद और अन्ततः मुसलमानोंका प्रवेश कम कारण नहीं हुआ था। इन समस्त विचारधाराओंका काव्यका प्रभावित करना अनिवार्य हो गया था। परिवर्तनके लक्षण श्रीमद्भागवतसे और विशेषकर जयदेवसे ही दृष्टिगत होने लगे थे। धीरे-धीरे काव्य-प्रवृत्ति ही बदल गई और भक्तिमूलक नवीन काव्यधारा भक्त-कवियोंके मानससे उद्भूत होकर काव्यरसिकों की अन्तस्तल भूमियोंको आप्यायित और आप्लावित करने लगी जिसके अभिषेकका पुनीत पर्व समयकी एक विशेष घटना बन गई। यह स्वीकार करनेके अनेक कारण हैं कि जिस भक्ति-साहित्यका प्राधान्य मध्यकालमें हो गया था उसके बीज भले ही हमारे साहित्यमें उपलब्ध हो जावें अथवा उस प्रकारकी प्रवृत्ति हमारे लिये नवीन भले ही न रही हो, किन्तु भक्ति-काव्य अपने मध्यकालीन रूपमें किसी विशेष समयकी सामान्य प्रवृत्ति कभी नहीं रही, इस मान्यताका निराकरण किञ्चित् अशक्य अवश्य है। यह दूसरी बात है कि उक्त प्रवृत्ति भारतीय मनोवृत्तिके विपरीत नहीं थी, इसीलिए अनायास ही उसे स्वीकार कर लिया गया तथा उसे अभूतपूर्व कभी नहीं माना गया। काव्य-प्रवृत्तिके साथ नवीन दिशाको शास्त्रबद्ध

करनेकी चेष्टा अनिवार्य आवश्यकता थी और इस कार्यको संस्कृत तथा हिन्दीके कतिपय आचार्योंने सम्पन्न करनेकी चेष्टा की। बंगालमें चैतन्यदेवने १५वीं शतीमें जिस वैष्णव आन्दोलन और विश्वासको प्रगति दी थी उसी महान् वट-वृक्षकी कतिपय शाखाएँ गोस्वामियोंकी परम्पराके रूपमें वृन्दावनमें प्रस्फुटित हुई थीं। भक्तिरसके निरूपणकी दिशामें इन गोस्वामियोंका योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामियोंमें भी रूप गोस्वामी अग्रगण्य हैं। इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—(१) भक्तिरसामृतसिन्धु—इसमें भक्तिकी रसरूपताका प्रतिपादन किया गया है। (२) उज्ज्वल नीलमणि—यह भक्ति रसामृतसिन्धुका परिशिष्ट जैसा ग्रन्थ है जिसमें मधुर अथवा उज्ज्वल भक्तिका शास्त्रीय निरूपण किया गया है और (३) नाटक चन्द्रिका—इसमें भरतके नाट्यशास्त्रका अनुसरण किया गया है। भक्तिरसके शृङ्गारमूलक गुह्यरहस्यके प्रस्थापनमें प्रथम दो पुस्तकोंका सर्वाधिक महत्त्व है।

पृष्ठभूमि

रूप गोस्वामीके भक्ति रहस्यको ठीक रूपमें हृदयङ्गम करनेके लिए रस सिद्धान्तकी प्राक्तन परम्परासे परिचय प्राप्त करना अत्यधिक अभीष्ट है। कारण यह है कि कोई भी नवीन तत्त्वचिन्तन प्राचीन परम्परासे सर्वथा व्यवच्छिन्न नहीं हो सकता। रूप गोस्वामीका रस सिद्धान्त यद्यपि मौलिक चिन्तनके कारण नवीन जैसा प्रतीत होता है तथापि उसमें प्राचीन चिन्तकोंकी हेतुता तो सन्निहित है ही। अतः व्यतिरेकका परिज्ञान करनेके लिए भी मुख्य विचारधाराका परिचय प्रयोजनीय होता ही है।

रस विषयक चिन्तन-परम्पराका उदय तो बहुत पहले हो चुका था, किन्तु उपलब्ध साहित्यमें उसका प्रवर्तन भरतसे ही माना जाता है। भरतने रस-निष्पत्तिका सूत्र रूपमें निर्देश किया था और केवल पानक-रसन्यायका दृष्टान्त देकर सन्तोष कर लिया था। बादमें उसकी अनेक व्याख्याएँ हुईं जिनका समाहार अभिनवगुप्तमें पाया जाता है। अभिनवका रस सिद्धान्त ही परवर्ती विचारकोंमें सामान्य सिद्धान्त-भूमिके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया और कुछ हेर-फेरसे उसीकी व्याख्या की जाती रही।

अभिनवका रस सिद्धान्त साधारणीकरणकी प्रक्रियापर आधारित है। यह साधारणीकरण भट्ट नायकका एक अतिरिक्त वृत्तिजन्य साधारणीकरण नहीं है, अपितु सामान्य शास्त्रीय मर्यादासे उद्भूत हुआ है। भारतीय चिन्ताधाराओंमें साधारणीकरण किसी-न-किसी रूपमें प्रायः अपनाया गया है। शब्दशास्त्रमें व्यवहार-निर्वाहके लिए घटादिका शक्ति-ग्रहण विशिष्टमें नहीं, सामान्यमें ही माना जाता है। तर्कशास्त्रमें भी व्याप्ति-ग्रहण तभी हो सकता है जब विश्वके समस्त अतीतानागत धूमों और अग्नियोंका साक्षात्कार सम्पन्न हो जावे। सभीका प्रत्यक्षीकरण अशक्य है। इसलिए शास्त्रीय मर्यादाके निर्वाहके लिए तर्कशास्त्रियोंने सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति और ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिकी कल्पनाकी है जो साधारणीकरणका ही दूसरा नाम है। अभिनवगुप्तने धूम और अग्निका दृष्टान्त ही अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिए प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्तका साधारणीकरण आंशिक नहीं, सर्वथा पूर्ण है। अभिनवभारतीमें

इन्होंने अपना दृष्टिकोण इस रूपमें प्रस्तुत किया है—'नाटकका अर्थ है ऐसा काव्य जिसका द्योतन नाटक या काव्य-विशेषसे हो। यह अर्थ नटके अभिनय-कौशलसे प्रत्यक्ष-सा दिखलाई पड़ने लगता है और इसका अनुभव मनकी एकाग्रावस्थासे किया जा सकता है। इसका स्वरूप यद्यपि अनन्त विभावादिकोंसे निर्मित होता है तथापि समस्त जड़-वर्गका संवेदनमें लय हो जाता है; संवेदनका भोक्तामें और भोक्तृ-वर्गका पर्यवसान प्रधान भोक्तामें हो जाता है। अतएव इस काव्यार्थका स्वभाव होता है प्रधान नायककी स्थायिनी चित्तवृत्ति। स्वकीय, परकीय इत्यादि भेदसे चित्तवृत्तियाँ असंख्य होती हैं। जब किसी विशिष्ट चित्त-वृत्तिको नाट्यमें प्रस्तुत किया जाता है तब नटके अभिनयकौशल, गीत, लास्य, रंगमंचकी सज्जा इत्यादिके प्रभावसे चित्तवृत्तियोंकी विभेद-बुद्धि तिरोहित हो जाती है। काव्यमें यही कार्य लक्षणा, गुण और अलङ्कार इत्यादि के प्रभावसे सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार एक सर्वसाधारण चित्तवृत्तिका स्फुरण हो जाता है जिसमें सामाजिकोंकी चित्तवृत्तियाँ भी सन्निविष्ट होती हैं। जिस प्रकार एक प्रकाश-दीपके समक्ष सन्निहित असंख्य दर्पणोंमें वह प्रकाश-दीप एक ही रूपमें संक्रान्त हो जाता है उसी प्रकार समस्त सामाजिकोंमें एक-सी ही चित्तवृत्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। इस प्रकार नायककी चित्तवृत्तिसे सामाजिकोंकी चित्त-वृत्तियोंका तादात्म्य स्थापित हो जाता है जिससे उसमें समस्त लौकिक चित्तवृत्तियोंकी अपेक्षा एक विलक्षणता आ जाती है। लौकिक चित्तवृत्तियाँ परिमित स्वमात्र-विश्रान्त होती हैं जिससे उनमें भावान्तर-जननक्षमता विद्यमान रहती है। शत्रु, मित्र या उदासीनके किसी भावको हम एक दृष्टिसे ही नहीं देख सकते। उसमें हमारी व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ प्रतिबन्धक होकर भावान्तरको उत्पन्न कर देती हैं। इसके प्रतिकूल नाट्य-काव्यगत चित्त-वृत्तियाँ सर्वसाधारणमें एकतान होकर भावान्तर जननक्षमतासे रहित हो जाती हैं। इस प्रकार काव्यगत चित्तवृत्तियोंका ग्रहण एक-दूसरे रसन या आस्वादन व्यापारसे हुआ करता है जिसका लक्षण ही है निर्विघ्न स्वसंवेदनात्मक विश्रान्ति। इसी व्यापारके आधारपर उसे रस संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

अभिनवगुप्तके मतमें साधारणीकरण सर्वाङ्गीण तथा पूर्ण होता है। काव्य या नाट्यमें जिन यथार्थ वस्तुओंका उपादान किया जाता है उनका अत्यन्त अपसारण होकर साधारणीभावकी अत्यन्त पुष्टि हो जाती है। उस समय समस्त सामाजिकोंकी अखण्ड एक-घन प्रतिपत्ति रसके परिपोषमें कारण हो जाती है। उदाहरणके लिए अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त मृगका पीछा करते हुए आते हैं। मृग भयका अभिनय करता है। मृगका कोई विशेष रूप नहीं है; त्रासक दुष्यन्त भी अपारमार्थिक हैं। इससे दोनोंका विलय होकर देश काल इत्यादिसे अनालिङ्गित भयमात्र शेष रह जाता है। लोकमें भयकी प्रतीति दूसरे ही प्रकारकी होती है—वहाँ यह प्रतीत होता है कि 'मैं डरा हुआ हूँ', 'यह शत्रु डरा हुआ है', 'यह मित्र डरा हुआ है', 'यह मध्यस्थ व्यक्ति डरा हुआ है' इत्यादि अनेकविध प्रत्यय होते हैं जिनसे भीत व्यक्तिके सम्बन्धके अनुसार सुख-दुःख इत्यादि भाव जागृत होते रहते हैं। किन्तु काव्यमें ये कोई विघ्न नहीं होते और उसमें भय निर्विघ्न प्रतीतिसे ग्राह्य होता है। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह हृदयमें प्रविष्ट हो रहा हो और आँखोंके

सामने नाच रहा हो। इस प्रकारकी भयानुभूतिमें न सहृदयकी आत्माका उल्लेख किया जाता है और न उसकी सर्वथा उपेक्षा ही होती है।

अभिनवगुप्तकी रस-प्रक्रियाका दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है संविद्विश्रान्ति। सच्चा आनन्द आत्मस्वरूपमयतामें है। जब कभी आत्मस्वरूपका परिपूर्ण स्वभाव प्रकाशित हो उठता है और आत्मपरामर्श सम्पन्न हो जाता है तभी सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। इस आत्मानुभूतिमें प्रतिबन्धक होती हैं देहादि संकोचकी सीमाएँ जिनसे जीव शरीरगत रिक्तताका अनुभव करता है। जब रिक्तताका अपसारण हो जाता है तब सच्चे आनन्दकी एक झलक मिल जाती है। क्षुधातुर व्यक्तिको अन्नकी न्यूनताका अनुभव होता है जिससे वह आत्मस्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। पेट भर जाने पर वह रिक्तता जाती रहती है और उसे थोड़ी देरके लिए आनन्द आ जाता है। यह आनन्द क्या है? वस्तुतः क्षुधारूप विघ्नके अपसारणसे आत्मानन्दकी एक झलक ही तो है। फिर मन दूसरी ओर उन्मुख हो जाता है। पेटकी भूख शान्त हो जाने पर दूसरे विषयोंकी भूख जागृत हो गई। एक नया अभाव खटकने लगा जिससे आत्मानुभूति-जन्य आनन्द फिर तिरोहित हो गया। उन अभावोंकी पूर्ति हो जानेपर पुनः आनन्दांशकी उपलब्धि हो जाती है जो वास्तवमें आत्मानुभूतिजन्य आनन्दका ही अंश है। इस प्रकार समस्त वैषयिक आनन्दोंमें विषयावर्जन की प्रवृत्ति सन्निहित रहती है जिससे विषयान्तरकी प्रवृत्ति होती ही रहती है। इसके प्रतिकूल काव्यानन्दमें विषयावर्जनका अभाव होता है। इसीलिए काव्यानन्दको वीतविघ्ना प्रतीति कहा जाता है। इसमें विषयोंके अर्जन-विसर्जनकी प्रवृत्ति विद्यमान नहीं होती। इससे एकनिष्ठता आ जाती है। बाह्य विषयोंकी ओर संवेदना विश्रान्त हो जाती है जिससे रसास्वादनमें एकतानता आ जाती है। इस प्रकार सभी लौकिक विषयों और स्वसत्तानुभूतिकी विश्रान्ति ही रसास्वाद-प्रवर्तिका होती है। किन्तु इस रसास्वादमें अवचेतन मस्तिष्कमें विषयोंका अवभास बना ही रहता है। बौद्धिक अवभास तिरोहित हो जानेपर भी सहृदयता तो विद्यमान रहती है। अतः यह काव्यानन्द मध्य कोटिका ही कहा जा सकता है। ब्रह्मानन्दमें विषयोंका सर्वथा तिरोधान हो जाता है। उसमें शुद्ध संवेदन-रूपता ही होती है। इसी कारण काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दका अद्वैत न मानकर ब्रह्मानन्द सहोदर ही माना गया है। सारांश यह है कि संविद्विश्रान्ति ही आनन्दकी प्रयोजिका होती है। यह विभिन्न भूमिकाओंमें सम्भव है—विषयोंकी भूमिकामें, भावोंकी भूमिकामें और निज चित् स्वभावकी भूमिकामें। भावोंकी भूमिकामें होनेवाली संविद्विश्रान्ति ही काव्य-रसानन्द है। इन भावोंकी भूमिकामें संविद्विश्रान्ति तक पहुँचने के लिए भावोंका साधारणी-करण अपेक्षित होता है।

अभिनवगुप्तके सिद्धान्तका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति। यह समस्त लौकिक प्रतीतियोंसे विलक्षण होती है क्योंकि इसमें कल्पनाशीलता का भी योग विद्यमान रहता है। जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथोंमें अभिशंसापरक वाक्योंसे अर्थ की तन्मात्र विश्रान्ति नहीं होती, अपितु प्रेरणापरक अर्थान्तरकी अभिव्यक्ति होने लगती है जिसको प्रतिमान, भावना, विधि, नियोग इत्यादि अनेक नामोंसे अभिहित किया जाता है। उसी प्रकार काव्य-वाक्योंसे भी अर्थमात्रकी विश्रान्ति नहीं होती; अपितु शब्दोंसे

जिस कालादि विभागका अवगमन होता है उस समस्त विभाजक तत्त्वका लय होकर एक चमत्कारपूर्ण मानसी प्रतीति उद्‌भूत हो जाती है। यह प्रतीति ऐसे ही सहृदयोंके अन्तःकरणोंमें स्फुरित होती है जो काव्य रसास्वादनके अधिकारी तथा विमल प्रतिभाशाली हृदयवाले होते हैं। यह मानस-प्रतीति सहृदयोंमें रसका संचार करनेवाली होती है।

वीत विघ्ना संवित् रसास्वादनकी प्रवर्तिका होती है। अभिनवगुप्तने रसास्वादनके मार्गमें आनेवाले सात विघ्नोंका निरूपण किया है और उनके अपनयनपर भी प्रकाश डाला है। इन सात विघ्नों में एक तो वे दोष आजाते हैं जिनसे मनुष्यका हृदय विश्वजनीनताको छोड़कर आत्मकेन्द्रित बन जाता है; या फिर वे दोष आते हैं जिनसे उपकरणोंकी स्पष्ट प्रतीति व्याहत हो जाती है। इन विघ्नोंसे रहित हो जाना रसास्वादनकी योग्यताके लिए अनिवार्य है।

अभिनवगुप्तने इसी प्रसङ्गमें स्थायी भाव और सञ्चारी भावके भेदक तत्त्वोंका भी निरूपण किया है। प्राणी जिन संवेदनाओंसे जन्मसे ही व्याप्त होता है और जिन चित्त-वृत्तियोंसे शून्य वह हो ही नहीं सकता वे चित्तवृत्तियाँ स्थायी भाव कहलाती हैं। इसके प्रति-कूल दूसरे प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ वे होती हैं जिनकी सत्ता ही विभावादिके अभावमें सम्भव नहीं होती। विभावादिके विनष्ट होजाने पर स्थायी चित्तवृत्तियाँ संस्कार-शेष अवश्य रह जाती हैं, किन्तु व्यभिचारिणी चित्तवृत्तियाँ नाम-शेष भी नहीं रहतीं। व्यभि-चारिणी चित्तवृत्तियाँ स्थायी चित्तवृत्तियोंमें उसी प्रकार अनुस्यूत रहती हैं जिस प्रकार विभिन्न वर्णके सूत्रोंमें पद्मरागादि अनुस्यूत रहा करते हैं। ये व्यभिचारी रूप रत्न स्थायी रूप सूत्रमें यद्यपि अपने संस्कारोंका सन्निवेश नहीं पाते और न इनसे उसमें कोई अन्तर ही आता है, तथापि उस सूत्रसे ये स्वयं उपकृत होते हैं और उसको विचित्र बना देते हैं। स्थायी भाव वासना रूपमें निरन्तर सन्निहित रहते ही हैं, विभावादि केवल उपरञ्जकत्वका सम्पादन करते हुए स्थायीके औचित्य-अनौचित्यका ही सम्पादन कर देते हैं। विभावादिके अभावमें स्थायीकी सत्ता सर्वथा तिरोहित नहीं हो जाती। किन्तु, विभावादिके अभावमें सञ्चारी भावोंका तो नाम भी नहीं रहता।

वासनारूपमें सन्निहित स्थायी भावोंके प्रत्यायक लिङ्ग होते हैं—कार्य कारण और सहकारी कारण। उदाहरणकेलिए तरुण-तरुणियोंका एकत्र सहचार, उनकी हावभाव चेष्टाएँ और लज्जा इत्यादि भाव दर्शकको उनके परस्पर प्रेम-बन्धनका अनुमान करा देते हैं; जिन लोगोंको निरन्तर इस प्रकारके अनुमानकी अभ्यासपटुता प्राप्त हो जाती है, काव्यमें भी उन्हीं कारणों, कार्यों और सहकारियोंका उपादान होता है। किन्तु काव्यमें एक अलौकिकता होती है। लोकमें कोई भाव प्रवर्तक होता है और उसमें भावान्तरजननक्षमता होती है। काव्यमें उपात्त होकर वही भाव आस्वादजनक तथा स्वमात्र विश्रान्त होता है। इसी आधार पर कारण, कार्य और सहकारी कारणका नाम बदलकर उनको विभाव, अनु-भाव और सञ्चारी भावके नामसे अभिहित किया जाने लगता है। जब ये सामाजिककी बुद्धिमें गौण या प्रधानके पर्यायसे संयोग प्राप्त कर लेते हैं तब जो अर्थ अलौकिक निर्विघ्न संवेदनारूप आस्वाद-गोचरताको प्राप्त करा दिया जाता है, उसे ही रस कहते हैं। यह रस स्थायी भावसे विलक्षण होता है क्योंकि स्थायी भाव सिद्ध स्वभाव वाला होता है; किन्तु

रसका एकमात्र सार होता है चर्वणके योग्य होना। रस केवल विभावादि संयोगजन्य आस्वादकालिक होता है, किन्तु स्थायी भाव सहृदयोंमें निरन्तर विद्यमान रहनेवाला तत्त्व है।

ऊपर संक्षेपमें अभिनवगुप्तकी रस-विषयक मान्यताका सार दिया गया है। परवर्ती आचार्योंमें यही मान्यता सिद्धान्त रूपमें मान्य हो गई। आचार्योंने कुछ शब्दोंके हेर-फेरसे इसी मान्यताकी पुष्टि की है।

मूलभूत प्रवृत्तियोंमें सन्निविष्ट न होनेके कारण इन आचार्योंने भक्तिको न तो स्थायी माना और न उसकी रसात्मक अनुभूति ही स्वीकार की। इनकी मान्यता थी भक्ति काव्य भावकोटिमें ही आनेका अधिकारी है, रस कोटिमें नहीं। समस्त वासना प्रशमजन्य शान्त रसको इन्होंने स्वीकार किया था जिसमें विषय-वैराग्यके साथ भगवदुन्मुखता भी एक प्रयोजनीय तत्त्व था। इन आचार्योंके मतमें यही भक्तितत्त्व कहा जा सकता है।

भक्तिरसका प्रवृत्ति-निमित्त

उस समय भक्ति-काव्यके नाम पर जो नई कविता सामने आ रही थी उसको शास्त्रीय दृष्टिसे समझना नितान्त आवश्यक था। यद्यपि इस प्रकारकी कविताका प्रावतन काव्य-जगत्में अत्यन्ताभाव तो नहीं था, किन्तु वह परिमाण तथा काव्याभिनिवेश दोनों दृष्टियोंसे इतनी न्यून थी कि प्राचीन आचार्योंने जिस रसशास्त्रका इतने मनोयोगके साथ विश्लेषण-विवेचन किया था उसमें भक्तिको प्रमुख या गौण रसके पद पर अभिषिक्त करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझी। केवल इतनी ही बात होती तो भी कोई हानि नहीं थी। भक्तिको नवीन रस मानकर निर्वाह किया जा सकता था। भरतमुनिने केवल आठ रस माने थे। परवर्ती आचार्योंने शान्त रसको जोड़कर उनकी संख्या नौ की ही थी। मुनीन्द्रने जिस वात्सल्य रसकी आवश्यकताका अनुभव किया था उसको भी काव्यशास्त्र-जगत्में कुछ-न-कुछ मान्यता मिल ही गई थी। अतएव भक्तिके क्षेत्रमें भी अधिकसे अधिक इतना किया जा सकता था कि उसको भी ग्यारहवें रसका स्थान दे दिया जाता और कालान्तरमें उसकी स्वीकृति हो जाती। अलङ्कारोंके विषयमें स्वयं अभिनवगुप्तने लिखा है कि मुनिने केवल चार अलङ्कार माने थे, किन्तु अलङ्करण धर्मको लेकर तथा काव्यशोभाकरत्व रूप सामान्य लक्षणके आधार पर सैकड़ों अलङ्कार बन गये। इसी प्रकार रसन या आस्वादन रूप सामान्य धर्म तथा लक्षणको लेकर एक नये भक्तिरसकी कल्पना और प्रवर्तना की ही जा सकती थी। किन्तु ऐसा करनेमें कई आपत्तियाँ थीं। रस निष्पत्तिका जो सामान्य रूप अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित किया गया था वह भक्ति-रसके विषयमें पूर्ण रूपसे चरितार्थ नहीं होता था और न उसके द्वारा भक्ति-काव्यकी ठीक व्याख्या ही की जा सकती थी। यही कारण था कि भक्ति साहित्यके आचार्योंको रसकी नवीन दिशा उन्मीलित करनी पड़ी।

रस निष्पत्तिमें साधारणीकरण और संविद्विश्रान्तिका जो सिद्धान्त स्थापित किया गया था उससे भक्तिकाव्य-जन्य रसास्वादनकी व्याख्या किञ्चित् अशक्य थी। अभिनवगुप्त के अनुसार समस्त चित्तवृत्तियोंका विलय प्रधान नायककी चित्तवृत्तिमें हो जाता है और प्रधान नायककी चित्तवृत्ति साधारणीकरणकी प्रक्रियासे अपने अन्दर समस्त सहृदयोंकी

चित्तवृत्तियोंको फ्रोड़ीकृत करती हुई आस्वाद-प्रवर्तक बन जाती है। यह साधारणीकरण पूर्ण तथा वितत होता है, सीमित नहीं। उस समय समस्त विभाव, अनुभाव इत्यादि तिरोहित होकर साधारणीकृत भावमात्र शेष रह जाता है। उस समय सहृदयकी चितिकी वहिर्गामिता नष्ट हो जाती है और मुख्य नायककी चित्तवृत्ति ही शेष रह जाती है। यही संविद्विश्रान्ति है। आचार्य शुक्लके अनुसार उस समय सहृदयकी सत्ता ही हवा हो जाती है और उसकी परिणति भावमय दशाको प्राप्त हो जाती है। किन्तु भक्तिके क्षेत्रमें एक अड़चन यह है कि वहाँ हम कृष्ण लीलाओंका आनन्द लेते हैं। राधाकृष्णकी रति या यशोदा के वात्सल्यके रूपमें हमारे हृदयकी परिणति नहीं होती, अपितु उससे हमारी भगवद्विषयक रति ही जागृत होती है। प्रधान नायककी चित्तवृत्ति वहाँ हमारी अन्तर्वृत्तियोंको आत्मसात् नहीं करती, अपितु हमारी भगवद्विषयक रतिकी उद्दीपन मात्र बन जाती है। वहाँ कविका मन्तव्य राधाकृष्ण या सीतारामका स्वरूप-प्रच्छादन नहीं, अपितु उसको उभारना होता है। फलतः जितना ही हम कृष्णकी राधाके प्रति रतिका परिशीलन करते हैं, हमारी भक्ति-भावना उतनी ही उद्दीप्त होती जाती है। इस प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें हम अमिश्रित भावना का आस्वादन नहीं करते अपितु कृष्ण-भावनासे मिश्रित भक्तिभावका आस्वादन किया जाता है जोकि प्राचीनोंकी रसनिष्पत्ति विषयक धारणासे संगत नहीं होती। आशय यह है कि कृष्ण-लीलाओंके मध्य रह-रहकर भक्तकी जो भावना प्रोद्भूत होती रहती है और उपात्त-भावके अतिरिक्त सहृदयगत जो कृष्ण-प्रेम तल पर आ जाता है उसके लिए प्राचीनोंकी मान्यतामें कोई सन्तोषजनक व्याख्या विद्यमान नहीं है। भक्तिके रसनके क्षेत्रमें प्राचीनाभिमत अधिकसे अधिक इतनी व्याख्या हो सकती है कि प्रशस्ति काव्यके समान कृष्णलीला भक्तोंके भावकी उद्दीपक होकर रसवदलंकारका रूप धारण कर लेती है। किन्तु यहाँ आपत्ति यह है कि ऐसी दशामें कृष्णलीला गौण हो जाती है जोकि भक्त कवियों और भक्ति-शास्त्रके आचार्योंको स्वीकृत हो ही कैसे सकता है? भक्तिकी प्रमुखताके साथ कृष्ण-लीलाकी प्रधानता भी इन आचार्योंको अभीष्ट है जिसकी कोई व्यवस्था प्राचीन रसशास्त्रमें प्राप्त नहीं होती।

अभिनवगुप्तके मतमें सहजात-चित्तवृत्तियाँ लोकवृत्त-परिनिष्ठित होकर जब सहृदयों के लिए अभ्यस्त हो जाती हैं तब विभावादिके माध्यमसे रंगमंच पर अवतीर्ण होकर वे ही सहृदयोंके आस्वादनमें कारण बन जाया करती हैं। किन्तु, भक्ति एक तो सहज चित्तवृत्ति नहीं है, दूसरे उसके अनुभाव भी इतने उद्भूत नहीं होते जिनको देखकर सहृदय उसके अनुमानका अभ्यास प्राप्त कर सकें। तीसरी बात यह है कि उद्धव इत्यादिके प्रसंगमें जहाँ कहीं रंगमंच पर भक्तिका अभिनय किया जाता है उसकी तो व्याख्या हो सकती है, किन्तु जहाँ राधा-कृष्णके रतिभावका अभिनय किया जाता है वहाँ रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूपमें भक्तिभाव अवतीर्ण ही नहीं होता जिससे उसका आस्वादन किया जा सके। किन्तु उसका आस्वादन किया ही जाता है जिसका उत्तर प्राचीन रसशास्त्रियोंके पास नहीं है।

रस-तत्वचिन्तन नाट्यके प्रसंगमें ही हुआ है। इसीलिए इस चिन्ताधारामें अभिनय का विचार सर्वदा पृष्ठभूमिके रूपमें सन्निहित रहा है। काव्यके क्षेत्रमें भी रसतत्वको अनिवार्य बनानेके लिए आचार्योंने अभिनयका स्थान गुणालंकार-प्रयोगको दे दिया। इससे बहुत-

कुछ निर्वाह हुआ भी; किन्तु नाट्यकी पृष्ठभूमिका सर्वथा परिहार नहीं हो सका। भक्तिके क्षेत्रमें नाट्य-रचनाकी ओर प्रवृत्ति प्रायः नहीं ही रही; अधिकतर काव्यरचना ही की गई। इन्हीं सब कारणोंसे भक्तिकाव्यको रसशास्त्रकी दृष्टिसे सर्वथा संघटित करनेके लिए रस-शास्त्रके पुनराख्यानकी आवश्यकता बनी हुई थी। यह कार्य भक्तिरसके आचार्यों द्वारा सम्पन्न किया गया।

भक्तिरसका प्राचीन शास्त्रसे भेदाभेद

भक्तिरसकी रसरूपता और उसकी प्रक्रिया पर विचार करनेके पहले यह नितान्त आवश्यक है कि प्राक्तन रस सिद्धान्तकी भक्तिरसके प्रति उपजीव्यता पर विचार कर लिया जाय; क्योंकि भक्तिरसकी परिकल्पना नवीन होते हुए भी प्राचीन रस-सिद्धान्तसे सर्वथा विनिर्मुक्त नहीं है और इस शास्त्रकी प्रतिष्ठापना भी पूर्वपीठिका पर ही हुई है।

प्राक्तन रससिद्धान्तकी भक्तिरसके प्रति उपजीव्यता

गौडीय सम्प्रदायका यह भक्ति-रस सिद्धान्त स्थूलरूपमें प्राक्तन रस सिद्धान्तसे पूर्णतया प्रभावित है और उसीको आदर्श मानकर प्रवृत्त हुआ है। 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह रस-तत्त्वका सिद्धान्त सूत्र है। 'किससे संयोग ?' इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्योंने निर्णीत किया है—'स्थायी भावसे।' सूत्रमें स्थायीके उपादान न करनेका पूर्ण समर्थन श्री अभिनवगुप्तपादाचार्यने किया है। एक परवर्ती आचार्य की रस-परिभाषा इसी तत्त्वसे अनुप्राणित है :—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥

इसीसे मिलती-जुलती परिभाषा प्रस्तुत पुस्तक में भी दी हुई है :

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वंहृदिभक्तानामानीता श्रवणादिभिः॥
एषाकृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसोभवेत्।

इस परिभाषामें नवीनता केवल यही है कि सात्त्विकोंके द्वारा रस-परिपोषका पृथक् उपादान किया गया है और केवल रतिस्थायीकी रसरूपता स्वीकार की गई है। रसके विषयमें भक्तिरसशास्त्रियोंकी ये दो मौलिक कल्पनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त उक्त परिभाषा में कोई नवीनता नहीं है। प्राक्तन रसशास्त्रमें वासनामय रसिकोंको रसास्वादनका अधिकारी बतलाया था। इस शास्त्रमें भी भक्तिकी वासनासे वासित अन्तःकरणवालोंको ही भक्ति-रसास्वादनका अधिकारी बतलाया गया है; केवल उसी तत्त्वको कुछ अधिक शब्दोंमें विश्लेषणपूर्वक कह दिया गया है। विभावानुभावादिकी परिभाषाएँ भी वही हैं और इनके नामकरणके हेतु भी कुछ शब्द-भेदसे मिलते-जुलते ही हैं। सर्वत्र सात्विकोंका पृथक् निर्देश किया गया है जिससे इस प्रश्नका ठीक उत्तर भी हो जाता है कि सात्विकोंको अनुभावोंमें सन्निविष्ट किया जाय या संचारियोंमें। इनकी द्विधास्थितिके कारण इनको विशिष्ट स्थान देना सर्वथा संगत ही है। किन्तु इतनेसे ही प्रसिद्ध पद्धति का व्यतिरेक प्रतिपादित नहीं किया

जा सकता। विभावोंकी द्विप्रकारता भी वैसी ही है और उनका स्वरूप भी मिलता-जुलता ही है। अपनी साम्प्रदायिक मान्यताके अनुसार केवल कृष्णको नायक कहा गया है; किन्तु उपलक्षणतया व्याख्या करने पर प्रसिद्ध पद्धतिके निकट इस विचारसूत्रको लाया जा सकता है। इस पद्धतिमें इस प्रश्नका भी ठीक समाधान हो जाता है कि भगवान्‌के किन गुणोंको आलम्बनके अन्तर्गत लाया जाय और किन गुणोंको उद्दीपनके अन्तर्गत। यह विषय प्रसिद्ध सिद्धान्तसे विरुद्ध नहीं है, इसलिए तद्व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता। इसमें कृष्ण तथा तद्भक्तोंके सामान्य गुण, गिरिशादिसे साम्य, विष्णुसे साम्य और कृष्णके स्वमात्र पर्यवसित गुणोंका प्रकथन साम्प्रदायिक अभिनिवेशजन्यमात्र है, इसे हम नवीन परिकल्पना नहीं कह सकते। प्रसिद्ध पद्धतिमें नायिकागत २८ अलंकारोंका निरूपण किया गया है, जिनमें अनेकका नायकगत होना भी सिद्धान्तित किया गया है। इसी आधार पर कृष्णगत सात्विक अलंकारोंका भी विवेचन है। इस सिद्धान्तमें केवल नवीनता यही है कि सभी आलम्बनोंके उदाहरण भक्तोंसे ही दिये गए हैं जोकि भक्तिरसशास्त्र लिखनेके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उपलक्षणपरक व्याख्या प्रसिद्ध पद्धतिसे अद्वैत स्थापित कर देती है। उद्दीपनों के प्रसंगमें कृष्णकी वेषभूषा, वयःस्थिति इत्यादिका जो वर्णन आता है उसका भी रसशास्त्र के क्षुण्ण मार्ग से कोई विरोध नहीं पड़ता। अनुभावोंके निरूपणमें यदि कोई नवीनता है तो केवल इतनी ही कि इनका विभाजन दो रूपोंमें किया गया है—शीत और क्षेपण। सात्विक भावोंका वर्गीकरण ही नवीन है। वैसे उनकी संख्या, परिभाषा, कार्यकारणभाव इत्यादि में कोई अधिक लक्षणीय अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। इनको अनुभाव तथा संचारी दोनोंसे पृथक् स्थान देना भी एक ऐसी नवीनता है जिसकी आवश्यकता प्राचीन रसशास्त्रमें भी अनुभव की जा रही थी। धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त रूपमें सात्विकोंका विभाजन यद्यपि पूर्ववर्ती रसशास्त्रमें प्राप्त नहीं होता तथापि उसका विरोध भी नहीं है। संचारियोंकी संख्या और उनकी परिभाषा प्राचीन रसशास्त्रानुकूल ही है। इस संख्याको अधिक पुष्ट करनेके लिए आचार्यने कतिपय नवीन संचारियोंकी परिकल्पना कर उनका अन्तर्भाव इन्हीं ३३ संचारियोंमें करनेकी चेष्टा की है। संचारियोंमें एक-दूसरेकी विभावरूपता और अनुभाव-रूपताका प्रतिपादन नवीन दृष्टिका परिचायक है। परन्तु इसे भी अविरोधी होनेके कारण प्राचीन रसशास्त्रसे व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता। भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलताका विवेचन भी प्रसिद्ध पद्धतिके अनुकूल ही है।

रसों और स्थायी भावोंकी परिकल्पना यद्यपि सर्वथा नवीन है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस पर प्राचीन शास्त्रका प्रभाव नहीं है। केवल वर्गीकरण तथा कृष्णसम्बन्ध से सभी रसोंका पुनराख्यान नवीन है। रसोंकी मैत्री-वैर-स्थिति भी प्राचीन रसशास्त्र पर ही आधारित है और उनके परस्पर वैर-परिहारका निरूपण भी उसी शैली पर किया गया है। रसाभासमें भी यत्किंचित् ही मौलिकता है। प्राचीन आचार्य रसाभास वहाँ पर मानते थे जहाँ रसकी पूर्ण निष्पत्ति न हो सके। परवर्ती आचार्योंने अनौचित्यके प्रतिभासमें रसाभास माना। किन्तु, भक्तिरसशास्त्रमें दोनों प्रकारोंको अपनाया गया है। उनका तीन प्रकारोंमें विभाजन अधिक व्यवहित नहीं है और दोनों मान्यताओंको आत्मसात् कर लेता है। आशय यह है कि रससामग्रीका विवेचन प्रसिद्ध पद्धति पर ही आधारित है। उसमें

जो कुछ मौलिकता पाई जाती है वह इस विचारसरणिको प्रसिद्ध पद्धतिसे सर्वथा पृथग्भूत सिद्ध करनेमें सर्वथा अक्षम है।

भक्ति-सम्प्रदाय की रस-प्रक्रिया

आनन्द-साधना ही रसतत्त्वका चरम लक्ष्य तथा लक्षण है। भरतानुयायियोंका भी यही मत है और भक्तिसम्प्रदायके आचार्य भी इस मान्यताके विरोधी नहीं हैं। अनेक श्रुतियाँ आनन्दकी ही आत्मरूपताका प्रतिपादन करती हैं—'रसो वै सः', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'आनन्दाद्ध्येवमानि भूतानि जायन्ते।' जीवनका परम पुरुषार्थ भी आनन्द ही है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिका भी समावेश आनन्दमें ही हो जाता है। पुरुषार्थके रूपमें जिन धर्मादिका परिगणन किया जाता है उनका भी फल आनन्द ही है। मधुसूदन सरस्वतीके मतमें कारणों पर फलका आरोपकर धर्मादिकी पुरुषार्थता स्वीकार कर ली जाती है। यह एक औपचारिक प्रयोग है जैसा कि 'घी जीवन है' में पाया जाता है।

आनन्दका अधिष्ठान आत्मा है। इसके दो रूप माने जाते हैं—परमात्मा तथा जीवात्मा। आनन्दका वास्तविक अधिष्ठान तो परमात्मा ही है; किन्तु जीवात्मामें भी सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मका अंश विद्यमान है और आनन्दांशका प्रतिभास जीवमें भी पाया जाता है; इसीलिए अग्निके विस्फुलिंगोंके समान या सिन्धुके विन्दुओंके समान जीवमें भी आनन्दानुभूतिकी उपलब्धि अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु, यह आनन्द एक तो विषयजन्य होता है, दूसरे यह कणमात्र होता है। भरत प्रभृति रसशास्त्राचार्योंका लक्ष्य उसी जीवगत आनन्दांशका उद्‌बोधन है। जीव अनादि कालसे नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनेक वासनाओंसे परिव्याप्त हो जाता है। मानव-शरीरमें भी वे समस्त वासनाएँ अविकल रूपमें सन्निहित रहती हैं। साथ ही काव्यार्थचिन्तनकी योग्यता भी मानवमें उद्‌भूत हो जाती है। अतः विभावादिके माध्यमसे रसास्वादनकी प्रक्रिया पर विचार करना ही भरतादि रसाचार्योंका लक्ष्य है। वस्तुतः यह परमास्वादकी पूर्वभूमिका ही है और विषयप्रवृत्तजनोंके लिए अधिक सुगम है। परमतत्त्वगत पूर्ण आनन्दानुभूति अपेक्षाकृत दुष्कर है। इसलिए भरतादि आचार्योंने न तो निःश्रेयस प्राप्तिमें समर्थ श्रवणादि साधनों पर विचार किया और न निखिलानर्थ निदान अज्ञानके उन्मूलन पर ही विचार किया। उन्होंने चिरसंचित कर्म-कलापका अत्यन्ताभाव करनेकी चेष्टा नहीं की। मुनिने आगमसिन्धुको मथकर जिस नाट्य-पीयूषका आविर्भाव किया उसका लक्ष्य जीवगत आनन्दांशका आस्वादन कराना ही था जोकि पूर्ण ब्रह्मानन्दकी पूर्व-भूमिका ही कही जा सकती है। इस प्रकार आनन्द साधनाका लक्ष्य होते हुए भी प्राक्तन आचार्यों और भक्तिरसके आचार्योंमें एक मौलिक अन्तर है। भक्ति-शास्त्रके आचार्योंने जीवगत अंशमात्र आनन्दको ही साध्य नहीं बनाया, अपितु उनका लक्ष्य था आनन्द-राशि भगवद्‌गत आनन्दका आस्वादन कराना। पुष्कलरसतापत्ति तो तभी होती है जब परमानन्दस्वरूप भगवान् स्वयं ही मनोगत हो जाते हैं, जैसा कि श्रीमधु-सूदन सरस्वतीने कहा है—

> 'भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
> मनोगतस्तदाकारो रसतामेतिपुष्कलम् ॥'

चित्त जब द्रवित होकर विभु, नित्य, पूर्णबोध सुखात्मक भगवान्‌को ग्रहण कर लेता है तब और शेष ही क्या रह जाता है ?—

'भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम् ।
यद् गृह्णातिद्रुतं चित्तं किमयद्वशिष्यते ॥'

अतः चित्तमें विषयकी ओर काठिन्य और भगवच्चरणारविन्दके प्रति द्रवत्व स्थापित करना चाहिए—

'काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे ।
उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः ॥'

किन्तु, भक्ति-सम्प्रदायका यह सिद्धान्त भरतका विरोधी नहीं है, अपितु उसका विकास मात्र है । विषयोंकी ओर मानवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । अतः उनमें रसास्वादन अपेक्षाकृत सरल होता है । इसी सरल मार्गको अपनाकर भरतने परम रसास्वादके मार्गको प्रशस्त किया है । क्योंकि जब तक मानव-मनोवृत्ति उस परमरसास्वादके एक अंशमात्र लौकिक रसमें पूर्णतया निष्णात नहीं हो जाती तब तक परमरसास्वादकी स्पृहयालुता उनमें जागृत ही किस प्रकार हो सकती है ? इस प्रकार प्रथमभूमिकारूढ़ अधिकारियों के लिए प्राकृत रस परिचयको ही अपना लक्ष्य बनाकर मुनिने परमतत्त्व-विषयक अप्राकृत रसकी भी स्वीकृति प्रदान ही कर दी है । इसीलिए उपक्रममें मुनिने चतुर्वर्ग फल-प्राप्तिको ही प्रयोजनके रूपमें स्वीकार किया है और इसीलिए पृथक् रूपसे शान्तका भी निरूपण किया है ।

लक्ष्यभेद होनेसे निष्पत्ति तथा आस्वादमें भी भेद होना स्वाभाविक ही है । इस निष्पत्ति के विषयमें जितनी भी पुरानी व्याख्याएं पाई जाती हैं वे भक्तिरस विषयक निष्पत्ति की व्याख्यासे मेल नहीं खातीं । यह भट्टलोल्लटके उत्पत्तिवाद या आरोपवाद से भी भिन्न है जिसमें विभावादि कारणोंके साथ स्थायी भावके संयोगके द्वारा अनुकार्यमें रसकी उत्पत्ति मानी जाती है और नट पर उसका आरोप प्रतिपादित किया जाता है, तथा शंकुकके अनुमितिवादसे भी भिन्न है जिसमें अनुकार्य मुख्य रामादिके रूपमें गृहीत नटरूप पक्षमें अकृत्रिम रूपमें गृहीत विभावादिरूप हेतु से अनुकार्यभिन्न नटमें रतिका अनुमान कर लिया जाता है । इन दोनों पक्षोंमें आचार्यों द्वारा प्रदर्शित विप्रतिपत्तियाँ तो विद्यमान हैं ही; साथ ही भक्तिरसकी दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि इसमें भक्तका अपना भाव ही आस्वादगोचर होकर रसरूपताको धारण कर लेता है । न तो इसकी उत्पत्ति अनुकार्यमें ही होती है और न नटमें ही पक्षधर्मता (हेतु) का ग्रहण सम्भव होता है । दूसरी बात यह भी है कि पक्षधर्मताका ग्रहण या नट पर अनुकार्यगतभावका आरोप नाट्यमें तो सम्भव है, भक्तिके क्षेत्रमें जहाँ रसानुभूतिमें कर्तृत्व श्रवणादि पर आधारित रहता है यह प्रक्रिया कैसे सम्भव हो सकती है ? इसीलिए भट्टनायककी भावकत्व और भोजकत्व रूप दो व्यापारोंकी नवीन कल्पना भी अधिक कृतकार्य नहीं होती है जिसमें एकके द्वारा विभावादिका साधारणीकरण किया जाता है और दूसरेके द्वारा सत्त्वोद्रेक से होनेवाली प्रकाशात्मिका तथा आनन्दात्मिका संविद्विश्रान्ति सिद्धकी जाती है और इस प्रकार रसका भोग किया जाता है, न अभिनवगुप्त के प्रमातृगत सुहृजाल मनोभावके आस्वादनसे ही निर्वाह हो सकता है । कारण यह है कि

अन्य पात्रोंके भावोंका प्रधानपात्रके भावमें विलय और प्रधानपात्रगत भावकी सहृदयगत भावसे एकतानताका सिद्धान्त भक्तिरसके विषयमें लागू नहीं होता। भक्तिरसमें भावका आश्रय भक्त ही होता है नाट्यगत पात्र नहीं, जैसा कि लौकिक रसमें हुआ करता है। लौकिक रसमें शृंगाररसके आश्रय दुष्यन्त होंगे और आलम्बन शकुन्तला; जबकि भक्तिरस के क्षेत्रमें कृष्ण और राधा दोनोंका विवेचन आलम्बनके प्रकरणमें किया जाता है, आश्रय तो भक्त ही होता है। इन्हीं कारणोंसे भक्तिरसानुयायियोंको रसानुभूतिकी नवीन प्रक्रियाकी परिकल्पना करनी पड़ी है।

भक्तिरसके क्षेत्रमें सर्वाधिक नवीनता स्थायी भावकी परिकल्पनामें है। न तो भक्ति-रसके आचार्यका भक्तिके विषयमें यही दावा है कि 'जातएव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति' और न यही कहा जा सकता है कि 'नह्येतच्चेतना शून्यः प्राणी भवति।' ये आचार्य केवल एक स्थायी भाव स्वीकार करते हैं—और वह है भक्ति। यह भाव एक उपार्जित तथा संवर्धित भाव होता है। प्राक्तन संस्कारोंके प्रभावसे जन्मजात भी हो सकता है, किन्तु अधिकांशमें इसका उपार्जन ही करना पड़ता है। यद्यपि ये आचार्य भक्तिको भी नित्यसिद्ध भाव ही मानते हैं; किन्तु रति इत्यादि भावोंके समान भक्ति स्वतः प्रकट नहीं हो जाती; उसको प्रकट करनेके लिए साधना अपेक्षित होती है :—

'नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता।' पू० वि० २-२

प्राक्तन संस्कारोंके प्रभावसे भक्ति जन्मजात भी हो सकती है; किन्तु उसका प्राचुर्य तो साधनाजन्य ही होता है। साधनाके जिस क्रमसे भक्तिका उदय होता है उसका निर्देश निम्नलिखित कारिकाओंमें किया गया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजन क्रिया।
ततोनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततोनिष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥ पू० वि० ४-६, ७

निष्ठापर्यन्त साधनावस्था है, रुचि और आसक्ति मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ हैं जिनके बाद क्रमशः भाव और प्रेम उद्भूत होता है। भावको ही रतिकी संज्ञा दी जाती है और प्रेम पूर्ण भक्तिका दूसरा नाम है। इस क्रमिक विकासका श्री मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार विवेचन किया है—योग चार प्रकारका माना जाता है—कर्मयोग, अष्टांगयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कहीं-कहीं केवल तीन ही योगोंका वर्णन मिलता है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। ऐसे स्थान पर अष्टांगयोगको कर्मयोगमें ही सन्निविष्ट कर दिया जाता है। कर्मयोग शास्त्रविहित वर्णाश्रम धर्मको कहते हैं जिसमें भगवत्परिचर्याविषयक कर्म भी आ जाते हैं। भक्तिशास्त्रकी भाषामें इसे वैधी साधनाभक्ति कहेंगे। इस कर्मयोगका फल होता है अन्तःकरणशुद्धि। अतः कर्मयोगका अनुष्ठान तभी तक करना चाहिए जब तक अन्तःकरण की शुद्धि सम्पन्न न हो जाए। अन्तःकरणकी शुद्धि दो रूपोंमें हो सकती है—एक तो वे लोग होते हैं जिनका हृदय पाषाणवत् नीरस होता है; धर्मानुष्ठानसे उनके हृदय द्रवित नहीं होते; उनकी चित्तशुद्धि निर्वेदपूर्वक तत्त्वज्ञानके रूपमें होती है; किन्तु जिनके हृदय भगवद्वासनासे वासित होते हैं, भगवत्कथा श्रवणादिसे उनके हृदय द्रवित हो उठते हैं और

उनके अन्दर भागवत्धर्मके साथ भक्तिका उदय हो जाता है। ज्ञानयोगका भी अन्तिम लक्ष्य भक्तियोगकी उत्पत्ति ही है। यदि भक्तियोगकी उत्पत्ति न हो तो ज्ञानयोग व्यर्थ हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि सांख्यमें जिन २५ तत्त्वोंका निरूपण किया गया है उनके अनुलोमक्रमसे जगत्की उत्पत्तिका चिन्तन और प्रतिलोमक्रमसे लयका चिन्तन तभी तक करना चाहिए जब तक मन निर्मल होकर भक्तिके योग्य न हो जाए। तत्त्वचिन्तनसे जब मन निर्विण हो जाता है और साधक तत्त्वज्ञानसे युक्त हो जाता है तब उसके मनका दौरात्म्य स्वतः तिरोहित हो जाता है।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥

श्रीमद्भागवत ११-२०-२३

मनःप्रसार भक्तियोगके बिना सम्भव ही नहीं है। श्रीमद्भागवतमें ही कहा गया है कि जो व्यक्ति निरन्तर भक्तियोगसे भगवद्भजन करता रहता है उसके हृदयमें भगवान् स्वतः आ जाते हैं और उनकी हृद्गत सभी काम-वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इस सबका आशय यही है कि कर्मयोगकी भाँति ज्ञानयोगका भी अन्तिम लक्ष्य भक्तिको प्राप्त कर लेना ही है। कहीं-कहीं भक्तिको ज्ञानका साधन भी बतलाया गया है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि भक्तिके दो रूप होते हैं—साधनभक्ति और भाव तथा प्रेमभक्ति। साधनभक्ति ज्ञानयोगका कारण होती है और भाव तथा प्रेमभक्ति ज्ञानयोगसे उद्भूत होती है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा गया है कि भक्तका श्रेय न तो ज्ञानसे होता है न वैराग्यसे। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, दान, धर्म इत्यादिसे जो भी स्वर्ग मोक्ष इत्यादि फल प्राप्त होते हैं, मेरा भक्त भक्तिकी महिमासे ही सभी कुछ प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह भक्तिके अतिरिक्त कुछ चाहता ही नहीं। मैं यदि उसे कुछ देना भी चाहूँ तब भी वह उसे स्वीकार ही नहीं करता। यही भक्तिका क्रमिक उपार्जित भाव है। कभी-कभी प्राक्तन संस्कारों के प्रभावसे साधनाकी निरपेक्षतामें भी भक्तिकी उत्पत्ति देखी जाती है; किन्तु एक तो ऐसा बहुत कम होता है, दूसरे पूर्वजन्मोंकी साधना ही उस भक्तिमें भी हेतु होती है। इस प्रकार भक्ति एक उपार्जित भाव है।

अब विचार यह करना है कि भक्तिको स्थायी भावकी संज्ञा क्यों और किस प्रकार प्राप्त होती है। वस्तुतः पूर्ण भक्ति तो प्रेमाभक्ति ही है। उसकी पूर्वकोटि रति या भाव-भक्तिको ही स्थायी भावकी संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तीव्र तथा परिवृद्ध रति ही प्रेमाभक्ति बन जाती है। एक दूसरा अन्तर यह भी है कि रतिको रसरूपता धारण करनेके लिए विभावादि परिपोषकों की नितान्त अपेक्षा होती है, किन्तु प्रेमाभक्ति उनके अभावमें भी स्वसत्तासे ही रस बन जाती है। जब तक स्थायी भाव रसरूपताको धारण नहीं करता तब तक वह भावसंज्ञाका ही अधिकारी रहता है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु'के भाव प्रकरणमें संचारी भाव और स्थायी भाव दोनोंको भाव-संज्ञासे अभिहित किया गया है। भावाभिनिष्पत्तिके विषयमें अधिकारियों पर विचार करते हुए लिखा है कि दो प्रकारके व्यक्ति होते हैं—गरिष्ठ या कर्कश चित्तवाले और लघिष्ठ या कोमल चित्तवाले। कर्कश चित्त तीन प्रकारका होता है—वज्र, स्वर्ण और जतु की उपमा

वाला। भावरूप अग्निसे वज्रचित्त कभी द्रवित ही नहीं होता, ऐसा चित्त तापसोंका होता है। स्वर्णचित्त अधिक तापसे द्रवित होता है और जतु चित्त तापलेशसे भी द्रवित होता है। एक दूसरे स्थान पर इसी प्रकरणमें भावको रंगकी उपमा दी गई है जो दो प्रकारका होता है—स्वाभाविक रंग जैसे मंजिष्ठा इत्यादिमें और आगन्तुक रंग जैसे रँगे कपड़ोंमें। इस लाख और रंगके दृष्टान्तको प्रकारान्तरसे मधुसूदन सरस्वतीने समझानेकी चेष्टा की है जो प्रस्तुत प्रकरणमें दी हुई अनेक उपमाओंके विरुद्ध नहीं जाती। इनके अनुसार स्थायी भाव की प्रक्लृप्तिकी प्रक्रिया यह होगी—चित्त एक स्वाभाविक ठोस पदार्थ-जैसा है, जिस प्रकार लाख एक ठोस पदार्थ हुआ करता है। लाखको आगसे तपाकर द्रवित कर लिया जाता है जिससे उसमें प्रवहणशीलता आ जाती है। फिर उस प्रवहमान लाखको किसी पुतली इत्यादि के साँचेमें ढालकर एक विशिष्ट आकृतिकी परिकल्पना कर ली जाती है। इसी प्रकार काम, क्रोध, भय, उद्वेग, हर्ष, शोक, दया इत्यादि अनेक भाव चित्तरूपी लाखको पिघलाने वाले होते हैं। इनसे पिघलकर चित्त जब भगवदाकारतामें परिणत हो जाता है उसे ही भक्ति कहते हैं। इसीलिए भक्तिकी परिभाषा यह दी हुई है—श्रवणादि भागवतधर्मोंसे जब द्रुत होकर चित्त धारावाहिकताको प्राप्त हो जाता है और भगवदाकारतामें परिणत हो जाता है तब उसे भक्ति कहते हैं। मधुसूदन सरस्वतीका कहना है कि इस भक्तिदर्शनमें सर्वत्र मनोवृत्तिका अर्थ भगवदाकारतामें मनकी परिणति है—

'तदाकारतैव हि सर्वत्र वृत्तिशब्दार्थोऽस्माकं दर्शने।'

मनोवृत्तिके भगवदाकारतामें परिणत होनेका एक बहुत बड़ा परिणाम यह होता है कि संसारकी सभी वस्तुएं भगवान्के रूपमें ही दिखलाई पड़ने लगती हैं। भगवान्का ही प्रतिबिम्ब सारे विश्वमें दिखलाई पड़ता है। क्योंकि जब उपाधिनिष्ठत्वेन बिम्ब की ही प्रतीति होती है तभी वह प्रतिबिम्ब कहा जाता है। यह भक्तिकी पराकाष्ठा है और भगवन्मय विश्वको देखनेवाला उत्तम भागवत कहा जाता है। इस प्रकारका संस्कार अविनाशी होता है। इसीलिए भगवदाकारता परिणति रूप भक्तिको स्थायी भावकी संज्ञा प्रदान की जाती है। ये भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं। अतः जब मनोनिविष्ट भगवत्स्वरूप विभावादिकोंके संयोगसे अभिव्यक्त हो जाता है तब परमानन्द रूप रसकी अनुभूति होने लगती है।

भगवदाकारता परिणतिके अतिरिक्त हम इसे दूसरे रूपमें भी समझ सकते हैं—जब अग्निका संयोग होने पर लाख पिघल जाता है उस समय उसमें कोई रंग मिला दिया जाय और तापकका प्रभाव शान्त हो जाने पर वह लाख पुनः ठोस हो जाय तो द्रवावस्थामें मिलाया हुआ रंग स्थायी हो जाता है। उसी प्रकार जब कामादिसे चित्त द्रवित हो गया हो उस समय यदि उसमें भगवत्प्रेम रूपी रंग मिला दिया जाता है तो वह रंग (प्रेम) चित्तमें स्थायी हो जाता है। इसीलिए भगवत्प्रेमको स्थायी भाव कहते हैं। फिर जब कभी उसी प्रकारकी परिस्थितिको पाकर चित्त पुनः द्रवित होता है तब भगवत्प्रेम उसी रूपमें प्रति-भासित होता रहता है। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि भक्तिके इस प्रकार दो स्वरूप हो जाते हैं—भगवदाकारता और भगवत्प्रेम। इस प्रकार आलम्बन विभाव और स्थायी भाव दोनों एक हो जाते हैं। किन्तु यह विरोध नहीं है, क्योंकि बिम्ब-प्रतिबम्ब भावसे इनका भेद व्यवहारसिद्ध है। रूपगोस्वामीने रतिके विषयमें कहा है—

आविर्भूयमनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयंप्रकाश रूपादिभासमाना प्रकाश्यवत्॥

अर्थात्—भगवद्रति मनोवृत्तिमें आविर्भूत होकर भगवत्स्वरूपताको धारण कर लेती है। भक्ति प्रकाशरूप होती है किन्तु उसकी प्रतीति प्रकाश्यके समान ही होती है। प्रकाश्य भगवान् हैं। जिस प्रकार दीपकका प्रकाश जिस प्रकोष्ठमें पड़ता है उसी रूपमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार रति जब भगवान्को प्रकाशित करती है तब भगवान्के स्वरूपमें ही उसकी प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार आलम्बन और स्थायी भावकी ऐक्यापत्तिका समाधान हो जाता है। यही भक्ति इन आचार्योंका अभिमत स्थायी भाव है। इसमें तापकोंका भी योग रहता है। इस प्रकार मिश्रित भाव ही आस्वादगोचर हुआ करता है। इसीलिए इन भक्त आचार्योंने सभी रसोंके मूलमें रति मानी है। इसी आधार पर मुख्य और गौण रसोंकी परिकल्पना की गई है। इस प्रकार मिश्रित भावके आस्वादनका भी समाधान हो जाता है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि फिर लौकिक रसके विषयमें क्या व्यवस्था होगी? उसमें भगवदाकारताका निर्वाह किस प्रकार हो सकता है? भक्तिरसके आचार्य इस विषय में भी निर्भ्रान्त हैं। सभी व्यक्तियोंकी उत्पत्ति तो आनन्दसे ही होती है, वे आनन्दसे ही जीवित रहते हैं और अन्तमें उनका लय भी आनन्दमें ही हो जाता है। ब्रह्म ही एक सत्य तत्त्व है। कान्ता इत्यादिमें भी आनन्दांश ब्रह्मका ही है। मायाके प्रभावसे उसकी प्रतीति ब्रह्ममय न होती हो यह दूसरी बात है। मायाकी दो शक्तियाँ होती हैं—आवरण और विक्षेप। विश्वके समस्त पदार्थ ब्रह्म ही हैं और इसीलिए सब आनन्दरूप हैं। आवरण शक्ति का कार्य है वास्तविकताका तिरोधान कर देना और विक्षेप शक्तिका कार्य है उसमें नवीन तत्त्वकी प्रतीति करा देना। उदाहरणके लिए रज्जुमें सर्पका जो भान होता है उसमें आवरण शक्तिसे रज्जुका तिरोधान हो जाता है और विक्षेप शक्तिसे सर्पकी प्रतीति होने लगती है। इसी प्रकार कान्तादिके विषयमें मायाकी आवरण शक्तिसे ब्रह्मके आनन्दांशका तिरोधान हो जाता है और कान्तादि असत्की प्रतीति विक्षेप शक्तिसे हो जाती है। कान्ता इत्यादिके विषयमें भी आनन्दका कारण सुखस्वरूप चैतन्यघन ही है। अतः मनोवृत्तिके तदाकार होने पर भी मायाके आवरणके कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। कान्तादिमें ब्रह्म सत् है, किन्तु ब्रह्मरूपमें ज्ञात नहीं होता; उसकी प्रतीति कान्तारूपमें ही होती है। जब विभावादिके संयोगसे सत्वका उद्रेक हो जाता है तब मायाकी आवरणशक्ति भंग हो जाती है। उस समय क्षणभरकेलिए ब्रह्मानन्दका प्रतिभास होने लगता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि मायाकी आवरण शक्तिका ही भंग होता है, विक्षेप शक्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता। अतः आनन्दांशका प्रतिभास होते हुए भी कान्तादिकी प्रतीति होती ही रहती है। अन्तर यह हो जाता है कि लोक-वाक्य तो प्रवर्तक होते हैं; किन्तु काव्य-वाक्य प्रवर्तक नहीं अपितु आस्वाद्य होते हैं। इस प्रकार आनन्दांशपूर्ण कान्तादि प्रतिभास मनमें भावरूपताको धारण कर लेता है; किन्तु उसमें जड़ताका भी मिश्रण रहता है। अतः वह भाव पूर्णरस-रूपताको नहीं धारण कर सकता अपितु न्यून ही रहता है। इसके प्रतिकूल जाड्यका मिश्रण न होनेके कारण भगवद्विषयकभाव पूर्ण आनन्दरूपताको प्राप्त कर लेता है।

उक्त विवेचनसे इस प्रश्नका भी उत्तर मिल जाता है कि रस केवल आनन्दमय ही

होते हैं या सुख-दुःखात्मक ? यदि वे केवल आनन्दमय होते हैं तो भयानक, रौद्र इत्यादि रसोंमें सुखानुभूति किस प्रकार सिद्ध होती है ? बात यह है कि कामादिसे द्रवित होकर चित्त ब्रह्मानन्दमय हो जाता है। जिस प्रकार लाखको पिघलाकर उसमें जो रंग मिला दिया जाता है वह स्थायी हो जाता है, जब रंगके सहित लाख पुनः ठोस हो जाती है और उसके बाद पुनः पिघलाई जाती है तब भी उसमें पुराने रंगका प्रतिभास होता ही रहता है; इसी प्रकार मनके द्रवित हो जानेके बाद जो रतिजन्य आनन्दांश उसमें सम्मिलित हो जाता है, रौद्रादि द्वारा पुनः द्रवित करने पर भी उस आनन्दांशका सर्वथा अपलाप नहीं हो जाता। किन्तु सत्वके उद्रेकसे ही मनोवृत्ति रसरूपता धारण करती है। सत्व रजोगुण और तमोगुण से संवलित रहता है। अतः रजोगुण और तमोगुणके तारतम्यसे रसास्वादनमें भी तारतम्य बना रह सकता है।

ऊपर तापकके संयोगसे द्रुतिकी बात कही गई है। कभी-कभी इससे घटकर भी स्थिति होती है। सूर्यतापके संयोगसे जतुमें पूर्ण द्रवता नहीं आती, अपितु थोड़ी-सी शिथिलता आ जाती है। उस दशामें कोई भी रंग पूर्णरूपसे जतुमें प्रविष्ट नहीं होता, अपितु कुछ अंश में ही उसमें मिल पाता है तथा उसका अपनयन भी सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इसी प्रकार तीव्र भावोंसे द्रवित होकर चित्त पूर्ण विषयाकारताको धारण कर लेता है। उस दशामें उसे संस्कार, वासना, भावना, भाव इत्यादि अनेक शब्दोंसे अभिहित किया जाने लगता है। किन्तु इसके प्रतिकूल जहाँ भाव तीव्र नहीं होते वहाँ चित्त कुछ शिथिल हो जाता है। अतः उसमें भगवदाकारता पूर्ण रूपसे सन्निविष्ट नहीं हो सकती। उस दशामें उसे संस्काराभास या भावाभास इत्यादि नामोंसे ही पुकारा जाता है। इस संस्काराभास या भावाभासके रूपगोस्वामीने दो भेद किये हैं—प्रतिबिम्ब और छाया।

मायाकी आवरण और विक्षेप शक्तियाँ वेदान्त पर आधारित हैं। इसी प्रकार सांख्य में प्रकृतिके तीन तत्त्व माने जाते हैं—सत्व, रज और तम। ये क्रमशः सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक होते हैं। इनसे युक्त प्रकृति ही सब कार्योंका कारण और सभी कार्योंका रूप है। सुख-दुःखादि तत्त्व आन्तरिक होते हैं और प्रकृतिजन्य वस्तु-कलाप बाह्य। बाह्य वस्तुका आन्तर प्रतिबिम्ब वासना-मिश्रित होनेसे सुखादि रूप हो जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियोंमें अनेकविध भावनाओंको जागृत करती है। यह तो लोककी बात हुई। काव्यमें वस्तुके अन्तःप्रतिबिम्बके साथ जब सुखकी भावना सन्निविष्ट हो जाती है—क्योंकि काव्यमें जिन वस्तुओंका प्रतिबिम्ब अन्तःपटल पर पड़ता है वे स्वसम्बद्ध किसी भी प्रकार नहीं होतीं—तब वह सुखमय भावना स्थायी भाव बन जाती है और वही रसरूपमें परिणत होती है। किसी भी कामिनीके दो रूप हो सकते हैं—अन्तः और बाह्य। बाह्य कामिनी माँसमयी होनेसे नश्वर है, किन्तु उसकी अन्तःप्रतिकृति छाया रूप है जिससे वह नश्वर नहीं हो सकती। इस प्रकार वेदान्तके समान सांख्यके अनुसार भी भावना तथा प्रकाश्य वस्तु दोनोंको स्थायी भावकी संज्ञा प्राप्त होती है।

स्थायी भावसे रसनिष्पत्ति

स्थायी भावकी रसरूपतापत्तिके विषयमें भक्त आचार्योंका सामान्य आचार्योंसे विशेष

मतभेद नहीं है। इस प्रसंगमें भक्त ग्राचार्योंने ग्रनेकशः भरतका ग्रतिदेश किया है। रूप गोस्वामी ने तो परिभाषा भी 'साहित्य दर्पण'की परिभाषासे मिलती-जुलती दी है। मधुसूदन सरस्वती ने निम्नलिखित शब्दोंमें रसनिष्पत्तिका विश्लेषण किया है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेनाभिव्यक्तः स्थायिभाव एव सभ्याभिनेययोर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एवसन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोतीति रसविदां मर्यादा।"

इसका ग्राशय यह है कि स्थायी भाव सामाजिकमें ही रहता है। जब उसका संयोग विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर संचारी भावसे होता है तब सामाजिक तथा ग्रभिनेय (ग्रनुकार्य कृष्ण इत्यादि) से उसके भेदका तिरोधान हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ग्रभेद प्रतीतिके साथ भगवद्गत परमानन्दरूपता सामाजिकमें ग्रा जाती है ग्रौर सामाजिक रस-विभोर हो उठता है। यही रस कहलाता है; यह रसज्ञोंकी मर्यादा है। इस परिभाषासे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. स्थायी भाव सामाजिकगत ही होता है ग्रौर सामाजिककी चित्तवृत्ति ही रसरूपता को धारण करती है। 'भक्तिरसायन' के तृतीय उल्लासमें लेखकने लिखा है कि सुख या ग्रानन्द तो ग्रात्माका स्वरूप है, क्योंकि शास्त्रकार 'रसो वै सः' कहकर रसकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मका ग्रादि ग्रन्त है ही नहीं। ग्रतः ग्रानन्दका ग्राधार कुछ नहीं हो सकता। किन्तु उस ग्रानन्दको ग्रभिव्यक्त करनेवाली सात्विक वृत्तियाँ तो सामाजिकके मनमें ही रहती हैं। इसीलिए सामाजिकका मन रसका ग्राधार माना जाता है।

२. रस सर्वदा सुखात्मक ही होता है। करुणादि रसोंमें भी सुखरूपता ही विद्यमान रहती है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने रसकी परिभाषामें भी सुखका समावेश कर दिया है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकै व्यभिचारिभिः।
स्थायिभावः सुखत्वेन व्यज्यमानोरसोभवेत्॥

इस सुखत्वकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि रति इत्यादि लौकिक भावोंका ही काव्यमें उपादान होता है ग्रौर काव्यार्थगत होने पर वे भाव लौकिक ही रहते हैं, किन्तु परिशीलककी चित्तवृत्तिमें ग्राकर ग्रलौकिक हो जाते हैं। इस प्रकार रति इत्यादि बोध्य (ग्रनुकार्य) निष्ठ होकर सुख-दुःखादिमें हेतु होते हैं, किन्तु बोद्धा (सहृदय) गत होकर केवल सुखमें ही हेतु होते हैं। बोद्धृनिष्ठभाव दुःखमें हेतु होते ही नहीं, इसीलिए करुणादि रसोंकी सुखात्मकता भी प्रतिहत नहीं होती।

३. स्थायी भाव ही रसरूपता धारण करता है। इस विषयमें मतभेद भी है। स्वयं ग्रभिनवगुप्तने लिखा है—'स्थायिविलक्षण एव रसः।' मतभेदका उल्लेख मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार किया है—'कुछ लोगोंके ग्रनुसार ज्ञातस्वपर सम्बन्धसे भिन्न साधारणीकरण की प्रक्रियासे विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर संचारी भाव ग्रलौकिकभावका बोध कराते हैं। तीनों भावोंसे संसृष्ट स्थायी भावमें ग्रवगाहन करनेवाली एक समूहावलम्बनात्मिका बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वह शीघ्र ही उत्तम सुखको ग्रभिव्यक्त करती है। यही रस है। उनमें प्रत्येक विज्ञान कारणके रूपमें स्वीकृत किया जाता है। उन लोगोंके मतमें स्थायी भावको रस कहना एक ग्रौपचारिक प्रयोग है। किन्तु भक्त ग्राचार्योंके मतमें स्थायी भाव ही रसरूपता धारण करता है, क्योंकि स्थायी भाव स्वयं सुखमय भाव ही है।

४. रसकी अभिव्यक्ति ही होती है। इस दिशामें व्यंजनावादके सभी सिद्धान्त इन आचार्योंको मान्य हैं। शब्द व्यंजक होता है। रीति और गुणका रससे वही सम्बन्ध है जो अभिव्यंजनावादवालोंने माना है। उसी प्रकार अलंकार परिपोषक माने जाते हैं। रसोंकी असंलक्ष्यक्रमता, कार्यज्ञाप्यादिभिन्नता तथा निर्विकल्पक आस्वादरूपता इत्यादि भी मानी जाती है जिसका निरूपण 'भक्तिरसायन'के तृतीय उल्लास में किया गया है।

५. इस मतमें सभ्य और अभिनेयके भेद तिरोधान अर्थात् तादात्म्यका सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त रसकी दिशामें तो ठीक है ही—रसाभासकी दिशामें भी भक्ति सम्प्रदायमें कोई दोष नहीं आता।—क्योंकि भक्तिसिद्धान्तमें सभी भाव भगवद्रति के ही पोषक होते हैं। इसमें भगवान् आलम्बन भी हैं और स्थायी भावके रूपमें भी उनका प्रत्यायन होता है। अतः उनसे तादात्म्य स्थापित करना स्वाभाविक ही है। भक्त आचार्य सभी भावोंको रतिमूलक ही मानते हैं। इसी आधार पर इन आचार्योंने मुख्य तथा अमुख्य रसोंकी व्यवस्था की है। भक्त आचार्योंकी रस प्रक्रियाका यही संक्षिप्त परिचय है।

भक्तिरस-सिद्धान्तका मूल्यांकन

भक्तिरसकी यह परिकल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं। रसशास्त्रकी प्राचीन दिशाके प्रति समुचित आस्थाका निर्वाह करते हुए भी इन आचार्योंने मौलिकता भी पर्याप्त मात्रामें दिखलाई है जिससे प्राचीन और नवीनका संगमस्थल बनकर यह रससिद्धान्त दोनों बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो गया है। प्राचीन शास्त्रकी दृष्टि से यह नवीन है; किन्तु प्राचीनताका समुचित संश्रय इसे सर्वथा नवीन कहनेमें संकोच उत्पन्न करता है। इन आचार्योंने भक्तिको ही एकमात्र रस मानकर तथा अन्य समस्त रसोंको भक्तिके कलेवरमें ही समेटकर भक्ति काव्यकी तो यथेष्ट व्याख्या कर ही दी है; सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण पद-प्रक्षेप किया है, जिसके लिए ये आचार्य प्रशंसाके पात्र हैं। प्रत्येक स्थान पर सूझ-बूझ और गवेषणा-शक्तिका परिचय प्राप्त होता है। रसके मूल उपकरण वे ही हैं, किन्तु उनका वर्गीकरण सर्वथा नया है। आलम्बन, नायक-नायिका भेद, उद्दीपन, अनुभाव, नायक-नायिकागत अलंकार इत्यादि समस्त रसोपकरणों पर स्वतन्त्र दृष्टिसे विचार किया गया है। इन सब विवेचनोंमें काव्य-वर्णनाओं तथा लक्ष्यग्रन्थों पर पूरा ध्यान रखा गया है। ये आचार्य कहाँ तक प्राक्तन साहित्यके उपजीवी हैं और कहाँ तक इनमें नवीन उद्भावनाएँ हैं इस सबका निरूपण इस छोटे-से लेखमें सम्भव नहीं है। यह एक स्वतन्त्र अनुसन्धानका विषय है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—सात्त्विक भावोंकी द्विधा स्थितिके कारण उनको अनुभावों में सम्मिलित किया जाय या संचारियोंमें यह साहित्यज्ञोंमें विवादका विषय रहा है। 'भक्ति-रसामृतसिन्धु'में इनकी पृथक् स्थिति स्वीकार कर और संचारी तथा अनुभाव दोनोंसे इन्हें पृथक् कर एक नवीन दिशाका उन्मीलन किया गया है। सात्त्विकोंकी संख्या तो आठ ही रखी गई है, किन्तु उनका वर्गीकरण नये ढंगसे कर दिया गया है। पहले स्निग्ध, दिग्धादि भेदोपभेद किये गए, फिर उनके भूमि आदि आधारोंका निरूपण किया गया, फिर उनके धूमायित इत्यादि भेद किये गए। बादमें सात्त्विकाभासके भेदोपभेदोंका वर्णन किया गया। इस प्रकारका प्राक्तन आधार और नवीन उद्भावना इनके प्रत्येक निरूपणमें विद्यमान है

ग्रौर विशेषता यह है कि भेद-कल्पनाकी व्यसनितामात्र नहीं, अपितु वस्तुकी अन्तर्दृष्टि सर्वत्र परिलक्षित होती है। यद्यपि इसके यत्र-तत्र अपवाद भी हैं; किन्तु आचार्यकी विवेचन शैली और सारग्राहिणी प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित होती है, इसमें सन्देहका कोई अवसर नहीं रह जाता।

केवल उपकरणोंकी विवेचना ही नहीं, रसनिष्पत्तिकी दिशामें भी प्राचीन मान्यताके प्रति आस्थामय नवीन उद्भावना इस सिद्धान्तकी विशेषता है। स्थायी भावका स्वरूप-विश्लेषण तो सर्वथा मौलिक है ही, संचारी भावोंके स्वरूपाधिगमका भी विश्लेषण नवीनता लिये हुए है। स्थायी भावकी भेदोपभेद कल्पना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कहना ही होगा कि इन आचार्योंने रस और भक्तिशास्त्रोंका सफल समन्वय प्रस्तुत किया है और भक्तिके परिप्रेक्ष्यमें समस्त रसोंको वेष्टित कर देनेमें इन आचार्योंको पर्याप्त सफलता मिली है।

रस निष्पत्ति पर विचार दो दृष्टियोंसे होना चाहिए—एक तो विस्तारकी दृष्टिसे और दूसरे गहराईकी दृष्टिसे। इस दृष्टिसे कहना ही होगा कि भक्ति न तो सर्वजनीन भाव है, न सर्वजन-संवेद्य ही और न मूलप्रवृत्ति ही। प्राक्तन आचार्यों द्वारा विवेचित स्थायी भाव मानव तथा पशु-जगत्में एक से पाये जाते हैं—अभिनवगुप्तके अनुसार सभी रिरंसासे व्याप्त होते हैं; सभी अभीष्टके वियोगसे सन्तप्त होते हैं, अभीष्ट वियोजक हेतुओंके प्रति सभीको क्रोध आता है; असमर्थ होने पर सभीको भयकी प्रतीति होती है; अनभीष्ट वस्तुसे सभीको वैमुख्य होता है; सभी किसीका परित्याग करना चाहते हैं और लोकोत्तर वस्तुको देखकर सभीको विस्मयकी अनुभूति होती है। इस प्रकारकी सर्वजन संवेद्यता भक्तिमें नहीं है। इसीलिए पुराने आचार्योंने भक्तिको पृथक् रूपसे रस नहीं माना है। भक्ति आनन्द देती है; इसीलिए इसको पुराने आचार्योंने भावकी कोटिमें रखा है, रस कोटिमें नहीं। इस दृष्टिसे विचार करने पर ये आचार्य दर्शनके साथ साम्प्रदायिक भावनासे विशेष आक्रान्त प्रतीत होते हैं; मनोभावकी सामान्य भूमिका पर इनका कम ध्यान है।

प्राचीन आचार्योंने शान्तरसका प्रतिपादन किया था। यह एक प्रकारकी मूलवृत्ति अवश्य होती है। मनुष्य अभीष्ट-लाभमें आनन्दको प्राप्त करता ही है—उसे उच्चकोटिके सुस्वादु भोजनोंमें आनन्दानुभूति होती ही है—उस समय भी उसे तृप्तिजन्य आनन्दका अनुभव होता है जब उसे किसी बातकी आकांक्षा नहीं होती। इसी भाँति जब किसी प्रकार की भावना मनको आन्दोलित नहीं कर रही होती है तब भी एक प्रकारका सुख अनुभव-गोचर होता है। इसे हम तृष्णाक्षय सुख कह सकते हैं। तृष्णाक्षय सुखका अर्थ है विषया-भिलाषाकी चारों ओरसे निवृत्ति तथा उससे उत्पन्न होनेवाला निर्वेद। वह निर्वेद ही शान्त-रसका स्थायी भाव है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि चेष्टा तथा भावनाका आत्यन्तिक उपरमही निर्वेद नहीं है। अभिनवगुप्तने लिखा है कि सब प्रकारकी चित्तवृत्तियों का प्रशमही शान्तरसका स्थायी भाव माना जाता है। यह वृत्तियोंका प्रतिषेध है जो दो प्रकार का हुआ करता है—प्रसज्य तथा पर्युदास। प्रसज्यमें किसी वस्तुका सर्वथा अभाव व्यक्त होता है और पर्युदासमें तत्समकक्ष दूसरी वस्तुका उपादान हुआ करता है। सामान्यत: प्रसज्य प्रतिषेधमें 'न' का प्रयोग पृथक् होता है और पर्युदासमें समास हो जाता है। जैसे 'ब्राह्मणं न आनय' का अर्थ होगा कि ब्राह्मणको न लाया जाए, न और ही किसीको लाया जाए।

इसके प्रतिकूल पर्युदास इस प्रकार होगा—'अब्राह्मणं आनय' अर्थात् ब्राह्मण-भिन्न ब्राह्मण-सदृश किसी व्यक्तिको ले आओ। चित्तवृत्तिके प्रशमको यदि प्रसज्य प्रतिषेध माना जायगा तो जब कोई मनोविकार या मनोवृत्ति होगी ही नहीं तो आस्वादन किसका होगा ? अतएव पर्युदास ही मानना चाहिए जिसका आशय होगा—चित्तवृत्तियाँ लोकोन्मुख न होकर परा-सत्ताकी ओर उन्मुख हों। यही निर्वेद है। इसमें भी अद्वितीय आनन्दकी उपलब्धि होती है। चित्तवृत्तियोंकी भगवदुन्मुखता ही भक्ति है। इस प्रकार प्राचीन शास्त्रके अनुसार भक्ति शान्तका ही एक व्याप्य भाव है। निर्वेद व्यापक होता है। यह दृष्टिकोण समीचीन भी है और रसकी सामान्य भूमिकाकी इसमें उपेक्षा नहीं की गई है। व्यापक भावको ही उद्देशक्रम में स्थान मिलना चाहिए। इस दृष्टिसे शान्तको रस रूपमें स्वीकार करना अनिवार्य है। फिर भी, भक्तिकाव्यकी ठीक व्याख्या करनेके लिए तथा भक्त आचार्योंकी सम्प्रदायगत मनोवृत्तिको समझानेकी दिशामें इन आचार्योंका महत्त्व अक्षुण्ण है और रसशास्त्रकी विचार-धारामें यह एक महत्त्वपूर्ण पदन्यास है जिसकी उपेक्षा कभी नहीं की जा सकेगी।

—रामसागर त्रिपाठी

श्रीरूपगोस्वामि-निर्मितः

भक्तिरसामृतसिन्धुः

प्रथमे पूर्वविभागे

प्रथमा सामान्यभक्तिलहरी

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ।। १ ।।

अथ भक्तिरसामृतसिन्धु-दीपिका हिन्दी-व्याख्या

श्रद्धया सत्यमाप्यते

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां माध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ।।
शुद्धाऽऽलोकमयी नित्यमज्ञानान्धतमोपहा ।
सदा स्वान्तेऽस्मदीये सा, प्रभोर्भक्तिः प्रकाशताम् ।।
साहित्य-दर्शनपरान् प्रथितान् प्रबन्धान्,
व्याख्याय लब्ध-निजबुद्धिगुण-प्रसादः ।
श्रद्धारसेन परिपूतमना हि वृत्तिं,
सिन्धौ तनोमि हरिभक्तिरसामृतस्य ।।

मङ्गलाचरण—

इस ग्रन्थके निर्माता श्री रूपगोस्वामि-महोदय, भक्ति-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री महाप्रभु चैतन्यदेव (१४८५-१५३३ ई०) के प्रमुख शिष्य थे। अपने गुरुदेव द्वारा प्रतिपादित भक्ति-सिद्धान्तको सुव्यवस्थित शास्त्रीय रूप प्रदान करनेके लिए उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना की है। भारतीय परम्पराके अनुसार ग्रन्थके आरम्भमें श्लिष्ट विशेषणोंके द्वारा चन्द्रमा के साथ सादृश्य दिखलाकर वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्णचन्द्रकी वन्दना करते हुए लिखते हैं—

[चन्द्र-पक्षमें अखिल रसामृतमूर्तिः अर्थात्] अखण्डित, रसामृतसे परिपूर्ण [सुधानिधि] स्वरूप वाले [अपनी 'प्रसृमररुचि' अर्थात् चारों ओर] फैली हुई कान्तिसे ['रुद्धतारकापालिः' अर्थात्] तारक-पंक्तिको अभिभूत कर देने वाले एवं [कलित श्यामा ललितः अर्थात्] रजनीके सौन्दर्याधायक [राधाप्रेयान्] वैशाखी पूर्णिमाके [विधुः] चन्द्रमाके समान समस्त [अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्रके पक्षमें 'अखिल रसामृतमूर्तिः' अर्थात् आगे कहे जाने वाले शान्त आदि द्वादश संख्यक] समस्त रसोंसे युक्त, अमृत [अर्थात् परमानन्द] ही जिनका स्वरूप है इस प्रकारके,

और ['प्रसृमर रुचि' अर्थात् अपने] सौन्दर्यसे [रुद्धतारकापालिः] जिन्होंने तारिका और पाली [नामिका गोपियों] को वशमें कर लिया है [इसी प्रकार 'कलित श्यामा ललितः' अर्थात् अपने सौन्दर्यसे] श्यामा और ललिता [सखी नामक गोपियों] को अपने वशमें कर लेने वाले, एवं [राधाप्रेयान् अर्थात्] राधाको अत्यन्त प्रेम करने वाले [अथवा राधाके अत्यन्त प्रीति-भाजन 'विधु' अर्थात्] श्रीकृष्णचन्द्र [जयति] सर्वोत्कर्षशाली हैं। ['जयति' पदसे उन श्री कृष्णचन्द्रके प्रति नमस्कारका आक्षेप होता है। अर्थात् मैं उनको नमस्कार करता हूँ यह अर्थ सूचित होता है]॥ १॥

यह ग्रन्थका मङ्गलाचरण-श्लोक है। इसमें 'राधाप्रेयान्' यह मुख्य वाक्य है। शेष तीनों चरण विशेषण रूप हैं। इसमें ग्रन्थकारने 'राधाप्रेयान् हरिर्जयति' न लिखकर 'राधा-प्रेयान् विधुर्जयति' लिखा है। 'विधु' शब्द सामान्यतः चन्द्रमाका वाचक है किन्तु 'अमरकोष' आदिमें विष्णुके नामोंमें भी 'विधु' नाम दिया गया है। यहाँ 'विधुर्जयति' इस कथनके द्वारा ग्रन्थकारने चन्द्रमाके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके सादृश्यको दिखलानेका यत्न किया है। और उसी सादृश्यका निर्वाह करनेके लिए श्लोकके शेष तीन चरणोंमें उन्होंने इस प्रकारके श्लिष्ट विशेषण प्रस्तुत किये हैं जो चन्द्रमा और श्रीकृष्णचन्द्र दोनोंके पक्षमें समन्वित होते हैं। इसमें 'प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः' यह द्वितीय विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य है। चन्द्रमा के पक्षमें उसका 'अपनी फैली हुई कान्तिसे जिसने तारकोंकी पालि अर्थात् पंक्तिको अभिभूत कर दिया है' यह अर्थ सीधा लग जाता है। श्रीकृष्ण-पक्ष में 'तारकापालिः' पदसे तारका और पाली नामकी दो गोपियोंका ग्रहण होता है। वैसे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिय गोपियों में प्रायः श्यामा, ललिता आदि गोपियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। उनके नामोंका उल्लेख ग्रन्थकारने तीसरे चरणमें किया है। यहाँ जिन तारका और पाली आदि गोपियोंका उल्लेख किया है वे उतनी प्रसिद्ध गोपियाँ नहीं हैं। फिर भी उनका नाम श्रीकृष्णकी प्रिय गोपियोंके रूपमें भविष्योत्तर-पुराणमें निम्न प्रकार उल्लिखित हुआ है—

गोपाली पालिका धन्या विशाखान्या धनिष्ठिका।
राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा॥

इस श्लोकमें 'तारका' नाम तो स्पष्ट रूपसे आया है, 'पाली' नाम नहीं आया है; उसके स्थान पर 'पालिका' नाम आया है। ग्रन्थकार रूपगोस्वामि-महोदयने उसी 'पालिका' को अपने श्लोकमें 'पालि' नामसे कहा है। इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके पक्षमें द्वितीय चरणकी सङ्गति ठीक बन जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्रके पक्षमें द्वितीय चरणकी सङ्गति लगानेमें जिस प्रकार थोड़ासा प्रयत्न करना होता है उसी प्रकार चन्द्रमा-पक्षमें चतुर्थ चरणकी सङ्गति लगानेके लिए तनिकसे प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। 'राधाप्रेयान् विधुर्जयति' इस चरणमें 'राधाप्रेयान्' पदकी सङ्गति श्रीकृष्णके पक्षमें तो अनायास ही लग जाती है। किन्तु चन्द्रमा-पक्षमें उसकी सङ्गति लगानेके लिए राधा पदका अर्थ 'दुर्गमसङ्गमनी'-टीकाकार 'जीवगोस्वामी'ने 'विशाखा नाम्न्यां तारायां' किया है। विशाखा-नक्षत्रसे युक्त होनेसे विशाखा नक्षत्र वाली पूर्णमासीसे युक्त मास का नाम वैशाख होता है। वैशाखकी पूर्णिमाका चन्द्रमा 'विशाखा-प्रेयान्' हो सकता है। उसीका ग्रहण यहाँ 'राधा-प्रेयान्' इस पदसे किया गया है। यह दुर्गमसङ्गमनीकार श्रीजीव-

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि ।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ॥ २ ॥
विश्राममन्दिरतया तस्य सनातनतनोर्मदीशस्य ।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्भवतु सदाऽयं प्रमोदाय ॥ ३ ॥

गोस्वामीका अभिप्राय है। यों तो 'राधाप्रेयान्' इस श्लेषके निर्वाहके लिए ही यहाँ वैशाखी पूर्णिमाके चन्द्रमासे कृष्णका साम्य दिखलाया है। परन्तु वैशाख मास वसन्त ऋतुमें आ जाता है इसलिए उसका विशेष महत्त्व है। इसलिए वैशाखी पूर्णिमा अर्थात् ऋतुराज वसन्तकी पूर्णिमाके चन्द्रके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका साम्य दिखलाते हुए ग्रन्थकारने ग्रन्थके इस प्रारम्भिक श्लोकमें अपने इष्टदेवको नमस्कार किया है॥ १ ॥

गुरु-वन्दना—

इस प्रकार प्रथम श्लोक में अपने इष्टदेवको नमस्कार करनेके बाद द्वितीय श्लोकमें ग्रन्थकार अपने गुरुदेव श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की वन्दना करते हुए लिखते हैं—

अब [अपने] हृदयमें जिनकी [ओरसे] प्रेरणा पाकर [वराकरूपोऽपि] क्षुद्र रूप [अल्प सामर्थ्य वाला] भी मैं [इस ग्रन्थके निर्माणमें] प्रवृत्त हो रहा हूँ उन [विष्णु-स्वरूप] श्रीकृष्ण चैतन्यदेवके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ॥ २ ॥

उन नित्य [कूटस्थ] रूप [सनातनतनोः] मेरे प्रभु [विष्णु अथवा महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य] का विश्राम-धाम होनेसे यह 'भक्तिरसामृतसिन्धु' [नामक ग्रन्थ] उनको सदा आनन्द प्रदान करने वाला हो॥ ३ ॥

यह श्लोक यों तो बड़ा सीधा-सादा है किन्तु है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण। इसमें कई विशेष बातें ध्वनित होती हैं। यह श्लोक गुरु-वन्दनाके प्रसंगमें लिखा गया है। पर उसमें गुरु शब्द या उनके नामका उल्लेख नहीं है। श्लोकका सीधा अर्थ 'मदीशस्य' मेरे प्रभु श्रीकृष्ण-परक प्रतीत होता है। विष्णु-भगवान् क्षीरसागरमें शयन करने वाले हैं। क्षीर-सागर उनका विश्राम-धाम, विश्राम-मन्दिर है। यह 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ भी 'अमृतसिन्धु' है। क्षीर-सागरके समान यह भी उनका विश्राम-मन्दिर है। इसलिए यह उनके लिए क्षीर-सागरके समान ही सदा आनन्ददायक हो, यह श्लोकका सीधा-सादा वाच्यार्थ है। पर इसमें 'मदीशस्य' पद अपने वाच्यार्थसे अधिक कुछ गहरा जा रहा है। वह 'मेरे प्रभु' 'महाप्रभु' का स्पर्श-सा करता हुआ प्रतीत होता है। ग्रन्थकार अपने गुरुदेव 'महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य देव' को अपने इष्टदेवसे अभिन्न बनाकर यहाँ 'मदीशस्य' पदसे कदाचित् उनकी ओर ही संकेत कर रहे हैं। यह श्लोकका वाच्यार्थ नहीं है। व्यंगार्थ ही हो सकता है।

इसी प्रकार 'सनातनतनोः' में आया हुआ 'सनातन' पद भी यहाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है। वैसे 'सनातनतनोः' पदका सीधा अर्थ नित्य-स्वरूप है और वह 'मदीशस्य' का विशेषण है। पर जैसे 'मदीशस्य' पदके ऊपर अव्यक्त रूपसे ग्रन्थकारके गुरुदेव 'महाप्रभु चैतन्यदेव' के नामकी छाया प्रतिबिम्बित हो रही है, उसी प्रकार इस 'सनातन' पदके ऊपर ग्रन्थकार के ज्येष्ठ भ्राता सनातनदेवके नाम की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है। महाप्रभु चैतन्यदेवके ६ प्रमुख शिष्य थे—१. रूप, २. सनातन, ३. जीव, ४. रघुनाथदास, ५. रघुनाथभट्ट और

६. गोपालभट्ट। इनमें से रूप और सनातन दोनों सगे भाई थे और जीव उनके भतीजे थे। छहों वृन्दावनके षड् गोस्वामियोंके रूपमें भक्ति-सम्प्रदायके प्रमुख 'आचार्यों'के रूपमें प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थके निर्माता रूपगोस्वामीको गुरु-वन्दनाके इस प्रसंगमें गुरुदेवके स्मरणके साथ अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनका भी स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। इसलिए 'सनातन' पद उनकी ओर संकेत भी कर रहा है।

ग्रन्थकारने प्रथम एक श्लोकमें अपने इष्टदेवकी वन्दना की है। उसके बाद दूसरा श्लोक गुरु-वन्दनाके रूपमें लिखा है। इस तीसरे श्लोक का सम्बन्ध ईशवन्दनासे न होकर गुरु-वन्दनाके साथ ही हो सकता है। यदि इसमें ग्रंथकारको ईश-वन्दना अभिप्रेत होती तो वे इसे गुरु-वन्दना वाले द्वितीय श्लोकके पहले ही लिखते। गुरु-वन्दनाके बाद फिर दुबारा ईशवन्दनाके विषयको उठाना उचित नहीं है। इसलिए यह स्पष्ट है कि यह श्लोक ईशवन्दनासे सम्बद्ध न होकर गुरुवन्दनाके साथही सम्बद्ध है। उस दशामें 'मदीशस्य' पदसे 'महाप्रभु चैतन्यदेव' का ग्रहण ही ग्रन्थकारको अभिप्रेत हो सकता है और वह उनके प्रथम श्लोककी रचनाके साथ मेल भी खाता है। प्रथम श्लोकमें ग्रन्थकारने 'हरिर्जयति' न लिखकर 'विधुर्जयति' लिखा है। अर्थात् हरिके ऊपर विधुका आरोप करके श्लिष्ट परम्परित सांगरूपक द्वारा अपने इष्टदेवकी स्तुति की है। इसी प्रकार इस श्लोकमें अपने गुरुदेवके ऊपर अपने इष्टदेव 'मदीशस्य' का, और अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनके ऊपर विष्णुके सनातन-देहका आरोप करके श्लिष्ट परम्परित रूपक द्वारा अपने गुरुदेवकी स्तुति तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनदेवका स्मरण किया है ॥२॥

भक्त-वन्दना—

'भक्तिरसामृतसिन्धु' जैसा कि उसके नामसे ही स्पष्ट है भक्ति-सिद्धान्तका प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसलिए उसमें भक्तोंका भी विशेष महत्त्व स्वतःसिद्ध है। इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने अपने इष्टदेव और और गुरुदेवकी वन्दना करनेके बाद अगले श्लोकमें भक्तजनोंकी वन्दना की है। इस प्रसंगमें ग्रन्थकारको श्लिष्ट परम्परित रूपक बड़ा प्रिय अलंकार प्रतीत होता है।

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्।
तत् परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥

यह परम्परित रूपकका लक्षण है। जहाँ एक वस्तु पर किसीका आरोप अन्य वस्तुपर भी किसी अन्यके आरोपका कारण होता है, उसको परम्परित रूपक कहा जाता है। वह कहीं श्लिष्ट शब्दोंके आधारपर और कहीं अश्लिष्ट शब्दोंके आधारपर होनेसे दो प्रकारका होता है। यहाँ ग्रन्थकारने अपने इष्टदेवकी वन्दनामें भी इसी श्लिष्ट परम्परित रूपकका आश्रय लिया है और अपने गुरुदेवकी वन्दना भी इसी रूपकके आधार पर की है। इस प्रकार तीसरे स्थान पर भक्तजनोंकी वन्दनामें भी उन्होंने इसी श्लिष्ट परम्परित रूपकका अवलम्बन किया है। भक्तिरसको ग्रन्थकारने अमृतका सिन्धु माना है। इसलिए भक्तिरसमें लवलीन भक्तजनों पर उन्होंने सिन्धुमें विचरण करने वाले मकरोंका आरोप किया है। भक्तगण अपनी भक्तिके प्रभावसे मृत्युपाशसे मुक्त हो जाते हैं जैसे समुद्रमें विचरण करने वाले मकरोंको जालमें फँसनेका भय नहीं रहता है इसी प्रकार भक्तजन कालके जालसे बच जाते हैं। इस प्रकार कालके ऊपर जालका आरोप भी उसी परम्परित रूपककी एक शृङ्खला है। इसी आधार पर ग्रन्थकार भक्तजनोंकी वन्दना करते हुए लिखते हैं—

भक्तिरसामृतसिन्धौ चरतः परिभूतकालजालभियः ।
भक्तमकरानशीलितमुक्तिनदीकान्नमस्यामि ॥ ४ ॥

भक्तिरस-रूप अमृतके सागरमें विहरण करनेवाले, मृत्युपाशके भयको परे पहुँचे हुए और [सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य आदि रूप नाना प्रकारकी] मुक्ति-रूप नदियोंकी [भी] उपेक्षा कर देनेवाले [अर्थात् भक्तिरसके सामने मुक्ति-सुखको भी हेय समझने वाले] भक्त-रूप मकरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

ज्ञान-कर्म-भक्तिवाद—

भारतके दार्शनिक एवं धार्मिक क्षेत्रमें त्रिपथगा गंगाकी तीन धाराओंके समान ज्ञान, कर्म और भक्तिकी तीन धाराएं चिरकालसे अलग-अलग उपलब्ध होती आ रही हैं। यों तो जीवनको सफल बनाने और मानव-जीवनके परम लक्ष्य-रूप मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनोंकी ही आवश्यकता पड़ती है। तीनोंमेंसे किसी एकका भी अभाव हो जाने पर इष्ट-सिद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए तीनोंका समन्वय-मार्ग ही श्रेयस्कर-मार्ग है। यही मुख्य वैदिक सिद्धान्त है। किन्तु वेदोंके बाद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदादिके रचना-कालमें ही ये तीनों धाराएं अलग हो जाती हैं। वैदिक ऋचाओंमें इन्द्र, मित्र, वरुण, आदि अनेकानेक नामोंसे भगवान्‌की स्तुति की गई है। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम किन्हीं भिन्न-भिन्न देवताओंके नाम नहीं हैं अपितु एक ही परमात्माके विविध गुणोंके आधार पर ये विभिन्न नाम वेदोंमें प्रयुक्त हुए हैं। स्वयं ऋग्वेदमें इस विषयका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नियममातरिश्वानमाहुः ॥
ऋग्वेद म० १, सू० १६४, म० ४६ ।

इस प्रकार वैदिक संहिताओंमें एकेश्वरवादके साथ भक्तिमार्गका प्राधान्य पाया जाता है। श्रद्धा या भक्ति आन्तरिक मनोवृत्ति है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति कर्मके रूपमें होती है। वैदिक कालकी भक्ति ब्राह्मणकालमें मूर्तरूप धारणकर कर्मकाण्डके रूपमें अभिव्यक्त हुई। परन्तु यह कर्मकाण्ड भी दीर्घकाल तक सन्तोष प्रदान न कर सका। तब फिर एक बार भारतीय समाजने बहिर्मुखी वृत्तिको छोड़कर अन्तर्मुखी वृत्तिका अवलम्बन किया। यहींसे ज्ञानमार्गका उदय हुआ। यह काल उपनिषत्काल था। ब्राह्मणकाल कर्मकाण्ड-प्रधान था। उपनिषत्काल ज्ञान-प्रधान था। इन दोनोंके बीचमें आरण्यक-साहित्य और पाया जाता है। यह संक्रमण-काल है। कर्ममार्गसे ज्ञानमार्गका विकास कैसे हुआ, इसका समाधान आरण्यककाल के आधारपर ही होता हैं। ब्राह्मणकालमें बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया जाता था। उनके लिए बड़े साधन-सम्पत्ति आदिकी आवश्यकता होती थी। वनोंमें रहनेवाले सामान्य गृहस्थ आदि इस प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमें समर्थ नहीं होते थे। इसलिए उन्होंने यज्ञोंको मानस-रूप प्रदान किया। अश्वमेध यज्ञके स्थान पर उसका मानस-चिन्तन 'उषा ह वै अश्वस्यं मेध्यस्य शिरः' इत्यादि रूपमें प्रारम्भ हुआ। इन्हीं मानस उपासनाओंका वर्णन आरण्यक-ग्रन्थोंमें पाया जाता है। इस प्रकार आरण्यकों ने बाह्य कर्मकाण्डको मानस-व्यापार-

साध्य बनाकर ज्ञानमार्गका पथ प्रशस्त कर दिया। उसीके परिणामस्वरूप अगली सीढ़ी पर विशुद्ध ज्ञान-प्रधान उपनिषत्साहित्यकी रचना हुई। इस प्रकार एक बार आन्तर मनोवृत्ति रूप वैदिककालीन भक्तिने मूर्तरूपमें आकर बाह्य कर्मकाण्डका रूप धारण किया। और फिर ब्राह्मणकालका बाह्य स्थूल कर्मकाण्ड अन्तर्मुखी वृत्तिका रूप धारण कर उपनिषत्कालके ज्ञानकाण्डमें परिवर्तित हो गया। यह भक्ति, कर्म और ज्ञानके विकासकी संक्षिप्त कहानी है।

उत्तरवर्ती कालमें ज्ञान, कर्म और भक्तिको लेकर बड़ा संघर्ष रहा है। दर्शनोंमें पूर्वमीमांसादर्शन मुख्य रूपसे कर्मकाण्डका प्रतिपादक दर्शन है। और उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन मुख्य रूपसे ज्ञानमार्गका प्रतिपादक दर्शन है। इन दोनों दर्शनोंके अनुयायियोंके बीच बड़ा विवाद रहा है। यह विवाद ज्ञान और कर्मका विवाद है। कर्मकाण्डी मीमांसक कर्मको ही साक्षात् मुक्ति या इष्टसिद्धिका मार्ग मानते हैं और ज्ञानको उसका अंग या अप्रधान साधन मानते हैं। इसके विपरीत ज्ञानमार्गका प्रतिपादन करने वाले वेदान्ती ज्ञानको मोक्षका साक्षात् साधन और कर्मको केवल बुद्धि-शुद्धिका प्रयोजक अप्रधान साधन मानते हैं। कुमारिलभट्ट आदि मीमांसादर्शनके प्रमुख आचार्य हैं। श्री शंकराचार्य ज्ञानमार्गके प्रमुख प्रतिष्ठापक हैं।

ज्ञानमार्गके प्रमुख प्रतिष्ठापक श्रीशंकराचार्य (७८८-८२०) शैव मतके अनुयायी और अद्वैत-सिद्धान्तके मानने वाले हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखकर अपने अद्वैत-सिद्धान्त और ज्ञानमार्गके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। ब्रह्मसूत्रोंके अतिरिक्त गीता और उपनिषदों पर भी उन्होंने इसी दृष्टिकोणके समर्थक विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र इन तीनोंको मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी' नामसे कहा जाता है। भारतके धार्मिक साहित्यमें इस प्रस्थानत्रयीका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रायः सभी सम्प्रदायों के आचार्योंने इस 'प्रस्थानत्रयी' पर अपने-अपने मतके समर्थक भाष्य लिखनेका यत्न किया है। अकेले 'ब्रह्मसूत्र' पर विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टिकोणोंसे मुख्यतः निम्नांकित दस भाष्य लिखे गए हैं—

संख्या	भाष्यकारका नाम और समय	भाष्य-नाम	मत
१.	श्रीशंकराचार्य [७८८-८२०]	शारीरक-भाष्य	अद्वैतवाद
२.	श्रीभास्कराचार्य [१००० ई०]	भास्कर-भाष्य	भेदाभेदवाद
३.	श्रीरामानुजाचार्य [११४० ई०]	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैतवाद
४.	श्रीमाध्वाचार्य [१२३८ ई०]	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैतवाद
५.	श्रीनिम्बाचार्य [१२५० ई०]	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैतवाद
६.	श्रीकण्ठाचार्य [१२७० ई०]	शैवभाष्य	शिवविशिष्टाद्वैत
७.	श्रीपति आचार्य [१४००]	श्रीकरभाष्य	वीरशैव-विशिष्टाद्वैत
८.	श्रीवल्लभाचार्य [१४७९-१५४४]	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९.	श्रीविज्ञानभिक्षु [१६००]	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैत
१०.	श्रीबलदेव [१७२५]	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

इन भाष्यकारोंमें शैव तथा वैष्णव दोनों प्रकारके आचार्योंका समावेश है। शंकर, श्रीकण्ठ और श्रीपति आदि शैव मतके अनुयायी हैं। तो रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बल्लभ

मीमांसकबडवाऽग्नेः कठिनामपि कुण्ठयन्नसौ जिह्वाम् ।
स्फुरतु सनातन ! सुचिरं तव भक्तिरसामृताम्भोधिः ॥ ५ ॥

और बलदेव आदि वैष्णव मतके अनुयायी हैं। शैवमतके आचार्य शंकर आदि ज्ञानमार्गी हैं और वैष्णव मतके आचार्य निम्बार्क आदि भक्तिमार्गी आचार्य हैं। भक्तिमार्गके आचार्योंमें श्री महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रमुख स्थान है, किन्तु उन्होंने वेदान्तसूत्रों पर भाष्य आदि लिखने का यत्न नहीं किया है। इसलिए उनका नाम इस सूचीमें नहीं आया है। परन्तु इनमेंसे अन्तिम श्री बलदेवकृत गोविन्दभाष्य चैतन्यमत-सम्मत भाष्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आठवीं शताब्दीसे लेकर अठारहवीं शताब्दी तक लगभग ११०० वर्षोंका समय भारतके धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्यमें बड़ा महत्त्वपूर्ण समय रहा है। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्तिकी प्रधानता-अप्रधानताको लेकर बड़ा विवाद होता रहा है। इस विवादमें भाग लेने वाले अधिकांश आचार्य दक्षिण भारतमें उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनका प्रभाव सारे भारतमें व्याप्त है।

मीमांसकोंका निराकरण—

ऊपरके इस विवेचनमें हमने यह देखा कि पूर्व-मीमांसा अर्थात् मीमांसादर्शनमें मुख्य रूपसे कर्म-मार्गका और उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदांत-दर्शनमें मुख्य रूपसे ज्ञानमार्गका प्रतिपादन पाया जाता है। और ज्ञान तथा कर्मकी प्रधानता तथा अप्रधानताका विवाद मुख्य रूपसे इन दोनों मीमांसकोंके बीच ही होता रहा है। भक्तिरसामृतसिन्धुके निर्माता श्री रूपगोस्वामिमहोदयने अपने इस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान और कर्मके विवादको समाप्त कर उनके स्थान पर भक्ति-मार्गकी स्थापना की है। इसलिए अगले श्लोकमें ज्ञान और कर्ममार्गके निराकरणकी चर्चा की है। इस श्लोकमें भी उन्होंने अपनी श्लिष्ट परम्परित रूपककी शैली को अपनाया है। कवि-कल्पनाके अनुसार समुद्रमें बड़वानलकी स्थिति मानी जाती है। किन्तु समुद्र उस बड़वानलको सदा शान्त करता रहता है। इसी प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ, कर्म-मार्गी पूर्व-मीमांसक और ज्ञानमार्गी उत्तरमीमांसक, दोनों मीमांसकों पर बड़वाग्निका आरोप किया है। और उन मीमांसकरूप बड़वाग्निकी प्रखर तर्क-वितर्क-रूपी जिह्वाको शान्त करने वाले सिन्धुका आरोप अपने इस 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ पर करके दोनों मीमांसकोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

[तर्कप्रधान पूर्व तथा उत्तर दोनों] मीमांसकरूप बड़वानलकी [तर्क-वितर्क रूप] प्रखर जिह्वाको भी कुण्ठित करने वाला, हे सनातन प्रभो ! आपका यह भक्तिरसामृतसिन्धु सदा प्रकाशित होता रहे ॥ ५ ॥

ग्रन्थ की प्रस्तावना—

यद्यपि भारतीय साहित्यमें भक्ति-सिद्धान्तोंकी परम्परा चिरकालसे चली आ रही थी, किन्तु उसके स्वरूपका शास्त्रीय विवेचन रूपगोस्वामीसे पहले किसीने नहीं किया था। शास्त्रीय पद्धतिसे भक्तिरसकी स्थापना और उसके स्वरूपके विवेचनका श्रेय रूपगोस्वामीको ही प्राप्त है। इस तथ्यको वे अगले श्लोकमें अत्यन्त नम्रतापूर्वक प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं—

भक्तिरसस्य प्रस्तुतिरखिलजगन्मङ्गलप्रसङ्गस्य ।
अज्ञेनापि मयाऽस्य क्रियते सुहृदां प्रमोदाय ॥ ६ ॥
एतस्य भगवद्भक्तिरसामृतपयोनिधेः ।
चत्वारः खलु वक्ष्यन्ते भागाः पूर्वादयः क्रमात् ॥ ७ ॥

अल्पज्ञ होते हुए भी मनन [भक्तिमार्गके अनुयायी] सुहृदोंके सुखके लिए मैं समस्त जगत्‌को मंगल प्रदान करने वाले भक्तिरसको [अर्थात् भक्तिरसके शास्त्रीय स्वरूपको अपने इस भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके द्वारा] प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने अपनेको 'अज्ञ' कहा है यह उनकी विनम्रताका ही सूचक है, अज्ञताका नहीं। इसी प्रकार द्वितीय श्लोकमें उन्होंने 'वराकरूपोऽपि' लिखकर अपनी नम्रताका ही परिचय दिया है। 'दुर्गमसङ्गमनी'-कारने इन पदोंसे दूसरा अर्थ भी दिखलाने का यत्न किया है। 'अज्ञ' शब्दका 'जानातीति ज्ञः। न विद्यते ज्ञो यस्मात् सो अज्ञः।' जानने वाले अर्थात् विद्वान्‌का नाम 'ज्ञः' है और जिससे अधिक बड़ा 'ज्ञ' अर्थात् विद्वान् नहीं है, वह 'अज्ञ' अर्थात् सबसे बड़ा विद्वान्, यह 'अज्ञ' शब्दका दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है। इसी प्रकार द्वितीय श्लोकमें आये हुए 'वराकरूपोऽपि' की भी 'दुर्गमसङ्गमनी'-कारने दूसरे प्रकारकी व्याख्याकी है। 'वरं या समन्तात् कायति इति वराकः', यह वराक शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति हो सकती है। इसके अनुसार 'सुन्दर भक्तितत्त्वको प्रतिपादन करने वाला' यह 'वराक' शब्दका अर्थ होगा। इस प्रकार नम्रता-सूचनके निमित्त लिखे गए 'अज्ञ' तथा 'वराक' विशेषणोंकी प्रकारान्तर की व्याख्या भी प्रस्तुत की जा सकती है। परन्तु वह ग्रन्थकारका अभिप्रेत अर्थ नहीं है। उनके भक्तजनोंकी खींचा-तानी है। ग्रन्थकारने तो केवल अपनी नम्रता सूचित करनेके लिए ही उनका प्रयोग किया है।

ग्रन्थका विभाजन—

ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थको 'सिन्धु' कहा है। प्राचीन विभाजनके अनुसार पूर्व-आदि चार दिशाओंके आधार पर समुद्र भी चार माने गए हैं। 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां' आदि उक्तियोंमें चार समुद्रोंका उल्लेख पाया जाता है। इसी आधार पर ग्रन्थकारने भी अपने इस 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थको चार भागोंमें विभक्त किया है और उनके नाम दिशाओंके आधार पर १. 'पूर्व विभाग', २. 'दक्षिण विभाग', ३. 'पश्चिम विभाग' और ४. 'उत्तर विभाग' आदि ही रखे हैं और फिर उन पूर्व-आदि भागोंको 'लहरियों' में विभक्त किया है। इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थमें अध्याय-पाद आदिके स्थान पर 'पूर्वभाग' और 'लहरी' आदिमें के रूपमें ग्रन्थके अवान्तर-प्रकरणोंका विभाजन किया है। इसी विभाजनको वे अगले दो श्लोकोंमें निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

इस भगवानकी 'भक्तिरसामृत' के सिन्धु [अर्थात् 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रन्थ] के क्रमसे पूर्व-आदि [अर्थात् १. पूर्व, २. दक्षिण, ३. पश्चिम, और ४. उत्तर] चार विभाग किए जावेंगे। [और फिर उनका अवान्तर विभाग 'लहरी' के रूपमें किया जायगा] ॥ ७ ॥

पूर्वभागका विभाजन—

इन चार विभागोंमेंसे प्रथम विभागमें भक्तिके भेदोंका निरूपण किया गया है। इस

तत्र पूर्वे विभागेऽस्मिन् भक्तिभेदनिरूपके ।
अनुक्रमेण वक्तव्यं लहरीणां चतुष्टयम् ॥८॥
आद्या सामान्यभक्त्याढ्या द्वितीया साधनाङ्किता ।
भावाश्रिता तृतीया चतुर्थी प्रेमनिरूपिका ॥९॥
तत्रादौ सुष्ठु वैशिष्ट्यमस्याः कथयितुं स्फुटम् ।
लक्षणं क्रियते भक्तेरुत्तमायाः सतां मतम् ॥१०॥

पूर्वविभागमें चार लहरियाँ रखी गई हैं। जिनमें क्रमशः भक्तिके पदोंका निरूपण किया गया है। इस बातको ग्रन्थकार अगले दो श्लोकोंमें लिखकर प्रथम विभागका विषयके सामान्य रूपसे परिचय कराते हुए लिखते हैं—

उन [चारों विभागों] मेंसे भक्तिके भेदोंका निरूपण करनेवाले इस 'पूर्वभाग' में क्रमशः [निम्नाङ्कित] चार 'लहरियाँ' कही जावेंगी ॥ ८ ॥

[उन चार लहरियोंमेंसे] पहली [लहरमें] सामान्य भक्ति [के वर्णन] का प्राधान्य [होगा]। दूसरी [लहरी] साधननामक [लहरी] तीसरी 'भावाश्रित' [लहरी] और चौथी 'प्रेमनिरूपिका' [लहरी] होगी ॥ ९ ॥

उनमेंसे सबसे पहिले इस [भक्ति] की विशेषताओंका भली प्रकारसे प्रतिपादन करनेके लिए विद्वानों द्वारा स्वीकृत उत्तम भक्तिका लक्षण [हम अगली कारिकामें प्रस्तुत] करते हैं ॥ १० ॥

भक्तिका लक्षण—

'लक्षणन्तु असाधारणधर्मवचनम्' किसी वस्तुके असाधारण अर्थात् विशेष धर्मका, जोकि केवल उसी पदार्थमें रहता है, कथन करना उसका लक्षण कहलाता है। यह लक्षण दो प्रकारका होता है। एक स्वरूप-लक्षण दूसरा तटस्थ-लक्षण। 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' इस उक्तिके अनुसार दोनों प्रकारके लक्षणोंका मुख्य प्रयोजन व्यावृत्ति अर्थात् समानजातीय और असमानजातीय अन्य पदार्थोंसे भेद करना अथवा व्यवहारका प्रवर्तन कराना ही होता है। इनमेंसे 'स्वरूपान्तर्भूतत्वे सति व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्' जो वस्तुके स्वरूपके अन्तर्गत होकर अन्योंसे व्यावृत्ति कराने वाला होता है उसको स्वरूपलक्षण कहा जाता है। जैसे 'सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है। क्योंकि वह ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत होकर अन्योंसे उनका व्यावर्तक होता है। 'जन्माद्यस्य यतः' यह ब्रह्मका तटस्थ-लक्षण है। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ब्रह्मसे होते हैं। अन्य किसीसे नहीं होते। इसलिए इतर-व्यावर्तक तो होते हैं लेकिन वे ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत नहीं हैं। इस कारण यह ब्रह्मका 'तटस्थ-लक्षण' है। अगली कारिकामें ग्रन्थकार अपने प्रतिपाद्य विषय भक्तिका लक्षण करते हैं। उस एक ही कारिकामें भक्तिके 'स्वरूप-लक्षण' और 'तटस्थ-लक्षण' दोनों प्रकारके लक्षण प्रस्तुत कर दिये हैं। उनके अनुसार भक्तिका लक्षण निम्न प्रकार बनता है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥११॥

यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—

[किसी भी प्रकारकी] अन्य कामनाओंसे रहित [निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपानुसन्धान आदि रूप] ज्ञान और [श्रुत्यादि-प्रतिपादित यज्ञादि रूप] कर्मों आदि [अर्थात् आदि शब्दसे ग्राह्य सांख्य योग आदिके विधानों के सम्बन्धोंसे] से अनाच्छादित, [सर्वथा] अनुकूल-भावनासे कृष्णका [मनसा, वाचा और कर्मणा अनुशीलन अर्थात्] सेवन 'उत्तम भक्ति' कहलाता है ॥ ११ ॥

यह रूपगोस्वामीके अनुसार उत्तम भक्तिका लक्षण है। इस लक्षणको दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक 'स्वरूप-लक्षण' दूसरा 'तटस्थ-लक्षण'। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा' यह भक्तिका 'स्वरूप-लक्षण' है। और शेष 'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' यह उसका 'तटस्थ-लक्षण' है। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिः' यह अंश भक्तिके स्वरूपका परिचायक है, इसलिए यह 'स्वरूप-लक्षण' है। 'अनुशीलन' शब्दसे यहाँ क्रियामात्रका ग्रहण होता है। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारकी क्रियाएँ हो सकती हैं। उन तीनों प्रकारकी क्रियाओंका ग्रहण इस 'अनुशीलन' शब्दसे किया जाता है। 'आनुकूल्यं चात्र उद्देश्याय कृष्णाय रोचमाना प्रवृत्तिः'। अपने इष्टदेव कृष्णको प्रिय लगने वाली प्रवृत्तिका ग्रहण 'आनुकूल्य' पदसे होता है। 'कृष्ण' शब्द यहाँ परमात्माका वाचक है। ग्रन्थकार कृष्णभक्त हैं इसलिए उन्होंने 'कृष्णानुशीलनं भक्तिः' यह 'भक्ति'का लक्षण किया है। किन्तु भक्ति-सिद्धान्त केवल कृष्णभक्तों तक ही सीमित नहीं है, सभी आस्तिक जन, जो किसी भी रूपमें ईश्वरकी सत्ता मानते हैं, ईश्वरभक्त हो सकते हैं। शिवका उपासक शैव भी भक्त है। विष्णुका उपासक वैष्णव भी भक्त है। रामके उपासक तुलसीदास भी भक्त-शिरोमणि हैं और कृष्णके उपासक सूरदास भी भक्तशिरोमणि हैं। निराकार परमात्माका उपासक भी भक्त है और साकारकी उपासना करने वाला भी भक्त है। सभी अपने इष्टदेवकी अपने-अपने रूपसे उपासना करते हैं। और उन सभी वर्गोंमें विशिष्ट योग्यता वाले भक्त मिल सकते हैं। इसलिए भक्तिका क्षेत्र बहुत व्यापक है। यह केवल कृष्णभक्तों तक सीमित नहीं है। इसलिए जितना व्यापक भक्तिका क्षेत्र है उतना ही व्यापक भक्तिका लक्षण होना चाहिए। इसलिए 'कृष्ण' शब्द यहाँ परमात्माका ग्राहक है यह समझना चाहिए। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिः' का अर्थ अनुकूलतासे परमात्माका अनुशीलन अर्थात् परमात्माके प्रिय शारीरिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंका करना भक्ति कहलाती है। इस अभिप्राय को लेकर कृष्ण शब्दको परमात्मापरक माननेसे यह लक्षण व्यापक बन जाता है।

'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिः' यह भक्तिका स्वरूप-लक्षण हुआ। इस कारिकाका जो पूर्वार्द्ध-भाग शेष रह जाता है उसमें भक्तिका 'तटस्थ-लक्षण' प्रस्तुत किया गया है। 'अन्याभिलाषिताशून्य' और 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' ये दोनों भाग भक्तिके तटस्थ-लक्षणके रूप में लिखे गए हैं। भक्त यदि किसी फल-विशेष की कामनासे कृष्णानुशीलन करता है तो उसका वह सकाम कर्म उत्तम भक्तिकी श्रेणीमें नहीं आता है। निकृष्ट या मध्यम श्रेणीकी भक्तिमें

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥ १ ॥

तो उसकी गणना की जा सकती है किन्तु उत्तम भक्तिमें कर्मोंका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। केवल निष्काम-भावसे किये गए प्रभु-प्रिय व्यापार ही उत्तम भक्तिकी सीमामें आ सकते हैं। इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने लक्षणमें 'उत्तमा' शब्दका प्रयोग किया है।

'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' पदके रखनेका अभिप्राय यह है कि ज्ञान-मार्गके अनुयायी वेदान्ती आदि ब्रह्मके स्वरूपके परिज्ञानको ही प्रधानता देकर ब्रह्मकी उपासना आदि करते हैं। योग-मार्गका अवलम्बन करने वाले योगियोंकी समाधि-साधनाका उद्देश्य भी पुरुषके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसी प्रकार कर्मकाण्डका अनुष्ठान भी विभिन्न प्रकारके फलों की कामनासे ही किया जाता है। ये सभी कार्य सकाम कर्मोंकी श्रेणीमें आते हैं। वे उत्तम भक्तिके अन्तर्गत नहीं हो सकते हैं। इसी बातको सूचित करनेके लिए 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' पद का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इस पदका भाव 'अन्याभिलाषिताशून्यं' पदके भीतर भी आ जाता है किन्तु प्रसिद्ध ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गसे भक्ति-मार्गकी भिन्नता दिखलानेके लिए 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' इस पदका विशेष रूपसे प्रयोग किया गया है। उसके बिना ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्गसे भक्ति-मार्गकी विशेषता और भेद स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतः इस पदका प्रयोग आवश्यक है।

'अन्याभिलाषिताशून्यता' और 'ज्ञानकर्माद्यनावृतता' ये दोनों भक्तिको ज्ञान, कर्म आदि अन्योंसे भिन्न करते हैं; इसलिए वे भक्तिके लक्षण तो हैं, किन्तु वे भक्तिके स्वरूपके अन्तर्गत नहीं हैं। जैसे ब्रह्मके लक्षणमें 'जन्माद्यस्य यतः' जिससे जगत्का जन्म आदि होता है वह ब्रह्म है, इस ब्रह्म-लक्षणमें जगत्का जन्मादि ब्रह्मका स्वरूपगत धर्म न होनेसे उसका केवल तटस्थ-लक्षण माना गया है, स्वरूप-लक्षण नहीं। इसी प्रकार यहाँ 'अन्याभिलाषिता-शून्य' आदि भक्तिके स्वरूपान्तर्गत न होनेसे स्वरूप-लक्षण नहीं हैं किन्तु इतर-व्यावर्तक होवे से वे तटस्थ-लक्षण अवश्य हैं। और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह जैसे ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है इसी प्रकार 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा' यह भक्तिका स्वरूप-लक्षण है—

भक्ति-लक्षण का समर्थन—

ग्रन्थकारने यहाँ जो भक्तिका लक्षण प्रस्तुत किया है उसके समर्थनके लिए उन्होंने आगे नारदपञ्चरात्रसे एक श्लोक उद्धृत किया है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

जैसे श्री 'नारदपञ्चरात्र'में [कहा है]—

सब प्रकारकी उपाधियों [अर्थात् फल-कामनाओं] से विनिर्मुक्त, विशुद्ध [अर्थात् ज्ञान-कर्मादिके सम्पर्क या संकरसे रहित] और तन्मयतासे [हृषीकेण अर्थात्] समस्त इन्द्रिय-वर्गके द्वारा [हृषीकेश अर्थात् भगवान्] कृष्णका सेवन भक्ति कहलाता है ॥ १ ॥

'नारदपञ्चरात्र'में भक्तिका यह लक्षण किया गया है। इसीके आधार पर रूप-गोस्वामीने अपना भक्ति-लक्षण प्रस्तुत किया है। 'नारदपञ्चरात्र'में 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं' पदसे जिस भावको व्यक्त किया गया है उसे रूपगोस्वामीने 'अन्याभिलाषिताशून्य' पदसे व्यक्त किया है। 'नारदपञ्चरात्र' के 'निर्मल' पदके स्थान पर रूपगोस्वामीने 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' पदका प्रयोग किया है। 'नारदपञ्चरात्र' का 'तत्परत्वेन' पद रूपगोस्वामीके लक्षणमें 'आनु-

श्री भागवतस्य तृतीयस्कन्धे च—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ॥ २ ॥
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ॥ ३ ॥ इति

सालोक्येत्यादिपद्यस्थभक्तोत्कर्षनिरूपणम् ।
भक्तेर्विशुद्धताव्यक्त्या लक्षणे पर्य्यवस्यति ॥ १२ ॥

कूल्येन' के रूपमें बदल गया है । और 'नारदपञ्चरात्र' का 'सेवनं' पद रूपगोस्वामीके लक्षणमें 'अनुशीलनं' के रूपमें दिखाई दे रहा है । इसलिए 'नारदपञ्चरात्र' में भक्तिका जो लक्षण किया गया है उसीको रूपगोस्वामीने यहाँ अपने शब्दोंमें नये रूपमें प्रस्तुत कर दिया है । इसीलिए उन्होंने अपने लक्षणके समर्थनमें 'नारदपञ्चरात्र'का यह श्लोक उद्धृत किया है ॥ ११ ॥

उत्तम भक्तिका उत्कर्ष—

भक्तिके उक्त लक्षणोंमें 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं' और 'अन्याभिलाषिताशून्यं' पदोंके द्वारा जिस निष्काम-भावनाकी ओर संकेत किया गया है उसके उत्कर्षकी पराकाष्ठा वहाँ दिखलाई देती है जहाँ भक्त उपासक अपनी भक्तिके फलके रूपमें प्राप्त होने वाली समस्त ऋद्धि-सिद्धियोंको लात मार देता है । और न केवल ऋद्धि-सिद्धियोंका, अपितु एक बार प्राप्त होने पर मोक्षको भी ठुकरा देता है । वह भक्तिके उत्कर्षकी चरम सीमा है । पहुँचे हुए ऊँचे साधक भक्तको जो सुख भगवान्‌की उपासनामें मिलता है उसके आगे मोक्षका सुख भी उसे हेय प्रतीत होता है । इस बातके समर्थनके लिए ग्रन्थकारने भागवतके तृतीय स्कन्धसे निम्नांकित अभिप्रायके दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

और [जैसे] भागवतके तृतीय स्कन्धमें [कहा है]—

[पुरुषोत्तम] भगवान्‌के विषयमें [भक्तजनोंकी] जो [अहैतुकी, अन्याभिलाषिताशून्य निष्काम अव्यवहित [अर्थात् ज्ञान-कर्म आदिसे अनावृत] भक्ति होती है जिसमें [तत्सेवनं बिना] परमात्माकी उपासनाको छोड़कर दिए जाने वाले सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य और और सारूप्य [रूपा चार प्रकारकी मुक्तियों] को भी भक्तजन स्वीकार नहीं करते हैं । वह [आत्यन्तिक अर्थात्] सर्वोत्कृष्ट भक्तियोग कहा गया है ॥ २-३ ॥

[उपर्युक्त] सालोक्य इत्यादि [मुक्तियोंके भी त्यागका वर्णन करने वाले] श्लोकमें भक्तिके जिस उत्कर्षका निरूपण किया गया है वह भी भक्तिकी विशुद्धताकी सूचना द्वारा [भक्तिके] लक्षण-रूपमें ही पर्यवसित होता है ॥ १२ ॥

भक्तिकी प्रशंसा—

पिछली कारिकामें ग्रन्थकारने भागवतके तृतीय स्कन्धके दो श्लोकोंके आधार पर भक्तिके चरम उत्कर्षका प्रतिपादन किया था और यह कहा था कि यह उत्कर्ष भी भक्तिके विशुद्ध स्वरूपका प्रतिपादन करता है इसलिए वह भी भक्तिके लक्षण-रूपमें ही पर्यवसित होता है । अगली कारिकामें वे छः विशेषणों द्वारा भक्तिकी प्रशंसा करते हैं । पूर्व उत्कर्षके समान यह प्रशंसा भी लक्षणरूपमें पर्यवसित हो सकती है ।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्ल्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा ॥१३॥

तत्रास्याः क्लेशघ्नत्वम्—

क्लेशस्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति ते त्रिधा ।

तत्र पापम्—

अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा ॥१४॥

तत्राप्रारब्धहरत्वं यथैकादेशे—

यथाऽग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥४॥

प्रारब्धहरत्वं यथा तृतीये—

वह [पूर्वोक्त भक्ति] १ क्लेशोंका नाश करनेवाली, २ कल्याणोंको प्रदान करनेवाली, [अपने आनन्दके सामने] ३ मोक्षको भी तुच्छ बना देने वाली, ४ अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाली, ५ अपरिमेय आनन्दविशेषसे परिपूर्ण [सान्द्रानन्दविशेषात्मा] और ६ भगवान्‌को [अपनी ओर] आकृष्ट करनेवाली [श्रीकृष्णाकर्षणी] होती है ॥ १३ ॥

क्लेशके भेद—

उन [छः विशषणों] मेंसे [सबसे पहले] इस [भक्ति] के क्लेश-निवारकत्व [रूप प्रथम गुण] का वर्णन करते हैं]—

१ पाप, २ उसका बीज, और ३ अविद्या—यह तीन प्रकारका क्लेश होता है ।

उनमेंसे पाप [के भी निम्न दो भेद होते हैं]—

और वह १ अप्रारब्ध और २ प्रारब्ध [भेदसे] दो प्रकारका होता है ॥ १४ ॥

इस प्रकार इस कारिकामें ग्रन्थकारने पूर्वकारिकामें आये हुए 'क्लेशघ्नी' पदकी व्याख्या करते हुए क्लेशके १ पाप, २ उसका बीज और ३ अविद्या ये तीन भेद किये हैं । और उसमें भी प्रथम आये हुए 'पाप' के १ अप्रारब्ध और २ प्रारब्ध रूप दो भेद किये हैं । इस प्रकार 'क्लेश' के चार भेद हो जाते हैं । अन्यत्र योगदर्शन आदिमें सभी जगह अविद्याको पाप या क्लेशका बीज माना गया है । 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां' आदि योगसूत्रमें अविद्याको ही अस्मिता आदि अन्य क्लेशोंका 'क्षेत्र' अर्थात् उत्पत्ति-स्थान या बीज बतलाया गया है । इस दृष्टिसे यहाँ भी 'तद्बीजमविद्या' को एक ही अर्थका वाचक मानना उचित होता, किन्तु ग्रन्थकारका अभिप्राय यह नहीं है; क्योंकि आगे उन्होंने बीजहरत्व तथा अविद्याहरत्वकी पुष्टिमें अलग-अलग श्लोकोंका उद्धृत किया है ।

उनमेंसे [भक्ति द्वारा] अप्रारब्ध [अर्थात् संचित पापका निवारण [होता है] जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [निम्न श्लोकमें दिखलाया गया है ।]—

जैसे भली प्रकारसे प्रज्वलित ज्वालाओं वाला अग्नि समिधाओंको भस्मसात् कर देता है, उसी प्रकार, हे उद्धव ! भगवान्‌की भक्ति [मद्विषया भक्तिः] पापोंको समूल नष्ट कर देती है ॥४॥

[दूसरे प्रकारका] प्रारब्ध [पाप] का विनाश [भक्ति द्वारा होता है] जैसा कि [भागवतके] तृतीय [स्कन्ध] में [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है]—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनाद्-
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥५॥

दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम् ।
दुर्जात्यारम्भकं पापं यत्स्यात्प्रारब्धमेव तत् ॥१५॥

पाद्मे च—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं, बीजं फलोन्मुखम् ।
क्रमेणैव प्रलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ॥ ६ ॥

हे भगवान् ! जब आपके नामके सुनने और कीर्तनमात्रसे, आपकी भक्ति और स्मरण से भी, कभी-कभी [श्वादः] चाण्डाल भी तुरन्त ही यज्ञका अधिकारी [द्विजाति] बन जाता है तो आपके दर्शनकी तो बात ही क्या है ॥ ५ ॥

प्रारब्धहरत्वका उपपादन—

भागवतका जो श्लोक यहाँ उद्धृत किया है उसमें स्पष्ट रूपसे प्रारब्धनाशकत्वका वर्णन नहीं किया गया है। उसमें केवल यह कहा गया है कि भगवान्के स्मरण और उनकी भक्ति [प्रह्वणात्] से [श्वाद] चाण्डाल भी यज्ञका अधिकारी [द्विज] बन जाता है। इसी कथनसे ग्रन्थकारने यह परिणाम निकाला है कि भगवान्की भक्ति प्रारब्ध पापोंको भी नष्ट कर देती है। श्लोकसे इस प्रकारका अभिप्राय निकालनेका कारण यह है कि चाण्डाल-योनि की प्राप्ति प्रारब्ध पापोंका ही फल है। हमारे अपरिसंख्येय पूर्वकर्मोंमेंसे जिन कर्मोंके फलका भोग प्रारम्भ हो जाता है उनको ही 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं। फलभोगका आरम्भ शरीर-धारण या जन्मके द्वारा ही होता है। इसलिए प्रारब्ध कर्मोंके कारण ही जन्म की प्राप्ति होती है। इस दृष्टिसे चाण्डाल-योनिकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार ही होती है। चाण्डाल को वेदोंका ज्ञान नहीं होता है इसलिए वह यज्ञका अधिकारी नहीं माना जाता है। परन्तु भगवान्की भक्तिसे उसकी यह अयोग्यता नष्ट हो जाती है और वह भी द्विजातियोंके समान यज्ञका अधिकारी हो जाता है। इसलिए भक्तिके द्वारा प्रारब्ध पापोंका भी नाश हो सकता है, यह इस श्लोकका भाव मानकर ही ग्रन्थकारने उसे प्रारब्धहरत्वके पोषक प्रमाणके रूपमें यहाँ उद्धृत किया है। अपनी इसी युक्तिके द्वारा वे इस श्लोकके प्रारब्धहरत्वका उपपादन अपनी अगली कारिकामें निम्न प्रकार करते हैं—

यज्ञाधिकारी न होनेका कारण, नीच जाति [दुजातिमें जन्म लेना] ही है। [इसलिए उस] दुजातिको देनेवाला जो पाप है वह प्रारब्ध ही है। [भगवान्की भक्तिसे उस प्रारब्ध पापका नाश होकर चाण्डालको भी यज्ञाधिकार प्राप्त हो जाता है इसलिए भगवद्भक्तिका प्रारब्धहरत्व स्पष्ट हो जाता है] ॥ १५ ॥

और पद्मपुराणमें भी [निम्न श्लोक द्वारा भक्तिके प्रारब्धहरत्वका प्रतिपादन किया गया है]—

जिनका आत्मा [विष्णु] भगवान्की भक्तिमें लगा रहता है उनके १. अप्रारब्धफल २. [कूट

बीजहरत्वं यथा षष्ठे—

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्म्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥ ७॥

अविद्याहरत्वं यथा चतुर्थे—

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध—
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥ ८॥

अर्थात् सूक्ष्म बीज [रूप वासनामय पाप] और ३. फलोन्मुख [अर्थात् प्रारब्ध रूप ये तीनों प्रकारके पाप] क्रमसे नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

बीजहरत्व—

१३ वीं कारिकामें ग्रन्थकारने भक्तिके जो छः रूप बतलाए थे उनमेंसे सबसे पहले पहले क्लेशघ्नी-रूप की यह व्याख्या चल रही है। इसमें क्लेश पदके १. पाप, २. उसका बीज और ३. अविद्या ये तीन भेद किये थे। इनमेंसे भी क्लेश पापके प्रारब्ध और अप्रारब्ध ये दो भेद किये थे। इन दोनोंका भक्ति द्वारा नाश हो सकता है। इस बातका प्रतिपादन भागवत तथा पद्मपुराणके दो श्लोकों द्वारा ऊपर दिखलाया जा चुका है। अब आगे भक्ति द्वारा क्लेशके बीजरूप दूसरे भेदके नाश बीजहरत्वके समर्थनके लिए वे भागवतके षष्ठ-स्कन्धका श्लोक उद्धृत करते हैं।

[भक्तिके] बीजहरत्व [का समर्थक प्रमाण] जैसे [भागवतके] षष्ठ [स्कन्ध] में [निम्न श्लोक पाया जाता है]—

उन-उन तप, दान, व्रत आदि [उत्तम कर्मों] से उन-उन पापोंका नाश तो हो जाता है किन्तु उनके बीज [हृदयं] का नाश नहीं होता है। भगवान्‌के चरणोंकी सेवासे [अर्थात् भगवान्‌की भक्तिसे] वह [अर्थात् बीजका नाश] भी हो जाता है ॥ ७ ॥

अविद्याहरत्व—

क्लेशके १. पाप, २. बीज और ३. अविद्या ये तीन भेद किये थे। उनमेंसे भक्तिके द्वारा पापहरत्व तथा बीजहरत्वका समर्थन कर चुकनेके बाद अब भक्तिके अविद्याहरत्वके समर्थनकेलिए ग्रंथकार भागवत तथा पद्मपुराणसे दो श्लोक आगे उद्धृत करते हैं।

[भक्तिके] अविद्यानाशकत्व [का समर्थक प्रमाण] जैसे [भागवतके] चतुर्थ [स्कन्ध] में [निम्न श्लोक पाया जाता है]—

जिनके चरण-कमलोंके पत्रोंकी भक्तिसे सज्जन पुरुष [जटिल रूपसे] उलझे हुए कर्माशयकी ग्रंथियोंका मोचन करते हैं उस प्रकार [रिक्तमतयः अर्थात्] भगवान्‌की भक्तिसे रहित बुद्धि वाले और अपनी इन्द्रियोंके दमनमें लगे हुए योगी [आदि कर्माशयके बन्धनोंका मोचन] नहीं कर पाते हैं उन [अरणं] सुखस्वरूप भगवान् [वासुदेव] का भजन करो ॥ ८ ॥

इस श्लोकमें 'अरणं' पद आया है। महाकवि भवभूति आदिने 'रण-रणकेन' आदि स्थलोंमें दुःखके अर्थमें 'रण' शब्दका प्रयोग किया है। इसलिए हमने 'अरणं' शब्दका अर्थ सुख-स्वरूप किया है। दुर्गमसंगमनीकारने 'अरणं' का अर्थ 'शरण' किया है।

पाद्मे—

कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम् ॥ ६ ॥

शुभदत्वम्—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः ॥ १६ ॥

इस श्लोकको ग्रन्थकारने भक्तिके 'अविद्याहरत्वके समर्थनमें' प्रस्तुत किया है। किन्तु इसमें कर्माशयकी ग्रन्थियोंके मोचनका वर्णन है। अविद्याहरत्वका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन नहीं है। उसे विशेष व्याख्या द्वारा समझना होगा। 'सति मूले तद्विपाको जात्युर्भोगाः' योग के इस सूत्रके अनुसार अविद्या-रूप बीजकी विद्यमानतामें ही कर्माशयका जाति, आयु, भोग आदि रूप फल प्राप्त होता है। अविद्याके नष्ट हो जाने पर कर्माशयमें फल-प्रदानकी सामर्थ्य नहीं रहती है। यहां भक्तिके द्वारा कर्म-ग्रन्थियोंके मोचनकी जो चर्चा की गई है वह अविद्या के नाश होने पर ही सम्भव है। अविद्याके रहते कर्माशयकी ग्रन्थियोंका मोचन सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए श्लोकमें कहे हुए कर्माशय-ग्रन्थियोंके मोचनसे अविद्याका नाश अर्थतः प्राप्त हो जाता है। इसी कारण ग्रन्थकारने इसे अविद्याहरत्वके समर्थक प्रमाणके रूपमें उपस्थित किया है। अविद्याहरत्वका समर्थक दूसरा प्रमाण उन्होंने पद्मपुराणसे उद्धृत किया जो निम्न प्रकार है—

पद्मपुराणमें [भी भक्तिके अविद्याहरत्वका प्रतिपादन निम्न प्रकार किया गया है]

[सम्पूर्ण] विद्याएँ जिसका अनुसरण करती हैं इस प्रकारकी सर्वोत्तम भक्ति अविद्या को उसी प्रकार तुरन्त भस्म कर देती हैं जिस प्रकार दावानल [पन्नगी अर्थात् सर्पिणीको [भस्म कर देता है] ॥ ६ ॥

भक्तिका शुभदत्व गुण—

१३ वीं कारिकामें भक्तिके जो छः गुण गिनाए थे उनमेंसे क्लेशघ्नत्व-रूप प्रथम गुण की व्याख्या यहाँ तक समाप्त हो गई। अब अगली कारिकामें शुभदत्व रूप दूसरे गुणका विवेचन आरम्भ करते हैं। क्लेशके जैसे तीन रूप दिखलाए थे इसी प्रकार अगली कारिकामें शुभके चार रूप दिखलाए हैं। १. सब जगत्का प्रीणन या सब जगत्को सुखी, सन्तुष्ट बनाना; २. सारे जगत्का अनुराग प्राप्त करना; ३. सद्गुणोंकी प्राप्ति तथा ४. सुख—ये चार प्रकार के शुभ माने गए हैं। भक्ति इन चारों प्रकारके शुभोंको प्रदान करने वाली है इसका प्रतिपादन आगे भागवत तथा पद्मपुराण के प्रमाणोंके द्वारा करेंगे। पहले मूल कारिकामें शुभके रूपोंका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—

१. समस्त जगत्को [अर्थात् जगत्के समस्त प्राणियोंको] सन्तुष्ट करना [प्रीणन] २. [समस्त जगत्की अपने प्रति अनुरक्तता अर्थात् जगत्के समस्त प्राणियोंका] अनुराग प्राप्त करना, ३. [दया-दाक्षिण्य आदि] सद्गुण और ४. सुख इत्यादिको विद्वानोंने शुभ [नाम से] कहा है ॥ १६ ॥

तत्र जगत्प्रीणनादिद्वयप्रदत्वं यथा पाद्मे—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि ।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि ॥ १० ॥

सद्गुणादिप्रदत्वं यथा पंचमे—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥ ११ ॥

सुखदत्वम्—

सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरं चेति तत्त्रिधा ।

यथा तन्त्रे—

सिद्धयः परमाश्चर्य्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती ।
नित्यं च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः ॥ १२ ॥

उनमेंसे जगत्के प्रीणन आदि दो [अर्थात् जगत्को सन्तुष्ट करना और जगत्की अनुरक्तताको प्राप्त करना इन दोनोंकी सिद्धि भक्तिके द्वारा हो सकती है। भक्ति इन दो] को प्रदान करने वाली है। यह बात पद्मपुराण [के निम्न श्लोक] में [कही गई है]—

जिसने भगवान्को [अपनी अर्चना द्वारा] सन्तुष्ट कर लिया [यह समझ लो कि] उसने सारे जगत् [के प्राणियों] को तृप्त कर लिया। उसके प्रति जगत्के समस्त प्राणी और स्थावर भी अनुरक्त हो जाते हैं [उससे प्रेम करने लगते हैं]। १०।

[भक्ति] सद्गुण आदिको प्रदान करने वाली है यह बात [भागवतके] पंचम [स्कन्ध] में [कही गई है] जैसे—

जिसकी भगवान्के प्रति निःस्वार्थ [निष्काम] भक्ति है उसमें समस्त [सद्] गुणोंके साथ देवताओंका निवास होता है। जो परमात्माका भक्त नहीं है और जिसका मन सदा बाह्य विषयोंमें घूमता रहता है उस [भक्ति-विहीन पुरुष] में महान् गुण कहांसे आ सकते हैं। ११।

भक्तिका सुखप्रदत्व गुण—

भक्तिके शुभदत्व गुणका विवेचन करते हुए शुभके चार भेद किए थे। इनमेंसे तीन का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अब चौथे भेद सुखप्रदत्वका विवेचन अगली कारिकामें करना है। इसमें सुखके १. वैषयिक सुख, २. ब्रह्म-सुख और ३. ऐश्वर्य-सुख ये तीन भेद किए हैं। ये तीनों प्रकारके सुख ईश्वर-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं इस बातका समर्थन तन्त्र तथा हरिभक्तिसुधोदयके दो प्रमाणों द्वारा अगली पंक्तिमें करेंगे। पहले १८ वीं कारिकाके पूर्वार्द्धमें सुखके तीन भेद दिखलाते हैं—

सुख १. वैषयिक, २. ब्राह्म और ३. ऐश्वर्य भेदसे तीन प्रकारका होता है।

जैसा कि तन्त्रमें [भक्तिके द्वारा उक्त तीनों प्रकारके सुखोंकी प्राप्तिका वर्णन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

परम आश्चर्यजनक [अणिमा आदि रूप] सिद्धि, मुक्ति [अर्थात् वैषयिक सुख] और मुक्ति [अर्थात् ब्राह्म सुख] तथा नित्य परमानन्द [अर्थात् ऐश्वर्य-सुख ये चारों] भगवान्की भक्तिसे [गोविन्दभक्तितः] प्राप्त होते हैं। १२।

यथा हरिभक्तिसुधोदये च—

भूयोऽपि याचे देवेश ! त्वयि भक्तिर्दृढाऽस्तु मे ।
या मोक्षान्तचतुर्वर्गफलदा सुखदा लता ॥ १३ ॥ इति

मोक्षलघुताकृत्—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ ॥ १७ ॥
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः ॥

यथा नारदपञ्चरात्रे—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥ १४ ॥ इति

सुदुर्लभा—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि ॥ १८ ॥
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात्सुदुर्लभा ॥

और जैसे 'हरिभक्तिसुधोदय' में [कहा है]—

हे देवेश ! मैं आपसे फिर भी याचना करता हूँ कि आपमें मेरी दृढ़ भक्ति हो। जो कि मोक्ष-पर्यन्त चारों पुरुषार्थ रूप फलको देने वाली सुखप्रद लता है। १३।

३. मोक्षलघुताकृत्व—

१३वीं कारिकामें कहे हुए भक्तिके छः गुणोंमेंसे क्लेशघ्नत्व और शुभदत्व रूप दो गुणोंका विवेचन हो गया। अब आगे मोक्षलघुताकृत्व रूप तृतीय गुणका प्रतिपादन करते हैं।

हृदयमें भगवान्‌का तनिक-सा भी प्रेम उत्पन्न होते ही [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चारों पुरुषार्थ तृणके समान [अत्यन्त तुच्छ] हो जाते हैं। [भक्तकी दृष्टिसे उनका कोई महत्व नहीं रहता है]। १७।

जैसा कि नारदपञ्चरात्र [के निम्न श्लोक] में [कहा गया है]—

मुक्ति आदि सारी सिद्धियां और नाना प्रकारकी [अद्भुत] भुक्तियाँ [अर्थात् संसारके सारे भोग] दासियोंके समान उस भगवद्भक्ति रूप महारानीके पीछे-पीछे चलती हैं। १४।

इस श्लोकमें भगवद्-भक्तिको महादेवी और मुक्ति आदि सब सिद्धियोंको उसकी चेटी या दासी कहा है। इससे भक्ति मोक्षसे भी कहीं अधिक उच्च है यह बात सिद्ध होती है। इसी लिए ग्रन्थकार ने मोक्षलघुताकृत्वके समर्थनमें इस प्रमाणको उद्धृत किया है।

४. भक्तिका सुदुर्लभत्व—

तेरहवीं कारिकामें भक्तिका चौथा गुण उसका सुदुर्लभत्व बतलाया था। अगली कारिकामें उसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकारने दो प्रकारसे उसके दुर्लभत्वका उपपादन किया है। एक तो यह कि यदि भक्तिरहित किन्हीं साधनोंका अवलम्बन किया जावे तो वह चिरकाल तक भी प्राप्त नहीं हो सकती है। और यदि आसंग अर्थात् भगवान्‌के प्रति प्रारंभिक सामान्य प्रेमके साथ उन साधनोंका अनुष्ठान किया जाय तो भी परमात्मा उसको उत्तम भक्ति शीघ्र प्रदान नहीं करते हैं। उसकी प्राप्तिमें पर्याप्त समय लगता है। इस प्रकार दोनों तरहसे वह अत्यन्त दुर्लभ है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसी बातको अगली कारिकामें लिखते हैं—

तत्राद्या यथा तन्त्रे—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः ।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥ १५ ॥

द्वितीया यथा पंचमस्कन्धे—

राजन् ! पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां—
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः ॥
अस्त्वेवमङ्ग ! भजतां भगवान्मुकुन्दो—
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥ १६ ॥ इति

सान्द्रानन्दविशेषात्मा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ॥ १६ ॥
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ।

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे ।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ! ॥ १७ ॥

तथा भावार्थदीपिकायां च—

त्वत्कथाऽमृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥ १८ ॥

आसंग [अर्थात् परमात्म-प्रेम] से रहित [योगादिके] साधन-समूहोंके द्वारा वह चिर-काल तक भी प्राप्त नहीं हो सकती है । और [आसंगयुक्त अर्थात् भगवत्प्रेम-सहित साधनों का अवलम्बन करनेपर भी] भगवान् उसको शीघ्र प्रदान नहीं करते हैं इसलिए दोनों प्रकारसे वह अत्यन्त दुर्लभ है । १८ ।

उनमेंसे पहली [साधनोंसे अलभ्य भक्ति] जैसे तन्त्रमें [कही है]—

ज्ञानके द्वारा मुक्तिका और यज्ञादि पुण्यकार्योंके द्वारा योगोंका प्राप्त करना सहज है किन्तु यह हरि-भक्ति सहस्रों दूसरी [हरिणा आशु अदेया भक्ति] जैसे पञ्चम स्कन्धमें [कही है]—

हे राजन् ! यदुपति भले ही आपके गुरु हों, इष्ट हों, प्रिय कुलपति हों और अधिक क्या तुम्हारे नौकर भी हों; यह सब बात ठीक हो और आप भी भले ही उनकी सेवा करते रहें किन्तु भगवान् मुकुन्द मुक्ति तो किसी प्रकार दे भी देते पर भक्ति-योग तो नहीं देते हैं । १६ ।

भक्तिका सान्द्रानन्द स्वरूप—

यदि इस [मोक्ष-रूप] ब्रह्मानन्दको परार्द्ध गुणा [असंख्य गुणा] कर दिया जाय तो भी भक्ति-सुखके सागरके एक परमाणुकी बराबरी भी वह नहीं कर सकता है । १६ ।

जैसा कि हरिभक्तिसुधोदयमें [कहा गया है कि]—

हे जगद्गुरु भगवन् ! आपके साक्षात्कार-सुखके विमल सिन्धुमें स्थित मुझको सारे ब्राह्म सुख [अर्थात् मोक्ष-सुख] भी गौके खुरके समान [अत्यन्त क्षुद्र] दिखलाई देते हैं ।१७।

और जैसा कि 'भावार्थदीपिका'में भी [कहा गया है कि]—

आपके कथामृतके सागरमें विचरण करने वाले परमानन्दमग्न कोई पुण्यवान् [महा-

श्रीकृष्णाकर्षिणी—

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ॥२०॥
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥

यथैकादशे—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ! ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ १९ ॥

सप्तमे च नारदोक्तौ—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥२०॥ इति ।

सौभाग्यशाली भक्तजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्गको भी तृणके समान [तुच्छ] समझते हैं । १८ ।

भक्तिका भगवदाकर्षण—

तेरहवीं कारिकामें भक्तिके जो छः गुण बतलाए थे उनमेंसे पाँचकी व्याख्या यहाँतक समाप्त हो गई । 'श्रीकृष्णाकर्षणी' इस छठे गुणकी विवेचना शेष रह गई है । इसको ग्रन्थकार अगली कारिकामें प्रस्तुत करते हैं ।

श्रीकृष्णाकर्षिणी [भक्तिका वर्णन]—

[भगवान्के] प्रियवर्ग सहित भगवान्को अपने प्रेमका पात्र बनाकर भक्ति [भगवान् को] अपने वशमें कर लेती है इसलिए [श्रीकृष्णाकर्षिणी] भगवान्को आकर्षित कर लेनेवाली कही गई है ॥२०॥

इस विशेषणमें 'श्री' तथा 'कृष्ण' दो शब्द आए हैं । इनमें 'श्री' शब्दसे प्रियवर्गका और 'कृष्ण' पदसे 'भगवान्'का ग्रहण करके ग्रन्थकारने २०वीं कारिकामें 'प्रियवर्गसमन्वितं' और 'हरिं' दोनों पदोंका प्रयोग किया है । भक्ति ही भगवान्को अपनी ओर आकृष्ट करनेका एकमात्र साधन है इस बातके समर्थनके लिए ग्रन्थकार आगे भागवतके ग्यारहवें तथा सातवें स्कन्धोंसे दो श्लोक उद्धृत करते हैं—

जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा है कि]—

हे उद्धव ! [मां अर्थात्] भगवान्को न योग अथवा सांख्य [प्रतिपादित] धर्म, [उस प्रकार आकर्षित कर सकते हैं] और न स्वाध्याय या तप और त्याग उतना आकर्षित कर सकते हैं जितना कि भगवान्की प्रबल भक्ति [मम भक्तिः] उनको आकर्षित कर सकती है ।१९।

और सप्तम [स्कन्ध] में भी नारदकी उक्तिमें [कहा है कि]—

पृथिवीलोक पर आप लोग निश्चय ही बड़े सौभाग्यशाली हैं जिनके घरमें मनुष्य रूप धारण किए साक्षात् परब्रह्म [रूप कृष्ण] रहता है—ऐसा मानकर सारे लोकोंको पवित्र करने वाले मुनिगण [प्रेमपूर्वक] पधारते हैं । २० ।

त्रिधा भक्तिके साथ छः गुणोंका सम्बन्ध—

तेरहवीं कारिकामें भक्तिके जिन छः गुणोंका प्रतिपादन किया था उनकी अलग-अलग विशेष विवेचना भी यहाँ तक समाप्त हो गई । अगली द्वितीय लहरीके आरम्भमें भक्तिके

अग्रतो वक्ष्यमाणायास्त्रिधा भक्तेरनुक्रमात् ॥२१॥
द्विशः षड्भिः पदैरेतन्माहात्म्यं परिकीर्तितम् ॥

किञ्च—

स्वल्पाऽपि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका ॥२२॥
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता ॥

---

१. साधनभक्ति, २. भावभक्ति और ३. प्रेमभक्ति रूपके तीन भेद करेंगे। ऊपर कहे हुए छहों गुणोंका सम्बन्ध इन तीनों प्रकारकी भक्तिसे है। प्रथम साधन-रूपा भक्तिमें केवल क्लेशघ्नत्व और शुभदत्व रूप दो गुण रहते हैं। दूसरी भावरूपा भक्तिमें इन दो गुणोंके अतिरिक्त मोक्षलघुताकृत्व तथा सुदुर्लभता ये दो गुण और बढ़ जाते हैं। अर्थात् इनमें दोके स्थानपर चार गुण हो जाते हैं। इसके बाद तीसरे प्रकारकी प्रेमरूपा भक्तिमें इन चारके अतिरिक्त सान्द्रानन्दविशेषत्व तथा श्रीकृष्णाकर्षणत्व रूप दोनों गुणोंका और समावेश होकर उसमें छः गुण हो जाते हैं। इस प्रकार दो-दो गुणोंकी वृद्धि द्वारा उक्त तीन प्रकारकी भक्ति में इन छः गुणोंका समावेश हो जाता है। वैशेषिक आदिमें जिस प्रकार आकाशमें केवल एक शब्द गुण माना गया है। उसके बाद उससे उत्पन्न वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण, अग्नि में शब्द स्पर्श और रूप तीन गुण, जलमें शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस चार गुण, और पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पांच गुण माने गए हैं। उनमें क्रमशः एक-एक गुणकी वृद्धि होती जाती है। इसी प्रकार यहाँ त्रिविध भक्तिमें उत्तरोत्तर दो-दो गुणों की वृद्धि होती जाती है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार लिखते हैं—

आगे [द्वितीय लहरीके आरम्भमें] कही जाने वाली तीन प्रकारकी भक्तिका क्रमशः दो-दो पदों [की वृद्धि करते हुए] छः पदोंसे यह माहात्म्य कहा गया है ॥ २१ ॥

इस प्रकार साधनरूपा भक्तिमें दो गुण, भावरूपा भक्तिमें चार गुण और प्रेमरूपा भक्तिमें छहों गुण होते हैं ॥२१॥

भक्तिकी उत्पत्तिका कारण रुचि—

इस प्रकार भक्तिका सामान्य विवेचन करनेके बाद ग्रन्थकार भक्तिकी उत्पत्तिका कारण अगली कारिकामें दिखलाते हैं। उनके मतमें युक्ति या तर्कसे भक्तिका उदय नहीं होता है, अपितु हृदयमें अव्यक्त रूपसे रहनेवाली रुचिसे ही इसका उदय होता है। इसीको अगली कारिकामें इस प्रकार लिखते हैं—

और—

[मूल रूपसे हृदयमें विद्यमान] थोड़ी-सी भी रुचि ही भक्तितत्त्वको अभिव्यक्त करने वाली होती है। केवल युक्ति [अर्थात् केवल शुष्क तर्क भक्तिका उद्बोधक] नहीं होती है क्योंकि ['तर्काप्रतिष्ठानात्' आदि सूत्रों द्वारा] उसको अप्रतिष्ठित [कहीं भी न जम सकनेवाला] कहा है ॥२२॥

तथा प्राचीनैरप्युक्तम्—

यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते　　॥२१॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे सामान्यभक्तिलहरी प्रथमा ॥१॥

अथ द्वितीया साधनभक्तिलहरी

सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता ।

यह बात [वार्तिककार आदि] प्राचीन आचार्योंने भी कही है—

अत्यन्त चतुर तार्किकों [अनुमातृभिः] के द्वारा प्रयत्नपूर्वक सिद्ध किये हुए अर्थको उनकी अपेक्षा और अधिक प्रबल तार्किक [अभियुक्ततरैः अपने तर्कके बलसे काटकर] और प्रकारसे सिद्ध कर देते हैं ॥ २१ ॥

अर्थात् एक विद्वान् तर्क द्वारा जिस बातको सिद्ध करता है उससे बड़ा दूसरा तार्किक विद्वान् उसका खण्डन करके उस बातको दूसरी तरह सिद्ध कर देता है। इसलिए तर्क कहीं जम नहीं सकता है। यही बात वेदान्तमें 'तर्काप्रतिष्ठनात्' आदि सूत्र से कही है। इसलिए तर्कके आधारपर भक्तिका उद्बोधन सम्भव नहीं है। हृदयमें पहलेसे विद्यमान तनिक-सी रुचि ही भक्तिका उद्बोधन करने वाली होती है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के पूर्वविभागमें भक्तिसामान्यनिरूपण रूप
प्रथम लहरी समाप्त हुई।

अथ द्वितीया साधनभक्तिलहरी

पूर्वविभागकी विगत प्रथम लहरीमें ग्रन्थकारने भक्तिका सामान्य रूपसे विवेचन किया था इसलिए उस लहरीका 'सामान्य भक्तिलहरी' यह नामकरण किया गया था। अब इस द्वितीय लहरीके आरम्भमें १ साधनभक्ति, २ भावभक्ति और ३ प्रेमभक्ति रूप भक्तिके तीन भेद करके उनमेंसे साधनरूपा भक्तिका इस लहरीमें विशेष रूपसे विवेचन करेंगे, इसलिए इस लहरीका नाम 'साधनभक्तिलहरी' रखा गया है। यहाँ यद्यपि आपततः भक्तिके तीन भेद दिखलाए हैं किन्तु मुख्य रूपसे भक्तिके दो ही भेद होते हैं। एक 'साधनरूप भक्ति' और दूसरी 'साध्यरूपा भक्ति'। 'साधनरूपा भक्ति' का विशेष विवेचन तो ग्रन्थकार इस लहरीमें ही कर रहे हैं। दूसरे प्रकारकी भक्ति 'हार्दरूपा' हृदयनिष्ठा भक्ति मानी गई है। भावरूपा तथा प्रेमरूपा दोनों प्रकारकी भक्तियाँ इस 'हार्दरूपा' भक्तिके अन्तर्गत हो जाती हैं। इस 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के परिशिष्ट रूप 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थमें 'हार्दरूपा' भक्तिके अन्तर्गत १ भाव, २ प्रेम, ३ प्रणय, ४ स्नेह, ५ राग, ७ अनुराग, और ८ महाभाव ये आठ प्रकारके भेद माने गए हैं। यहाँ उनमेंसे केवल भाव तथा प्रेमका ही ग्रहण किया गया है। इनको अन्योंका भी उपलक्षण रूप समझना चाहिए, ऐसा दुर्गमसंगमनीकारका मत है। सम्प्रति ग्रन्थकार भक्तिको आपाततः तीन भागोंमें विभक्त कर साधनभक्तिका विवेचन करने जा रहे हैं। इसलिए पहिले भक्तिके तीन भेद करते हुए लिखते हैं—

वह [सामान्य रूपसे पहिले प्रतिपादन की हुई] भक्ति १ साधनरूपा, २ भावरूपा और ३ प्रेमरूपा [इन भेदोंसे] तीन प्रकारकी कही गई है।

तत्र साधनभक्तिः—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा ॥१॥
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ।
सा भक्तिः सप्तमस्कन्धे भङ्ग्या देवर्षिणोदिता ॥२॥

यथा—

तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेदिति ॥ २२ ॥

उनमेंसे साधनभक्ति [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

[जो साधक भक्तके] व्यापारसे सिद्ध हो सकने वाली हो और जिसके द्वारा भावरूपा [भक्ति] की सिद्धि हो सकती हो [साध्यभावा], वह साधनभक्ति नामसे कही जाती है ॥१॥

साधनरूपा भक्तिकी यहां दो विशेषताएँ बतलाई हैं एक तो यह कि वह स्वयं कृतिसाध्या होती है और दूसरी यह कि उसके द्वारा 'भावरूपा' भक्तिकी सिद्धि होती है। जिन कृतियों या व्यापारोंसे साधनभक्तिकी सिद्धि होती है वे सब पूर्वकृतियां भी उस भक्ति ही अन्तर्गत समझी जाती हैं। जैसे कर्मकाण्डमें मुख्य यज्ञके आरम्भ होनेसे पूर्व यज्ञकी तैयारी आदिके लिए की जाने वाली क्रियाएँ भी यज्ञ-प्रक्रियाके अंगरूपमें ही मानी जाती हैं, इसी प्रकार साधन-भक्तिकी सिद्धिके लिए की जाने वाली पूर्व-कृतियां भी उस भक्तिका ही अंग मानी जाती हैं। भक्तिके प्रति रुचिके हुए बिना उन व्यापारोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है। इसलिए भी वे प्रारम्भिक कृतियां भक्तिके ही अन्तर्गत मानी गई हैं।

इस साधनभक्तिकी दूसरी विशेषता 'साध्यभावा' विशेषणके द्वारा प्रकट की गई है। इसका विग्रह 'साध्यः भावः प्रेमादिरूपो यया सा साध्यभावा' इस प्रकार किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसके द्वारा भावभक्ति अर्थात् प्रेमादि भक्तिकी सिद्धि हो वह 'साध्यभावा' कहलाती है। 'साधनरूपा' भक्तिके द्वारा ही भावरूपा, प्रेमादिरूपा भक्तिकी सिद्धि होती है इसलिए 'साध्यभावा' यह उसका विशेषण दिया गया है।

भावकी नित्यसिद्धता—

जिन सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके मनमें भक्तिका उद्बोध होता है उनके हृदयमें भक्ति का बीज सूक्ष्म रूपमें पहलेसे ही विद्यमान रहता है। साधनोंके प्रयोगसे उस पूर्वसिद्ध भावकी अभिव्यक्तिमात्र होती है, उत्पत्ति नहीं। इसलिए 'साध्यभावा' पदमें 'साध्य' पदसे उस अभिव्यक्तिका ही ग्रहण करना चाहिए। इस बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार से लिखते हैं—

हृदयमें नित्यसिद्ध [अर्थात् पहलेसे ही बीज रूपमें विद्यमान प्रेमादिरूप] भावका प्राकट्य [अर्थात् साधनों द्वारा होनेवाली अभिव्यक्ति ही यहां 'साध्यभावा' पदमें] साध्यता [रूपसे अभिप्रेत] है। उस [साधनरूपा] भक्तिको [भागवतके] सप्तम स्कन्धमें देवर्षि [नारद] ने प्रकारान्तर [भंग्या] से दिखलाया है ॥ २ ॥

जैसाकि [वहां सप्तम स्कन्धमें निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है कि]—

इसलिए किसी [न किसी] उपायसे [अर्थात् किन्हीं उचित साधनोंके द्वारा] मनको भगवान् [कृष्णके ध्यानमें] में लगाना चाहिए ॥ २२ ॥

वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा ।

तत्र वैधी—

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ॥३॥

शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ।

यथा द्वितीये—

तस्माद् भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ॥ २३ ॥

पाद्मे च—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातु चित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥ २४ ॥

इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु ॥ ४ ॥

नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत्फलम् ॥

भागवतके इस वचनमें जिन किन्हीं उपायोंसे मनको भगवान्के ध्यानमें लगानेका संकेत यहाँ किया गया है वे साधन ही यहाँ साधनभक्ति नामसे कहे गए हैं । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसीलिए ग्रन्थकारने यहाँ 'भंग्या देवर्षिणोदिता' कहा है । 'भंगीसे कहा है' इसका अभिप्राय है कि साक्षात् रूपसे नहीं कहा है ।

साधनभक्तिके दो भेद—

वह साधनभक्ति १ वैधी और २ रागानुगा [भेदोंसे] दो प्रकारकी होती है ।

इनमें साधनभक्तिके दो भेद किए गए हैं । जिसमें स्वतः राग न हो केवल शास्त्रीय विधि वाक्यों या निर्देशोंके आधार पर मनुष्य प्रवृत्त हो, उसका नाम 'वैधी भक्ति' है । इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकार अगली कारिकामें 'वैधी भक्ति'का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि—

उनमेंसे वैधी भक्ति [का लक्षण निम्न प्रकार किया जा सकता है]—

जिसमें [स्वाभाविक] रागके न होनेसे केवल शास्त्रकी आज्ञाके बलसे ही [मनुष्यकी] प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह वैधी [भक्ति] कहलाती है ॥ ३ ॥

जैसाकि [श्रीमद्भागवतके] द्वितीय [स्कन्ध] में [कहा है]—

हे भारत ! [राजन्] इसलिए अभय चाहने वाले [प्रत्येक व्यक्ति] को सबके आत्म-भूत दुःखोंका हरण करने वाले [हरिः] और सर्वशक्तिमान [ईश्वर] भगवान्का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए ॥ २३ ॥

और पद्मपुराण में भी [कहा है कि]

[विष्णु] भगवान्का स्मरण सदैव करना चाहिए और कभी भी [उनको] भूलना नहीं चाहिए । [अन्य कर्मकाण्ड सम्बन्धी] सारे विधि-निषेध इन्हीं दोनों [अर्थात् भगवान्के सदा स्मरण तथा कभी भी विस्मरण न करने] के सेवक हैं । [अर्थात् भगवान्का सदा स्मरण और कभी विस्मरण न करना ये दो ही सहज कर्तव्य हैं । शेष सारे धर्म-कर्म इनके सामने गौण हैं] ॥२४॥

वैधी भक्तिकी नित्यता—

यह [विधिः अर्थात्] वैधी भक्ति सारे वर्णों और आश्रमोंमें नित्य [विधि] समझनी चाहिए । [अर्थात् स्वाभाविक ईश्वरानुराग न होने पर भी नैत्यिक सन्ध्योपासनाके रूपमें

एकादशे तु व्यक्तमेवोक्तम्—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २५ ॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ २६ ॥

भगवान्‌का ध्यान प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रमके प्रत्येक व्यक्तिको करना ही चाहिए] नित्य [कर्म] होने पर भी एकादशी व्रत आदिके समान उसके फलका [निर्णय अर्थात्] विधान किया गया है । ४ ।

कर्मकाण्डके प्रसंगमें १. नित्य, २. नैमित्तिक, ३. काम्य ४. निषिद्ध इन चार प्रकारके कर्मोंका विधान किया गया है । विशेष निमित्तके उपस्थित होने पर किए जाने वाले जातकर्म आदि संस्कार 'नैमित्तिक' कर्म कहलाते हैं । किसी फल-विशेषकी प्राप्तिकी कामनासे किए जाने वाले 'पुत्रेष्टि' 'कारीरी' [वर्षेष्टि] आदि योग 'काम्य'-कर्म कहे जाते हैं । प्राणिवध आदि वेदों द्वारा प्रतिषिद्ध कर्म, 'निषिद्ध' कर्म कहलाते हैं । इन तीनोंसे भिन्न चौथे प्रकारके कर्म 'नित्य-कर्म' कहलाते हैं । नित्य-कर्मका लक्षण 'अकरणे प्रत्यवाय-साधनानि नित्यानि' यह किया गया है । इसका अर्थ यह है कि जिनके करनेका कोई विशेष फल नहीं होता है किन्तु न करने पर पाप उत्पन्न होता है, उनको नित्य-कर्म कहते हैं । जैसे संध्या-वन्दनादि । उनके करनेसे कोई विशेष धर्म उत्पन्न नहीं होता है किन्तु उनके न करने पर पाप उत्पन्न होता है । इसलिए इनकी गणना नित्य-कर्मोंमें की जाती है । इसी प्रकार वैधी भक्ति भी 'नित्य कर्म' है । साधारणतः नित्य-कर्मका कोई फल नहीं होता है इसलिए वैधी भक्तिका कोई फल नहीं होना चाहिए । फिर भी शास्त्रमें उसके फलका निर्देश किया गया है । इसका समाधान ग्रन्थकारने इस कारिकामें किया है । उनके कहनेका अभिप्राय यह है कि एकादशीव्रतके नित्य-कर्म होने पर भी जैसे उसके फलका वर्णन पाया जाता है इसी प्रकार वैधी-भक्ति यद्यपि नित्य-कर्म है फिर भी गौण रूपसे प्रशंसार्थ उसके फलका वर्णन किया गया है ।

वैधी भक्तिकी इसी नित्यताको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकार श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धसे दो श्लोक आगे उद्धृत करते हैं—

एकादश [स्कन्ध] में तो स्पष्ट रूपसे ही कहा है कि—

[विराट्] पुरुषके मुख, बाहु, उरू और पादोंसे [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि] आश्रमोंके साथ [पुरुषके] गुणोंसे ब्राह्मण आदि चारों वर्ण अलग-अलग उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

इनमेंसे जो [अपने] कारण-रूप ईश्वर [पुरुष] का भजन नहीं करते हैं अपितु उसका तिरस्कार करते हैं वे [अपने उच्च] स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे [अर्थात् पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें] गिर जाते हैं ॥ २६ ॥

इन श्लोकोंमें ईश्वर-भक्तिको सभी वर्ण और सभी आश्रमोंके लोगोंके लिए अपरिहार्य नित्य-कर्म बतलाया गया है । इसीलिए ग्रन्थकारने 'इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु' अपने इस वचनके समर्थनके रूपमें इन सबश्लोकोंको उद्धृत किया है ।

'नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत् फलम्' इस कारिका-भागमें जो 'वैधी भक्ति' रूप नित्य-कर्मके फलके विधानकी चर्चा की गई है उसके समर्थनके लिए ग्रन्थकारने आगे

तत्फलं च तत्रैव—

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥ २७ ॥

पञ्चरात्रे च—

सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तथा भक्तिः परा भवेत् ॥ २८ ॥ इति

तत्राधिकारी—

यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने ॥ ५ ॥
नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्य्यसौ ॥

यथैकादशे—

यदृच्छया मत्कथाऽऽदौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्व्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ २९ ॥

भागवतके एकादश स्कन्ध तथा नारदपञ्चरात्रसे दो श्लोक आगे उद्धृत किए हैं। उनका अर्थ निम्न प्रकार है—

और उस [नित्य वैधी भक्ति] का फल वहाँ ही [अर्थात् ग्यारहवें स्कन्धमें] ही इस प्रकार कहा गया है]—

इस प्रकार वेदों और तन्त्रोंमें प्रतिपादित क्रियायोगके मार्गोंसे [भगवान्‌की] अर्चना करता हुआ पुरुष, परमात्मासे [मत्तः] दोनों प्रकारसे [अर्थात् वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों प्रकारके उपायों द्वारा] अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

और पञ्चरात्रमें भी [वैधी भक्तिके फलका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया है]।

हे देवर्षि नारद ! शास्त्रमें भगवान् [की आराधना] के उद्देश्यसे जो [साधन-भूत] क्रिया बतलाई गई है उसीको भक्ति [अर्थात् साधन-भक्ति] कहते हैं। उससे अगली [या उत्कृष्टतर साध्य-रूपा] भक्ति प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

वैधी भक्तिके अधिकारी—

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकार ने साधन-भक्तिके एक भेद वैधी भक्तिका निरूपण किया। अब अगली कारिकामें वे साधन-भक्तिके अधिकारियोंका प्रतिपादन करेंगे। उन्होंने अधिकारियोंके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकारके भेद किए हैं। किन्तु भेदोंके करनेके पूर्व वे पहले अधिकारीका सामान्य लक्षण बतलाते हैं।

उस [वैधी भक्ति] में अधिकारी [कौन हो सकता है इस बातको आगे कहते हैं]—

[महापुरुषोंके सत्संगादिके संस्कार विशेष रूप] किसी अत्यन्त सौभाग्यसे इस [परमात्मा] के सेवनमें जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, न अत्यन्त आसक्तियुक्त और न वैराग्ययुक्त वही [पुरुष] इस [वैधी भक्ति] का अधिकारी है। ५।

अधिकारीके इस लक्षणके समर्थनके लिए ग्रन्थकार श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धसे निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं।

जैसा कि [श्रीमद्भागवतके] एकादश [स्कन्ध] में [कहा है कि]—

न अत्यन्त आसक्त और न अत्यन्त विरक्त जिस पुरुषको स्वयं ही [किसी अनिर्वचनीय

उत्तमो मध्यमश्च स्यात्कनिष्ठश्चेति स त्रिधा ॥ ६ ॥

तत्रोत्तमः—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्व्वथा दृढनिश्चयः ।
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥ ७ ॥

मध्यमः—

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः ॥

कनिष्ठः—

कारणसे 'मत्कथादौ' अर्थात्] भगवान्की आदिकी कथा-आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसको ही भक्तियोग सिद्धि प्रदान करने वाला होता है। [अर्थात् वही पुरुष भक्तियोगका अधिकारी होता है]। २९।

अधिकारीके इन दोनों लक्षणोंमें 'नातिसक्तः' और 'न वैराग्यभाक्' ये दो विशेषण दिए हैं। इनका अभिप्राय ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनोंसे भक्तिमार्गकी भिन्नता दिखलाना है। ज्ञानमार्गके अधिकारीके लिए वैराग्यकी अत्यन्त अपेक्षा है। वेदान्त ग्रन्थोंमें अधिकारीके अनेक विशेषणोंमें 'साधनचतुष्टयसम्पन्नः' यह भी एक आवश्यक विशेषण माना जाता है। इस साधनचतुष्टयमें १. नित्यानित्य-वस्तुविवेकः, २. इहामुत्रफलभोगविराग, ३. षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुत्वका समावेश होता है। इनमें वैराग्यकी आवश्यकता अपरिहार्य मानी गई है। योगादि ज्ञानमार्गके मानने वाले सभी ग्रन्थोंमें वैराग्यको अधिकारीका आवश्यक विशेषण माना गया है। किन्तु भक्तिमार्गमें अधिक वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए उनसे भिन्नता दिखलानेके लिए यहाँ भक्तिमार्गके अधिकारीमें 'न वैराग्यभाक्' यह विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार कर्ममार्गके अनुयायीके लिए कर्मकाण्डमें अत्यासक्तिकी अपेक्षा है। भक्ति-मार्गमें उससे भिन्नता दिखलानेके लिए ही यहाँ दूसरा 'नातिसक्तः' विशेषण दिया गया है।

अधिकारीके तीन भेद—

ग्रन्थकारने यहाँ वैधी भक्तिके अधिकारीके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद किए हैं। उन भेदों तथा उनके लक्षणोंको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

वह [वैधी भक्तिका अधिकारी] उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से तीन प्रकारका होता है ॥ ६ ॥

उनमेंसे उत्तम [अधिकारीका लक्षण यह है कि]—

शास्त्र और [तदनुकूल] तर्कमें निपुण, निश्चय [किए हुए अर्थ पर] पर सर्वथा दृढ रहने वाला तथा प्रौढ श्रद्धा वाला जो अधिकारी होता है वह भक्ति [मार्ग] में उत्तम [अधिकारी] माना जाता है। ७।

मध्यम [अधिकारीका लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो शास्त्रादि [अर्थात् शास्त्र और युक्ति] में निपुण न होने पर भी श्रद्धावान् है वह तो मध्यम [अधिकारी माना जाता] है।

कनिष्ठ [अधिकारीका लक्षण निम्न प्रकार है]—

यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ॥ ८ ॥
तत्र गीतादिषूक्तानां चतुर्णामधिकारिणाम् ।
मध्ये यस्मिन् भगवतः कृपा स्यात्तत्प्रियस्य वा ॥९॥

[शास्त्रादिमें अनिपुण और] दुर्बल श्रद्धा वाला [अधिकारी] कनिष्ठ [अधिकारी] कहलाता है । ८ ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने तीनों तरहके अधिकारियोंके लक्षण अलग-अलग दिखलाए हैं । इनमेंसे उत्तम अधिकारी शास्त्र और युक्तिमें निपुण होता है । अर्थात् वह जिस मार्गका अवलम्बन करता है उसे शास्त्र और युक्ति दोनोंसे भली प्रकार विचार कर निश्चय करता है । इसलिए दृढ-निश्चय वाला भी होता है । कोई दूसरा व्यक्ति अपनी युक्तियों अथवा किन्हीं अन्य शास्त्र-प्रमाणोंसे भी उसको अपने मार्गसे विचलित नहीं कर सकता है । उसके शास्त्र एवं युक्तिमूलक सारे विचारके पीछे मूलभूत श्रद्धाका भाव रहता है । इसलिए शास्त्र एवं तर्कसे जब उस मूलभूत श्रद्धाकी सम्पुष्टि हो जाती है तो उसकी वह श्रद्धा भी प्रौढ श्रद्धा बन जाती है । इस प्रकार उत्तम अधिकारीका लक्षण किया गया है ।

मध्यम अधिकारी शास्त्रादिमें अनिपुण होता है किन्तु श्रद्धावान् होता है । यहाँ अनिपुण पदमें प्रयुक्त 'नञ्' अल्पार्थमें प्रयुक्त है । 'अनिपुणः' का अर्थ 'ईषन्निपुणः' कम निपुण है । अर्थात् सामान्य रूपसे तो शास्त्र तथा युक्तिके द्वारा भी विचार करनेमें समर्थ है किन्तु प्रबल बाधा उपस्थित होने पर उसके समाधानमें वह समर्थ नहीं होता है । फिर भी उसकी श्रद्धा विचलित नहीं होती है । अर्थात् श्रद्धाके विषयमें दृढ़ निश्चय ही होता है ।

कनिष्ठ अधिकारीके लक्षणमें ग्रन्थकारने शास्त्र और युक्तिकी अनिपुणताकी कोई चर्चा नहीं की है किन्तु इसमें भी इन पदोंकी अनुवृत्ति पूर्व कारिकाओंसे लानी चाहिए । और यहाँ उस 'अनिपुणः' पदका अर्थ 'यत्किञ्चिन्निपुणः' साधारण-सा निपुण करना चाहिए । 'कोमलश्रद्धः' का अर्थ यह है कि थोड़े-से भी तर्कसे या अन्य शास्त्रोंके प्रमाणसे उसको अपने मार्गसे विचलित किया जा सकता है ।

गीतामें कहे हुए अधिकारी—

यहाँ ग्रन्थकारने उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारके अधिकारी बतलाए हैं । किन्तु—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥

इस गीता-वाक्यमें चार प्रकारके अधिकारियोंका उल्लेख किया गया है । इसका समन्वय करनेका मार्ग अगली कारिकामें दिखलाया गया है । उसका अभिप्राय यह है कि ये सब अवस्थाएँ शुद्ध भक्तिसे पूर्वकी अवस्थाएँ हैं । वह वास्तविक भक्ति नहीं है । परमात्माकी कृपासे या किसी भगवद्भक्तकी कृपा और सत्संगसे जब उसके ये औपाधिक रूप समाप्त हो जाते हैं तब वह शुद्ध भक्तिका अधिकारी बनता है । और उस दशामें आने पर अधिकारीके उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ ये तीन ही भेद रह जाते हैं । इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

गीता आदिके वाक्योंमें कहे हुए [आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी] इन चार प्रकार

स क्षीणतत्तद्भावः स्याच्छुद्धभक्त्यधिकारवान् ।
यथेभः शौनकादिश्च ध्रुवः स च चतुःसनः ॥१०॥
भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥११॥
तत्रापि च विशेषेण गतिमण्वीमनिच्छतः ।
भक्तिर्हृतमनःप्राणान् प्रेम्णा तान् कुरुते जनान् ॥१२॥

तथा च तृतीये—

तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥३०॥ इति ।

के अधिकारियोंमेंसे जिसके ऊपर भगवान्की अथवा उनके [किसी] भक्तकी कृपा हो जाती है वह अपने उस-उस भावको [अर्थात् आर्त्तत्व आदि रूपको] छोड़कर शुद्ध भक्तिका अधिकारी हो जाता है। जैसे [आर्त्तभावसे मुक्त हुआ] गज, [जिज्ञासुभावसे मुक्त] शौनकादि, [अर्थार्थी-भावसे विमुक्त हुआ] ध्रुव तथा [ज्ञानीभावसे मुक्त हुए सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्-कुमार रूप] चतुःसन [शुद्ध भक्तिके अधिकारी बने] ॥ ६-१० ॥

उक्त गीतावाक्यमें जो आर्त, जिज्ञासु आदि चार प्रकारके भक्त कहे गए हैं उन सबमें भुक्ति या मुक्तिकी स्पृहा विद्यमान रहती है। जब तक उसका नाश न हो तब तक भक्तिका उदय नहीं हो सकता है। इसलिए परमात्माकी कृपासे अथवा किसी भगवद्भक्तकी कृपासे जब उनके उस-उस औपाधिक भावका नाश हो जाता है तभी उनके हृदयमें शुद्ध भक्तिकी अधिकारिताका उदय होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें इस प्रकार लिखते हैं कि—

भुक्ति [अर्थात् लौकिक भोग सुख] और मुक्ति [अर्थात् ब्राह्म सुख] के पानेकी इच्छा-रूप पिशाची जब तक [साधकके] हृदयमें विद्यमान रहती है तब तक उसमें [विशुद्ध] भक्तिके सुखका उदय हो ही कैसे सकता है ॥ ११ ॥

और उनमेंसे भी विशेष रूपसे [मोक्ष रूप] सूक्ष्म गतिको न चाहनेवाले भक्तजनोंको मन और प्राणों [अर्थात् इन्द्रियों] को [श्रवणादि रूप] भक्ति, प्रेमके द्वारा हरण कर लेती अर्थात् अपने वशमें कर लेती है ॥ १२ ॥

जैसा कि [श्रीमद्भागवतके] तृतीय [स्कन्ध में यही कहा है]—

सूक्ष्म गति [अर्थात् मोक्ष] को न चाहनेवाले जनोंको [श्रवणादिरूपा] भक्ति उन-उन दर्शनीय अवयवों, उदार विलासों, हास, ईक्षण तथा उन सुन्दर उक्तियों द्वारा हृतात्मा [अर्थात् जिनके आत्मा या मन हरण हो गया है] और हृतप्राण [अर्थात जिनकी इन्द्रियोंका हरण हो गया है इस प्रकारका] बना देती है। [अर्थात् भक्तिरसके आनन्दमें लीन होकर वे अपनी सब सुध-बुध भूल जाते हैं ॥ ३० ॥

इस प्रकार ग्रन्थकारने यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि भक्तिका सुख सब सुखोंसे बढ़कर है। भक्तिसुखके आगे मुक्तिसुख भी हेय है।

श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसाम् ।
एषां मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवेत् ॥१३॥

यथा तत्रैव श्रीमदुद्धवोक्तौ—

को न्वीश ! ते पादसरोजभाजां सुदुर्ल्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथाऽपि नाहं प्रवृणोमि भूमन् ! भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥३१॥

तत्रैव श्रीकपिलदेवोक्तौ—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद् मत्पादसेवाऽभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसह्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥३२॥

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥३३॥

चतुर्थे श्रीध्रुवोक्तौ—

आगे ग्रन्थकार भक्तिसुखके उत्कर्षतिशयके प्रतिपादनके लिए यह दिखलाते हैं कि जिनके मनमें एक बार भगवान्की भक्तिका भाव उदय हो जाता है और जो एक बार उसके रसका आस्वादन कर लेते हैं उनको फिर उसके आगे मोक्षसुखभी तुच्छ प्रतीत होता है। वे फिर मोक्षसुखको कामना नहीं करते हैं।

भगवान [श्रीकृष्ण] के चरणकमलोंकी सेवाके [अर्थात् भक्ति] के सुखसे जिनका चित्त एक बार तृप्त हो गया है उन भक्तोंकी फिर मोक्षके लिए कभी भी इच्छा नहीं होती है ॥१३॥

अपने इस कथनके समर्थनके लिए ग्रन्थकार भिन्न स्थलोंसे लगभग २६ श्लोक प्रमाणसे रूपमें उद्धृत करते हैं। उन सब श्लोकोंका भाव यही है कि भक्तिसुखका अनुभव कर लेने वाला फिर कभी मोक्षसुखकी कामना नहीं करता है।

जैसा कि वहीं [अर्थात् भागवतके तृतीय स्कन्धमें ही] उद्धवकी उक्तिमें [कहा है]—

हे प्रभो ! आपके चरण-कमलोंकी सेवा करने वालों [अर्थात् भगवद्भक्तों] को [धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष-रूप] चारों पुरुषार्थोंमेंसे कौनसा [पुरुषार्थ] दुर्लभ है [अर्थात् धर्म, अर्थ काम और मोक्ष सभी कुछ उनके लिए सहज सुलभ है] फिर भी हे सर्वशक्तिमान् ! आपके चरण-कमलोंकी सेवाके लिए उत्सुक मैं [आपसे मोक्ष आदिको] नहीं माँगता हूँ ॥ ३१ ॥

और वहीं [तृतीय स्कन्धमें] कपिलदेवकी उक्तिमें [भी यही बात निम्न श्लोकके द्वारा कही गई है]—

भगवान्के चरणोंकी सेवामें लगे हुए [मत्पादसेवाभिरताः] और भगवान्को ही चाहने वाले [मदीहाः] कोई [अर्थात् भक्तजनमें एकात्मता अर्थात्] भगवान्के सारूप्य [अर्थात् सारूप्य मुक्ति] को भी नहीं चाहते हैं। जो भगवद्भक्त [मम पौरुषाणि अर्थात्] भगवान्की भक्तिके बलको [मोक्षादि रूप] अन्य सबसे अधिक [शक्तिशाली] समझते हैं ॥ ३२ ॥

भक्तजन [मत्सेवनं बिना अर्थात्] भगवान्की सेवा [भक्तिको छोड़कर दिए जाने वाले सालोक्य, सायुज्य [सार्ष्टि], सामीप्य और सारूप्य [रूप चारों प्रकारकी मुक्तियों] को भी लेना नहीं चाहते हैं। ३३।

चतुर्थ स्कन्धमें ध्रुवकी उक्तिमें [इसी अभिप्रायको निम्न श्लोकके द्वारा व्यक्त किया गया है]—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ ! मा भूत्
किं न्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ॥३४॥

तत्रैव श्रीमदादिराजोक्तौ—

न कामये नाथ ! तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥ ३५ ॥

पञ्चमे श्री शुकोक्तौ—

यो दुस्त्यजक्षितिसुतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवाऽनुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ३६ ॥

षष्ठे श्रीवृत्रोक्तौ—

न नाकपृष्ठं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाऽऽधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस ! त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥ ३७ ॥

हे प्रभो ! आपके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे अथवा आपके भक्तोंकी कथाओंके श्रवणसे मनुष्यको जिस सुखकी प्राप्ति होती है, वह स्वयं प्रकाशस्वरूप ब्रह्म [की प्राप्ति] में भी नहीं हो सकती है तब यमराजकी तलवारसे कटे विमानसे गिरनेवाले [अन्य देवताओं] से कैसे हो ॥ ३४ ॥

वहीं पर [अर्थात् तृतीय स्कन्धमें] आदिराजकी उक्तिमें [इसी बातको निम्न प्रकार से कहा है]—

हे भगवन् ! उस [मोक्षादि रूप] किसी स्थानको भी नहीं चाहता हूँ जहाँ महा-पुरुषोंके मुखसे गिरा हुआ [अर्थात् महत्तम पुरुषोंके द्वारा गीयमान] आपके चरणकमलोंका आसव [अर्थात् आपका यशः पान करने अर्थात् सुननेको] न मिले । इसलिए [आपका यश सुननेके लिए] मुझे असंख्य कान प्रदान कीजिए, यही मेरा वर है [जिससे मैं सदैव आपके यश का श्रवण करता हुआ परमानन्दमें निमग्न रहूँ । यही मेरी कामना है] ॥ ३५ ॥

पञ्चम [स्कन्ध] में श्री शुककी उक्तिमें [भी इस विषयको निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

[उस भक्तप्रवर] राजा भरतने जो दुस्त्यज पृथिवी, पुत्र, परिवार [स्वजन] और स्त्री तथा देवगण भी जिसके लिए ललचाते हैं [सुरवरैः सदयावलोकाम्] उस प्रार्थनीय लक्ष्मीको नहीं माँगा सो ठीक है; क्योंकि भगवान्की सेवामें जिनका मन लगा हुआ है [मधुद्विट्सेवानुर-क्तमनसां] उनके लिए [अभवः पुनरनुत्पत्ति अर्थात्] मोक्ष [का सुख] भी [फल्गुः] व्यर्थ है ॥३६॥

और छठे [स्कन्ध] में श्री वृत्रकी उक्तिमें [भी इस विषयका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे भगवन् ! [समञ्जस] आप [की भक्ति] को छोड़कर मैं न [नाकपृष्ठं अर्थात्] स्वर्ग-पदको [चाहता हूँ] न महेन्द्र-पदको [महेन्द्रधिष्ण्यं चाहता हूँ], न सार्वभौम महाराज्य को, न [रसाधिपत्य अर्थात्] पृथ्वी के साम्राज्यको और न योगकी [अणिमा आदि] सिद्धियों अथवा [अपुनर्भवं] मोक्षको ही चाहता हूँ ॥ ३७ ॥

तत्रैव श्री रुद्रोक्तौ—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ ३८ ॥

तत्रैवेन्द्रोक्तौ—

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥ ३९ ॥

सप्तमे श्री प्रह्लादोक्तौ—

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त ! आद्ये, किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्म्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ ४० ॥

तत्रैव शक्रोक्तौ—

प्रत्यानीताः परम ! भवता त्रायता नः स्वभागाः
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यवोधि ।

वहीं [षष्ठ स्कन्धमें] रुद्रकी उक्तिमें [निम्न श्लोकोंमें भी इसी बातका प्रतिपादन किया गया है]—

भगवान्‌की भक्तिमें लगे हुए [नारायणपराः] सब [भक्तजन] किसीसे भी नहीं डरते हैं। और स्वर्ग, अपवर्ग एवं नरकको भी वे एक समान समझते हैं ॥ ३८ ॥

वहीं [षठ स्कन्धमें] इन्द्रकी उक्तिमें [निम्न प्रकारसे इसी अर्थका प्रतिपादन किया गया है—

[केवल] भगवान्‌की आराधना करने वाले जो निष्काम भक्तगण [परम] भक्तिको भी नहीं चाहते हैं वे ही अपने स्वार्थ [की रक्षामें] कुशल माने जाते हैं। [अर्थात् मुक्तिको भी छोड़कर निष्काम भावसे भगवान्‌की भक्ति करनेमें ही मानवका वास्तविक कल्याण हो सकता है। इसलिए भगवद्भक्तिके लिए जो मोक्षको भी ठुकरा देते हैं वे ही अपना वास्तविक हितसाधन करते हैं] ॥ ३९ ॥

सप्तम [स्कन्ध] में श्री प्रह्लादकी उक्तिमें [इसी विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे भगवन् ! [अनन्त, आद्य अर्थात्] आदि-पुरुष [भगवान्] के प्रसन्न होने पर [धर्म अर्थ, काम मोक्ष आदिमेंसे] क्या दुर्लभ हो सकता है ? [अर्थात् दुर्लभ कुछ भी नहीं है। सभी कुछ सहज सुलभ हो सकता है] किन्तु जो धर्म आदि स्वयं ही प्राप्त हैं उनको लेकर गुणों [अर्थात् सत्त्व, रज तथा तमोगुणसे बनी त्रिगुणात्मक प्रकृति] के साथ सम्पर्क स्थापित करने अथवा बनानेसे क्या लाभ ? और भगवान्के चरणोंमें बैठकर उनकी वन्दना करने वाले [भक्तिके आनन्दरूप] सारको प्राप्त किये हुए हम लोगोंको [गुणोंसे रहित अर्थात् गुणातीत] मोक्षको भी चाहनेसे क्या लाभ ? ॥ ४० ॥

और वहीं [सप्तम स्कन्धमें] इन्द्रकी उक्तिमें [फिर इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे भगवन् ! हमारी रक्षा करके आपने अपने भागोंको पुनः प्राप्त कर लिया तथा दैत्योंसे आक्रान्त और कालग्रस्त [हमारे] हृदय-कमलरूप अपने निवास-स्थानको फिर प्रबुद्ध कर

कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ ! शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥ ४१ ॥

अष्टमे श्री गजेन्द्रोक्तौ—

एकान्तिनो यस्य न केचनार्थं वांछन्ति ये भागवतप्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमंगलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥ ४२ ॥

नवमे श्री वैकुण्ठनाथोक्तौ—

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥ ४३ ॥

श्री दशमे नागपत्नी स्तुतौ—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाऽऽधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥४४॥

तत्रैव श्रीवेदस्तुतौ—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः ।

दिया । हे भगवन् ! आपकी सेवा [भक्ति] करने वालोंके लिए यह कितना बड़ा फल है [कि उन्हें आपने अपना बना लिया] हे नारसिंह ! [नृसिंहावतार] उनको मुक्ति भी इससे अधिक प्रिय नहीं है अन्योंकी तो बात ही क्या ? । ४१ ।

अष्टम [स्कन्ध] में गजेंद्रकी उक्तिमें [भी इसी सिद्धांतका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

भगवान्‌की शरणमें आये हुए और अत्यद्भुत चरित्रका गान करते हुए आनन्दके समुद्रमें निमग्न भगवान्‌के एकान्त भक्त [मोक्षादि रूप] अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते हैं । ४२ ।

नवम [स्कन्ध] में श्री वैकुण्ठनाथकी [उक्तिमें] उसी सिद्धान्तका प्रतिपादन फिर निम्न प्रकारसे किया गया है]—

भगवान्‌की भक्तिसे भरे हुए वे [भक्तगण मत्सेवाया प्रतीतं] भक्तिके प्राप्त होने वाले सालोक्य आदि चार प्रकारके मोक्षको भी नहीं चाहते हैं अन्य विनश्वर वस्तुओंकी तो बात ही क्या है । ४३ ।

दशम [स्कन्ध] में नागपत्नीकी उक्तिमें [भी इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

जिन [भगवान्] के चरणोंकी शरणमें आए हुए [भक्तगण] न [नाकपृष्ठं अर्थात्] स्वर्ग पदको चाहते हैं न सार्वभौम साम्राज्यको [चाहते हैं] न परमेष्ठी [ब्रह्माके] के पदको [चाहते हैं] न पृथिवीके आधिपत्यको [चाहते हैं] और न योगसिद्धियों अथवा [अपुनर्भव अर्थात्] मोक्षकी इच्छा करते हैं । ४४ ।

वही [दशम स्कन्धमें] श्रीवेदकी स्तुतिमें [इसी बातको फिर निम्नप्रकारसे कहा गया है]

हे भगवन् [ईश्वर] ! आपके चरण-कमलोंके [उपासक हंसों अर्थात्] भक्तजनोंके संसर्गसे अपने घरोंका भी परित्याग कर देने वाले, दुरधिगम, दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्वके प्रतिपादनके

न परिपालयन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ! ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ ४५ ॥

एकादशे श्रीभगवदुक्तौ—

न किंचित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ४६ ॥

तथा—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाऽऽधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥ ४७ ॥

द्वादशे श्रीरुद्रोक्तौ—

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥ ४८ ॥

पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये—

वरं देव ! मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह ।
इदं ते वपुर्नाथ ! गोपालबालं सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः ॥ ४९ ॥

लिए शरीर धारण करने वाले [भक्तगण] आपके चरित्र रूप अमृतके महासागरमें अवगाहन करनेके कारण संसारकी भ्रान्तिसे छूट जाने वाले कोई [महा सौभाग्यशाली भक्तगण] अपवर्गकी कामना नहीं करते हैं । ४५ ।

ग्यारहवें [स्कन्ध] में भगवान्‌की उक्तिमें [फिर इसी विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है]—

सर्वथा मेरे [भगवान्‌के] भक्त, धीर और साधुपुरुष [भगवान्‌की भक्तिके अतिरिक्त] और कुछ भी नहीं चाहते हैं यहां तक कि कोई महा सौभाग्यशाली [मेरे] भगवान्‌के द्वारा दिए जानेवाले [अपुनर्भव] जन्म-मरणसे छुड़ा देनेवाले [कैवल्यं] मोक्षको नहीं चाहते हैं । ४६ ।

और [उसी स्थलपर भगवानकी उक्तिमें ही यह भी कहा है कि]—

जिसने अपने-आपको भगवानको समर्पित कर दिया है [मयि अर्पितात्मा] वह [मद्विना] भगवान्‌के अतिरिक्त न ब्रह्माके पदको, न महेन्द्रके पदको, न सार्वभौम साम्राज्यको, न पृथिवी के आधिपत्यको और न योगसिद्धियों अथवा मोक्षको ही चाहता है । ४७ ।

बारहवें [स्कन्ध] में श्रीरुद्रकी उक्तिमें [फिर निम्न प्रकारके इस भावसे व्यक्त किया गया है]—

अविनाशी पुरुष भगवानमें जिसको भक्ति प्राप्त हो गई है वह ब्रह्मर्षि अन्य किसी विषयकी इच्छा नहीं करता है यहाँ तक कि मोक्षको भी नहीं चाहता है । ४८ ।

पद्मपुराणके कार्तिकमाहात्म्यमें [भी इस सिद्धान्तका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे देव ! वरोंके स्वामी [यथेष्ट वरोंके प्रदान करनेवाले] से भी मैं न [सालोक्यादि रूप चार प्रकारके] मोक्षको और न मोक्षके अवधिभूत [सारूप्यात्मक पंचम प्रकारके मोक्ष] को वरण करना चाहता हूँ । हे भगवन ! मेरी यही एकमात्र कामना है कि गोपाल-बालों सहित आपका दर्शन मुझे सदा होता रहे अन्य वस्तुओंमें क्या धरा है ? ४९ ।

कुवेरात्मजौ बद्धमूर्त्त्यैव यद्वत्त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च।
तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह ॥ ५० ॥

हयशीर्षश्रीनारायणव्यूहस्तवे च—

न धर्म्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर !।
प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभिकामये ॥ ५१ ॥

तत्रैव—

पुनः पुनर्वरान दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम् ॥ ५२ ॥
यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः।
नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मै हनुमते नमः ॥ ५३ ॥

अत एव प्रसिद्धं श्रीहनुमद्वचनम्—

भवबन्धच्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥ ५४ ॥

श्रीनारदपञ्चरात्रे च जितन्ते स्तोत्रे—

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम ॥ ५५ ॥

हे दामोदर ! आपने देह धारण करके कुबेरके दोनों पुत्रोंको बचाया और अपनी भक्तिका अधिकारी बनाया। इसी प्रकार मुझे भी अपनी भक्ति प्रदान करो, मुझे मोक्षका आग्रह नहीं है। ५०।

[पद्मपुराणमें ही] हयग्रीव और श्रीनारायणव्यूहकी स्तुतिमें [इस विषयको फिरनिम्न प्रकारसे प्रतिपादित किया है]—

हे वर प्रदान करनेवाले ईश्वर ! मैं धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षको नहीं माँगता हूँ केवल आपके चरण-कमलोंकी भक्ति ही [माँगना] चाहता हूँ। ५१।

वहीं [पद्मपुराणके उसी प्रकरणमें फिर इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

बार-बार वर प्रदान करनेकी इच्छा करनेवाले विष्णुसे भी जिसने मुक्ति नहीं मांगी किन्तु केवल भक्तिका ही वरदान माँगा उस प्रह्लादको मैं नमस्कार करता हूँ। ५२।

विष्णुके [अवतार रूप] श्री रामचन्द्रसे [बिना माँगे] स्वयं ही प्राप्त होनेवाले मोक्षको भी जिसने [श्री रामचन्द्रजीके] दास्यको छोड़कर स्वीकार नहीं किया उन श्री हनुमानको नमस्कार है। ५३।

इसीलिए श्री हनुमानका [निम्नांकित भक्तिविषयक] वचन प्रसिद्ध है कि—

जहाँ [पहुँचकर] आप प्रभु हैं और मैं आपका दास [भक्त] हूँ, इसका लोप हो जाता है उन भव-बन्धनोंका नाश करनेवाले [सारूप्यात्मक] मोक्षको मैं नहीं चाहता है। ५४।

और नारदपंचरात्रके जितन्त स्तोत्रमें [भी इस सिद्धान्तका प्रतिपादन निम्न प्रकार प्रकारसे किया गया है]—

धर्म, अर्थ, क़ाम और मोक्षके लिए तनिक भी इच्छा नहीं है। केवल अपने चरण-

मोक्षसालोक्यसारूप्यान् प्रार्थये न धराधर ! ।
इच्छामि हि महाभाग ! कारुण्यं तव सुव्रत ! ॥ ५६ ॥

श्रीभागवते षष्ठे—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ! ॥ ५७ ॥

प्रथमे च श्रीधर्म्मराजमातुः स्तुतौ—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥ ५८ ॥

तत्रैव श्री सूतोक्तौ—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः, इति ॥ ५९ ॥

कमलोंकी छायामें मुझे जीने [रहने] दीजिए । ५५ ।

हे पृथिवीनाथ ! मैं सालोक्य, सारूप्य आदि मोक्षोंको नहीं मांगता हूँ । हे सुन्दर व्रत धारण करने वाले महाभाग ! मैं केवल आपकी दया [आपकी भक्ति] चाहता हूँ । ५६ ।

श्रीमद्भागवतके षष्ठ [स्कन्ध] में [भी इस सिद्धान्तका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे महामुने ! [प्राकृत शरीरमें रहते हुए भी उसमें अभिमान न करने वाले] जीवन-मुक्तों और [सालोक्य, सारूप्यादिको प्राप्त हुए] सिद्धोंमें भी, प्रशान्त आत्मावाला और भगवानका अनन्य भक्त [नारायणपरायण:] करोड़ोंमें दुर्लभ होता है ।

और [श्रीमद्भागवतके] प्रथम [स्कन्ध]में भी धर्मराजकी माताकी स्तुति [के प्रकरण] में [इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

और विमल आत्मा वाले परमहंस मुनियोंको [अपनी] भक्तिका योग प्रदान करने वाले आपको हम स्त्रियाँ कैसे जान सकती हैं । ५८ ।

इसमें यद्यपि स्पष्ट रूपसे यह नहीं कहा गया है कि भक्तिका महत्त्व मोक्षसे भी अधिक है किन्तु परमहंस मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेकी जो बात कही गई है उससे अर्थतः यह बात आ जाती है कि मोक्षकी अपेक्षा उनको दी जाने वाली भक्तिका माहात्म्य अधिक है ।

और वहीं [अर्थात् प्रथम स्कन्धमें] श्री सूतकी उक्तिमें [इस विषयका निम्न प्रकारसे फिर प्रतिपादन किया गया है]—

आत्मानन्दमें विचरण करने वाले और [निर्ग्रन्थाः अर्थात्] विधि-निषेधके बन्धनोंसे मुक्त मुनिगण भी विष्णु भगवान्‌की [अहैतुकी अर्थात्] निष्काम भक्ति करते हैं इस प्रकारके गुणवान् हरि हैं । ५९ ।

सालोक्यादि मुक्ति और भक्ति—

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक बड़े विस्तारके साथ यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि भक्तगणके लिए भगवद्भक्तिके सामने मुक्तिका कोई महत्त्व नहीं । भगवान्‌की भक्ति का सुख मुक्तिके सुखसे कहीं अधिक उत्कृष्ट है । इसका फलितार्थ यह होता है कि भक्तिमार्ग

अत्र त्याज्यतयैवोक्ता मुक्तिः सर्वविधाऽपि चेत् ।
सालोक्यादिस्तथाऽप्यत्र भक्त्या नातिविरुध्यते ॥ १४ ॥
सुखैश्वर्य्योत्तरा सेयं प्रेमसेवोत्तरेत्यपि ।
सालोक्यादिर्द्विधा तत्र नाद्या सेवाजुषां मता ॥ १५ ॥
किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ ।
नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि ॥ १६ ॥
तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः ।
येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात् ॥ १७ ॥

में मुक्तिका कोई स्थान नहीं है। किन्तु भक्तिमार्गके शास्त्रोंमें ही सालोक्य-सायुज्य आदि मुक्तियोंका वर्णन किया गया है। इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भक्तिमार्गमें मुक्तिका कोई स्थान है ही नहीं तब इनका वर्णन क्यों किया गया है? इस प्रश्नका उत्तर देने के लिए ग्रन्थकारने अगले प्रकरणका प्रारम्भ किया है। उसमें वे सिद्धान्त रूपसे यह प्रतिपादन करेंगे कि इन सालोक्यादि मुक्तियोंके भी दो रूप हैं। एक सुख-ऐश्वर्यादि-प्रधान रूप और दूसरा प्रेमसेवादि प्रधान रूप। इनमेंसे सुख-ऐश्वर्यादि-प्रधान रूप तो भक्तिभागमें सर्वथा त्याज्य है। किन्तु प्रेम-सेवादिप्रधान रूपका भक्तिमार्गके साथ विरोध नहीं है। सालोक्य सामीप्यादि मुक्तियोंमें जब प्रेम-सेवादिका अवसर मिल सकता है तो उनका भक्ति-सिद्धान्तके साथ विरोध नहीं होता है। इसलिए वे उपादेय हो सकती हैं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकारसे दिखलाते हैं—

यहां [अर्थात् भक्तिमार्गमें पूर्वोक्त प्रमाणोंके अनुसार] यद्यपि सब प्रकारकी मुक्ति त्याज्य ही बतलाई गई है फिर भी सालोक्यादि मुक्ति भक्तिसे अत्यन्त विपरीत नहीं होती है। १४।

[क्योंकि] वह सालोक्यादि रूप मुक्ति सुख-ऐश्वर्य प्रधान तथा प्रेम सेवादिप्रधान [दो प्रकारकी] होती है। उनमेंसे पहली [सुख-ऐश्वर्यप्रधान सालोक्यादि मुक्ति] सेवा-प्रेमियों [अर्थात् भक्तों] के लिए नहीं मानी जाती है। १५।

किन्तु भगवान्के एकांत भक्त केवल भक्तिके माधुर्यका ही भोग करते हैं [अर्थात् प्रेम-सेवादि प्रधान मुक्तिका भोग कर सकते हैं। वह उनके विपरीत नहीं जाता है। उससे रहित होनेपर वे १. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सायुज्य, ४. सार्ष्टि और ५. सारूप्यादि] पाँचों प्रकारकी मुक्तिको स्वीकार नहीं करते हैं। १६।

कृष्णभक्तिकी विशेषता—

भगवान्के विविध रूप माने जाते हैं। उन सभी रूपोंमें भगवान्की भक्ति की जा सकती है। किन्तु ग्रन्थकार स्वयं कृष्णभक्त हैं इसलिए उनके मतमें कृष्णभक्ति में ही भक्ति का सुन्दरतम रूप अभिव्यक्त होता है। इसलिए वे अगली कारिकामें कृष्णभक्तिका विशेष महत्त्व प्रतिपादित करते हैं—

उन [भगवान्के] एकान्त भक्तोंमें भी कृष्णने जिनका मन हरण कर लिया है वे [कृष्णभक्त अन्य भक्तोंकी अपेक्षा] अधिक श्रेष्ठ हैं। [श्रीशप्रसादः अर्थात्] भगवान्की कृपा-

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि कृष्णश्रीशस्वरूपयोः ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ।। १८ ।।

किञ्च—

शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता ।
सर्वाधिकारितां माघस्नानस्य ब्रुवता यतः ।। १६ ।।

दृष्टि भी [कृष्णकी ओरसे हटाकर] जिनके मनको हरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकती है ।। १७ ।।

कृष्ण और श्रीश भगवान्का भेद—

कृष्णभक्तिकी यह जो विशेषता ग्रन्थकारने दिखलाई है उससे कृष्ण और श्रीश अर्थात् लक्ष्मीपति भगवान्का भेद प्रतीत होता है । वैसे ग्रन्थकार कृष्णको भी साक्षात् भगवान् श्रीश स्वरूप ही मानते हैं । इसलिए उन्हें इस श्लोकमें आपाततः प्रतीत होने वाले भेदके निवारण या उसका लमाधान करनेकी आवश्यकता आ पड़ी है । इसलिए अगली कारिकामें इसका प्रतिपादन करते हुए वे प्रस्तुत शंकाका समाधान निम्न प्रकारसे करते हैं—

सिद्धांत रूपसे कृष्ण और भगवान् [श्रीश] के स्वरूपमें कोई भेद नहीं है । [कृष्ण स्वयं भगवान् स्वरूप है] फिर भी कृष्णका स्वरूप [श्रीश भगवान्के स्वरूपकी अपेक्षा] अधिक रसमय है । यही रसका नियम [स्थिति] है [कि वह कृष्णभक्तिके रूपमें ही अधिक सुन्दर रूप से अभिव्यक्त होता है] । १८ ।

मनुष्यमात्रको भक्तिका अधिकार है—

कर्मकांड और ज्ञानकांडसे भक्तिमार्गकी कई विशेषताओंका वर्णन ग्रन्थकार पहले कर चुके हैं । उसकी एक और विशेषताका प्रतिपादन वे अगली कारिकामें करना चाहते हैं । वह विशेषता उसमें मनुष्यमात्रका अधिकार स्वीकार करना है । ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गके अनुयायियोंने अपना मार्ग शूद्रोंके लिए बन्द कर रखा है । केवल द्विजाति और उनमें भी विशेष रूपसे ब्राह्मण ही ज्ञान या कर्मके अधिकारी हो सकते हैं । शूद्रोंका उन दोनों मार्गोंमें प्रवेश सम्भव नहीं है । किन्तु भक्तिमार्गके आचार्योंने शूद्रोंके लिए भी अपना मार्ग उन्मुक्त कर दिया है । यह उनकी एक प्रमुख विशेषता है । अपने इसी उदार सिद्धांतका प्रतिपादन ग्रंथकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार करते हैं—

और भी [कहा है]—

[भागवत आदि] शास्त्रके अनुसार भक्तिमें मनुष्यमात्रका [अर्थात् द्विजातिसे भिन्न शूद्रका भी] अधिकार है । क्योंकि वसिष्ठने माघस्नानमें [शूद्र सहित] सबका अधिकार वर्णन करते समय भगवान्की भक्तिको राजाके सामने दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया है ।।१६।।

अर्थात् जैसे भक्तिमें शूद्र सहित सब जातियोंका अधिकार है इसी प्रकार माघस्नानमें भी सबका अधिकार है यह बात कहकर वसिष्ठने पद्मपुराणमें भक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार स्वीकार कर लिया है । इसलिए शूद्र भक्तिके अधिकारी हैं यह ग्रन्थकारका आशय है ।

ऊपरकी कारिकामें ग्रन्थकारने वसिष्ठके जिस कथनकी ओर संकेत करके भक्तिमें

दृष्टान्तिता वसिष्ठेन हरिभक्तिर्नृपं प्रति ।

यथा पाद्मे—

सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप ! ॥ ६० ॥

काशीखण्डे च तथा—

अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्खचक्राङ्कधारिणः ।
संप्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभुः, इति ॥ ६१ ॥

अपि च—

शूद्रोंके अधिकारको सिद्ध करनेका यत्न किया है उस वचन को वे पद्मपुराणमें आगे उद्धृत करते हैं—

जैसा कि पद्मपुराणमें [कहा है]—

हे राजन् ! जैसे हरिभक्तिमें [शूद्रादि सभी अधिकारी हैं] इसी प्रकार यहां [अर्थात् माघस्नानमें] भी [शूद्र सहित] सब अधिकारी हैं । ६० ।

और काशीखण्डमें भी ऐसा ही कहा है—

उस [भगवद्भक्तिके] राज्यमें शंख, चक्रधारी शूद्रभी वैष्णवी दीक्षाको प्राप्त कर दीक्षित [ब्राह्मण आदि] के समान शोभित होते हैं । ६१ ।

भक्तिमार्गमें प्रायश्चित्तका स्थान नहीं—

भक्तिमार्गकी दो प्रमुख विशेषताएं ग्रन्थकार ऊपर दिखला चुके हैं । तीसरी विशेषता आगे दिखलाते हैं । पहिली दो विशेषताओंमेंसे एक तो मोक्षकी हीनता है और दूसरी शूद्रका अधिकार है । ये दोनों ही विशेषताएँ अन्य शास्त्रोंके अनुयायियोंको चोंका देनेवाली विशेषताएँ हैं । इसी प्रकार तीसरी जिस विशेषताको ग्रन्थकार अगली कारिकामें दिखलाना चाहते हैं वह भी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता है । ज्ञान और कर्ममार्गका प्रतिपादन करने वाले सभी शास्त्रोंमें प्रायश्चित्तोंका विधान पाया जाता है । 'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः' इस सिद्धांत के अनुसार मानवमात्रसे जीवनमें कभी-न-कभी भूल होना स्वाभाविक है । उस दोषके परिहार करनेके लिए ही शास्त्रोंमें विविध प्रकारके प्रायश्चित्तोंका वर्णन पाया जाता है । कर्ममार्गी और ज्ञानमार्गी दोनों ही उन प्रायश्चित्तोंकी स्थिति उपयोगिता और आवश्यकताको स्वीकार करते हैं । किन्तु भक्तिमार्गके आचार्योंने प्रायश्चित्तके सिद्धान्तका सर्वथा बहिष्कार कर दिया है । उनके सिद्धान्तमें प्रायश्चित्तका कोई स्थान नहीं है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भक्तिमार्गका अनुयायी कभी कोई भूल या पाप नहीं करता है । जैसे अन्य सब लोगोंसे भूल या पाप हो जाना स्वाभाविक है इसी प्रकार भक्तिमार्गका अनुयायी भी कभी प्रमादवश अपने कर्तव्य-मार्गसे विचलित होकर पाप कर बैठता है । किन्तु उसको उस पापका प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है । उसकी भक्तिके बलसे ही उसके पापका निवारण हो जाता है । भक्तिकी पहली दो विशेषताओंके समान यह सिद्धान्त भी अन्य लोगोंको चौंका देनेवाला और बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसका प्रतिपादन ग्रन्थकार अगली कारिकाओंमें निम्न प्रकार करते हैं—

और [कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्गकी तीसरी विशेषता यह] भी [है कि]—

अननुष्ठानतो दोषो भक्त्यङ्गानां प्रजायते ॥ २० ॥
न कर्म्मणामकरणे दोषो भक्त्यधिकारिणाम् ।
निषिद्धाचारतो दैवाद् प्रायश्चित्तं च नोचितम् ॥२१॥
इति वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम् ।

यथैकादशे—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ ६२ ॥

प्रथमे—

भक्तिके अधिकारियोंको भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान न करने पर तो दोष होता है किन्तु [प्रायश्चित्तादिके रूप] कर्मोंके न करनेसे वह [दोष] नहीं होता है ॥ २० ॥

[इसलिए] दैवात् निषिद्ध आचरण कर बैठनेपर भी [भक्तिके अधिकारीके लिए] प्रायश्चित्त करना उचित नहीं है। [क्योंकि उनकी भक्तिके बलसे ही उस पापका निवारण हो जाता है] यह वैष्णव शास्त्रोंका रहस्य उसके विद्वानोंने बतलाया हैं ॥ २१ ॥

आगे ग्रन्थकार अपने इस सिद्धांतके समर्थनके लिए भागवत आदिसे अनेक वचन प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं। मोक्षकी लघुताका प्रदर्शन करनेके लिए ग्रन्थकारने पहिले बहुत अधिक प्रमाण प्रस्तुत किए थे। इसका कारण यह है कि मोक्षका महत्त्व सभी शास्त्रों में सर्वाधिक माना गया है। किन्तु भक्तिके आचार्योंने उसके महत्त्वको समाप्त कर भक्तिका उसकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिखलाया है इसलिए उस सिद्धांतके समर्थनकेलिए उन्होंने अधिक विस्तारके साथ प्रमाण उद्धृत करनेकी आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार प्रायश्चित्तकी अनुपादेयताका सिद्धांत भी नया-सा सिद्धांत है इसलिए इसका समर्थन करनेके लिए भी वे विस्तारपूर्वक अनेक प्रमाण उद्धृत कर रहे हैं। उनमें सबसे पहले भागवतके ग्यारहवें स्कन्ध से प्रमाण देते हैं—

जैसा कि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा है कि]—

अपने-अपने कर्तव्य [अधिकार] का जो [निष्ठा] पालन करना है वह गुण कहलाता है और उसका उलटा [अथवा अपने कर्तव्यका पालन न करना] दोष। [गुण और दोष इन] दोनोंका ही रहस्य [निश्चय पहिचान] है। ६२।

यह प्रमाण ग्रन्थकारने इस सिद्धांतकी पुष्टिके लिए प्रस्तुत किया है कि भक्तिमार्गके अनुयायीके लिए प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु इस वचनमें इस प्रकारके अर्थको साक्षात् स्पष्ट रूपसे नहीं कहा गया है। परन्तु ग्रन्थकार उसे अपने पक्षमें इस प्रकार लगाते हैं कि अपने कर्तव्यका पालन ही गुण है और उसका उल्लंघन ही दोष है। तो भक्ति-मार्गके अनुयायीको अपने भक्तिमार्गका पालन करना ही उसका गुण है। उसके विपरीत प्रायश्चित्त आदि कर्मकाण्डमें फँसना उसका गुण नहीं अपितु दोष होगा। इसलिए उसे प्राय-श्चित्त नहीं करना चाहिए।

[भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [भी इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं, को वाऽर्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ॥ ६३ ॥

एकादशे—

आज्ञायैव गुणान् दोषान्मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तमः ॥ ६४ ॥

तत्रैव—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ! ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥ ६५ ॥

श्रीभगवद्गीतासु—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥ ६६ ॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

भगवान्के चरण-कमलोंका ध्यान करने वाला अपरिपक्व [भक्त] भी यदि [कभी प्रमादवश] अपने धर्मको छोड़कर पतित हो जाय तो भी जहाँ कहीं [अर्थात् किसी भी दशा में] उसका कौन-सा अकल्याण हो सकता है ? [अर्थात् भक्तिके बलसे उसकी सदा रक्षा होती है । कहीं भी उसका अकल्याण नहीं होता है । अतः प्रायश्चित्तकी आवश्यकता उसे नहीं होती है] [इसके विपरीत] भक्तिको त्यागकर [प्रायश्चित्त आदिके चक्करमें पड़नेपर] अपने धर्मका पालन करनेसे भी उसे कौन-सा लाभ मिल जाता है [अर्थात् कोई लाभ नहीं होता है । ६३।

और एकादश [स्कन्ध] में [भी निम्न प्रकारसे इस सिद्धान्तका समर्थन किया गया है]—

इस प्रकारसे [भक्तिमार्ग एवं कर्मयोगादिके] गुणों और दोषोंको [आ समन्तात ज्ञात्वा आज्ञाय] भलीभाँति समझकर, मेरे द्वारा कहे हुए भी अपने [कर्मकांड आदि रूप] सब धर्मोंको परित्याग कर जो [मां अर्थात्] परमात्माकी भक्ति करता है वह अधिक श्रेष्ठ है [इसमें भी प्रायश्चितादि रूप कर्मोंकी अपेक्षा भक्तिका माहात्म्य दिखलाया है] । ६४ ।

वहीं [ग्यारहवें स्कन्धमें फिर इस विषयको निम्न प्रकार प्रतिपादन किया गया है]—

हे राजन् ! जो [प्रायश्चित आदि] कर्मकाण्ड [कर्तम् कृत्यम्] को छोड़कर पूर्ण रूपसे शरणागत-पालक [मुकुन्दं] भगनान्की शरणमें आ जाता है वह देव, ऋषि, भूत, आप्त पुरुष या पितर किसीका भी न सेवक होता है और न ऋणी होता है । ६५ ।

अर्थात् उसकी सन्मार्गमें प्रवृत्ति और अकर्तव्यसे रक्षा आदिका सारा भार अपने उपास्यदेवके ऊपर ही होता है । उसके लिए अन्य किसी प्रकारके प्रायश्चित्तादि रूप विधि-विधानकी आवश्यकता नहीं रहती है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें [भी इस सिद्धान्तका समर्थन करते हुए लिखा गया है कि—]

[कर्मकांडके विधि-विशेष रूप] समस्त धर्मोंका परित्याग कर [मामेक=मेरी] केवल भगवान्की शरण लेना चाहिए । वह [अहम् मैं भगवान्] तुमको सब पापोंसे बचावेगा [उस पर विश्वास रखो] किसी प्रकारका शोक, किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो । ६६ ।

अगस्त्य संहितामें [भी इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

यथा विधिनिषेधौ तु मुक्तं नैवोपसर्पतः ।
तथा न स्पृशतो रामोपासकं विधिपूर्वकम् ॥ ६७ ॥

एकादश एव—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्त्वाऽन्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथं चिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः ॥ इति ॥ ६८ ॥

हरिभक्तिविलासेऽस्या भक्तेरङ्गानि लक्षशः ॥ २२ ॥
किं तु तानि प्रसिद्धानि निर्द्देश्यन्ते यथामति ।

तत्रांगलक्षणम्—

जिस प्रकारसे [कर्मकाण्डके] विधि और निषेध, मुक्त पुरुषोंमें लागू नहीं होते हैं [मुक्तं नैवोपसर्पतः] इसी प्रकार विविध पूर्वक [अर्थात् सर्वात्मना अनन्यभावसे रामको अर्थात्] भगवान्‌की उपासना करने वालेको [ये विधि-निषेध] स्पर्श नहीं करते हैं । ६७ ।

ग्यारहवें [स्कन्ध] में ही [फिर इस विषयका प्रतिपादन स्पष्ट रूपसे निम्न प्रकार किया गया है]—

अन्य सब भावोंको छोड़कर [अनन्य भावसे] अपने चरणोंकी सेवामें लगे हुए अपने प्रिय [भक्त] के हृदयमें समाये हुए [हरिः परेशः] भगवान्, यदि किसी प्रकार कोई पाप [विकर्म] उससे हो जाय तो उन सबको दूर कर देते हैं । ६८ ।

इस प्रकार इन सात श्लोकोंके द्वारा ग्रन्थककारने विस्तारपूर्वक यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि भक्तिमार्गके अनुयायीको अन्य किसी प्रकारके विधि-निषेधात्मक कर्मकाण्ड आदिकी आवश्यकता नहीं रहती है । साधारण रूपसे उसकी कभी पाप-कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती है । किन्तु यदि कभी किसी प्रकार वह कोई अनुचित कार्य भी कर बैठे तो उसके हृदयमें समाये हुए भगवान् ही उस पाप-कर्मसे उसका उद्धार कर देते हैं । अन्य किसी साधन की उसको आवश्यकता नहीं होती है । ज्ञानमार्गमें भी ब्रह्मका साक्षात्कार करके जीवन्मुक्तोंकी स्थिति इस प्रकार मानी गई है ।

ज्ञानमार्गमें ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर चुकनेके बाद जीवन्मुक्तोंकी स्थिति कुछ इस प्रकार की मानी गई है कि जिसमें मातृवध, पितृवध सरीखे कर्मोंके कर डालनेपर भी उनको पाप नहीं लगता है । "न तस्य केनापि कर्मणा लोकोऽयं मीयते ! न मातृवधेन न पितृवधेन" इत्यादि आशयके वाक्य उपनिषदादिमें पाए जाते हैं ।

भक्तिके अंग—

आगे बहुत विस्तारके साथ ग्रन्थकार भक्तिके अंगोंका विवेचन प्रारम्भ करते हैं । वैसे तो भक्तिके अपरिगणित अंग हो सकते हैं फिर भी उन सबका वर्णन न करके कुछ मुख्य-मुख्य अंगोंका ही वर्णन यहाँ ग्रन्थकारने किया है । उनमेंसे भी दस अंग विधि रूप और दस निषेध-रूप अं अधिक महत्त्वपूर्ण माने गए हैं ।

हरिभक्तिविलासमें इस भक्तिके लाखों अंग कहे हैं किन्तु [हम उन सबको न कहकर] उन विशेष रूपसे प्रसिद्ध अंगोंको ही अपनी बुद्धिके अनुसार कह रहे हैं । २२ ।

उनमें [सबसे पहले] अंगका लक्षण [कहते हैं]—

आश्रितावान्तरानेकभेदं केवलमेव वा ।। २३ ।।
एकं कर्मात्र विद्वद्भिरेकं भक्त्यङ्गमुच्यते ।

अथाङ्गानि—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम् ।
विस्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्त्तनम् ।।२४।।
सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे ।
निवासो द्वारकाऽऽदौ च गङ्गाऽऽदेरपि सन्निधौ ।।२५।।
व्यवहारेषु च सर्वेषु यावदर्थानुवर्तिता ।
हरिवासरसम्मानो धात्र्यश्वत्थादिगौरवम् ।।२६।।
एषामत्र दशाङ्गानां भवेत् प्रारम्भरूपता ।
सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः ।।२७।।
शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः ।
बहुग्रन्थकलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम् ।।२८।।

अवान्तर अनेक भेदोंसे युक्त अथवा [अवान्तरभेदोंसे रहित] केवल, एक कर्मको ही यहाँ [भक्ति-सिद्धांतमें] विद्वानोंने भक्तिका एक अंग माना है । २३ ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भक्तिके अंतर्गत किए जाने वाला प्रत्येक कर्म भक्तिका एक अंग कहलाता है । कहीं उसके साथ कुछ अवान्तर कर्म भी संबद्ध रहते हैं और कहीं नहीं ।

अब भक्तिके अंगोंको [दिखलाते हैं]—

१. गुरुके चरणोंका आश्रय लेना, २. उनसे कृष्ण-दीक्षा आदिको ग्रहण करना, ३. विश्वासपूर्वक गुरुकी सेवा, ४. साधु-मार्गका अनुसरण करना ।। २४ ।।

५. सद्धर्मकी जिज्ञासा, ६. भगवान् [कृष्ण] के लिए भोगादिका परित्याग, ७. द्वारिका आदिमें अथवा गंगादिके तट पर निवास ।। २५ ।।

८. सारे व्यवहारों व प्रयोजनके अनुसार ही काम करना [अर्थात् व्यर्थके कार्योंमें न पड़ना], ९. कृष्णजन्मादिके पवित्र दिवसोंका सम्मान, और १०. आमलक, अश्वत्थ आदि [वृक्षों] का माहात्म्य [मानना] ।। २६ ।।

ये दस अंग यहाँ कर्तव्य रूप कहे गए हैं । [और अगले दस अंग निषेध रूप माने गए हैं । वे निषेध रूप दस अंग आगे कहे जाते हैं] । १. भगवान्से विमुख जनोंके संगको दूरसे ही त्याग देना ।। २७ ।।

२. शिष्य आदि [बनानेका] का सम्बन्ध न रखना, बड़े-बड़े [सांसारिक] कार्योंका आरम्भ न करना, ४. अधिक ग्रंथों अथवा कलाओंका अभ्यास और [उनकी] व्याख्या और विवाद आदिको बचाना ।। २८ ।।

व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं शोकाद्यवशर्वातता ।
अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता ॥२९॥
सेवानामपराधानामुद्भवाभावकारिता ।
कृष्णतद्भक्तिविद्वेषिविनिन्दाऽद्यसहिष्णुता ॥३०॥
व्यतिरेकतयाऽमीषां दशानां स्यादनुष्ठितिः ।
अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः ॥३१॥
त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम् ।
धृतिर्वैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च ॥३२॥
निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः ।
अभ्युत्थानमनुव्रज्या गतिः स्थाने परिक्रमा ॥३३॥
अर्च्चनं परिचर्या च गीतं सङ्कीर्तनं जपः ।
विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वरादौ नैवेद्यपाद्ययोः ॥३४॥
धूपमाल्यादिसौरभ्यं श्रीमूर्त्तेः स्पृष्टिरीक्षणम् ।
आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम् ॥३५॥

---

५. व्यवहारमें दीनताको न आने देना, ६. शोकादिके वशीभूत न होना, ७. अन्य देवताओंका अपमान न करना, ८. प्राणियोंको न सताना ॥ २९ ॥

९. सेवा [भक्ति] में त्रुटियोंको न आने देना, १०. भगवान् [कृष्ण] और उनके भक्तों के विद्वेष और उनकी निन्दा आदिको न सहना ॥ ३० ॥

इन दस [भक्त्यंगों] का निषेध रूप से अनुष्ठान होता है ।

उस [भक्ति मार्ग] में प्रवेशके लिए इन बीसों अंगोंके द्वार रूप होने पर भी इनमेंसे गुरुपादाश्रय इत्यादि [प्रारम्भिक] तीनको ही प्रधान अङ्ग माना गया है ॥ ३१ ॥

इन बीस अङ्गोंके अतिरिक्त अन्य कुछ गौण अङ्गोंके नाम भी ग्रन्थकार आगे निम्न प्रकार गिनाते हैं—

२१. वैष्णव चिह्नोंको धारण करना, २२. हरिके नामके अक्षरको धारण करना, २३. निर्माल्यादिका धारण, २४. उनके सामने ताण्डव नृत्य और २५. दण्डवत् प्रणाम करना ॥ ३२ ॥

२६. उठना [अर्थात् खड़े होकर स्वागत करना], २७. उनके पीछे चलना, २८. उनके स्थानोंमें चलना, २९. परिक्रमा लगाना ॥ ३३ ॥

३०. पूजा करना, ३१. सेवा करना, ३२. गीत, ३३. संकीर्तन, ३४. जप, ३५. विज्ञप्ति, ३६. स्तुति पाठ तथा ३७. नैवेद्यका आस्वादन तथा ३८. पाद्यका आस्वादन करना ॥ ३४ ॥

३९. धूप माल्यादिके सुगन्धका ग्रहण करना, ४०. श्रीमूर्तिका स्पर्श तथा ४०. दर्शन

स्मृतिर्ध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।
निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥३६॥
सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् ।
तदीयास्तुलसीशास्त्रमथुरावैष्णवादयः ॥३७॥
यथावैभवसामग्रि सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः ।
ऊर्जादरो विशेषेण यात्रा जन्मदिनादिषु ॥३८॥
श्रद्धाविशेषतः प्रीतेः श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवनम् ।
श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ॥३९॥
सजातीयाशये स्निग्धे साध्यः सङ्गः स्वतो वरे ।
नामसङ्कीर्त्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः ॥४०॥
अङ्गानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च ।
निखिलश्रैष्ठ्यबोधाय पुनरप्यत्र संशनम् ॥४१॥
इति कायहृषीकान्तःकरणानामुपासनाः ।
चतुःषष्टिः पृथक् साङ्घातिकभेदात् क्रमादिमाः ॥४२॥

करना, ४२. आरती तथा उत्सव आदिका दर्शन, ४३. श्रवण, और ४४. उनकी कृपाका अवलोकन करना ॥ ३५ ॥

[भगवान्‌का] ४५. स्मरण करना, ४६. ध्यान करना, ४७. दास्यभाव, ४८. सख्य-भाव और ४९. आत्मनिवेदन करना, ५०. अपने प्रियको [भगवान्‌के] अर्पण कर देना, और ५१. उन्हींके निमित्त सारे व्यापारोंका करना ॥ ३६ ॥

५२. पूर्ण रूपसे [भगवान्‌की] शरणमें आ जाना, ५३. उनके प्रिय पदार्थोंका सेवन, तुलसी [का सेवन], ५४. [भागवतादि] शास्त्र [का सेवन], ५५. मथुरा और ५६. वैष्णव आदि [का सेवन] उनके प्रिय पदार्थ हैं ॥ ३७ ॥

५७. अपने वैभव और सामग्रीके अनुसार सुन्दर गोष्ठियोंके साथ महोत्सव मनाना, ५८. विशेष रूपसे कार्तिक मासमें आदर प्रकट करना, ५९. जन्म-दिवस आदि पर यात्रा करना ॥ ३८ ॥

६०. विशेष श्रद्धा एवं प्रेमसे श्रीमूर्तिके चरणोंकी सेवा, और ६१. रसिकोंके साथ श्रीमद्भागवतके अर्थोंका आस्वादन करना ॥ ३९ ॥

६२. अपनेसे उत्तम सजातीय प्रेमी साधुओंके साथ सत्संग करना, ६३. नामका संकीर्तन तथा ६४. मथुरा मण्डलमें निवास करना ॥ ४० ॥

पहिले भी लिखे हुए इन पाँच अंगोंकी सर्वश्रेष्ठताके बोधनके लिए यहाँ दुबारा कथन किया गया है ॥ ४१ ॥

१. कायिक, २. वाचिक और ३. मानसिक ये अलग-अलग तथा ४. सम्मिलित रूप उपासनाएँ ये ६४ अंग होते हैं ॥ ४२ ॥

अथार्षानुमतेनैषामुदाहरणमीर्यते ॥ २४ ॥

१. तत्र गुरुपादाश्रयो यथैकादशे—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशयाश्रयम् ॥ ६६ ॥

२. कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणं यथा तत्रैव—

अत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मप्रदो हरिः ॥ ७० ॥

'हृषीक विषयीन्द्रिय' इस अमरकोषके अनुसार 'हृषीक' शब्दका अर्थ इन्द्रिय होता है। इस ४२वीं कारिकामें 'काय' और 'अन्तःकरण'के बीचमें 'हृषीक' शब्द आया है इसलिए यहाँ उससे वागिन्द्रियका ग्रहण किया गया है। 'कायहृषीकान्तःकरणनामुपासना': का अर्थ कायिक, वाचिक तथा मानसिक उपासना होती है। वैसे 'हृषीक' शब्द 'अनिहृषिभ्यां किञ्च उणादि ४-१५ इस उणादि सूत्रके द्वारा निष्पन्न होता है। उसका सामान्य अर्थ इन्द्रिय और यहाँ पर विशेष अर्थ वागिन्द्रिय किया गया है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक भक्तिके मुख्य तथा गौण ६४ अङ्गोंका वर्णन किया है। ग्रन्थकारने हरिविलासमें बतलाए हुए लाखों अङ्गोंमेंसे ६४ अङ्ग यहाँ गिनाए हैं। पर वे सब मुख्य अङ्ग नहीं हैं। उनमेंसे मुख्य अङ्ग २०-२५ छाँटे जा सकते हैं जो सारे भक्तिक्षेत्रमें समान रूपसे मान्य हो सकते हैं। इनमेंसे अनेक अङ्ग ऐसे हैं जो कृष्णभक्तिके क्षेत्रको छोड़कर अन्य भक्तिक्षेत्रोंमें मान्य नहीं हो सकते हैं। शिवभक्तिके क्षेत्रमें इनमें परिवर्तन करना होगा। इसी प्रकार अन्य भक्तिक्षेत्रोंमें भी इन अङ्गोंमें परिवर्तन करना होगा। जो अङ्ग विना किसी परिवर्तनके सभी भक्तिक्षेत्रोंमें समान रूपसे उपादेय हों वे मुख्य भक्त्यंग कहे जा सकते हैं। शेष गौण भक्त्यंग भिन्न-भिन्न भक्तिक्षेत्रोंमें आवश्यकताके अनुसार परिवर्तित हो सकते हैं। यहाँ कृष्णभक्तिकी दृष्टिसे ही उनको गिनाया गया है।

ये १६ श्लोक जिनमें अंगोंकी गणना कराई गई है कारिका भागमें गिने जाने चाहिए वे उदाहरण रूपमें नहीं हैं। किन्तु पूर्व संस्करणोंमें इन पर कारिका संख्या नहीं डाली है। हम यहाँ उन पर भी संख्या डाल रहे हैं। इसलिए कुल संख्यामें भेद हो जायगा।

भक्त्यंगोंके उदाहरण—

अब ऋषियोंके मतके अनुसार इन [६४ प्रकारके भक्तिके अंगों] के उदाहरण आगे देते हैं। ४३।

१—उनमेंसे गुरुपादाश्रय [का उदाहरण] जैसा कि [भागवतके ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा गया है]—

इसलिए श्रेयोमार्गको जाननेकी इच्छा रखने वाला [जिज्ञासु] शब्द ब्रह्म [अर्थात् शास्त्रों] और परब्रह्ममें निष्णात एवं शान्त-स्वरूप, उत्तम गुरुकी शरणमें जाए। ६९।

२—कृष्णदीक्षा आदिका शिक्षण जैसे वहीं [अर्थात् भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें निम्न प्रकार कहा गया है]—

अपने ज्ञानको प्रदान करने वाले भगवान् जिनसे प्रसन्न होते हैं उनको गुरु-रूप भगवान् स्वयं भागवत धर्मोंकी [अर्थात् भगवद् भक्तिके अनुरूप धर्मोंकी] शिक्षा प्रदान करते हैं। ७०।

३. विस्रम्भेण गुरोः सेवा यथा तत्रैव—

आचार्य्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥ ७१ ॥

४. साधुवर्त्मानुवर्त्तनं यथा स्कान्दे—

स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्था सन्तापवर्जितः ।
अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे ॥ ७२ ॥

ब्राह्मयामले च—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥ ७३ ॥

भक्तिरैकांतिकोवेयमविचारात्प्रतीयते ।
वस्तुतस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेक्ष्यते ॥ २४ ॥

५. सद्धर्म्मपृच्छा यथा नारदीये—

अचिरादेव सर्वार्थः सिद्ध्यत्येषामभीप्सितः ।
सद्धर्मस्याववोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः ॥ ७४ ॥

६. कृष्णार्थे भोगादित्यागो यथा पाद्मे—

३—श्रद्धापूर्वक गुरुकी सेवा [का उदाहरण] जैसे वहीं [अर्थात् भागवद्के ग्यारहवें स्कन्धमें इस प्रकार कहा गया है]—

आचार्यको साक्षात् भगवान् [मां विजानीयात्] समझे कभी भी उसका तिरस्कार न करे। मानव-बुद्धिसे [अर्थात् उनको साधारण मनुष्यमात्र समझकर] उनकी निन्दा न करे क्योंकि गुरु सर्वदेवमय [माने गए] हैं। ७१।

४—साधुमार्गका अनुरसण जैसा कि स्कन्दपुराणमें [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है]—

सन्तापसे रहित कल्याणके उस मार्गको खोजना चाहिए जिससे पूर्व लोग बिना कष्टके अनायास गए हैं। ७२।

५—और ब्रह्मयामलमें भी [उसका वर्णन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

श्रुति स्मृति पुराणादि और पंचरात्रमें कहे हुए विधि [कर्मकाण्ड] को छोड़कर भक्तिका अवलम्बन केवल उत्पात-कारक ही हो सकता है। ७३।

[भक्तिके अङ्गभूत कर्मकाण्ड से निरहित] यह जो [ऐकान्तिकी] केवल भक्ति प्रतीत होती है वह विचार न करनेके कारण ही प्रतीत होती है। वास्तवमें तो वैसी [ऐकांतकी कर्म विरहित भक्ति] नहीं है। क्योंकि वह शास्त्रोंके विरुद्ध [अशास्त्रीय] है। ४४।

५—सद्धर्मके पूछनेकी इच्छा [का उदाहरण] जैसे नारदपञ्चरात्रमें कहा गया है]—

सद्धर्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिनको प्रबल आग्रह होता है उनका अभीप्सित सारा काम शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है। ७४।

६—भगवान् [कृष्ण] के लिए भोग आदिका त्याग [का उदाहरण] जैसे पद्मपुराण में [निम्न श्लोकमें कहा गया है]—

हरिमुद्दिश्य भोग्यानि काले त्यक्तवतस्तव ।
विष्णुलोके स्थिता सम्पदलोला सा प्रतीक्षते ॥ ७५ ॥

७. द्वारकाऽऽदिनिवासो यथा स्कान्दे—

संवत्सरं वा षण्मासान् मासं मासार्द्धमेव वा ।
द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्य्यश्चतुर्भुजाः ॥ ७६ ॥

आदिशब्देन पुरुषोत्तमक्षेत्रवासश्च यथा ब्राह्मे—

अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दशयोजनम् ।
दिविष्टा यत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान् ॥ ७७ ॥

गङ्गाऽऽदिवासो यथा प्रथमे—

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान् कस्त्वां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥ ७८ ॥

८. यावदर्थानुवर्तिता यथा नारदीये—

यावता स्यात्स्वनिर्वाहः स्वीकुर्य्यात्तावदर्थवित् ।
आधिक्ये न्यूनतायां च च्यवते परमार्थतः ॥ ७९ ॥

भगवान् [की भक्ति] के निमित्त समय पर सारे भोगोंका त्याग कर देने वाले तुम्हारे लिए व्याकुल हुई लक्ष्मी स्वर्गलोकमें [आतुर होकर तुम्हारे आगमनकी] प्रतीक्षा कर रही है। ७५।

७—द्वारका आदिमें वास [का समर्थक उदाहरण या प्रमाण] जैसे स्कन्धपुराणमें [निम्न श्लोकमें कहा गया है]—

एक साल तक, अथवा छः मास तक, अथवा एक मास तक, अथवा आधे मास तक [ही सही] द्वारकामें रहने वाले सारे नर-नारी चतुर्भुज [साक्षात् विष्णु] बन जाते हैं। ७६।

आदि शब्दसे पुरुषोत्तमक्षेत्र [कुरुक्षेत्र] आदिमें वास [का समर्थक प्रमाण या उदाहरण] ब्रह्मपुराणमें [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

अहो [पुरुषोत्तमक्षेत्रके] चारों ओर दस योजन क्षेत्र का माहात्म्य !! [कैसा अद्भुत है कि वहाँ रहने वाले] सबको ही, स्वर्गमें निवास करने वाले [देवता भी चतुर्भुज] विष्णु-रूप ही समझते हैं। ७७।

गंगा आदि [के समीप] निवास [का समर्थक प्रमाण अथवा उदाहरण] जैसे [भागवत के] प्रथम स्कन्धमें [निम्न प्रकार कहा गया है]—

श्री तुलसीसे मिश्रित श्रीकृष्णके चरण-रजसे पवित्र जलको प्रवाहित करने वाली जो बाह्य लोक सहित [सेशान्] दोनों लोकोंको पवित्र करती है उस प्रकारकी तुझको [मरिष्यमाणः] मरनेके पूर्व कौन सेवन नहीं कराना चाहता है। ७८।

८—अपरिग्रह [यावदर्थानुवर्तिताका समर्थक उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि नारदीय पञ्चरात्रमें [कहा है]—

जितने [अर्थ] से अपना निर्वाह हो जाय, अर्थको समझने वाले [भक्त] को उतना ही ग्रहण करना चाहिए। अधिक या कम [ग्रहण करने] से वास्तविक अर्थसे च्युत हो जाता है। ७९।

९. हरिवासरसम्मानो, यथा ब्रह्मवैवर्ते—

सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा।
गोविन्दस्मारणं नृणामेकादश्यामुपोषणम् ॥ ८० ॥

१०. धात्र्यश्वत्थादिगौरवं, यथा स्कान्दे—

अश्वत्थस्तुलसी धात्री गोभूमिसुरवैष्णवाः।
पूजिताः प्रणता ध्याताः क्षपयन्ति नृणामघम् ॥ ८१ ॥

११. अथ श्रीकृष्णविमुखसङ्गत्यागो, यथा कात्यायनसंहितायाम्—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ॥ ८२ ॥

विष्णुरहस्ये च—

आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम्।
न सङ्गः शल्ययुक्तानां नानादेवैकसेविनाम् ॥ ८३ ॥

१२-१४. शिष्याद्यननुबन्धित्वादित्रयं, सप्तमे यथा—

९—[एकादशी आदि] पवित्र दिवसका सम्मान जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें [निम्न प्रकारसे दिखलाया गया है]—

एकादशीके दिन उपवासका रखना सब पापोंको नाश करने वाला और अत्यन्त पुण्यकारक तथा मनुष्योंको भगवान्‌का स्मरण कराने वाला होता है। ८०।

१०—आमलक और अश्वत्थ आदिके गौरवका [उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि स्कन्दपुराणमें [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है]—

अश्वत्थ [पीपल], तुलसी, आमलकी [धात्री] ब्राह्मण और विष्णुभक्त [वैष्णव] इनकी पूजा करने, इनको प्रणाम करने और इनका ध्यान करनेसे मनुष्योंके पापों का नाश होता है। ८१।

यहाँ तक दस प्रकारके अनुष्ठेय भक्त्यङ्गोंके उदाहरण दिए गए हैं। अब जिनको बचाना चाहिए या नहीं करना चाहिए इस प्रकारके दस भक्त्यङ्गोंके उदाहरण आगे देते हैं।

११—अब भगवान्‌के विरोधियोंके संगके त्यागका [उदाहरण या प्रमाण] जैसे कात्यायनसंहितामें [निम्न श्लोकमें कहा गया है]—

अग्निकी ज्वालाओंके पिंजड़ेके भीतर रहना अच्छा है किन्तु भगवान्‌के ध्यानसे विमुख पुरुषोंके साथ रहनेका दुःख उठाना अच्छा नहीं है।

विष्णुरहस्यमें भी [भगवान्‌से विमुख नास्तिक लोगोंके संगके त्यागका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

ज्वाला, व्याघ्र और [मकर आदि] जल-जन्तुओंका आलिंगन [करके मर जाना] अच्छा है किन्तु कण्टकयुक्त ['शल्यमत्र—तत्तद्देव सेवावासना' इति दुर्गमसङ्गमनीकारः अर्थात् नाना देवोंकी सेवाकी वासनासे युक्त] अनेक देवोंकी उपासनामें लगे हुए [अविश्वासियों] का सहवास अच्छा नहीं है। ८३।

१२-१४—शिष्यादिके संगहाभाव आदि तीन [के उदाहरण] जैसे [भागवतके] सप्तम [स्कन्ध] में [निम्न प्रकार कहा गया है—

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान् नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेन् क्वचित् ॥८४॥

१५. व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं, यथा पाद्मे—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने ।
अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत् ॥ ८५ ॥

१६. शोकाद्यवशवर्त्तिता, यथा तत्रैव—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम् ।
कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्त्तिसम्भावना भवेत् ॥ ८६ ॥

१७. अन्यदेवानवज्ञा, यथा तत्रैव—

हरिरेव सदाऽऽराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः ।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ॥ ८७ ॥

१८. भूतानुद्वेगदायिता, यथा महाभारते—

पितेव पुत्रं करुणो नोद्वेजयति यो जनम् ।
विशुद्धस्य हृषीकेशस्तूर्णं तस्य प्रसीदति ॥ ८८ ॥

१९. सेवानामपराधवर्जनं, यथा वाराहे पाद्मे च—

ममार्चनापराधा ये कीर्त्त्यन्ते वसुधे ! मया ।
वैष्णवेन सदा ते तु वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ ८९ ॥

न शिष्योंका संग्रह करे, न अधिक ग्रंथोंका अध्ययन करे, न व्याख्याओंका उपयोग करे और न कहीं [सांसारिक बड़े] कामोंको आरम्भ करे । ८४ ।

१५—व्यवहारमें कृपणता [दीनता] न दिखलाना जैसे कि पद्मपुराणमें [निम्न श्लोक द्वारा बतलाया गया है]—

खाने-पहिननेके साधनोंके न प्राप्त होने अथवा नष्ट हो जानेपर भी स्थिर बुद्धि होकर भगवान्का भजन करे । ८५ ।

१६—शोकादिके वशवर्ती न होना जैसा कि वहीं [पद्मपुराणके निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट रूपसे कहा गया है]—

जिनका मन शोक और क्रोध आदिके भावोसे भरा हुआ है उनमें भगवान् [की भक्ति] के स्फुरणकी सम्भावना कैसे हो सकती है । ८६ ।

१७—अन्य देवोंकी अवज्ञा न करनेका [उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि वहीं [पद्म-पुराणमें निम्न प्रकार कहा गया है]—

सब देवताओंके ईश्वर [इन्द्र] के भी ईश्वर भगवान् [कृष्ण] की ही सदा आराधना करनी चाहिए किन्तु [फिर भी] ब्रह्मा, रुद्र आदि अन्य देवताओंकी अवज्ञा भी कभी नहीं करनी चाहिए । ८७ ।

१८—प्राणियोंको न सताना जैसा कि महाभारतमें [निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

दयालु पिता जैसे पुत्रको नहीं सताता है इस प्रकार जो किसी प्राणीको कष्ट नहीं देता है उस विशुद्धात्माके ऊपर भगवान् बहुत जल्दी प्रसन्न होते हैं । ८८ ।

१९—सेवामें त्रुटियोंके बचानेका [उदाहरण] जैसा कि वराहपुराण और पद्मपुराण

सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्य्याद् द्विपदपांशुलः ॥ ६० ॥
नामाश्रयः कदाचित्स्यात्तरत्येव स नामतः।
नाम्नोऽपि सर्वसुहृदो ह्यपराधात्पतत्यधः ॥ ६१ ॥

२०. तन्निन्दाद्यसहिष्णु, यथा श्रीदशमे—

निन्दां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥६२॥

२१. अथ वैष्णवचिह्नधृतिः, यथा पाद्मे—

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्ष्यमालाः
ये बाहुमूलपरिचिह्नितशङ्खचक्राः।
ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्राः,
ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥ ६३ ॥

२२. नामाक्षरधृतिः, यथा स्कान्दे—

में [निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

हे वसुधे ! भगवान्की अर्चनाके जिन दोषोंका निर्देश मैंने किया है भगवान्के भक्तको [वैष्णवेन] उनसे सदा प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए। ८९।

सब प्रकारके अपराधोंको करनेवाला भी भगवान्की शरणमें आनेपर [उन दोषों और अपराधोंसे] मुक्त हो जाता है। किन्तु जो भगवान् [की भक्ति] में भी त्रुटि करे वह [मनुष्य नहीं है अपितु] नीच पशु मात्र है। ९०।

कभी भी [भगवान्के] नामका [अर्थात् भगवद्भक्तिका] आश्रय ले किन्तु वह नामके प्रभावसे तर ही जाता है। सबके हितकारी [अयाचितोपकारी सुहृद्] नामका भी अपराध करनेसे [अर्थात् भगवद्भक्तिमें प्रमाद करनेसे] नीचे पतित हो जाता है। ९१।

२०—उन [भगवान्] की निन्दा आदिकी असहिष्णुता [का उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि [भागवतके] दशम [स्कन्धमें] में [निम्न प्रकार कहा गया है]—

भगवान्की अथवा उनके भक्तकी निन्दाको सुनकर जो वहांसे हट नहीं जाता है वह धर्मसे च्युत होकर पतित हो जाता है। ९२।

इस प्रकार यहां तक ग्रन्थकारने दस अनुष्ठेय और दस प्रकारके परित्याज्य कुल बीस मुख्य भक्त्यंगोंका वर्णन कर दिया है। अब इसके आगे गौण भक्त्यंगोंके उदाहरण देते हैं।

२१—अब वैष्णवोंके चिन्होंका धारण [का उदाहरण देते हैं] जैसा कि पद्मपुराणमें [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है]—

जो कण्ठमें तुलसी और कमलगट्टोंकी माला धारण करते हैं, जिनकी भुजाओंपर शंख चक्रके चिन्ह अंकित हैं अथवा जो मस्तकके ऊपर ऊँचा तिलक लगाते हैं वे वैष्णव जगत्को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं। ९३।

२२—नामाक्षरका धारण करना। जैसाकि स्कन्द पुराणमें [निम्न श्लोकके द्वारा प्रतिपादन किया गया है]—

हरिनामाक्षरयुतं भाले गोपीमृदङ्कितम् ।
तुलसीमालिकोरस्कं स्पृशेयुर्न यमोद्भटाः ॥ ६४ ॥

पाद्मे च—

कृष्णनामाक्षरैर्गात्रमङ्कयेच्चन्दनादिना ।
स लोकपावनो भूत्वा तस्य लोकमवाप्नुयात् ॥६५॥

२३. निर्माल्यधृतिः, यथैकादशे—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥६६॥

स्कान्दे च—

कृष्णोत्तीर्णं तु निर्माल्यं यस्याङ्गं स्पृशते मुने ! ।
सर्वरोगैस्तथा पापैर्मुक्तो भवति नारद ! ॥६७॥

२४. अग्रे ताण्डवं, यथा द्वारकामाहात्म्ये—

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहुसुभक्तितः ।
स निर्दहति पापानि मन्वन्तरशतेष्वपि ॥६८॥

तथा च श्री नारदोक्तौ—

नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम् ।
उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्वे पातकपक्षिणः ॥६९॥

२५. दण्डवन्नतिः, यथा नारदीये—

हरिके नामाक्षरसे युक्त और मस्तकपर गोपीचन्दन लगाए हुए तथा वक्षस्थलपर तुलसीकी माला डालनेवाले [भक्त] को यमके भट स्पर्श नहीं करते हैं । ६४ ।

और पद्मपुराणमें भी [कहा है]—

चन्दन आदिके द्वारा जो अपने शरीरपर कृष्णके नामके अक्षरोंको लिखे वह संसारको पवित्र करनेवाला बनकर उसके लोक [स्वर्ग लोक] को प्राप्त होता है । ६५ ।

२३—निर्माल्यका धारण । जैसाकि ग्यारहवें स्कन्धमें [लिखा है]—

आपके द्वारा उपभुक्त गन्ध, वस्त्र, अलङ्कार आदिसे अलंकृत और आपके उच्छिष्टका भोजन करनेवाले हम आपके दास आपकी मायाको जीत लें [यह हमारी कामना है] ।६६।

और स्कन्दपुराणमें [भी लिखा है कि]—

हे मुने ! कृष्णके ऊपरसे उतारी हुई माला जिसके शरीरका स्पर्श करती है, हे नारद ! वह सब रोगों और सब पापोंसे छूट जाता है । ६७ ।

२४—अब [कृष्णके सामने] नाचनेका [उदाहरण] जैसाकि द्वारकामाहात्म्यमें [निम्न प्रकार कहा गया है]—

जो प्रसन्न होकर भक्तिपूर्वक अनेक भावोंसे [कृष्णके सामने] नाचता है वह सैकड़ों मन्वन्तरोंके पापोंका नष्ट कर देता है । ६८ ।

और श्री नारदकी उक्तिमें भी [कहा है कि]—

ताली आदि बजाते हुए, कृष्ण भगवान्‌के सामने नाचनेवालोंके शरीरमें रहनेवाले सारे पातक रूपी पक्षी उड़ जाते हैं । ६९ ।

एकोऽपि कृष्णाय कृतः प्रणामो, दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥१००॥

२६. अभ्युत्थानं, यथा ब्रह्माण्डे—

यानारूढं पुरः प्रेक्ष्य समायान्तं जनार्दनम्।
अभ्युत्थानं नरः कुर्वन् पातयेत्सर्वकिल्बिषम् ॥१०१॥

२७. अथानुव्रज्या, यथा भविष्योत्तरे—

रथेन सह गच्छन्ति पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः।
विष्णुनैव समाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः ॥१०२॥

२८. स्थाने गतिः—

स्थानं तीर्थं गृहं चास्य तत्र तीर्थे गतिर्यथा।

पुराणान्तरे—

संसारमरुकान्तारनिस्तारकरणक्षमौ ।
श्लाघ्यौ तावेव चरणौ यौ हरेस्तीर्थगामिनौ ॥१०३॥

गृहे यथा हरिभक्तिसुधोदये—

प्रविशन्नालयं विष्णोर्दर्शनार्थं सभक्तिमान्।
न भूयः प्रविशेन्मातुः कुक्षिकारागृहं सुधीः ॥१०४॥

२५—दण्डवत् नमस्कार [का उदाहरण] जैसे नारदीय [पंचरात्र] में [निम्न प्रकार कहा है]—

कृष्णको किया जानेवाला एक भी प्रणाम दस अश्वमेध यागोंके [बाद किए जाने अवभृत] स्नानोंसे बढ़कर है। क्योंकि दश अश्वमेध यागोंका करने वाला फिर जन्म [और मरण] को प्राप्त होता है किन्तु कृष्णको प्रणाम करने वाला फिर दुबारा जन्म नहीं लेता है [मुक्त हो जाता है]। १००।

२६—अभ्युत्थान [का उदाहरण] जैसे ब्रह्माण्ड पुराणमें [कहा गया है कि]—

सामनेसे यानपर चढ़े हुए भगवान्‌की सवारीको आता हुआ देखकर उठकर अगवानी करने वाला मनुष्य अपने सब पापोंको नष्ट कर देता है। १०१।

२७—अनुव्रज्या [का उदाहरण] जैसे भविष्योत्तर पुराणमें [कहा है कि]—

[भगवानकी सवारीके] रथके साथ आगे-पीछे अगल-बगल चलने वाले चाण्डाल आदि सब विष्णुके समान ही होते हैं। १०२।

२८—स्थानमें गमन करना—

'स्थान' से एक तीर्थ और [दूसरे इनके गृह अर्थात्] मन्दिर इन दोका ग्रहण होता है। उनमेंसे तीर्थमें गतिका [उदाहरण] जैसे—

दूसरे पुराणमें [लिखा है]—

संसार-रूप मरु-कान्तार [रेगिस्तान] के पार करनेमें समर्थ वे ही प्रशंसनीय चरण हो सकते हैं जो भगवान्‌के तीर्थमें पहुँचे हुए हैं। १०३।

२९—मन्दिरमें गति [का प्रमाण या उदाहरण] जैसाकि हरिभक्तिसुधोदयमें [कहा गया है कि]—

अत्यन्त भक्तियुक्त विद्वान् विष्णुके दर्शनकेलिए मन्दिरमें प्रवेश करनेके बाद फिर

२९. परिक्रमा, यथा तत्रैव—

विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्वन् यस्तत्रावर्त्तते पुनः।
तदेवावर्त्तनं तस्य, पुनर्नावर्तते भवे ॥१०५॥

स्कान्दे च चातुर्मास्यमाहात्म्ये—

चतुर्वारं भ्रमीभिस्तु जगत्सर्वं चराचरम्।
क्रान्तं भवति विप्राग्र्य ! तत्तीर्थगमनाधिकम् ॥१०६॥ इति।

३०. अथार्चनम्—

शुद्धिन्यासादिपूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम्।

तद्यथा श्रीदशमे—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसाणां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१०७॥

विष्णुरहस्ये—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥१०८॥ इति।

३१. परिचर्या—

माताकी कोख-रूपी कारागारमें प्रविष्ट नहीं होता है। १०४।

२९—परिक्रमा [का उदाहरण] जैसे वहीं [अर्थात् हरिभक्तिसुधोदयमें कहा है]—

विष्णुकी प्रदक्षिणा करते हुए जो वहाँ का चक्कर लगाता है वही उसका [अन्तिम] चक्कर है फिर वह संसारके चक्रमें नहीं आता है [मुक्त हो जाता है]। १०५।

और स्कन्दपुराणमें भी चातुर्मास्य-माहात्म्यमें [परिक्रमाके महत्त्वका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे विप्रवर ! [मन्दिरमें] चार बार चक्कर लगाने [परिक्रमा करने] से चराचर सहित सारे संसारकी परिक्रमा हो जाती है। इसलिए वह [परिक्रमा] तीर्थ-गमनसे भी अधिक [श्रेष्ठ] है। १०६।

३०—अर्चन—

[भौतिक] शुद्धि तथा [मातृका] न्यास आदि पूर्वाङ्गोंका सम्पादन करके मन्त्रों द्वारा [पूजन-सम्बन्धी उपचारों अर्थात्] विधियोंका सम्पादन 'अर्चन' कहलाता है ॥ ४५ ॥

जैसाकि [भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [लिखा है]—

उनके चरणोंकी अर्चना पुरुषोंकेलिए स्वर्ग और अपवर्गके आनन्दों तथा पृथ्वीकी सारी सम्पत्तियों और समस्त सिद्धियोंका मूल कारण होती है। १०७।

विष्णुरहस्यमें [भी इसका महत्त्व प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि]—

पृथिवी पर जो मनुष्य श्रीविष्णुका अर्चन करते हैं वे विष्णुके नित्य आनन्दमय पदको प्राप्त होते हैं। १०८।

३१—परिचर्या [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

परिचर्य्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया ॥४६॥

तथा प्रकीर्णकच्छत्रवादित्राद्यैरुपासना ।

यथा नारदीये—

मुहूर्त्तं वा मुहूर्त्तार्द्धं यस्तिष्ठेद् हरिमन्दिरे ।
स याति परमं स्थानं किमु शुश्रूषणे रतः ॥१०९॥

चतुर्थे च—

यत्पादसेवाऽभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पराङ्गुष्ठविनिःसृता सरिद् ॥११०॥ इति ।

अङ्गानि विविधान्येव स्युः पूजापरिचर्य्ययोः ॥४७॥

न तानि लिखितान्यत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः ॥

३२. अथ गीतं यथा लैङ्गे—

ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं परम् ।
हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिकं भवेद् ॥१११॥ इति,

३३. सङ्कीर्त्तनम्—

नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम् ॥४८॥

सेवाके उपकरण आदिकी शुद्धि [एक प्रकारकी परिचर्या कहलाती है] और प्रकीर्णक छत्र, वाद्य आदिके द्वारा उपासना [दूसरे प्रकारकी परिचर्या कहलाती है । [इस प्रकार परिचर्याके दो भेद होते हैं] । ॥ ४६ ॥

जैसाकि नारदीय [पंचमात्र] में [कहा है]—

जो केवल एक मुहूर्त अथवा आधे मुहूर्तको भगवान्‌के मन्दिरमें रहता है वह भी परम-पदको पा जाता है तब सेवामें लगे हुएकी तो बात ही क्या कही जाय । १०९ ।

और [भागवतके] चतुर्थ [स्कन्ध] में भी [इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

[विष्णुके] पैरके अँगूठेसे निकली हुई [गंगा] नदीके समान प्रतिदिन बढ़ती हुई जिसके चरणोंकी सेवाकी अभिरुचि तपस्वियोंके सम्पूर्ण जन्मोंके संगृहीत बुद्धिके मलोंको तुरन्त ही नष्ट कर देती है । ११० ।

इन पूजा और परिचर्या दोनोंके विविध अङ्ग हो सकते हैं किन्तु ग्रन्थ-विस्तारके भय से उनको यहाँ नहीं लिखा गया है ॥ ४७ ॥

३२—अब गीत [का उदाहरण देते हैं] जैसाकि लिङ्गपुराणमें [लिखा है]—

रुद्रगानसे भी बढ़कर वासुदेव नामक परम गानको निरन्तर [अहर्निश] गानेवाला ब्राह्मण विष्णुके समान लोक [सालोक्य मुक्ति] को प्राप्त करता है । १११ ।

३३—संकीर्तन [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

[भगवान्‌के] नाम तथा लीला आदिका ऊँचे स्वरमें कथन करना कीर्तन [कहलाता] है ॥ ४८ ॥

तत्र नामकीर्त्तनं, यथा विष्णु धर्मे—

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र! महापातककोटयः ॥११२॥

लीलाकीर्त्तनं, यथा सप्तमे—

सोऽहं परस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह! विरिञ्चिगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥११३॥

गुणकीर्त्तनं, यथा प्रथमे—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥११४॥

३४. जपः—

मन्त्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्यभिधीयते ॥

यथा पाद्मे—

कृष्णाय नम इत्येष मन्त्रः सर्वार्थसाधकः।
भक्तानां जपतां भूयः स्वर्गमोक्षफलप्रदः ॥११५॥

३५. विज्ञप्तिः यथा स्कान्दे—

हरिमुद्दिश्य यत्किंचित्कृतं विज्ञापनं गिरा।
मोक्षद्वारार्गलामोक्षस्तेनैव विहितस्तव ॥११६॥ इति,

उनमेंसे नामकीर्तन [का उदाहरण] जैसे विष्णुधर्ममें [कहा है]—

कृष्ण यह मङ्गलकारी नाम जिसकी जिह्वापर आता रहता है [अर्थात् जो कृष्णके नामका जाप करता है] उसके करोड़ों महापातक भस्मीभूत हो जाते हैं। ११२।

लीलाकीर्तन [का उदाहरण] वैसे [भागवतके] सप्तम स्कन्धमें [कहा गया है कि]—

हे नृसिंह! आपके चरण-कमलोंमें वास करनेवाले [भक्त रूप] हंसोंका संग करनेवाला मैं, ब्रह्माके द्वारा गाए जाने वाली परम सुहृत् [अयाचितोपकारी सुहृत्] और परम देवतारूप आपकी लीला कथाओंका गान करता हुआ त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे मुक्त होकर शीघ्र ही [संसारसागर को] पार कर जाऊँगा। ११३।

गुणोंके कीर्तन [का उदाहरण] जैसे [भागवतके] प्रथम स्कन्धमें [कहा गया है]—

यह [उत्तम श्लोक अर्थात्] भगवान्‌के गुणोंका अनुकीर्तन करना मनुष्योंके तपका, स्वाध्यायका, अथवा बुद्धिपूर्वक दिए हुए यज्ञों अथवा सूक्तोंका परिपूर्ण फल है यह बात विद्वानोंने कही है। ११४।

३४—जप [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

मन्त्रका जल्दी-जल्दी [अथवा मन्द स्वर से] उच्चारण करना जप कहलाता है।

जैसा कि पद्मपुराणमें [जपका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

'कृष्णाय नमः' यह मन्त्र सब अर्थोंका सिद्ध करने वाला है। और बार-बार जपने वालोंको स्वर्ग तथा मोक्षरूप फलको देनेवाला है। ११५।

३५—विज्ञप्ति [का उदाहरण] जैसे स्कन्दपुराणमें [कहा है]—

भगवान्‌को लक्ष्य करके वाणीसे जो कुछ विज्ञापना [प्रार्थना] की जाती है उसीसे

सम्प्रार्थनात्मिका दैन्यबोधिका लालसामयी ॥४६॥
इत्यादिर्विविधा धीरैः कृष्णे विज्ञप्तिरीरिता ॥

तत्र संप्रार्थनात्मिका, यथा पाद्मे—

युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा ।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥११७॥

दैन्यबोधिका, यथा तत्रैव—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन ।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम ! ॥११८॥

लालसामयी, यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—

कदा गम्भीरया वाचा श्रिया युक्तोजगत्पते ! ।
चामरव्यग्रहस्तं मामेवं कुर्विति वक्ष्यसि ॥११६॥ इति,

यथा वा—

कदाऽहं यमुनातीरे नामानि तव कीर्त्तयन् ।
उद्बाष्पः पुण्डरीकाक्ष ! रचयिष्यामि ताण्डवम् ॥१२०॥

३६. स्तवपाठः—

प्रोक्ता मनीषिभिर्गीतास्तवराजादयः स्तवाः ॥५०॥

मोक्षके द्वारकी अर्गलाका मोचन हो जाता है । ११६ ।

विज्ञप्तिके तीन भेद—

१ प्रार्थनात्मिका, २ दैन्यबोधिका और ३ लालसामयी । इस प्रकार विद्वानोंने कृष्ण के प्रति [की जाने वाली] विज्ञप्ति नाना प्रकारकी कही है ॥ ४६ ॥

उनमेंसे सम्प्रार्थनात्मिका विज्ञप्ति [का उदाहरण] जैसे पद्मपुराणमें [यिम्न प्रकारसे कही गई है]—

युवतियोंका युवकोंमें अथवा युवकोंका युवतियोंमें जिस प्रकार मन लगता है उसी प्रकार मेरा मन आपमें रमण करे । ११७ ।

दैन्यबोधिका [विज्ञप्तिका उदाहरण] जैसे वहीं [पद्मपुराणमें] निम्न प्रकारसे प्रदर्शित किया गया है]—

हे पुरुषोत्तम ! मेरे समान न कोई और पापी है और न कोई अपराधी है । क्या कहूँ मुझे तो [अपने पर किए दोषारोपणका] परिहार करते भी लज्जा आती है । ११८ ।

लालसामयी [विज्ञप्तिका उदाहरण] जैसे नारदपंचरात्रमें [कहा गया है]—

हे जगत्पते ! लक्ष्मीके साथ विराजमान आप चमर डुलानेमें लगे हुए मुझको अपनी गम्भीर वाणीसे 'ऐसा करो' यह आदेश कब देंगे ? । ११६ ।

अथवा जैसे [लालसामयी विज्ञप्तिका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

हे कमल-नयन ! आपके नामोंका कीर्तन करता हुआ आनन्दाश्रुओंसे रुद्धनेत्र मैं कब यमुनाके तट पर नाच सकूँगा ? । १२० ।

३६—स्तुति पाठ [का लक्षण निम्न प्रकार किया जा सकता है]—

गीता और [गौतमीयोक्त] स्तवराज आदि 'स्तव' [शब्दसे गृहीत होते] हैं ॥ ५० ॥

यथा स्कान्दे—

श्रीकृष्णस्तवरत्नौघैर्येषां जिह्वा त्वलंकृता।
नमस्या मुनिसिद्धानां वन्दनीया दिवौकसाम् ॥१२१॥

नारसिंहे च—

स्तोत्रैः स्तवैश्च देवाग्रे यः स्तौति मधुसूदनम्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१२२॥

३७. अथ नैवेद्यास्वादो, यथा पाद्मे—

नैवेद्यमन्नं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम्।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् ॥१२३॥

३८. पाद्यास्वादो, यथा तत्रैव—

न दानं न हविर्येषां स्वाध्यायो न सुरार्चनम्।
तेऽपि पादोदकं पीत्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥१२४॥

३९. अथ धूपसौरभ्यं, यथा हरिभक्तसुधोदये—

आघ्राणं यद्धरेर्दत्तधूपोच्छिष्टस्य सर्वतः।
तद्भवव्यालदष्टानां नस्यं कर्म विषापहम् ॥१२५॥

जैसे स्कन्दपुराणमें [स्तवका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है]—

जिनकी जिह्वा श्रीकृष्णके स्तवरत्नोंके समूहसे अलंकृत है वे मुनियों और सिद्धोंके नमस्कार-योग्य और देवताओंके वन्दनीय हैं। १२१।

और नृसिंहपुराणमें [स्तवका माहात्म्य निम्न प्रकार दिखलाया है]—

देवमूर्तिके सामने स्तवों और स्तोत्रोंसे जो कृष्णकी स्तुति करता है वह सब पापोंसे विमुक्त होकर विष्णुलोक को प्राप्त होता है। १२२।

इस श्लोकमें 'स्तव' और 'स्तोत्र' दोनों शब्दोंका प्रयोग किया गया है वैसे ये दोनों शब्द स्तुतिपरक ही है। किन्तु इनमें थोड़ा-सा सूक्ष्म भेद है। 'स्तोत्र' शब्द करण प्रधान होने से पूर्वसिद्ध स्तुतियोंके लिए प्रयुक्त होता है और 'स्तव' शब्द भाव प्रधान होनेसे स्वीकृत स्तुतियोंके लिए प्रयुक्त होता है यह सूक्षम भेद दुर्गमसंगमनीकारने दिखलाया है। किन्तु ऊपर 'प्रोक्ता मनीषिभिर्गीतास्तवराजादयः स्तवाः' में इस प्रकारका स्वकृत परकृत भेद नहीं किया है।

३७—नैवेद्यका आस्वादन जैसेकि पद्मपुराणमें [निम्न प्रकार दिखलाया है]—

मुरारि [की मूर्ति] के सामने तुलसीसे मिश्रित और विशेष रूपसे चरणामृतसे भीगा हुआ नैवेद्यका अन्न जो नित्य खाता है वह करोड़ों यज्ञोंके पुण्यको प्राप्त करता है। १२३।

३८—चरणामृतके आस्वादनका [उदाहरण] जैसे वहीं [पद्मपुराणमें कहा है]—

जो न दान करते हैं न यज्ञ, न स्वाध्याय करते हैं और न देवताओंकी अर्चना, वे भी चरण मृतका पान करके परमगति [मोक्ष] को प्राप्त हो जाते हैं। १२४।

३९—अब धूपसौरभ [का उदाहरण देते हैं] जैसा कि हरिभक्तिसुधोदयमें [कहा गया है]—

हरिको प्रदान की हुई धूपके उच्छिष्टका चारों ओरसे जो आघ्राण करना [सूँघना] है वह संसार रूप सर्पसे डसे हुओंके लिए विषका मारनेवाला नस्य-कर्म है। १२५।

माल्यसौरभ्यं, यथा तन्त्रे—

प्रविष्टे नासिकारन्ध्रे हरेर्निर्माल्यसौरभे ।
सद्यो विलयमायाति पापपञ्जरबन्धनम् ॥१२६॥

अगस्त्यसंहितायां च—

आघ्राणं गन्धपुष्पादेरर्चितस्य तपोधन ! ।
विशुद्धिः स्यादनन्तस्य घ्राणस्येहाभिधीयते ॥१२७॥

४०. अथ श्रीमूर्त्तेः स्पर्शनं, यथा विष्णुधर्मोत्तरे—

स्पृष्ट्वा विष्णोरधिष्ठानं पवित्रः श्रद्धयाऽन्वितः ।
पापबन्धैर्विनिर्मुक्तः सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥१२८॥

४१. अथ श्रीमूर्त्तिदर्शनं, तथा वाराहे—

वृन्दावने तु गोविन्दं ये पश्यन्ति वसुन्धरे ! ।
न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥१२९॥

४२. आरात्रिकदर्शनं, यथा स्कान्दे—

कोटयो ब्रह्महत्यानामगम्यागमकोटयः ।
दहत्यालोकमात्रेण विष्णोः सारात्रिकं मुखम् ॥१३०॥

उत्सवदर्शनं, यथा भविष्योत्तरे—

माल्यका सौरभ जैसाकि तन्त्रमें [निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

हरिके निर्माल्य-सौरभके नाकके छिद्रमें प्रवेश करते ही पापके पिंजड़ेका बन्धन तुरन्त ही नष्ट हो जाता है । १२६ ।

और अगस्त्य संहितामें भी [माल्यसौरभके महत्त्वका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

पूजित कृष्णके गन्ध, पुष्प आदिका आघ्राण नाकको शुद्ध करने वाला होता है । हे तपोधन ! उसका यहाँ कथन किया जा रहा है । १२७ ।

४०—श्रीमूर्तिके स्पर्शका [उदाहरण] जैसे विष्णुधर्मोत्तरमें [निम्न प्रकारसे उसके महत्त्वका वर्णन किया गया है]—

पवित्र और श्रद्धासे युक्त [भक्त] विष्णुके आसनको स्पर्श करके पापके बन्धनोंसे छूटकर सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है । १२८ ।

४१—श्रीमूर्तिका दर्शन जैसे कि वराह-पुराणमें [उसका महत्त्व निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

हे वसुन्धरे ! जो वृन्दावनमें कृष्ण [की मूर्ति] का दर्शन करते हैं, वे यमपुरको नहीं जाते हैं अपितु पुण्यकारियोंकी गतिको प्राप्त करते हैं । १२९ ।

४२—आरतीका दर्शन जैसे स्कन्द-पुराणमें [निम्न प्रकार उसका महत्त्व कहा गया है]—

विष्णुके आरती सहित मुखके दर्शनमात्रसे करोड़ों ब्रह्म-हत्याओं और करोड़ों अगम्या-गमनों [के पापों] का नाश हो जाता है । १३० ।

उत्सव दर्शन जैसाकि भविष्योत्तर-पुराणमें [कहा है]—

स्वस्थं ये निरीक्षन्ते कौतुकेनापि केशवम् ।
देवतानां गणाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः ॥१३१॥

आदिशब्देन पूजादर्शनं, यथा आग्नेये—

पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद् भक्तितो हरिम् ।
श्रद्धया मोदमानस्तु सोऽपि योगफलं लभेत् ॥१३२॥

४३. अथ श्रवणं—

श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत् ॥

तत्र नामश्रवणं, यथा गारुडे—

संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम् ।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥१३३॥

चरितश्रवणं, यथा चतुर्थे—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप ! गाढकर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥१३४॥

गुणश्रवणं, यथा द्वादशे—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥१३५॥

जो चाण्डाल आदि कौतुकमें भी रथपर बैठे हुए कृष्ण [की सवारी] को देख लेते हैं वे सब देवगण बन जाते हैं । १३१ ।

'आदि' शब्दसे पूजादर्शन [का भी ग्रहण करना चाहिए] जैसाकि अग्निपुराणमें [उसका वर्णन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

जो पूजा किए हुए [अर्थात् जिनकी पूजा की जा चुकी है] अथवा पूजा किए जाते समय कृष्ण [की मूर्ति] को देखता है श्रद्धासे प्रसन्न हुआ वह भी योगके फलको प्राप्त करता है । १३२ ।

४३—अब श्रवण [का लक्षण करते हैं]—

[कृष्णके] नाम, चरित्र और गुणादिके सुननेको 'श्रवण' कहते हैं ।

उनमेंसे नामश्रवण [का उदाहरण] जैसाकि गरुड़पुराणमें [कहा है]—

संसार-रूप सर्पसे दष्ट होनेके कारण जिसकी चेतना नष्ट हो गई है [जो बेहोश हो गया है] वह भी 'कृष्ण' इस वैष्णव मन्त्रको सुनकर मुक्त हो जाता है । १३३ ।

चरित्रश्रवण [का उदाहरण] जैसे [भागवतके] चतुर्थ [स्कन्ध] में [उसका माहात्म्य निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

उसमें अत्यन्त शब्दायमान मधुभित् कृष्णके चरित्रामृतकी नदियां चारों ओरसे पहुंचती हैं जो अतृप्त होकर उनका पान करते हैं उनको भूख-प्यास, भय-शोक और मोह स्पर्श नहीं कर पाते हैं । १३४ ।

गुणश्रवण [का उदाहरण] जैसे द्वादश स्कन्धमें—

अमङ्गलका नाश करने वाला जो कृष्णके गुणोंका गान निरन्तर होता है । कृष्णमें विमल भक्तिको चाहने वाला उसीको नित्य नियमसे सुने । १३५ ।

४४. अथ तत्कृपेक्षणं, यथा श्रीदशमे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥१३६॥

४५. अथ स्मृति—

यथा कथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते ॥५१॥

यथा विष्णुपुराणे—

स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते।
पुरुषस्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्॥१३७॥

यथा वा पाद्मे—

प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम्।
सद्यो नश्यन्ति पापौघा नमस्तस्मै चिदात्मने॥१३८॥

४६. अथ ध्यानं—

ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम् ॥

तत्र रूपध्यानं, यथा नारसिंहे—

भगवच्चरणद्वन्द्वध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम्।
पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं परम्॥१३९॥

४४—उनकी कृपाका दर्शन जैसेकि बारहवें स्कन्धमें [कहा है]—

अपने कर्मोंके फलको भोगता हुआ, और आपकी कृपाको देखता हुआ [आपकी कृपाकी प्रतीक्षा करता हुआ] जो मनसे, वाणीसे और शरीरसे आपको नमस्कार करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है वही मुक्तिका अधिकारी [दयाभाक्] होता है। १३६।

४५—आगे स्मृति [का लक्षण निम्न प्रकारसे करते हैं]—

जिस किसी प्रकारसे [संस्कार द्वारा] मनके साथ [कृष्णका] सम्बन्ध 'स्मृति' कहलाता है ॥ ५१ ॥

जैसाकि विष्णुपुराणमें [स्मृतिका महत्त्व कहा है]—

जिनका स्मरण करनेपर पुरुष समस्त कल्याणोंका पात्र बन जाता है मैं उन अजन्मा नित्य भगवान् [हरि] की शरणमें जाता हूँ। १३७।

अथवा जैसा पद्मपुराणमें [स्मरणका महत्त्व निम्न प्रकार से दिखलाया है]—

[प्रयाणे अर्थात्] मृत्युके समय और [अप्रयाणे अर्थात्] जीवनकालमें जिनके नामका स्मरण करने वाले मनुष्योंके पापोंका समूह तुरन्त ही नष्ट हो जाता है उन चैतन्यस्वरूप [भगवान्] को नमस्कार है। १३८।

४६—ध्यान [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

[भगवान्के] रूप, गुण और क्रीडा तथा सेवा आदिका भली प्रकारसे चिन्तन 'ध्यान' [कहलाता] है।

उनमेंसे रूप-ध्यान [का वर्णन] जैसा कि नृसिंह-पुराणमें [निम्न प्रकारसे किया गया है]—

भगवान्के चरण-युगलका ध्यान निर्द्वन्द्व [अनुपम अथवा] दुःखोंसे रहित कहा गया है। जिसके सेवनसे पापियोंका भी परम सुहित होता है। १३९।

गुणध्यानं, यथा विष्णुधर्मे—

ये कुर्वन्ति सदा भक्त्या गुणानुस्मरणं हरेः।
प्रक्षीणकलुषौघास्ते प्रविशन्ति हरेः पदम् ॥१४०॥

क्रीडाध्यानं, यथा पाद्मे—

सर्वमाधुर्य्यसाराणि सर्वाद्भुतमयानि च।
ध्यायन् हरेश्चरित्राणि ललितानि विमुच्यते ॥१४१॥

सेवाध्यानं, यथा पुराणान्तरे—

मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं सदा।
परे वाङ्मनसागम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे ॥१४२॥

४७. अथ दास्यं—

दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्य्यमपि सर्वथा ॥५२॥

तत्राद्यं यथा स्कान्दे—

तस्मिन्समर्पितं कर्म स्वाभाविकमपीश्वरे।
भवेद्भागवतं[1] कर्म तत्कर्म किमुतार्पितम् ॥१४३॥ इति;

गुणोंके ध्यान [का उदाहरण] जैसा कि विष्णुधर्ममें [निम्न प्रकारसे उसका महत्त्व बतलाया गया है]—

जो लोग सदा भक्तिपूर्वक भगवान्‌के गुणोंका स्मरण करते हैं समस्त पापोंसे रहित होकर वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं। १४०।

क्रीडा-ध्यान [का उदाहरण] जैसाकि पद्मपुराणमें [निम्न प्रकारसे उसके महत्त्वका वर्णन किया गया है]—

सम्पूर्ण रूपसे माधुर्यसे भरे हुए, सकल आश्चर्योंसे परिपूर्ण, कृष्णके सुन्दर चरित्रोंका ध्यान करता हुआ [मनुष्य] मुक्तिको प्राप्त करता है। १४१।

सेवा-ध्यान [का उदाहरण] जैसा कि दूसरे पुराणमें [निम्न प्रकारसे दिया है]—

दूसरे लोगोंने वाणी और मनके अगोचर उन [भगवान्] को केवल मानस उपचारोंसे सेवा करके उनका साक्षात्कार प्राप्त कर लिया। १४२।

४७—आगे दास्य [का लक्षण इस प्रकार करते हैं]—

[अपने समस्त] कर्मोंका उनको अर्पण कर देना और सर्वथा उनका किंकर-भाव [दो प्रकारका] दास्य कहा जाता है। ५२।

उनमेंसे प्रथम [प्रकारके दास्यका उदाहरण] जैसाकि स्कन्द-पुराणमें [उसका महत्त्व निम्न प्रकार कहा गया है]—

उनको समर्पित किया हुआ स्वाभाविक [साधारण लौकिक] कर्म भी भागवत-कर्म बन जाता है तब [जप, ध्यान, अर्चन आदि रूप] उनसे ही सम्बद्ध, अर्पित किए हुए कर्म की तो बात ही क्या कही जाय। १४३।

इस उदाहरणमें 'स्वाभाविक' और 'तत्कर्म' दो प्रकारके कर्मोंका वर्णन किया गया है। इनमें उनमेंसे स्वाभाविक कर्मोंमेंसे केवल भद्र शुभ कर्मोंका ग्रहण होता है और

---

१. 'धर्म' पाठ ठीक नहीं था।

कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च ।।
इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम् ।।५३।।

मृदुश्रद्धस्य कथिता स्वल्पा कर्माधिकारिता ।।
तदर्पितं हरौ दास्यमिति कैश्चिदुदीर्यते ।।५४।।

द्वितीयं यथा नारदीये—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।
अखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ।।१४४।।

४८. अथ सख्यं—

विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम् ।।

तत्राद्यं यथा श्रीमहाभारते—

प्रतिज्ञा तव गोविन्द ! न मे भक्तः प्रणश्यति ।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम् ।।१४५।।

एकादशे च—

'तत्कर्म' पदसे शेष जप आदि सभी भागवत कर्मोंका ग्रहण किया जाता है। इसी बातको अगली कारिकामें कहते हैं—

स्वाभाविक शुभकर्म, तथा जप, ध्यान आदि [रूप दूसरे प्रकारके कर्म] इन दो तरह के कर्मोंका वैष्णवों द्वारा अर्पण 'दास्य' कहलाता है ।। ५३ ।।

कुछ लोगोंका यह कहना है कि कोमल श्रद्धा वाले [भक्त] केलिए कुछ थोड़ा-सा कर्मका [अर्थात् कर्मकाण्डका] अधिकार कहा गया है। उसी कर्मका अर्पण 'दास्य' कहलाता है ।। ५४ ।।

इस प्रकार कर्मार्पण रूप दास्यका उदाहरण और वर्णन ऊपर दिया गया। आगे कैङ्कर्य रूप दास्यका उदाहरण देते हैं—

दूसरा [अर्थात् कैङ्कर्य-रूप दास्यका उदाहरण] जैसे नारदीयमें [उसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

जिसकी मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान्के दास्यकी इच्छा रहती है वह सब ही अवस्थाओंमें जीवन्मुक्त कहलाता है। १४४।

४८—सख्य [का लक्षण तथा भेद अगली कारिकामें लिखते हैं]—

[एक] विश्वास और [दूसरा] मित्रवृत्ति दो प्रकारका 'सख्य' कहा जाता है।

उनमेंसे पहला [विश्वास रूप सख्यका उदाहरण] जैसाकि महाभारतमें [निम्न प्रकार उसका वर्णन किया गया है]—

हे गोविन्द ! आपकी यह प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता है इसी बात को याद कर-करके मैं प्राणोंको धारण किए हुए हूँ। [अर्थात् इसी विश्वास पर मैं जी रहा हूँ कि मेरा भी किसी दिन अवश्य ही उद्धार होगा]। १४५।

और ग्यारहवें [स्कन्ध] में भी [कहा है कि]—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥१४६॥ इति,

श्रद्धामात्रस्य तद्भक्तावधिकारित्वहेतुता ॥५५॥
अङ्गत्वमस्य विश्वासविशेषस्य तु केशवे ॥

द्वितीयं यथाऽगस्त्यसंहितायाम्—
परिचर्य्यापराः केचित्प्रासादेषु च शेरते ।
मनुष्येष्विव तं द्रष्टुं व्यवहर्तुं च बन्धुवत् ॥१४७॥ इति,

रागानुगाङ्गताऽस्य स्याद्विधिमार्गानपेक्षणात् ॥५६॥
मार्गद्वयेन चैतेन साध्या सख्यरतिर्मता ॥

४९. अथात्मनिवेदनं—
यथैकादशे—
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥१४८॥ इति,

---

तीनों लोकोंका वैभव पानेकेलिए भी, स्थिर स्मृति वाला जो [भक्त], भगवान्को प्राप्त न कर सकने वाले [अजितात्म] देवताओंके द्वारा भी जिनकी खोज की जाती है इस प्रकारके भगवान्के चरण-कमलोंसे आधे पलके लिए भी विचलित नहीं होता है वही उत्तम वैष्णव है । १४६ ।

सामान्य श्रद्धामात्रको भगवान्की भक्तिमें अधिकारका कारण कहा गया है । और इस [श्रद्धाविशेष रूप] भगवान् [केशवे] में विश्वास विशेषको [भक्तिका] अङ्ग कहा गया है [यह श्रद्धा और विश्वासका अन्तर समझना चाहिए । ५५ ।

दूसरा [अर्थात् मित्रवृत्ति रूप सख्यका उदाहरण] जैसे अगस्त्यसंहितामें [उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि]—

उन [भगवान् कृष्ण] को मनुष्योंके समान देखने और बन्धुओंके समान [उनके साथ] व्यवहार करनेके लिए कुछ सेवा करने वाले [भक्तगण उनके पास ही] मन्दिरोके भीतर सोते भी हैं । १४७ ।

[इस सख्यभावमें] विधिमार्ग [के अनुष्ठान आदि] की आवश्यकता न होनेसे [यह वैधी भक्तिके अन्तर्गत न होकर दूसरे प्रकारकी जो रागानुगा भक्ति कही गई है उस] रागानुगा [भक्ति] का अङ्ग है [ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है । विश्वास और मित्रवृत्ति रूप] इन दो मार्गोंसे सख्य रतिकी सिद्धि होती है ॥ ५६ ॥

४९—आत्मनिवेदन [का उदाहरण] जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा गया है]—

जब [निवेदितात्मा होनेके कारण] सब कर्मोंका त्याग कर देने वाले मनुष्यका मैं विशेष उपकार करना चाहता हूँ [विचिकीर्षितो मे] तब मेरे द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति कर मेरे स्वरूप [सारूप्य मुक्ति] को प्राप्त हो जाता है । १४८ ।

अर्थो द्विधाऽऽत्मशब्दस्य पण्डितैरुपपाद्यते ।।५७।।

देह्यहंताऽऽस्पदः कैश्चिद्देहः कैश्चिन्ममत्वभाक् ।।

तत्र देही यथा यामुनाचार्यस्तोत्रे—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।
तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः ।।१४९।।

देहो यथा भक्तिविवेके—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।
तथाऽर्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात् ।।१५०।।

दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने ।।५८।।

केषांचिदेव धीराणां लभेते साधनार्हताम् ।।

५०. अथ निजप्रियोपहरणं यथैकादशे—

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ।।१५१।।

५१. अथ तदर्थेऽखिलचेष्टितं यथा पञ्चरात्रे—

['आत्मनिवेदनं' में आए हुए] 'आत्म' शब्दका दो प्रकारका अर्थ पण्डित लोग बतलाते हैं। कोई तो अहन्ताके आश्रय देही [अर्थात् शरीरमें रहने वाले आत्मा] को [आत्म शब्दसे ग्रहण करते] और दूसरे ममताके आश्रय देहका [आत्म शब्दसे ग्रहण करते हैं। इन दोनों का ही समर्पण आत्मनिवेदनमें आता है] ।। ५७ ।।

उनमेंसे देही [के आत्मनिवेदनका उदाहरण] जैसे यामुनाचार्यके स्तोत्रमें [देहीके आत्म निवेदनका उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है]—

शरीर आदिसे मैं जो कोई [ब्राह्मण या शूद्रादि] भी हूं और गुणोंसे भी मैं जैसा-तैसा कुछ भी हूं किन्तु मैंने आज ही अपने आपको आपके चरणोंमें समर्पित कर दिया है। १४९।

देह [के आत्मनिवेदनका उदाहरण] जैसाकि 'भक्तिविवेक'में [कहा गया है]—

बेचे हुए पशुके समान [अपने शरीर आदिकी] रक्षाके लिए चिन्ता न करे। इस प्रकार अपने शरीरको भगवान्‌को समर्पित कर [स्वयं] उसके रक्षण [की चिन्ता] से विरत हो जाय। १५०।

सख्य तथा आत्मनिवेदन ये दोनों [भक्त्यंग] दुष्कर होनेसे बहुत कम पाए जाते हैं और केवल किन्हीं [विशेष] धीरोंके ही साधनाके योग्य होते हैं ।। ५८ ।।

५०—अपने प्रियका समर्पण [का उदाहरण] जैसे [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा गया है]—

संसारमें जो-जो सबसे अधिक प्रिय हो और जो अपनेको बहुत प्रिय हो उस-उसको भगवान्‌के [मह्यं] अर्पण कर दे इससे [वह व्यक्ति या वह वस्तु] अनन्तताको प्राप्त हो जाता है। १५१।

५१—अब भगवान्‌के लिए ही सारे व्यापार [करनेका उदाहरण] जैसाकि पंचरात्रमें [निम्न प्रकार कहा गया है]—

लौकिकी वैदिकी वाऽपि या क्रिया क्रियते मुने ! ।
हरिसेवाऽनुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता ॥१५२॥ इति,

५२. अथ शरणापत्तिः—

यथा हरिभक्तिविलासे—

तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन् ।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥१५३॥

श्रीनारसिंहे च—

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेव ! जनार्दन ! ।
इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥१५४॥

५३. अथ तुलस्याः सेवनं यथा स्कान्दे—

या दृष्टा निखिलाघसङ्घशमनी स्पृष्टा वपुःपावनी
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्ताऽन्तकत्रासिनी ।
प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥१५५॥

तथा च तत्रैव—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्तिता नमिता स्तुता ।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा ॥१५६॥

हे मुने ! [भगवान्‌की] भक्तिको चाहने वाला लौकिकी या वैदिकी जो भी क्रिया करता है उसे भगवान्‌की अनुकूलताकी दृष्टिसे ही करे । १५२ ।

५२—अब शरणागति [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसा कि 'हरिभक्तिविलास' में [कहा गया है]—

वाणीसे 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहते हुए और मनसे भी उसी प्रकार अनुभव करते हुए शरणागत [भक्त] उस [भगवान्‌के] के स्थानको प्राप्त कर सदा आनन्दित होता रहता है । १५३ ।

और नृसिंह-पुराणमें भी [शरणागतिका महत्त्व इस प्रकार कहा गया है]—

हे देवाधिदेव ! जनार्दन ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ ऐसा कहकर जो शरणमें आता है मैं क्लेशोंसे उसका उद्धार करता हूँ । १५४ ।

५३—अब तुलसीकी सेवा [का उदाहरण] जैसे स्कन्द-पुराणमें [लिखा है]—

जिस [तुलसी] के देखनेसे सम्पूर्ण पापोंका नाश होता है, स्पर्शसे शरीर पवित्र होता है, वन्दना करनेसे रोगोंका शमन होता है, सींचनेसे यम भयभीत होता है, संरोपण करनेसे जो भगवान् कृष्णका सामीप्य प्रदान करने वाली है और उनके चरणोंमें अर्पित करने पर विमुक्ति रूप फलको प्रदान करने वाली है उस तुलसीको नमस्कार है । १५५ ।

और भी उसी जगह [अर्थात् स्कन्दपुराणमें कहा है]—

देखनेमें, स्पर्श करनेमें, ध्यान और कीर्तनमें, नमस्कार और स्तुतिमें, आरोपित और सेवित होनेपर तथा पूजित होनेपर तुलसी सदा [सब रूपोंमें] कल्याणकारिणी होती है । १५६ ।

नवधा तुलसीं देवीं ये भजन्ति दिने दिने ।
युगकोटिसहस्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे ॥१५७॥

५४. अथ शास्त्रस्य—

शास्त्रमत्र समाख्यातं यद्भक्तिप्रतिपादकम् ॥५६॥

यथा स्कान्दे—

वैष्णवानि तु शास्त्राणि ये शृण्वन्ति पठन्ति च ।
धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति ॥१५८॥
वैष्णवानि च शास्त्राणि येऽर्चयन्ति गृहे नराः ।
सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सुरवन्दिताः ॥१५६॥
तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे ।
तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद ! ॥१६०॥

श्रीभागवते—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥१६१॥

५५. अथ मथुरायाः, यथाऽऽदिवाराहे—

मथुरां च परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम् ।
मूढो भ्रमति संसारे मोहितो मम मायया ॥१६२॥

जो [पूर्व श्लोकमें कहे हुए] नौ प्रकारोंसे प्रतिदिन तुलसीदेवीकी सेवा करते हैं वे करोड़ों युगों तक [हरेर्गृहे] स्वर्गमें निवास करते हैं । १५७ ।

५४—अब शास्त्र [के सेवन और उसके लक्षणका कथन अगली कारिकामें करते हैं]—

जो [भगवान्‌की] भक्तिका प्रतिपादक हो उसी को यहाँ शास्त्र कहा गया है ॥५६॥

जैसाकि स्कन्दपुराणमें [कहा है]—

जो लोग वैष्णव शास्त्रोंको सुनते और पढ़ते हैं वे मनुष्य संसारमें धन्य हैं, भगवान् [कृष्ण] उनसे प्रसन्न होते हैं । १५८ ।

और जो मनुष्य अपने घरोंमें वैष्णव शास्त्रोंकी पूजा करते हैं वे सब पापोंसे विमुक्त होकर देवताओंके वन्दनीय बनते हैं । १५६ ।

हे नारद ! जिसके घरमें लिखा हुआ वैष्णव शास्त्र विद्यमान है वहाँ मानो नारायण देव स्वयं निवास करते हैं । १६० ।

भागवतमें [भी कहा है]—

श्रीमद्भागवत समस्त वेदान्तका सार माना जाता है। उसके रसामृतसे तृप्त हुएको अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं आता है । १६१ ।

५५—अब मथुराके सेवनका [उदाहरण आगे देते हैं] जैसा कि आदि वराह-पुराणमें लिखा है]—

मथुराको छोड़कर जो मनुष्य दूसरे स्थानको प्रेम करता है वह मूर्ख मेरी मायाके चक्करमें पड़कर संसारमें [अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें] घूमता रहता है । १६२ ।

ब्रह्माण्डे च—

त्रैलोक्यवर्त्तितीर्थानां सेवनाद् दुर्लभा हि या।
परानन्दमयी सिद्धिर्मथुरास्पर्शमात्रतः ॥१६३॥ इति,

श्रुता स्मृता कीर्त्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता।
स्पृष्टा श्रिता सेविता च मथुराऽभीष्टदा नृणाम् ॥६०॥
इति ख्यातं पुराणेषु न विस्तरभियोच्यते ॥

५६. अथ वैष्णवानां यथा पाद्मे—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधानं परम्।
तस्मात्परतरं देवि! तदीयानां समर्चनम् ॥१६४॥

तृतीये च—

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥१६५॥

स्कान्दे च—

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः ॥१६६॥

प्रथमे—

और ब्रह्माण्डपुराणमें भी [लिखा है]—

जो परमानन्दमयी सिद्धि तीनों लोकोंके तीर्थोंके सेवनसे भी प्राप्त नहीं होती है मथुरा के स्पर्शमात्रसे वह प्राप्त हो जाती है। १६३।

मथुराके श्रवण, स्मरण, कीर्तन, वांछा, दर्शन, गमन, स्पर्श, आश्रय लेने तथा सेवनसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। इस बातका पुराणोंमें प्रतिपादन किया गया है। विस्तारके भयसे हम यहाँ उसका वर्णन नहीं करेंगे ॥ ६० ॥

५८—अब वैष्णवोंके सेवन [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसाकि पद्मपुराणमें [लिखा गया है]—

सारी आराधनाओंमें विष्णुकी आराधना मुख्य है। किन्तु हे देवि! उनके भक्तोंकी आराधना उससे भी बड़ी है। १६४।

और तृतीय [स्कन्ध] में भी [लिखा है]—

जिन [भक्तों] की सेवासे, कूटस्थ [सदा एकरस रहने वाले] कृष्णको [भक्तोंकी सहायतार्थ भागनेके कारण होने वाले] चरणोंके क्लेशका नाश करने वाला प्रबल आनन्द होता है। १६५।

और स्कन्दपुराणमें भी [लिखा है]—

शंख, चक्रसे चिह्नित शरीर वाले, सिरपर मंजरी धारण किए हुए और गोपीचन्दन को शरीरमें लगाए हुए [भक्त] का यदि दर्शन हो जाता है तो फिर पाप कहाँ [रह सकता है]। १६६ ॥

प्रथम [स्कन्धमें] में भी कहा है—

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥१६७॥

आदिपुराणे—

ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः ॥१६८॥ इति,

यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि ह ॥६१॥
प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः ॥

५६. अथ यथावैभवमहोत्सवः—

यथा पाद्मे—

यः करोति महीपाल ! हरेर्गेहे महोत्सवम् ।
तस्यापि भवति नित्यं हरिलोके महोत्सवः ॥१६९॥

६०. अथोर्जादरो यथा पाद्मे—

यथा दामोदरो भक्तवत्सलो विदितो जनैः ।
तस्यायं तादृशो मासः स्वल्पमत्युरुकारकः ॥१७०॥

तत्रापि माथुरे विशेषो यथा तत्रैव—

भुक्तिं मुक्तिं हरिर्दद्यादर्चितोऽन्यत्र सेविनाम् ।
भक्तिं तु न ददात्येव यतो वश्यकरी हरेः ॥१७१॥

जिन [भक्तों] के स्मरणमात्रसे घर पवित्र हो जाता है उनके दर्शन, स्पर्श और पाँव पखारने आदिसे [जो पुण्य होगा उसका तो] कहना ही क्या है । १६७ ।

आदिपुराणमें [भी लिखा है]—

हे अर्जुन ! जो मेरे भक्तजन हैं वे तो मेरे [उतने प्रिय] भक्तजन नहीं हैं किन्तु मेरे भक्तोंके जो भक्त हैं वे ही मनुष्य मेरे वास्तविक भक्त हैं । १६८ ।

भगवद्भक्तिके जितने अंग कहे गए हैं प्रायः उतने ही अंग विद्वान् लोग उनके भक्तोंकी भक्तिके भी मानते हैं ॥ ६१ ॥

५६—अपने वैभवके अनुसार महोत्सव [मनानेका विधान] जैसाकि पद्मपुराणमें [कहा गया है]—

हे राजन् ! जो [हरेर्गेहे अर्थात्] भगवान्‌के मन्दिरमें महोत्सव मनाता है उसको भी स्वर्ग [हरिलोके] में नित्य महोत्सवकी प्राप्ति होती है । १६९ ।

६०—कार्तिक मासके आदर [का उदाहरण] जैसाकि पद्मपुराणमें [कहा है]—

जैसे कि कृष्ण लोकमें भक्तवत्सल रूपमें विख्यात हैं इसी प्रकार उनका यह [कार्तिक] मास भी थोड़ी बुद्धि वालोंका उपकारक माना गया है । १७० ।

उसमें भी मथुरामण्डलमें [इसका] विशेष [महत्त्व] है जैसाकि वहीं [अर्थात् पद्मपुराण में कहा गया है]—

अन्य स्थानोंपर सेवा करने वालोंको कृष्ण, भुक्ति [लौकिक भोग] और मुक्ति तो दे देते हैं किन्तु भक्ति नहीं देते हैं क्योंकि वह [भक्ति] भगवान्‌को वशमें कर लेने वाली है । १७१ ।

सा त्वञ्जसा हरेर्भक्तिर्लभ्यते कार्त्तिके नरैः ।
मथुरायां सकृदपि श्रीदामोदरसेवनात् ॥१७२॥

६१. अथ श्रीजन्मदिनयात्रा, यथा भविष्योत्तरे—

यस्मिन् दिने प्रसूतेयं देवकी त्वां जनार्दन ! ।
तद् दिनं ब्रूहि वैकुण्ठ ! कुर्मस्ते तत्र चोत्सवम् ॥
तेन सम्यक् प्रपन्नानां प्रसादं कुरु केशव ॥१७३॥

६२. अथ श्रीमूर्त्तेरङ्घ्रिसेवने प्रीतिः, यथाऽऽदिपुराणे—

मम नामसदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा ।
भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न च मुक्तिः कदाचन ॥१७४॥

६३. अथ श्रीभागवतास्वादो, यथा प्रथमे—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिकाः ! भुवि भावुकाः ॥१७५॥

द्वितीये च—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान् ॥१७६॥

किन्तु मथुरामें कार्तिक मासमें एक बार भी भगवान्‌की सेवा कर लेनेसे मनुष्योंको वह भक्ति तुरन्त ही प्राप्त हो जाती है । १७२ ।

६१—श्रीकृष्ण जन्मदिनकी यात्रा [का उदाहरण] जैसाकि भविष्योत्तर पुराणमें [लिखा है]—

हे वैकुण्ठ ! जिस दिन देवकीने आपको जन्म दिया उस दिनको बतलाइए, जिससे उस दिन हम महोत्सव मनावें । और हे केशव ! उसके द्वारा पूर्णतया अपनी शरणमें आए हुओंके ऊपर कृपा करो । १७३ ।

६२—अब श्रीमूर्तिके चरणोंकी सेवामें प्रीति [का उदाहरण] जैसा कि आदि पुराणमें [लिखा है]—

जो सदा मेरे नामका लेने वाला और सदा मेरी सेवा करनेवाला है उसको भक्ति ही प्रदान करनी चाहिए किन्तु मुक्ति कभी नहीं देनी चाहिए । १७४ ।

६३—और श्री भागवतका आस्वादन [अर्थात् श्रवणका उदाहरण] जैसाकि दशम [स्कन्ध] में [लिखा है]—

श्री शुकदेव [दूसरे पक्षमें तोते] के मुखसे गिरे हुए अमृत [सदृश] रस [एक पक्षमें भक्ति] रससे परिपूर्ण [और फल पक्षमें तरल द्रवसे भरे हुए] निगम [वेद] रूप कल्पतरुके फल श्रीमद्भागवतके रसको हे भावुको ! पृथिवी पर [आलयं अर्थात् फल पक्षमें रसकी समाप्ति पर्यन्त और भागवत पक्षमें विमुक्ति पर्यन्त] विलीन होने तक बार-बार [जी भरकर निरन्तर] पान करो । १७५ ।

और [भागवतके] दूसरे [स्कन्ध] में—

हे राजर्षे ! निर्गुण उपासनामें परिपूर्ण [उत्तम श्लोक अर्थात्] कृष्णकी [भागवतमें कही हुई] लीलाओंसे मनका हरण हो जानेके कारण [निर्गुण उपासनाके मार्गको छोड़कर

६४. अथ सजातीयवासनश्रीभगवद्भक्तसङ्गो यथा प्रथमे—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥१७७॥

हरिभक्तिसुधोदये—

यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत्स्यात्स तद् गुणः।
स्वकुलर्द्ध्यै ततो धीमान् स्वयूथ्यानेव संश्रयेत् ॥१७८॥

६५ अथ नामसङ्कीर्त्तनं यथा द्वितीये—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप ! निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥१७९॥

आदिपुराणे च—

गीत्वा तु मम नामानि विचरेन्मम सन्निधौ।
इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन ! ॥१८०॥

पाद्मे च—

येन जन्मसहस्राणि वासुदेवो निषेवितः।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ! ॥१८१॥

यतस्तत्रैव—

भागवतके आख्यानको उसने पढ़ा। १७६।

अब सजातीय संस्कारों वाले भगवद्भक्तके संग [का उदाहरण] जैसा कि [भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [लिखा हैं]—

भगवद्भक्तके सहवासके साथ हम स्वर्ग और अपवर्गकी लेशमात्र भी तुलना नहीं कर सकते हैं तब मानवी आकांक्षाओंकी तो बात ही क्या है। १७७।

'हरिभक्तिसुधोदय'में [भी कहा है]—

जिस पुरुषकी जिसके साथ सङ्गति होती है मणिके समान वह उसके गुणको धारण करने वाला बन जाता है। इसलिए बुद्धिमान [भक्त] अपने कुल [भक्तकुल] को वृद्धिके लिए अपने ही सम्प्रदायके लोगोंका संग करे। १७८।

अब नामकीर्तन [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसाकि द्वितीय स्कन्धमें लिखा है—

हे राजन् ! वैराग्य युक्त और मोक्ष चाहने वालोंकेलिए यह भगवन्नामका कीर्तन [सर्वोत्तम उपाय] निर्णय किया गया है। १७९।

और आदिपुराणमें भी [लिखा है]—

हे अर्जुन ! जो मेरे नामका गान करता हुआ मेरे पास [अर्थात् मेरी मूर्तिके पास] विचरण करता है मैं सत्य कहता हूं वह मुझे खरीद लेता है। १८०।

और पद्मपुराणमें भी [लिखा है]—

हे भारत ! जिसने सहस्रों जन्म तक भगवान् वासुदेवकी सेवा की है उसी [सौभाग्यशील] के मुखमें सदा हरिके नाम [का जप] रहता है। १८१।

क्योंकि वहीं [पद्मपुराणमें]—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥१८२॥ इति

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ॥६२॥
सेवोन्मुखे हि जिह्वाऽऽदौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

६४. अथ श्रीमथुरामण्डले स्थितिः यथा पाद्मे—

अन्येषु पुण्यतीर्थेषु मुक्तिरेव महाफलम् ।
मुक्तैः प्रार्थ्या हरेर्भक्तिर्मथुरायां तु लभ्यते ॥१८३॥
त्रिवर्गदा कामिनां या मुमुक्षूणां च मोक्षदा ।
भक्तीच्छोर्भक्तिदा कस्तां मथुरां नाश्रयेद् बुधः ॥१८४॥
अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी ।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते ॥१८५॥

दुरूहाद्भुतवीर्य्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ॥६३॥
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने ॥

चिन्तामणि सदृश [मनोवांछित अर्थको प्रदान करनेवाला] नाम-ही-नाम और नामीके अभेद होनेके कारण पूर्ण शुद्ध और नित्यमुक्त चैतन्य रसस्वरूप साक्षात् कृष्ण है । १८२ ।

इसलिए श्रीकृष्णके नाम आदिका ग्रहण इन्द्रियोंसे नहीं होता है किन्तु सेवामें तत्पर होनेपर वह स्वयं ही जिह्वापर नाचने लगता है । [अर्थात् वैसे यत्न करनेपर भी हम नामका उच्चारण नहीं कर पाते हैं किन्तु भक्तिमें लीन होनेपर अनायास ही हमारे मुखसे नाम उच्चारण होने लगता है] ॥ ६२ ॥

६४—अब मथुरा-मण्डलमें स्थिति [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसा कि पद्मपुराण में [लिखा है]—

अन्य पवित्र तीर्थोंमें मुक्ति ही महाफल [के रूप में प्राप्त होती] है किन्तु मथुरामें मुक्तोंके द्वारा भी प्रार्थनीय भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है । १८३ ।

[विशेष फलोंकी] कामना करने वालोंकेलिए जो [मथुरा धर्म, अर्थ, काम रूप] तीनों फलोंके देनेवाली है और जो मोक्ष चाहने वालोंको मोक्ष प्रदान करने वाली है तथा भक्ति चाहने वालोंको भक्ति प्रदान करने वाली है उस मथुराका सेवन कौन बुद्धिमान न करेगा । १८४ ।

अहो मथुरा नगरी धन्य और वैकुण्ठसे भी महत्त्वशालिनी है क्योंकि उसमें एक दिन भी रहनेसे कृष्णमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है । १८५ ।

इस प्रकार पहले कहे हुए ६४ भक्त्यङ्गोंका यहाँ तक सोदाहरण सविस्तार वर्णन हो गया । इन ६४ अङ्गोंमें भी १ श्रीमूर्ति, २ श्री भागवत, ३ कृष्णभक्त, ४ नाम और ५ मथुरामण्डल । इन पाँचका वैष्णव भक्तिमें सबसे अधिक महत्त्व है । इसलिए ग्रन्थकार इनपर विशेष बल देनेके लिए उनके विषयमें विशेषरूपसे अलग विवेचना आगे करते हैं ।

दुर्ज्ञेय एवं अद्भुत शक्ति शाली इन [आगे कहे जाने वाले] पांचोंमें श्रद्धा तो दूर रही तनिक-सा भी सम्बन्ध उत्तम बुद्धि वालोंमें भक्तिको उत्पन्न कर देता है ॥ ६३ ॥

तत्रश्रीमूर्त्तिर्यथा—

स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं-
वंशीन्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे! बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः ॥१८६॥

श्रीभागवतं यथा—

शङ्के नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां-
वर्णाः कर्णाध्वनि पथिकतामानुपूर्व्याद्भवद्भिः।
हंहो डिम्भाः! परमशुभदान् हन्तधर्मार्थकामान्
यद्गर्हन्तः सुखमयममी मोक्षमप्याक्षिपन्ति ॥१८७॥

कृष्णभक्तो यथा—

दृगम्भोभिर्धौतः पुलकपटलीमण्डिततनुः
स्खलन्नन्तःफुल्लो दधदतिपृथुं वेपथुमपि।
दृशोः कक्षां यावन्मम स पुरुषः कोऽप्युपययौ
न जाने किं तावन्मतिरिह गृहे नाभिरमते ॥१८८॥

नाम यथा—

यदवधि मम शीता वैणिकेनानुगीता
श्रुतिपथमघशत्रोर्नामगाथा प्रयाता।
अनवकलितपूर्वां हन्त कामप्यवस्थां-
तदवधि दधदन्तर्मानसं शाम्यतीव ॥१८९॥

उन पाँचमेंसे [सबसे प्रथम] श्रीमूर्ति [का उदाहरण] जैसे [आगे दिया जा रहा है]—

हे सखे! यदि तुम्हें अपने घर वालोंके साथ प्रेम है [तुम यदि उनके साथ रहना चाहते हो] तो केशिघाटके निकट मुस्कराते हुए, त्रिभंगीसे परिचित, तिरछी और दूर तक फैली हुई दृष्टि वाले, अधरपर बाँसुरी रखे हुए, और मोर-पंखके चन्द्रकसे चमकते हुए गोविन्द नामक विष्णुके शरीरको अब आगे मत देखना [नहीं तो तुम घर-वार सबकी सुधबुध भूलकर उनकी भक्तिमें ही लीन हो जाओगे]। १८६।

श्री भागवत [के महत्त्वका उदाहरण आगे देते हैं]—

अरे बच्चो! जान पड़ता है कि तुमने [भागवतके] दशम स्कन्धकी पद्यावलियोंके वर्णोंको आनुपूर्वीसे अपने श्रोत्रमार्गका पथिक बना लिया है इसलिए परम कल्याणप्रद धर्म, अर्थ और कामकी निन्दा करते हुए तुम सुखमय मोक्षका भी निरादर कर रहे हो। १८७।

कृष्णभक्त [की प्रशंसाका उदाहरण आगे देते हैं]—

आँसुओंसे धुले हुए, रोमांचसे शोभित, लड़खड़ाते हुए, भीतरसे खिले हुए और अत्यन्त तीव्र कम्प [आदि समस्त सात्त्विक भावों] को धारण किए हुए उस [भगवद्भक्त] पुरुषको जबसे देखा है तबसे न जाने क्यों मेरा मन घरमें नहीं लगता है। १८८।

नाम [के महत्त्वका उदाहरण] जैसे [आगे कहा है]—

जबसे बाँसुरीवालेके द्वारा गाई जानेवाली पापनाशक [भगवान्] की शीतल नामकी

श्रीमथुरामण्डलं यथा—

तटभुवि कृतकान्तिः श्यामलायास्तटिन्याः
स्फुटितनवकदम्बालम्बिकूजद्द्विरेफा ।
निरवधिमधुरिम्णा मण्डितेयं कथं मे
मनसि कमपि भावं काननश्रीस्तनोति ॥१६०॥

अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी ॥६४॥
भावं तद्विषयं चापि या सहैव प्रकाशयेत् ॥
केषांचित् क्वचिदङ्गानां यत्क्षुद्रं श्रूयते फलम् ॥६५॥
बहिर्मुखप्रवृत्त्यैतत् किन्तु मुख्यं फलं रतिः ॥
सम्मतं भक्तिविज्ञानां भक्त्यङ्गत्वं तु कर्मणाम् ॥६६॥

कथा कानोंमें पड़ी है तबसे किसी अनिर्वचनीय अभूतपूर्व अवस्थाको धारण करता हुआ मेरा मन एकदम शान्त-सा हो गया है । १८९ ।

श्री मथुरामण्डल [के माहात्म्यका प्रतिपादन] जैसा [नीचे किया जा रहा है]—

श्यामल [यमुना] नदीके किनारे सौन्दर्यको बरसाती हुई, खिले हुए कदम्बके ऊपर बैठकर गुञ्जारते हुए भौंरोंसे युक्त, अपरिमित माधुर्यसे मण्डित, यह वनश्री न जाने क्यों मेरे मनमें किसी [अनिर्वचनीय भक्ति] भावको उत्पन्न कर रही है । १९० ।

भक्त्यङ्गोंका फल—

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने ६४ प्रकारके वैधी भक्तिके अङ्गोंका बहुत अधिक विस्तारके साथ वर्णन किया है । अब वे संक्षेपमें इनके फलका प्रतिपादन अगली दो कारिकाओं में करते हुए उनकी सामर्थ्य तथा उपयोगिताका प्रदर्शन करते हैं—

[उपर्युक्त पाँचों] अलौकिक पदार्थोंकी इस प्रकारकी अचिन्त्य शक्ति है कि जिसके कारण वे भाव [भक्ति प्रेम] और उसके विषय [कृष्णके स्वरूप] दोनोंको एक साथ ही प्रकाशित कर देते हैं । [अर्थात् इन पाँचोंके द्वारा श्रीकृष्ण विषयक भक्तिका उदय और उनके स्वरूपका परिज्ञान दोनों एक साथ हो जाते हैं] ॥ ६४ ॥

[पूर्वोक्त ६४ प्रकारके भक्त्यङ्गोंमेंसे] किन्हीं भक्त्यङ्गोंका जो कहीं सूक्ष्म फल सुननेको मिलता है [अर्थात् कहा गया है] वह [उन साधनोंमें] बाहरी प्रवृत्ति [कराने]केलिए ही [कहा गया] है [वह उनका मुख्य प्रतिपाद्यफल नहीं है उनका]मुख्य फल तो[रति अर्थात्]भक्तिहै॥६५॥

कर्मकी भक्त्यङ्गता—

ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग नामसे जो तीन मख्य मार्ग माने जाते हैं उनमेंसे कर्म-सिद्धान्तका आधार मुख्यतः ब्राह्मण ग्रन्थ, ज्ञान-सिद्धान्तका आधार मुख्यतः उपनिषद ग्रन्थ और भक्तिसिद्धान्तका आधार मुख्यतः पुराणग्रन्थ हैं । पुराणवचनोंके आधारपर ही ग्रन्थकार ने अपने सारे सिद्धान्तोंका विवेचन यहाँ किया है । इनमेंसे कर्मकाण्डको तो भक्तिमार्ग वाले भक्ति-सिद्धान्तका अङ्ग मानते हैं । किन्तु ज्ञान और वैराग्यको वे भक्तिका अङ्ग नहीं मानते हैं । इस बातका प्रतिपादन ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार करते हैं—

भक्तिके पण्डित लोग कर्मोंको [अर्थात् कर्मकाण्डको] तो भक्तिका अंग मानते हैं ॥६६॥

यथा चैकादशे—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥१६१॥ इति,

ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ॥
ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः ॥६७॥
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते ॥
सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता ॥६८॥

यथा तत्रैव—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य त्यागिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥१६२॥ इति,

जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [लिखा है]—

तब तक [साधक] कर्म करता रहे जब तक [या तो] उसको वैराग्य न हो जाय [अर्थात् वैराग्य द्वारा जब तक ज्ञान मार्गके क्षेत्रमें न पहुँच जाय तब तक कर्म करता रहे। या फिर] भगवान्‌की कथा आदिके श्रवण करनेमें जब तक श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय [तब तक कर्म करता रहे]। १६१।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कर्मकाण्ड ज्ञान और भक्ति दोनोंका अङ्ग है। उसका स्वतन्त्र रूपसे महत्त्वपूर्ण उपयोग नहीं है। वह केवल बुद्धि-शुद्धि द्वारा ज्ञानमार्ग अथवा भक्तिमार्ग तक पहुंचनेका कार्य करता है।

ज्ञान और वैराग्यका उपयोग—

इस प्रकार कर्ममार्ग भक्तिमार्गका अङ्ग है इस बातको दिखलाकर अगली कारिकामें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि ज्ञान और वैराग्य भक्तिके किंचित पूर्व उत्पन्न होते हैं किन्तु वे कर्मकाण्डके समान भक्तिके अङ्ग नहीं हैं।

[भक्तिके अविरोधी होने पर] ज्ञान और वैराग्यकी, भक्तिमें प्रवेशकेलिए [ईषत्] कुछ थोड़ी सी उपयोगिता भी होती है किन्तु ['प्रथममेव' भक्तिके] पहिले ही होता है। इसलिए [कर्मके समान] उन दोनोंको अङ्ग मानना उचित नहीं है॥ ६७॥

ज्ञान और वैराग्यको भक्तिका अङ्ग नहीं माना जा सकता है इस बातके उपपादनके लिए ग्रन्थकार अगली कारिकामें एक सुन्दर युक्ति उपस्थित करते हैं—

क्योंकि [ज्ञान और वैराग्य] दोनोंको [क्रमशः कठिन तर्क-वितर्क और दुःख—बुद्धिसे उत्पन्न होनेके कारण] सज्जन लोग चित्तको कठोर बनाने वाला मानते हैं [इसलिए सुकुमार स्वभाववाली भक्तिकेप्रति उनकी अंगता उचित नहीं है] अपितु कोमल स्वभाववाली [पूर्ववर्तिनी] भक्ति ही [दुर्गम सङ्गमनीके अनुसार उत्तरवर्तिनी] भक्तिका हेतु मानी जाती है॥ ६८॥

जैसाकि वहीं [ग्यारहवें स्कन्धमें कहा है]—

इसलिए त्यागवान, भगवान्‌में लीन [मदात्मः], भक्तियुक्त [पुरुष] केलिए प्रायः ज्ञान और वैराग्य कल्याणप्रद नहीं होते हैं। १६२।

किं तु ज्ञानविरक्त्यादिसाध्यं भक्त्यैव सिध्यति ॥

तथा तत्रव—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यद् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥१६३॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वाञ्छति ॥१६४॥

रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः ॥६९॥
विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते ॥
अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ॥७०॥
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥
प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ॥७१॥

किन्तु ज्ञान और वैराग्यादिसे साध्य [फल, भक्तिमार्गावलम्बीको] भक्तिसे ही सिद्ध हो जाता है ।

जैसा कि वहीं [ग्यारहवें स्कन्धमें लिखा है]—

जो [फल यज्ञादि] कर्मोंसे, तपसे, [मिलता है अथवा] जो [फल] ज्ञान तथा वैराग्यसे योगसे, दान, धर्मसे अथवा अन्य शुभ मार्गों द्वारा प्राप्त होता है । १६३ ।

उस सबको भगवान्‌का भक्त [मद्भक्तः] भगवान्‌की भक्तिके द्वारा [मद्भक्तियोगेन] तुरन्त प्राप्त कर लेता है और स्वर्ग अपवर्ग या [मद्धाम] भगवान्‌के धाम आदिको यदि किसी प्रकारसे चाहता है तो [उस सबको भी भगवान्‌की भक्तिके द्वारा तुरन्त प्राप्त कर लेता है । वैसे वह भगवान्‌की भक्तिको छोड़कर अन्य किसी फलकी कामना करता ही नहीं है] । १६४ ।

भक्ति द्वारा रागका विनाश—

भगवान्‌के भजनमें रुचि रखने वाले पुरुषका विषयके प्रति प्रबल राग भी प्रायः समाप्त हो जाता है । ६९ ।

भक्तिमें वैराग्यकी अनुपयोगिता—

ऊपरकी कारिकामें यह दिखलाया था कि वैराग्य भक्तिका जनक नहीं होता है अपितु भक्ति द्वारा प्रबल वैराग्यका भी नाश हो जाता है अर्थात् भक्ति वैराग्यकी जननी होती है । यह दिखलानेके लिए ग्रन्थकार अगली कारिकाओंमें इस वैराग्यके १. युक्त-वैराग्य, तथा २. फल्गु वैराग्य [व्यर्थ वैराग्य] दो भेद करते हैं—

[विषयोंमें] आसक्तिरहित होकर उचित रीतिसे विषयोंका भोग करते हुए भगवान् [की भक्ति] के सम्बन्धमें विशेष आग्रहका होना युक्त-वैराग्य कहलाता है ॥ ७० ॥

मोक्ष प्राप्तिको इच्छा करने वालोंके द्वारा [प्रापंचिकतया] दिखावटी रूपसे [केवल] बुद्धि द्वारा भगवत्सम्बन्धी [अर्थात् भगवानकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाली अथवा देवप्रसाद आदि] का परित्याग फल्गु-वैराग्य कहलाता है ॥ ७१ ॥

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ।।
प्रोक्तेन लक्षणेनैव भक्तेरधिकृतस्य च ।।७२।।
अङ्गत्वे सुनिरस्तेऽपि नित्याद्यखिलकर्म्मणाम् ।।
ज्ञानस्याध्यात्मिकस्यापि वैराग्यस्य च फल्गुनः ।।७३।।
स्पष्टताऽर्थं पुनरपि तदेवेदं निराकृतम् ।।
धनशिष्यादिभिर्द्वारैर्या भक्तिरुपपाद्यते ।।७४।।
विदूरत्वादुत्तमताहान्या तस्याश्च नाङ्गता ।
विशेषणत्वमेवैषां संश्रयन्त्यधिकारिणाम् ।।७५।।

[ग्यारहवीं कारिकामें कहे हुए 'ज्ञान कर्माद्यनावृतं' आदि भक्तिके] पूर्वोक्त लक्षण और [द्वितीय लहरीकी पाँचवीं कारिकामें कहे हुए] अधिकारीके लक्षणोंके द्वारा ही नित्य [नैमित्तिक और काम्य] आदि सब प्रकारके कर्मोंकी [भक्तिके प्रति] अङ्गताका निराकरण हो जाने पर भी—आध्यात्मिक ज्ञान और फल्गु वैराग्यकी [जो भक्तिकी प्रति] अङ्गताका खण्डन किया गया है सो] यह उसी [पूर्व निराकृत अङ्गता] की स्पष्टताके लिए पुर्नानिराकरण किया गया है ।। ७२-७३ ।।

गौण भक्तिकी अङ्गताका निराकरण—

पिछली ६८वीं कारिकामें ग्रन्थकारने यह दिखलाया था कि ज्ञान और वैराग्य दोनों चित्तकी कठोरताके हेतु होते हैं इसलिए सकुमार स्वभाव वाली भक्तिके प्रति उनकी णङ्गता नहीं है। अर्थात ज्ञान और वैराग्यको भक्तिका जनक नहीं माना जा सकता है। किन्तु सकुमार स्वभाव वाली पूर्ववर्तिनी भक्ति ही उत्तरवर्तिनी भक्तिकी उद्बोधिका या जननी होती है। अब अगली कारिकामें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि कुछ भक्ति भी बनावटी अवास्तविक भक्ति होती हैं। उनको भी भक्तिका अङ्ग नहीं माना जा सकता है। इसमें धनादिके द्वारा या शिष्यादिके द्वारा जिस भक्तिका उपपादन अर्थात प्रसिद्धि कराई जाती है वह भी उत्तम भक्ति नहीं होती है इसलिए उसको भी भक्तिका अङ्ग नहीं कहा जा सकता है। इस बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

धन और शिष्य आदिके द्वारा जिस भक्तिका उपपादन [स्थापन प्रसिद्धि] कराया जाता है [उसके वास्तविक भक्तिसे] दूर होने और उत्तम श्रेणीसे गिर जानेसे उसकी भी भक्तिके प्रति अङ्गता नहीं होती हैं ।। ७४ ।

क्योंकि [वेदान्तमें] इन विवेक आदि [अर्थात् १ नित्यानित्यवस्तु विवेक, २ इहामुत्र फल भोग विराग, ३ शमादिषट्क सम्पत्ति और ४ मुमुक्षुत्व] को अधिकारीका विशेषण ही कहा गया है अतः [हमने] इनको भी [भक्तिका] अङ्ग नहीं कहा है ।। ७५ ।।

यम-नियमादिकी अङ्गताका निवारण—

जिस प्रकार ज्ञान और वैराग्यको भक्तिका अङ्ग नहीं माना गया है इसी प्रकार भक्ति सम्प्रदायमें यम-नियम आदि योगाङ्गोंको भी भक्तिका अङ्ग नहीं माना गया है। भक्ति वादियोंका कहना यह है कि यम-नियम आदि तो भक्तके पीछे स्वयं भागते हैं भक्तको उनके

विवेकादीन्यतोऽमीषामपि नाङ्गत्वमुच्यते ॥
कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयस्तथा ॥७६॥
इत्येषां च न युक्ता स्याद्भक्त्यङ्गान्तरपातिता ॥

यथा स्कान्दे—

एते न ह्यद्भुता व्याध ! तवाहिंसाऽऽदयो गुणाः ।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥१९५॥

तत्रैव—

अन्तःशुद्धिर्बहिःशुद्धिस्तपः शान्त्यादयस्तथा ।
अमी गुणाः प्रपद्यन्ते हरिसेवाऽभिकामिनम् ॥१९६॥ इति,

सा भक्तिरेकमुख्याङ्गाश्रितानैकाङ्गिकाऽथ वा ॥७७॥
स्ववासनाऽनुसारेण निष्ठातः सिद्धिकृद्भवेत् ॥

तत्रैकाङ्गा यथा ग्रन्थान्तरे—

सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती है इसलिए उनको भी भक्तिका अङ्ग नहीं माना जा सकता है । इसी वातको ग्रन्थकार ने अगली कारिकामें इस प्रकार लिखा है—

और [अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः] यम और [शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः] शौचादि [नियम] कृष्ण [की भक्ति] में लगे हुएके पास स्वयं ही जाते हैं इसलिए इनकी भी भक्तिके अङ्गोंके भीतर गणना करना उचित नहीं है ॥७६॥

जैसाकि स्कन्दपुराणमें [कहा है]—

हे व्याध ! ये अहिंसा आदि [यम नियमात्मक] गुण उन [भक्तों] में नए नहीं हैं क्योंकि जो भगवान्‌की भक्तिमें लीन हैं वे दूसरोंको दुःख देने वाले [हिंसक या मिथ्याभाषी आदि यम नियमोंका उल्लंघन करने वाले] नहीं होते हैं । १९५ ।

वहीं [अर्थात् स्कन्दपुराणमें ही यह भी कहा है कि]—

आन्तरिक शुद्धि, बाह्यशुद्धि, तप तथा शान्ति आदि ये सब गुण भगवान्‌की भक्तिको चाहने वालोंको [स्वयं ही] प्राप्त हो जाते हैं । १९६ ।

भक्तिकी एकाङ्गता और अनेकाङ्गता—

ऊपर ग्रन्थकारने वैधी भक्तिके ६४ अङ्गोंका वहुत विस्तारके साथ विवेचन किया था और यह भी कहा था कि इनके अतिरिक्त भक्तिके और भी वहुतसे अङ्ग हो सकते हैं । किन्तु सव जगह सारे अङ्गोंके उपयोगकी आवश्यकता नहीं पड़ती है । कहीं केवल एक मुख्य अङ्गके आश्रयसे फलकी प्राप्ति हो जाती है और कहीं अनेक अङ्गोंका उपयोग भी होता है । अगली कारिकामें ग्रन्थकार इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन कर उदाहरणों द्वारा उसको स्पट करने का यत्न करते हुए लिखते हैं—

वह भक्ति [साधककी] अपनी वासनाओंके अनुरूप श्रद्धाके अनुसार कहीं केवल एक मुख्य अंगके द्वारा अथवा कहीं अनेक अवान्तर अंगोंके योग द्वारा सिद्धिको प्रदान करानेवाली होती है ॥ ७७ ॥

उनमें [केवल] एक अंग वाली [भक्तिके सिद्धिप्रदत्वका उदाहरण] जैसे दूसरे ग्रन्थमें

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम् ॥१६७॥

अनेकाङ्गा यथा श्रीनवमे—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥१६८॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥१६६॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥२००॥ इति

शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्य्यादयाऽन्विता ॥७८॥
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते ॥

[निम्न श्लोक पाया जाता है]—

श्री विष्णुके [केवल] श्रवणमात्रसे परीक्षित्, [केवल] कीर्तनमात्रसे [व्यासके पुत्र] शुकदेव, स्मरणमात्रसे प्रह्लाद, उनके चरणोंके सेवनसे लक्ष्मी, पूजनसे पृथु, अभिवादनसे अक्रूर, हनुमान दास्यमें, सख्यमें अर्जुन और अपने सर्वस्व समर्पणमें बलि [प्रसिद्ध हो गए हैं] उनको कृष्णकी प्राप्ति रूप परं फलकी प्राप्ति हुई है। १६७।

अनेक अंगों वाली भक्तिके [फलप्रदत्वका उदाहरण] जैसे नवम स्कन्धमें [लिखा है]—

उसने मनको कृष्णके चरण-कमलोंमें, वाणीको कृष्णके गुणोंके वर्णनमें, हाथोंको कृष्ण मन्दिरमें झाड़ू लगाने आदिमें, और कानोंको विष्णुकी कथाके सुननेमें लगाया। १६८।

कृष्ण-मन्दिरके दर्शनमें नेत्रोंको, उनके भक्तोंके शरीरके स्पर्श करनेमें अंगके संगको [अर्थात् त्वागिन्द्रियको] उनके चरण-कमलोंके सौरभके ग्रहणमें घ्राणेन्द्रियको उनके अर्पित किए हुए श्रीमती तुलसी [के पत्रादि भाग] में रसनाको [लगाया]। १६६।

पैरोंको कृष्णके क्षेत्र [मथुरा] में चलनेमें, शिरको कृष्णके चरणोंकी वन्दनामें, इच्छा को उनके दास्यमें [लगाया], क्योंकि [उत्तम श्लोक अर्थात्] कृष्णके भक्तोंका प्रेम फलकी कामनासे नहीं होता है [अर्थात् भक्तिसिद्धान्तके अनुसार फल-कामनासे नहीं अपितु निष्काम भावसे ही भक्तिकी सिद्धि होती है। २००।

वैधी भक्तिका 'मर्यादामार्ग' नाम—

शास्त्रोंमें कही हुई उस प्रबल मर्यादासे युक्त होनेके कारण इस वैधी भक्तिको कुछ लोग मर्यादा-मार्ग [नामसे] भी कहते हैं ॥ ७८ ॥

२. रागानुगा भक्ति—

इस द्वितीय लहरीके आरम्भमें ग्रन्थकारने साधनभक्तिके (१) वैधी-भक्ति और (२) रागानुगा भक्ति दो भेद किए थे। इनमेंसे वैधी भक्तिका यहाँ तक अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन कर दिया। अब साधन भक्तिका दूसरा भेद 'रागानुगा भक्ति' शेष रह जाता है।

अथ रागानुगा—

विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु ॥७९॥
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ।
रागानुगाविवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते ॥८०॥
इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ॥८१॥
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा ।

तथा हि सप्तमे—

कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथाभक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥२०१॥

उसका विवेचन यहाँसे आरम्भ करते हैं। वैधी-भक्ति और रागानुगा-भक्ति ये दोनों साधन-भक्तिके भेद हैं। इस साधनभक्तिसे सिद्ध होने वाली 'भावभक्ति' या 'रागात्मिकाभक्ति' होती है। उस भावभक्ति या रागात्मिकाभक्तिका वर्णन आगे तृतीय लहरीमें करेंगे। किन्तु यहाँ कही जाने वाली 'रागानुगा' रूप साधनभक्ति आगे कही जाने वाली 'रागात्मिका' या 'भावभक्ति'के ऊपर आश्रित या उससे सम्बद्ध होती है। इसलिए 'रागात्मिका'का सामान्य परिचय करानेके बाद ही 'रागानुगा' का विषय ठीक तरहसे समझमें आ सकता है। इसलिए ग्रन्थकार 'रागानुगा' के आरम्भमें 'रागात्मिका' साध्यभक्तिका थोड़ा-सा परिचय देकर तब उससे सम्बद्ध 'रागानुगा' भक्तिका निरूपण करेंगे। इसी अभिप्रायको बतलाते हुए ग्रन्थकार अगली तीन कारिकायें यहाँ लिखते हैं—

ब्रजवासी [गोपिका आदि रूप] जनोंमें स्पष्ट रूपसे विराजमान रागात्मिका [भावरूपा साध्य] भक्तिका अनुकरण करने वाली जो [साधनरूपा] भक्ति है वह [रागात्मिकाका अनुसरण करनेके कारण] 'रागानुगा' [भक्ति] कहलाती है ॥ ७९ ॥

[उस] 'रागानुगा'के स्पष्ट रूपसे समझानेकेलिए पहले [उसकी आधारभूत] 'रागात्मिका' [अर्थात् आगे कही जानेवाली भावभक्तिका निरूपण करते हैं ॥ ८० ॥

इष्ट [अर्थात् श्रीकृष्ण]में स्वाभाविक रूपसे परम आकर्षणका नाम 'राग' है। जो भक्ति उससे युक्त [रागमयी रागप्रधान] हो उसको 'रागात्मिका' [भक्तिके नामसे] कहा जाता है। [उसका विशेष वर्णन आगे किया जायगा] ॥ ८१ ॥

किन्तु संक्षेपमें उसके दो भेद होते हैं। उनको आगे कहते हैं।

वह [रागात्मिका भक्ति] १. कामरूपा और २. सम्बन्धरूपा दो प्रकारकी होती है।८१।

जैसाकि सप्तम स्कन्धमें [निम्न श्लोकसे प्रतीत होता है]—

कामसे, द्वेषसे, भयसे अथवा स्नेहसे जिस प्रकारकी भी हो भक्तिसे ईश्वरमें मनको लगा कर [अर्थात् किसी भी रूपमें ईश्वरका चिन्तन कर] उन [काम, भय आदि]के पापको छोड़कर बहुतसे [लोग] उस परम गतिको प्राप्त हो गए। २०१।

इस प्रकार काम, भय द्वेष आदिसे परम-गतिकी प्राप्तिको उदाहरणों द्वारा दिखलाते हैं—

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्ययं भक्त्या वयं विभो ! ॥२०२॥ इति

आनुकूल्यविपर्यासाद् भीतिद्वेषौ पराहतौ ॥८२॥
स्नेहस्य सख्यवाचित्वाद्वैधभक्त्यनुवर्त्तिता ।
किं वा प्रेमाभिधायित्वान्नोपयोगोऽत्र साधने ॥८३॥
भक्त्या वयमिति व्यक्तं वैधी भक्तिरुदोरता ।

कामसे गोपियों, भयसे कंस, द्वेषसे शिशुपाल आदि राजा, सम्बन्धसे यादवगण, स्नेहसे आप लोग और भक्तिसे हम [परमगतिको प्राप्त हुए] । २०२ ।

छः मेंसे दो—

सप्तम स्कन्धसे यहाँ जो दो श्लोक उद्धृत किए हैं उनमें १. काम, २. द्वेष, ३. भय, ४. स्नेह, ५. सम्बन्ध और ६. भक्ति इन छः के उदाहरण दिए हैं । किन्तु ऊपरकी ८२वीं कारिकामें रागात्मिका भक्तिके भेद दिखलाते हुए इन छः मेंसे केवल १. काम और २. सम्बन्ध इन दोका ही ग्रहण किया गया है । शेष चारको छोड़ दिया गया है । इस भेदका रहस्य ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें बतलाते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि भय और द्वेष तो भक्तिके मूल लक्षणके ही विपरीत जाते हैं । क्योंकि भक्ति आनुकूल्यका नाम है । भय और द्वेष दोनों इस आनुकूल्यके विपरीत हैं । अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है । स्नेह या तो सख्यभाव रूप होनेसे वैधी भक्तिमें आ जाता है या फिर प्रेमका वाचक होनेसे आगे कही जानेवाली साध्यरूपा भक्तिमें आता है । उस दशामें यहाँ साधनभक्तिके प्रसङ्गमें उसकी भी गणना नहीं की जा सकती है । इसलिए इन तीनोंका ग्रहण यहाँ 'रागात्मिका' के भेदोंमें नहीं किया है । और यहाँ जो 'भक्त्या वयं' लिखकर भक्तिका कथन किया है सो वह वैधी भक्तिका ग्राहक है । इसलिए उसका भी रागात्मिका भक्तिके प्रसङ्गमें ग्रहण उचित नहीं है । इसलिए रागात्मिका भक्तिके छः भेद न होकर केवल कामरूपा और सम्बन्धरूपा ये दो ही भेद होते हैं । इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकाओंमें निम्न प्रकारसे लिखते हैं—

आनुकूल्य [रूप भक्ति-लक्षण] के विपरीत होनेसे भय और द्वेष इन दोनोंका निराकरण हो जाता है [अर्थात् उन दोनोंको रागात्मिका भक्तिके भेदोंमें नहीं गिना जा सकता है] ॥ ८२ ॥

स्नेह [शब्दके] के [सामान्यतः] सख्यभाववाचक होनेसे [उसका] वैधभक्तिमें अंतर्भाव होता है । अथवा [दूसरे पक्षमें स्नेह शब्द] प्रेमका वाचक होनेसे यहाँ साधनभक्तिमें उसका उपयोग नहीं है [इसलिए उसको रागात्मिका भक्ति [साध्यरूप] में नहीं गिना है] ॥ ८३ ॥

और [सप्तम स्कन्धसे उद्धृत किए हुए पिछले २०२ उदाहरणमें] 'भक्त्या वयम्' इस [वचन] से स्पष्ट रूपसे वैधी भक्तिका ही कथन किया गया है । [इसलिए उसको भी रागात्मिका भक्तिके भेदोंमें नहीं गिना जा सकता है । इस प्रकार छः मेंसे चारका निराकरण हो जानेसे रागात्मिका भक्तिके केवल १. कामरूपा तथा २. सम्बन्धरूपा दो ही भेद किए गए हैं] ।

यदरीणां प्रियाणां च प्राप्यमेकमिवोदितम् ॥८४॥

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्किरणार्कोपमाजुषोः ।

ब्रह्मण्येव लयं यान्ति प्रायेण रिपवो हरेः ॥८५॥

केचित्प्राप्यापि सारूप्याभासं मज्जन्ति तत्सुखे ।

तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—

सिद्धलोकास्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि ।
सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा हताः ॥२०३॥ इति

रागबन्धेन केनापि तं भजन्तो व्रजन्त्यमी ॥८६॥

अङ्घ्रिपद्मसुधाः प्रेमरूपास्तस्य प्रिया जनाः ।

तथा हि श्रीदशमे—

ब्रह्म और कृष्णका सम्बन्ध—

ज्ञानमार्गके अनुयायी वेदान्ती ब्रह्मभावकी प्राप्तिको जीवनका लक्ष्य मानते हैं और भक्तिमार्गके अनुयायी कृष्णको अपने जीवनका ध्येय मानते हैं। कृष्णको यदि ब्रह्मस्वरूप ही माना जाता है तो ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी दोनोंका अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है। फिर उन दोनोंमें क्या भेद रहता है? यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसलिए ग्रन्थकारने अगली कारिकामें स्वयं इस प्रश्नको उठाकर उसका समाधान करनेका यत्न किया है। समाधानका आशय यह है कि उन्होंने कृष्णको सूर्य-तुल्य तथा ब्रह्मको उसकी किरणोंके सदृश मानकर उनमें कथंचित भेद प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भक्तिमार्गमें ब्रह्मकी अपेक्षा भी कृष्णकी ज्येष्ठता सिद्ध करनेका यत्न किया गया है।

जो [कंस, शिशुपाल आदि] अरियों और [गोपी आदि] प्रियों, दोनोंके प्राप्य एक ही [कृष्ण] का कथन [ऊपर उद्धृत २०१-२०२ संख्यावाले श्लोकोंमें] किया गया है वह किरणों और सूर्यके समान ब्रह्म तथा कृष्णके अभेदके कारण किया गया है ॥ ८४ ॥

इसमें ब्रह्मको किरण रूप और कृष्णको सूर्य रुप बतलाकर कृष्ण और ब्रह्मका अभेद मानकर भी कृष्णको ब्रह्मकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देनेका यत्न किया गया है।

कृष्णके शत्रु [शत्रुके नाते ही निरन्तर उनका चिन्तन करते हुए] प्रायः ब्रह्ममें ही लय को प्राप्त होते हैं और कोई [कृष्णके] सारूप्याभासको प्राप्त करके भी उसी [सारूप्य सुखमें] में मग्न हो जाते हैं। [अर्थात् भक्तिको भूलकर निम्न कोटिका फल पाते हैं] ॥ ८५ ॥

जैसा कि ब्रह्माण्डपुराण [के निम्न श्लोक] में कहा है—

तमोगुण [प्रकृति] के परे सिद्ध लोक हैं जहाँ ब्रह्मसुखमें निमग्न सिद्ध लोग और विष्णु द्वारा मारे गए दैत्य लोग निवास करते हैं [अर्थात् ज्ञानमार्गी सिद्ध, कृष्ण शत्रुओंके बराबर ठहरते हैं। यह स्पष्ट रूपसे ज्ञानमार्गकी निन्दा है। २०३।

किसी अनिर्वचनीय रागविशेषसे उन [भगवान्] का भजन करते हुए भगवान् के प्रियजन, ये भक्त उनके प्रेममय चरण-कमलोंके माधुर्यको प्राप्त करते हैं ॥ ८६ ॥

जैसाकि दशम [स्कन्ध] में [कहा है]—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्-
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ॥२०४॥
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो-
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२०५॥ इति

तत्र कामरूपा—

सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम् ॥८७॥
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ।
इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते ॥८८॥
आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम् ।
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात्काम इत्युच्यते बुधैः ॥८६॥

तथा च तन्त्रे—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ॥२०६॥ इति

वायुके समान [वेगवान्] मनका निरोध करने वाले और दृढतापूर्वक इन्द्रियोंको वशमें करने वाले मुनिगण अपने हृदयमें जिस [ब्रह्म] की उपासना करते हैं [कृष्णके कंसादि] शत्रु भी [प्रतिकूल भावसे ही सही] उनके स्मरणसे उस [ब्रह्म] को प्राप्त हो जाते हैं । २०४ ।

और शेषनागके फणके समान भुजदण्ड वाले [कृष्ण] में मनको लगाकर स्त्रियाँ [अर्थात् व्रजगोपियाँ भी उसको प्राप्त कर लेती हैं] और उन [व्रजगोपियों] के समान स्वभाव वाले हम भी उनके समान [कृष्णके] चरण-कमलोंके अमृतको प्राप्त करते हैं ।२०५।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने आगे कही जाने वाली 'रागात्मिका भक्तिके कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा दो भेद, उसके सामान्य परिचयके लिए कराए हैं । आगे इन दोनों भेदोंका भी थोड़ा-सा विवेचन इसलिए करते हैं जिससे 'रागानुगा' भक्तिको समझनेमें सहायता मिल सके ।

उनमेंसे कामानुगा [भक्तिका लक्षण आदि आगे करते हैं]—

जो [गोपियों आदिकी] सम्भोग-तृष्णाको अपना [अर्थात् भक्तिका] अंग बना लेती है वह कामरूपा [भक्ति] कहलाती है । क्योंकि उसमें [काम-तृष्णाके द्वारा अपने सुखकी प्राप्तिके लिए नहीं अपितु] केवल कृष्णके सुखके लिए ही यत्न किया जाता है । [अतः उसको 'काम' न कहकर 'कामरूपा-भक्ति' कहा जाता है] ॥ ८७ ॥

यह [कामरूपा भक्ति केवल] व्रजगोपियोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध रूपमें पाई जाती है ॥ ८८ ॥

उन [व्रजगोपियों] का यह विशेष प्रेम किसी [अनिर्वचनीय] माधुरीको प्राप्त होकर उस-उस प्रकारकी [काम-] क्रीडाओंका हेतु बन जाता है इसीलिए विद्वानोंने उस [प्रेमविशेष] को 'काम' इस नामसे कहा है ॥ ८६ ॥

जैसा कि तन्त्रमें [कहा है]—

गोपियोंका प्रेम ही 'काम' इस नामसे प्रसिद्ध हो गया है । २०६ ।

इत्युद्धवादयोऽप्ययेतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः ।
कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता ॥९०॥

सम्बन्ध रूपा—

सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता ।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लवा मताः ॥९१॥
यदैश्यर्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता ।
कामसम्बन्धरूपे ते प्रेममात्रस्वरूपके ॥९२॥
नित्यसिद्धाश्रयतया नात्र सम्यग्विचारिते ।
रागात्मिकाया द्वैविध्याद् द्विधा रागानुगा च सा ॥९३॥
कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते ।

तत्राधिकारी—

रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासिजनादयः ॥९४॥

इसलिए भगवान्‌के प्रिय उद्धवादि भी [केवल कृष्णकी सौख्यमयी] इस [कामरूपा भक्ति] को चाहते हैं। किन्तु काम-प्रधान रति तो केवल कुब्जामें ही मानी जाती है ॥९०॥

अब [रागात्मिकाके द्वितीय भेद] सम्बन्धरूपा [को कहते हैं]—

कृष्णके प्रति पितृत्व आदिके अभिमानको 'सम्बन्धरूपा' [भक्ति] कहते हैं। [भक्तिके उदाहरण रूपमें दिए हुए श्लोक संख्या २०२ में 'सम्बन्धाद् वृष्णयः'] इसमें वृष्णियोंके उपलक्षण रूप होनेसे [नन्द आदि] अहीर [भी सम्बन्धरूपा भक्तिके उदाहरण] माने जाते हैं ॥९१॥

क्योंकि [कृष्णमें] ईश्वरत्व बुद्धि न होनेसे इनकी [पितृत्वादि रूपेण] रागमें ही प्रधानता है। [इसलिए वे सम्बन्धरूपा भक्तिके प्रसिद्ध आश्रय माने जाते हैं]।

कामरूपा और सम्बन्धरूपा वे दोनों [भक्ति भेद] प्रेममात्र स्वरूप वाले [भावरूपा भक्तिके अन्तर्गत] है, उनका आश्रय नित्य सिद्ध [व्रजेश्वर आदि] होनेसे यहाँ [साधनरूपा भक्तिके प्रसंगमें] उनका [विशेष] विचार नहीं किया गया हैं ॥ ९२ ॥

रागानुगाभक्ति—

इस प्रकार 'रागात्मिका भक्ति' का प्रसङ्गतः थोड़ा-सा विवेचन करके अब प्रकृत विषय 'रागानुगा-भक्ति' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है रागानुगा-भक्ति रागात्मिका भक्तिका अनुगमन करती है। रागात्मिकाके ऊपर आश्रित होती है। इसलिए जैसे रागात्मिका भक्तिके १. कामरूपा और २. सम्बन्धरूपा दो भेद दिखलाए थे इसी प्रकार उसके ऊपर आश्रित रहने वाली रागानुगा-भक्तिके भी ये दोनों भेद होते हैं इस बातको अगली कारिकामें निम्न प्रकार कहते हैं—

[पूर्वोक्त] रागात्मिका [भक्ति] के दो भेद होनेसे [उसके ऊपर आश्रित रहनेवाली, उसका अनुगमन करनेवाली] रागानुगाके भी कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा दो भेद कहे जाते हैं ॥९३॥

उस [रागानुगा भक्ति] के अधिकारी—

[आगे कही जाने वाली] रागात्मिका [भक्ति] में ही [सर्वात्मना] निरत जो व्रजवासी

तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान् ।
तत्तद्भावादिमाधुर्य्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ॥६५॥
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम् ।
वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधिः ॥६६॥
अत्र शास्त्रं तथा तर्कमनुकूलमपेक्षते ।
कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम् ॥६७॥
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्य्याद्वासं व्रजे सदा ।
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ॥६८॥
तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारतः ।
श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु ॥६९॥
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः ।

जन आदि [रागात्मिकाके अधिकारी] हैं उनका स्वरूप [या प्रेम] प्राप्त करनेके लोभी यहाँ [अर्थात् रागानुगा भक्ति] में अधिकारी हो सकते हैं ॥ ६४ ॥

रागात्मिका भक्तिके आश्रयभूत व्रजवासी जनोंमें जो कृष्णके प्रति प्रेम पाया जाता है उसके प्राप्त करनेका लोभ जिसमें हो उसको रागानुगा भक्तिका अधिकारी कहा गया है। किन्तु यह प्रेम किस व्यक्तिमें है किसमें नहीं इसकी पहिचान कैसे की जाय इसके बतलानेके लिए ग्रन्थकार अगली कारिकामें उसका लक्षण लिखते हैं—

[गोपिका आदिके] उस-उस भावादिके माधुर्यको सुनकर जब बुद्धि उसके विषयमें किसी शास्त्र या युक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं करती है [तुरन्त उसपर विश्वास कर तत्पर हो जाती है] यही लोभोत्पत्तिकी पहिचान [लक्षण] है ॥ ६५ ॥

वैध भक्तिका अधिकारी तो जब तक उसमें स्वयं प्रेम उत्पन्न नहीं होता है तब तक [इस प्रकारकी बातोंपर सहसा विश्वास नहीं करता है अपितु] इस विषयमें शास्त्र तथा तर्कको अपेक्षा करता है ॥ ६६ ॥

वह [सम्बन्धरूपा भक्तिका अधिकारी] कृष्णका, और अपने अभिमत कृष्णके अत्यन्त प्रियजनका स्मरण करता हुआ और उनकी कथामें निरत होकर सदा व्रजमें निवास करे ॥ ६५ ॥

उस [कृष्ण अथवा व्रजमें स्थित अपने अभीष्ट, कृष्णके प्रियजन] के भाव [रतिविशेष अनुरागविशेष] को प्राप्त करनेके लोभीको व्रजलोक [की प्रथा] के अनुसार साधक रूपसे [अर्थात् अपने शरीरसे] तथा सिद्ध रूपसे [अर्थात् मनमें कल्पित अभीष्ट और उसके सेवोपयोगी देहसे] यहाँ सेवा करनी चाहिए। [यह व्याख्या दुर्गमसंगमिनीकारने की है ॥ ६८ ॥

और वैध भक्तिमें कहे हुए श्रवण, कीर्तन आदि जो अंग हैं उनको यहाँ [अर्थात् सम्बन्धरूपा रागानुगा भक्तिमें] भी समझना चाहिए ॥ ६९ ॥

इस प्रकार ग्रन्थकारने रागात्मिका भक्तिके अनुसार रागानुगा भक्तिके भी कामनुगा

तत्र कामानुगा—

कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी ।।१००।।
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छाऽऽत्मेति सा द्विधा ।
केलितात्पर्यवत्येव सम्भोगेच्छामयी भवेत् ।।१०१।।
तद्भावेच्छाऽऽत्मिका तासां भावमाधुर्य्यकामिता ।
श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीलां निशम्य वा ।।१०२।।
तद्भावाकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषु साधनताऽनयोः ।
पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम् ।।१०३।।

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः ।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् ।।२०७।।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले ।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ।।२०८।। इति

और सम्बन्धानुगा दो भेद किए हैं। और उसके अधिकारीका वर्णन यहाँ तक कर दिया है। अब आगे वह क्रमशः कामानुगा तथा सम्बन्धानुगा रूप साधनभक्तिका वर्णन करते हैं।

उनमेंसे कामानुगा [साधनभक्तिका लक्षण आदि आगे करते हैं]—

कामरूपा [साध्यभक्ति] का अनुगमन करनेवाली तृष्णा कामानुगा [साधनभक्ति कहलाती] है। वह भी १. सम्भोगेच्छामयी और २. तद्भावेच्छात्मिका दो प्रकारकी होती है ।।१००।।

सम्भोगेच्छामयी [कामानुगा साधनभक्ति] का तात्पर्य [मुख्य रूपसे] केलि क्रीडामें होता है और तद्भावेच्छात्मिका [कामानुगा साधनभक्ति] उन [व्रजगोपियों] के प्रेमके माधुर्यको प्राप्त करनेकी इच्छा वाली होती है ।। १०१ ।।

कामानुगाके अधिकारी—

श्रीमूर्तिकी माधुरीको देखकर और उनकी लीलाओंको सुनकर जो तद्भाव [अर्थात् उनके प्रेम या तद्रूपताकी प्राप्तिके इच्छुक हो जाते हैं उनके प्रति इन दोनों [प्रकारकी कामानुगा साधनभक्तियों] की साधनता होती है [अर्थात् दोनों प्रकारकी कामानुगा साधनभक्तिके अधिकारी वे लोग होते हैं जिनके मनमें कृष्णमूर्तिके माधुर्यको देखकर या कृष्णकी मधुर लीलाओंको सुनकर उनका प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। वे अधिकारी पुरुष और स्त्री दोनों हो सकते हैं। इस बातको अगली कारिका में लिखते हैं] ।। १०२ ।।

पद्मपुराणमें सुना जाता है कि यह [कामानुगा साधनभक्ति [केवल स्त्रियोंमें ही नहीं किन्तु] पुरुषोंमें भी होती है ।। १०३ ।।

[पद्मपुराणसे इसका उदाहरण आगे प्रस्तुत करते हैं]—

पूर्वकालमें दण्डकारण्यमें रहनेवाले सारे महर्षिगणने सुन्दर शरीरवाले रामरूप विष्णु को देखकर [स्वयं स्त्री बनकर] उनका भोग करना चाहा। २०७।

और [उसके फलस्वरूप] वे सब स्त्रीत्वको प्राप्त कर गोकुलमें [स्त्रीरूपमें] उत्पन्न हुए और कामके द्वारा हरिको प्राप्त करके संसार सागरसे पार उतर गए। २०८।

रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते ।
केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात्पुरे ॥१०४॥

तथा च महाकौर्मे—

अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे ।
भर्त्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् ॥२०६॥ इति ।

अथ सम्बन्धानुगा—

सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि ।
या पितृत्वादिसम्बन्धमननारोपणात्मिका ॥१०५॥
लुब्धैर्वात्सल्यसख्यादौ भक्तिः कार्य्याऽत्र साधकैः ।
व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया ॥१०६॥

जो [पुरुष या स्त्री अपनी कृष्णके साथ] रमणकी इच्छाको [प्रेमके योगसे] शुद्ध बनाकर [उनमें गोपीकान्तत्व या महिषीकान्तत्वकी भावना द्वारा] विधिमार्गसे उसका सेवन करता है वह [व्रजवासित्वादि सम्बन्धके बिना] केवल उससे ही स्वर्गलोकमें [कृष्णके] महिषी भावको प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

जैसाकि महाकूर्मपुराणमें लिखा है]—

अग्निके पुत्र महात्मागण तपके द्वारा स्त्रीत्वको प्राप्त हुए और उन्होंने अपने पतिके रूपमें जगत्के कारण सर्वव्यापक वासुदेवको प्राप्त किया । २०६ ।

कामवासनाका परिष्कार—

ग्रन्थकारने यहाँ तक जो भक्तिके भेद किए हैं उनमेंसे साधनभक्तिमें कामानुगा नाम से तथा साध्यभक्तिमें कामरूपा नामसे भक्तिके भेदोंका उल्लेख किया है और उसका पर्याप्त विस्तारके साथ विवेचन किया है । ग्रन्थकारने अपने भक्तिसिद्धान्तकी विवेचना पुराणोंके आधारपर की है और उनके अनुसार ही भक्तिके कामानुगा तथा कामरूपा ये दोनों भेद भी किए हैं । इन भेदोंके द्वारा भक्ति सम्प्रदायके आचार्योंने कामको परिष्कृत कर उदात्त रूप प्रदान करनेका यत्न किया है । परन्तु फिर भी वह वाँछनीय और रुचिकर प्रतीत नहीं होता है । किसी स्त्रीको परपुरुषके साथ फिर चाहे वह साक्षात् भगवान ही क्यों न हो सम्भोगेच्छा शोभनीय नहीं है । आदर्श नहीं है । ऋषिगणोंकी रामके साथ सम्भोगकी इच्छा और भी अधिक अशोभनीय है । इस प्रकारकी कामवासनाओंका विशुद्ध भगवद्-भक्तिके साथ कोई मेल नहीं है । इसलिए कामानुगा और कामरुपा भेदोंके समावेशसे कामवृत्तिका तो उदात्तीकरण हुआ ही नहीं उलटे भक्तिके उदात्त स्वरूपका अपकर्ष अवश्य हो गया है ।

अब सम्बन्धानुगा [साधनभक्तिका लक्षण आदि आगे प्रारम्भ करते हैं]—

[अपने भीतर कृष्णके] पितृत्व आदिके मनन तथा आरोपण रूप जो भक्ति है उसको सज्जन लोग 'सम्बन्धानुगा' [नामक साधनभक्ति] कहते हैं ॥ १०५ ॥

[कृष्णके प्रति] वात्सल्य सख्य आदि [भाव] के लोभी साधकोंको व्रजराज, सुबल आदिके प्रेम तथा चेष्टाओंकी तरहसे [अर्थात् स्वयं अपनेमें वास्तविक पितृत्वादिकी कल्पना न करके आरोपित पितृत्वादि रूपमें] उस [सम्बन्धरूपा] भक्तिको यहाँ करना चाहिए ॥१०६॥

दुर्गमसंगमनीकारने यहाँ यह लिखा है कि पितृत्वादिका अभिमान दो प्रकाका हो सकता है। एक तो उनके पिता आदिके साथ अभेद कल्पना द्वारा और दूसरा स्वतन्त्र रूपसे। उनमेंसे कृष्णके पिता आदिके साथ अभेद भावनासे अर्थात् अपनेको कृष्णके पिताके साथ अभिन्न मानकर अपनेमें कृष्ण-पितृत्वका अभिमान करना अनुचित है। क्योंकि जैसे अपनेको भगवानसे अभिन्न मानकर अर्थात 'मैं स्वयं भगवान हूं' इस रूपमें भगवदुपासना निन्दित मानी गई है। इसी प्रकार उनके पिता आदिके साथ अपना अभेद मानकर पितृत्वादिकी भावना अनुचित है। इसलिए यहाँ कृष्णके पिता आदिके साथ अभेद भावनासे नहीं अपितु स्वतन्त्र रूपसे कृष्णके पितृत्वादिकी भावना द्वारा की जाने वाली भक्ति 'सम्बन्धरूपा-भक्ति' कहलाती है। यह दुर्गमनसंगमनीकारका अभिप्राय है। अपने इस अभिप्रायको उन्होंने निम्न शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। इस कारिकाकी टीका करते हुए दुर्गमसंगमनीकार श्री जीव-गोस्वामी महोदयने लिखा है कि—

"व्रजेन्द्रेति। न तु व्रजेन्द्रादित्वाभिमानेनापीत्यर्थः। पितृत्वाद्यभिमानो हि द्विधा सम्भवति। स्वतन्त्रत्वेन, तत्पित्रादिभिरभेदभावनया च। तत्रान्त्यमनुचितं भगवदभेदोपासना-वत्। तेषु भगवद्वदेव नित्यत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणेषु तदनौचित्यात्। तथा तत्परिकरेषु तद-नुचितभावनाविशेषेणापराधापातात।"

इसका अभिप्राय यह है कि इस सम्बन्धानुगा भक्तिमें जब वात्सल्यभावके लोभसे कोई साधक कृष्णके प्रति पितृत्वादिकी भावना करे तो वह अपनेको कृष्णके पितासे अभिन्न न मानकर केवल उनके भाव और चेष्टाओंका अनुकरणमात्र करे। क्योंकि कृष्णके पिताके साथ अभेद-बुद्धि उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार स्वयं कृष्णके साथ अभेदबुद्धि अनुचित है। दुर्गमसंगमनीकारके इस लेखसे स्पष्ट हो जाता है कि उपासनाका लोभी भगवानकी भिन्न-भिन्न रूपमें उपासना तो कर सकता है किन्तु उसका यह सारा व्यापार एक मर्यादाके अन्तर्गत रहना चाहिए। अपनेको कृष्णसे अभिन्न मानकर अपनेको ईश्वर समझकर उपासना करना अपराध है। अपनेको कृष्णका पिता मानकर सम्बन्धानुगा भक्तिकी साधना भी अपराध है। इसीलिए इस प्रकारकी उपासनाएँ अनुचित हैं। तब सारी ही सम्बन्धानुगा उपासनाए प्रायः अनौचित्यकी श्रेणीमें आ सकती हैं। अतः साधकको बड़ा सावधान रहना होगा कि जब वह पितृत्वादि अभिमान कर रहा है उस समय भी वह अपनेको कृष्णका पिता न समझे। अन्यथा भक्तके बजाय वह अपराधी हो जायगा। इस प्रकारकी स्थिति भक्तिमें असाध्य-कल्प-सी ही प्रतीत होती है। अपराधसे बचनेकेलिए भेद-बुद्धिका रखना आवश्यक है। फिर भेद-बुद्धिके रहते पितृत्वादिका अभिमान बन जाय और उसमें तल्लीनता हो सके यह सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

सम्बन्धानुगा भक्तिमें जिस प्रकार मर्यादाका पालन आवश्यक माना गया है और उसका उल्लंघन अपराध गिना जाता है। इसी प्रकारकी स्थिति कामानुगा भक्तिके विषय में भी माननी होगी। उसमें भी मर्यादाका अतिक्रमण अपराध माना जायगा। कामानुगाके प्रकरणमें जो सम्भोगेच्छाका वर्णन किया गया है उसमें सर्वत्र कृष्णको पुरुषके रूपमें ही रखा गया है। दूसरेको उनकी स्त्रीके रूपमें ही दिखलाया गया है। कृष्णको अपनी स्त्री मानकर भोग करनेका उल्लेख नहीं किया गया है। क्योंकि यह कृष्णकी मर्यादाके विपरीत होता।

तथा हि श्रूयते शास्त्रे कश्चित्कुरुपुरीस्थितः ।
नन्दसूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन् ॥१०७॥
नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद् वृद्धबार्द्धकिः ।

अत एव नारायणव्यूहस्तवे—

पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम ।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥२१०॥ इति

कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका ॥ १०८ ॥
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधनभक्तिलहरी द्वितीया ॥

इसी प्रकार स्त्री-पुरुषके सम्बन्धकी लौकिक मर्यादाएं हैं उनका उल्लंघन अपराध ही है। इसलिए किसी उत्तम स्त्री द्वारा कृष्णको अपने पतिके रूपमें या पतित्वको हटाकर सामान्य रूप से पर-पुरुषके रूपमें मानकर उनके साथ भोग, मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाला है। इसी प्रकार कृष्णका किसी परस्त्रीके साथ किसी भी रूपमें भोग मर्यादाका अतिक्रमणमात्र होनेसे अनुचित और अपराधरूप ही है। इसलिए ये जो भक्तिचित्र यहाँ उपस्थित किए गए हैं वे औचित्यकी मर्यादाका अतिक्रमण कर गए हैं। उन्हें भक्तिकी मर्यादासे बाहर ही समझना चाहिए।

जैसाकि शास्त्रमें सुना जाता है कि कुरुपुरीमें स्थित वृद्धवार्द्धकि नामका कोई साधक नन्दके पुत्र [श्रीकृष्ण] की मूर्ति [अधिष्ठान] को पुत्र रूपसे उपासना करता हुआ नारदके उपदेशसे सिद्ध हो गया॥ १०७॥

इसलिए नारायणव्यूहकी स्तुतिमें [लिखा है कि]—

जो सदा उत्साहपूर्वक पति, पुत्र, सुहृत, भ्राता, पिता अथवा मित्रके समान कृष्णका ध्यान करते हैं उनको भी यहाँ हमारा बार-बार नमस्कार है। २१०।

कृष्ण और उनके भक्तोंकी कृपामात्रकी प्राप्ति ही जिसका एकमात्र फल है इस प्रकार की इस रागानुगा [साधनभक्ति] को ही कुछ लोग 'पुष्टिमार्ग' नामसे भी कहते हैं॥ १०८॥

ऊपरके श्लोकमें 'सुहृत' और 'मित्र' दोनों शब्दोंका प्रयोग आया है। वैसे ये दोनों शब्द सामान्यतः समानार्थक माने जाते हैं। किन्तु यहाँ दोनोंका साथ-साथ प्रयोग हुआ है तो उन दोनोंके अर्थमें कुछ थोड़ा-सा सूक्ष्म भेद मानना होगा। दुर्गमसंगमनीकारने 'सुहृन्निरपेक्ष हितकारी, मित्रं सह विहारीति तयोर्भेदः' लिखकर उन दोनोंका यह भेद प्रदर्शित किया है।

इस लहरीमें ग्रन्थकारने साधनभक्तिके दो भेद किए थे एक वैधी-भक्ति और दूसरी रागानुगा-भक्ति। वैधी भक्तिके निरूपणमें चार बातोंपर विशेष बल दिया है—

१. भक्तिमार्गके साधकके लिए भक्तिका महत्त्व मोक्षसे भी अधिक है।
२. भक्तिका अधिकार मनुष्यमात्रको है। शूद्र भी भक्तिका अधिकारी है।
३. भक्तको प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है।
४. कर्म भक्तिका अङ्ग होता है। किन्तु ज्ञान और वैराग्य उसके अङ्ग नहीं है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु'के पूर्व विभागमें साधनलहरी नामक द्वितीय लहरी समाप्त हुई ॥१-२॥

अथ तृतीया भावलहरी

अथ भावः—

अथ तृतीया भावलहरी

पूर्व सङ्गति—

यहाँ तक पूर्वविभागकी चार लहरियोंमेंसे दो लहरियाँ समाप्त हो चुकी हैं। प्रथम सामान्य भक्ति लहरीमें भक्तिका लक्षण करके उसके महात्म्यका कीर्तन किया गया था। जिसमें उसे 'मोक्ष लघुताकृत्' कहा गया था और उसका उदय होतेपर 'पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणावन्ते समन्ततः' चारों पुरुषार्थोंको तृणतुल्य तथा ब्रह्मानन्दको परमाणुके भी बराबर न होनेकी बात कहकर भक्तिका महत्त्व प्रदर्शित किया था। दूसरी लहरीमें भक्तिके १ साधनभक्ति, २ भावभक्ति और प्रेमरूपा भक्ति तीन भेद किए थे। फिर साधनभक्तिके भी १ वैधी भक्ति तथा २ रागानुगाभक्ति ये दो भेद करके उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। अब इस तृतीय लहरीमें भावभक्तिका निरूपण आरम्भ करते हैं।

भावभक्ति—

ग्रन्थके आरम्भमें 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा' यह जो भक्तिका लक्षण किया गया था उसमें 'अनुशीलनम्' पदसे कायिक और वाचिक द्विविध चेष्टारूप व्यापारों और मानसभाव दोनोंका ग्रहण किया गया था। इस दृष्टिसे भक्तिके १. चेष्टा रूप और २. भावरूप दो भेद हो जाते हैं। इनमेंसे चेष्टा या व्यापारके भी दो भाग हो जाते हैं। एक भावभक्तिके साधनरूप व्यापार और दूसरे भावभक्तिके फल रूप व्यापार। उनमेंसे भावभक्तिके साधनरूप व्यापारोंको पिछली 'साधनलहरी' में वैधीभक्ति और रागानुगाभक्तिके विवेचनके द्वारा विस्तारपूर्वक दिखलाया जा चुका है। दूसरे भावभक्तिके फलरूप जो व्यापार या चेष्टा आदि होती है उनको 'अनुभाव' नामसे कहा जाता है। उनको आगे रसनिरूपणके के प्रसंगमें दिखलाया जायगा।

दूसरी 'भावभक्ति' रहती है। इसके भी रस-प्रक्रियाके अनुसार स्थायिभाव तथा संचारिभाव रूप दो भेद हो जाते हैं। उनमेंसे संचारिभावरूपा भावभक्तिका वर्णन आगे रस के प्रसंगमें किया जायगा। स्थायिभाव रूपा भावभक्तिका निरूपण इस 'भावलहरी'में करना है। भक्तिका जो मूलतत्त्व मानस 'भाव' है उसको रति, प्रेम, स्नेह, भाव आदि अनेक शब्दोंसे निर्दिष्ट किया जाता है और इन शब्दोंको लगभग समानार्थक समझा जाता है। किन्तु ग्रन्थकार ने इन शब्दोंके अर्थोंमें सूक्ष्म भेद माना है। 'भाव' प्राथमिक अवस्था है जो प्रेमको उत्पन्न करती है। 'प्रेम' भावसे उत्पन्न होनेवाला और उससे उत्कृष्ट अवस्था है। ग्रन्थकारने इसी लिए प्रेमको सूर्य और भावको उसका अंशमात्र माना है। 'स्नेह' प्रेमसे भी ऊँची अवस्था है। पर उसका विशेष विवेचन ग्रन्थकारने नहीं किया है। 'भाव' और 'प्रेम' में कारण-कार्य भाव और सूक्ष्मताका तारतम्य है उसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने साध्यभक्तिमें इन दोनोंको बिलकुल अलग-अलग स्थान दिया है। इसीसे द्वितीय लहरीके आरम्भमें पृ० २२ पर 'सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता' लिखकर भक्तिके तीन भेद किए हैं। और भावलहरी तथा प्रेमलहरी नामक दो भिन्न-भिन्न लहरियोंमें यहाँ उनका विवेचन किया है। वैसे ये दोनों 'साध्यभक्ति'

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेम सूर्य्यांशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥१॥

तथा हि तन्त्रे—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते ।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः ॥ २११ ।

स यथा पद्मपुराणे—

ध्यायं ध्यायं भगवतः पदाम्बुजयुगं तदा ।
ईषद्विक्रियमाणात्मा सार्द्रदृष्टिरभूदसौ ॥२१२॥ इति

के एक ही वर्गमें समाविष्ट हो सकती हैं। उस दशामें साधनरूपा भक्ति तथा साध्यरूपा भक्ति ये दो ही भक्तिके भेद होते हैं। किन्तु साध्यरूपा भक्तिमें भाव तथा प्रेम दोनों की अलग-अलग स्थिति मानकर उसके तीन भेद दिखलाए गए हैं।

इस 'भावलहरी'में भावभक्तिका निरूपण करना है। मनको विशुद्ध सत्त्वप्रधान अवस्थाका नाम 'भाव' हैं। प्रेम-सूर्यकी किरणोंके साथ उसकी उपमा दी गई हैं। इस अवस्थाका उदय होनेपर चित्तमें विशेष प्रकारकी आर्द्रता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए ग्रन्थकारने उसे 'चित्तमासृण्यकृत्' कहा है। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनरूपा' भक्ति वैधी तथा रागानुगा साधनभक्तियोंके अभ्याससे जब विशुद्ध सत्त्वप्रधान और चित्तमें विशेष प्रकारके द्रवीभावको उत्पन्न करने वाली बन जाती है तब उसको 'भाव' कहते हैं। यह अवस्था आगे प्रकाशित होने वाले प्रेमसूर्यका उषःकाल है। सूर्योदयके पूर्व उषःकालमें जिस प्रकार सूर्यकी अनुरागमयी रश्मियाँ उदय होकर विश्वके अन्तस्तलमें एक विशेष प्रकारकी अदभुत पावनता का संचार कर देती है। इसी प्रकार प्रेमसूर्यकी पावन रश्मियोंके सदृश 'भाव' उदय होकर चित्तमें विशेष प्रकारके 'मासृण्य' या द्रवीभावको उत्पन्न कर देता है। इसी अभिप्रायको मन में रखकर ग्रन्थकारने 'भाव' का लक्षण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

प्रेम रूप सूर्यकी किरणोंके समान, अपनी [कृष्ण-प्राप्तिके अभिलाष तथा कृष्णके सौहार्दाभिलाष आदि रूप] कान्तियोंके द्वारा चित्तके द्रवीभाव [मासृण्य] को उत्पन्न करनेवाला, शुद्ध सत्त्व विशेष [अर्थात् चित्तकी विशुद्ध सत्त्वप्रधान अवस्था] रूप वह [पूर्वकथित सामान्य भक्ति ही] 'भाव' [नामसे] कहा जाता है ॥ १ ॥

जैसाकि तन्त्रमें [भी कहा है]—

प्रेमकी प्रथम अवस्था 'भाव' इस नामसे कही जाती है। इसमें अश्रु-रोमांच आदि सात्त्विकभाव स्वल्प मात्रामें [प्रकट] होते हैं। २११।

वह [भाव] जैसाकि पद्मपुराणमें [निम्न उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया गया हैं]—

तब वह भगवान्के दोनों चरणकमलोंका बार-बार ध्यान करता हुआ कुछ उच्छ्वसित सा [ईषद्विक्रियमाणात्मा] और अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे युक्त हो गया। २१२।

भावकी विषयरूपता—

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है 'भाव' चित्तकी विशुद्ध सत्त्वप्रधान विशेष अवस्थाका नाम है। चित्तकी इस प्रकारकी विशेष अवस्थाओंको 'चित्तवृत्ति' कहते हैं। इसलिए भाव भी चित्तवृत्ति रूप है। जिस प्रकार पानी नालियोंके द्वारा खेतमें जाकर चौकोर वर्गाकार या

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ।
स्वयंप्रकाशरूपाऽपि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥२॥
वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ ।
कृष्णादिकर्म्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते ॥३॥

आयताकार आदि जिस प्रकारकी क्यारी सामने आती है उस आकारमें फैलकर उसका आकार धारण कर लेता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-प्रणालिकाके द्वारा चित्त जब विषयके साथ सम्बद्ध होता है तब अर्थाकार रूपमें परिणत हो जाता है। चित्तकी इसी अर्थाकार परिणतिका नाम 'चित्तवृत्ति' है। इसलिए 'भाव' रूप जो यह चित्तवृत्ति कही गई है वह भी स्वयं चित्तमें उत्पन्न होती है किन्तु कृष्ण अथवा अन्य जो कोई भी ध्येय हो उस विषयको प्राप्त कर तदाकार हो जाती है। और स्वयं प्रकाशमान होकर भी वह प्रकाश्य या ध्येय कृष्णादिके रूपमें भासती है। स्वयं आस्वाद-स्वरूप होकर भी कृष्णकर्मक आस्वादके रूपमें प्रतीत होती है। अर्थात् उस स्थितिमें आस्वादका कर्म-कारक कृष्ण होते हैं। कृष्णका आस्वाद होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

[वह भाव रूप अवस्था विशेष वैधी तथा रागानुगा रूप दोनों प्रकारकी साधनभक्तियों के द्वारा] चित्तवृत्तिमें आविर्भूत होकर उस [कृष्णादि ध्येयतत्त्व] के स्वरूपको प्राप्त करती हुई, स्वयं प्रकाशरूपा होनेपर भी प्रकाश्य [कृष्णादि रूप ध्येयतत्त्व] के समान प्रतीत होती है॥ २ ॥

और वस्तुतः स्वयं आस्वाद रूप भी यह रति [भाव] कृष्णादिकर्मक आस्वादका हेतु बन जाती है। [अर्थात् उसमें आस्वाद क्रियाके कर्मकारकभूत कृष्णादि ध्येयतत्त्वका आस्वाद प्रतीत होता है। वस्तुतः वह स्वयं चित्तवृत्तिका ही आस्वाद होता है]॥ ३ ॥

भावके दो भेद—

भक्तगणोंमें यह 'भाव' का उदय दो प्रकारका पाया जाता है। साधारण साधनरूपा, वैधी तथा रागानुगा भक्तिके अभ्याससे ही आगे चलकर इस साध्यभक्तिरूप 'भाव' का उदय होता है। किन्तु कभी-कभी पूर्वजन्मके अर्जित संस्कारोंके कारण वैधी भक्ति या रागानुगा रूप साधनभक्तिके अभ्यासके बिना ही किन्हीं सौभाग्यशाली साधकोंमें स्वयं ही इस विशुद्ध 'भाव'का उदय हो जाता है। योगदर्शनमें भी चित्तवत्तिके निरोध रूप योगके इसी प्रकारके दो भेद 'भवप्रत्यय' तथा 'उपायप्रत्यय' नामसे किए हैं। 'उपायप्रत्यय' अर्थात् उपायोंके द्वारा समाधिका लाभ साधारण रूपसे होता है किन्तु 'भवप्रत्यय' अर्थात् उपायोंके बिना केवल पूर्व-जन्मके संस्कारोंके बलसे समाधिका लाभ विशिष्ट पुण्यवानोंको ही होता है। इसी प्रकार यहाँ भक्तिमार्गमें विशिष्ट पुण्यवानोंको साधनभक्तिके बिना भी 'भाव' की प्राप्ति हो जाती है। ग्रन्थकार इस प्रकारकी भाव-प्राप्तिको पूर्व-जन्मके संस्कारोंका फल न मानकर भगवान् अथवा उनके भक्तोंकी कृपाका फल मानते हैं। वैसे यह कृपा भी पूर्वजन्मके संस्कारोंसे ही प्राप्त होती है। किन्तु उनका बल पूर्व-संस्कारों पर नहीं भगवान् और उनके भक्तोंकी कृपा पर है। भावप्राप्तिके इन दोनों भेदोंको ग्रन्थकारने अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार दिखलाया है—

साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा ।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाऽभिजायते ।।४।।
आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः ।

तत्र साधनाभिनिवेशजः—

वैधीरागानुगामार्गभेदेन परिकीर्त्तितः ।। ५ ।।
द्विविधः खलु भात्यत्र साधनाभिनिवेशजः ।
साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम् ।।६।।

---

१. [वैधी तथा रागानुगा रूप] साधनोंके अनुष्ठानसे तथा २. भगवान् [कृष्ण] अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे दो प्रकारका 'भाव' अत्यन्त सौभाग्यशालियोंमें उत्पन्न होता है ।। ४ ।।

उनमेंसे पहला [अर्थात् साधनानुष्ठान-जन्य भाव] तो प्रायः पाया जाता है किन्तु दूसरा [अर्थात् भगवान् या उनके भक्तोंकी कृपासे प्राप्त होने वाला भाव] बहुत कम [अर्थात् विशेष पुण्यात्माओं और सौभाग्यशालियोंको ही] प्राप्त होता है ।

'भाव' के साधनानुष्ठान-जन्य तथा भगवत्कृपा-जन्य ये जो दो भेद यहाँ किए गए हैं इनका प्रतिपादन यहाँ ग्रन्थकारने डेढ़ कारिकामें किया है। पाँचवीं कारिकाका आधा भाग इधर आ गया है और शेष आधे भागका सम्वन्ध अगले विषयसे है। इस क्रमको रखनेसे आगेकी अनेक कारिकाओंकी भी यही स्थिति हो जाती है कि उनका आधा भाग एक विषय से सम्बद्ध हो जाता है और आधा भाग दूसरे विषयसे सम्बद्ध हो जाता है। यह स्थिति बड़ी अटपटी-सी मालूम होती है। अर्थके समन्वयमें एक बाधा-सी प्रतीत होती है। इसको बचानेके लिए हमने यहाँ हिन्दी अनुवादमें चार संख्या इस डेढ़ श्लोकके बाद डाली है। इससे आगेकी कारिकाओंमें होने वाली असुविधा बच जावेगी। इस प्रकारका व्यवहार अन्य जगह भी पाया जाता है।

साधनाभिनिवेशजन्य भाव—

'भाव' के उपर्युक्त दो भेदोंमेंसे जो प्रथम 'साधनाभिनिवेशजन्य भाव' कहा गया है वह भी दो प्रकारका होता है। एक वैधी भक्तिसे जन्य और दूसरा रागानुगाभक्तिसे जन्य। पहले साधनभक्तिके वैधी तथा रागानुगा नामसे दो भेद बतलाए थे। उन दोनोंसे ही 'भाव' की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए यहाँ साधनाभिनिवेश-जन्य भावके भी दो भेद माने गए हैं। इन दोनों भेदोंका निर्देश और उनके लक्षण तथा उदाहरणादि द्वारा उनका विवेचन ग्रन्थकार अगले प्रकरणमें निम्न प्रकार करते हैं—

अब साधनाभिनिवेशजन्य [भावभक्तिका निरूपण करते हैं]—

वैधी तथा रागानुगा मार्गोंके भेदसे [साधनभक्ति दो प्रकारकी कही गई है उसके अनुसार] कहा हुआ [उनसे साध्य] 'साधनाभिनिवेशजन्य' [भाव भी] दो प्रकारका पाया जाता है ।।५।।

[उनमेंसे साधनाभिनिवेशजन्य भाव सामान्य रूपसे उसको कहते हैं जिसमें] साधनों का अनुष्ठान उनमें रुचिको प्रवृत्त करता हुआ भगवान् [कृष्ण] में क्रमशः [आसक्ति अर्थात्]

हरावासक्तिमुत्पाद्य रतिं संजनयत्यसौ ।

तत्राद्यो यथा प्रथमस्कन्धे—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतां, अनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः ॥२१३॥

रत्या तु भाव एवात्र न तु प्रेमाऽभिधीयते ॥७॥

मम भक्तिः प्रवृत्तेति वक्ष्यते स यदग्रत ।

यथा तत्रैव—

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुपदं यशोऽमलम् ।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोऽपहा ॥२१४॥

लगनको विकसित कर रति या प्रेमको उत्पन्न करता है वह [साधनाभिनिवेशजन्य भाव कहलाता है] ॥ ६ ॥

यहाँ पर पूर्व संस्करणोंमें पहले भावके दो भेद दिखलाने वाली कारिका दी गई है और उसके बाद उसका लक्षण करने वाली कारिका दी गई है। अच्छा तो यह होता कि पहले लक्षण वाली कारिका दी जाती और उसके बाद भेदपरक कारिका दी जाती। किन्तु पूर्वसंस्करणोंमें जिस रूपमें पाठ दिया गया है हमने उसी पाठक्रमको रखा है। औचित्यकी दृष्टिसे यह निर्देश यहाँ कर दिया है।

उनमेंसे पहला [अर्थात् वैधी भक्तिके अनुष्ठानसे जन्य साधनाभिनिवेशज भावका उदाहरण आगे देते हैं] जैसाकि [भागवतके] प्रथम स्कन्धमें [कहा गया है]—

वहाँ कथा करने वालोंकी कृपासे मैंने प्रतिदिन मनको हरण करने वाली कृष्णकी कथाओंको सुना। [उन कथाओंके] प्रत्येक पदको श्रद्धापूर्वक सुननेसे प्रिय [कृष्ण, अथवा कथाओं]को श्रवण करने वाले मेरे भीतर [कृष्णके प्रति भाव रूप] रति उत्पन्न हो गई। [अंग पद यहाँ सम्बोधनमें है]। २१३।

इस उदाहरणमें 'ममाभवद्रतिः' पदसे रतिके उत्पन्न होनेकी बात कही है। यह रति शब्द प्रेमका भी वाचक हो सकता है और भावका भी। इसलिए यह शब्द भ्रामक है। प्रेम और भावका अन्तर ऊपर बतलाया जा चुका है। यहाँ भावके वर्णनका प्रसंग चल रहा है। इसलिए यहाँ 'रति' शब्दसे प्रेमका नहीं अपितु 'भाव' का ही ग्रहण करना चाहिए। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार लिखते हैं—

यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें] 'रति' [शब्द] से 'भाव' का ही कथन किया गया है 'प्रेम' का नहीं। उस [प्रेम] का कथन तो 'मम भक्तिः प्रवृत्ता' इत्यादिसे आगे [उदाहरण सं० २१४ में 'भक्ति' शब्दके द्वारा] किया जायगा ॥ ७ ॥

[आगे फिर वैधी भक्तिके अनुष्ठानसे जन्य साधनाभिनिवेशज 'भाव' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं] जैसा कि वहीं [अर्थात् भागवतके प्रथम स्कन्धमें फिर कहा है]—

इस प्रकार वर्षा और शरत् दो ऋतुओंमें निरन्तर मुनियों तथा महात्माओंके द्वारा गान किए जानेवाले भगवान् [हरि] के विमल यशको सुनते हुए मेरे भीतर अपने रजोगुण तथा तमोगुणको नष्ट कर देनेवाली भक्ति [भाव] का उदय हुआ। २१४।

तृतीये च—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥२१५॥ इति

पुराणे नाट्यशास्त्रे च द्वयोस्तु रतिभावयोः ॥८॥
समानार्थतया ह्यत्र द्वयमैक्येन लक्षितम् ।

द्वितीयो यथा पाद्मे—

इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्य उत्सुका ।
हरिप्रीत्या च सर्वां तां रात्रिमेवात्यवाहयत् ॥२१६॥

अथ कृष्णतद्भक्तप्रसादजः—

साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते ॥९॥

और तृतीय [स्कन्ध] में भी [वैधीभक्तिके अनुष्ठानसे जन्य साधनाभिनिवेशज भावका उदाहरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है]—

सज्जनोंके संगसे मेरे प्रभावको समझनेवाले [साधक] के लिए [भगवान्‌की] कथाएँ उसके हृदय और कानों [दोनों] के लिए रसायन [औषधके समान शक्तिप्रद] बन जाती हैं। और उनके सेवनसे [साधकके भीतर] अपवर्ग-मार्गमें क्रमसे श्रद्धा, रति, [भाव] और भक्ति [प्रेम] उत्पन्न होते हैं। २१५।

इस उदाहरणमें, और साधनाभिनिवेशजन्य भावके प्रथम उदाहरण 'तत्रान्वहं' इत्यादि श्लोक संख्या २१३ में, 'भाव' के लिए 'रति' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसका कारण बतलाते हुए ग्रन्थकारने अगली कारिकामें लिखा है—

पुराण और नाट्यशास्त्रमें रति और भावके समानार्थक [रूपमें प्रयुक्त] होनेसे यहाँ [भी] दोनोंको एक मानकर लक्षण किया है। [अर्थात् जैसे नाट्यशास्त्र आदिमें रतिको स्थायिभाव मानकर रति और भावको समानार्थकता सूचित की गई है। इसी प्रकार हमने यहाँ रति शब्दसे भावका प्रतिपादन किया है] ॥ ८ ॥

दूसरा [अर्थात् रागानुगा रूपा साधनभक्तिके अनुष्ठानजन्य 'भाव' का उदाहरण] जैसा कि पद्मपुराणमें [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

इस प्रकार [कृष्णके साथ नाचनेके लिए] मनोरथ करती हुई नृत्यके लिए उत्सुक बालाने कृष्णके प्रेममें उस सारी रात्रिको ही [उनकी प्रतीक्षामें] व्यतीत कर दिया।२१६।

भगवत्कृपाजन्य भाव—

इस प्रकार यहाँ तक साधनाभिनिवेशजन्य भावको ग्रंथकारने लक्षण तथा उदाहरणादि के द्वारा भली प्रकारसे प्रदर्शित कर दिया हैं। अब भगवान् अथवा उसके भक्तोंकी कृपासे उत्पन्न दूसरे प्रकारके भावका वर्णन आगे करते हैं। इस कोटिमें उसी भावभक्तिका समावेश होता है जो साधनोंके अनुष्ठानके बिना प्राप्त नहीं होती है। इसलिए उसका लक्षण ग्रंथकारने अगली कारिकामें निम्न प्रकार किया है—

साधनोंके [अनुष्ठानके] बिना ही जो [स्वयं अपने आप] सहसा उत्पन्न हो जाता है वह 'भाव', कृष्ण अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे प्राप्त भाव कहलाता है ॥ ९ ॥

स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते ।

तत्र कृष्णप्रसादजः—

प्रसादा वाचिकालोकदानहार्द्दादयो हरेः ॥१०॥

तत्र वाचिकप्रसादजो यथा श्रीनारदीये—

सर्वमङ्गलमूर्द्धन्या पूर्णानन्दमयी सदा ।
द्विजेन्द्र ! तव मय्यस्तु भक्तिरव्यभिचारिणी ॥२१७॥

आलोकदानजो यथा स्कान्दे—

अदृष्टपूर्वमालोक्य कृष्णं जाङ्गलवासिनः ।
विक्लिद्यदन्तरात्मनो दृष्टिं नाक्रष्टुमीशिरे ॥२१८॥

हार्द्दः—

प्रसाद आन्तरो यः स्यात् स हार्द्द इति कथ्यते ।

यथा शुकसंहितायां—

महाभागवतो जातः पुत्रस्ते वादरायण ! ।
विनोपायैरुपेयाऽभूद्विष्णुभक्तिरिहोदिता ॥२१९॥

उनमेंसे कृष्णकी कृपासे जन्य [भावका वर्णन आगे करते हैं]—

[कृष्णकी] कृपा १. वाचिक, २. दर्शन देनेके द्वारा और ३. हार्दिक [मानसिक]आदि मुख्य रूपसे तीन प्रकारकी] होती है ॥ १० ॥

उनमेंसे वाचिक प्रसादसे उत्पन्न [भावका उदाहरण] जैसाकि श्री नारदीयपंचरात्रमें [दिया गया है]—

हे विप्रवर ! समस्त मंगलोंमें सर्वश्रेष्ठ, सदा पूर्ण आनन्दमयी, सदा रहनेवाली [अव्यभिचारिणी] मेरे प्रति भक्ति आपको भक्तको] प्राप्त हो । २१७ ।

यहाँ कृष्णके वचनसे 'भाव' की प्राप्ति होती है । अतः यह वाचिक-प्रसादजन्य 'भाव' का उदाहरण है ।

दर्शन देनेसे उत्पन्न [भावका उदाहरण] जैसाकि स्कन्दपुराणमें [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

जंगल प्रदेशके रहनेवाले, अदृष्टपूर्व कृष्णको देखकर [भक्तिके वश] अन्तःकरणके द्रवीभावसे युक्त होकर [उनकी ओरसे अपनी] दृष्टिको हटानेमें समर्थ न हो सके । २१८ ।

[तीसरे प्रकारके] हार्द [प्रसादका लक्षण और उससे उत्पन्न भावका उदाहरण आगे देते हैं । हार्द प्रसादका लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो प्रसाद भीतरका [कृष्णके हृदयके भीतर ही रहनेवाला] हो उसको 'हार्द' [प्रसाद] कहा जाता है ।

[उस हार्द प्रसादजन्य भावका उदाहरण] जैसा कि शुकसंहितामें [निम्न श्लोकमें दिखलाया गया है]—

हे व्यासदेव ! आपके परम भगवद्भक्त पुत्र [शुकदेव] उत्पन्न हुआ है जिसको बिना उपायों [के अनुष्ठान] के ही प्राप्त होनेवाली [भगवत्प्रसादजन्य] भक्ति उपलब्ध हुई है ।२१९।

अथ तद्भक्तप्रसादजः—

यथा सप्तमस्कन्धे—

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥२२०॥ इति
नारदस्य प्रसादेन प्रल्हादे शुभवासना।
निसर्गः सैव तेनात्र रतिर्नैसर्गिकी मता ॥२२१॥

स्कान्दे च—

अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य तत्क्षणात्।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते ॥२२२॥ इति,

भक्तानां भेदतः सेयं रतिः पञ्चविधामता ॥११॥

अग्रे विविच्य वक्तव्या तेन नात्र प्रपञ्च्यते।

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ॥१२॥

उन [भगवान्] के भक्तोंके प्रसादसे जन्य [भावका उदाहरण]—

जैसाकि [भागवतके] सातवें स्कन्धमें [निम्न श्लोकमें कहा है]—

जिसकी भगवान् कृष्णमें स्वःभाविक प्रीति है उसका महात्म्य [उसके स्वयं उद्भूस] असंख्य गुणोंसे सूचित होता है। २२०।

नारदकी कृपासे [बिना उपायोंका अनुष्ठान किए हुए ही] प्रह्लादमें शुभ वासना [भगवद्भक्ति] उदय हो गई थी। इसीको स्वभाव कहते हैं इसलिए उसको नैसर्गिक [भक्ति] कहा गया है। २२१।

और स्कन्दपुराणमें भी [इस भावका उदाहरण निम्न प्रकार पाया जाता है]—

हे देवर्षि! आप धन्य हैं जिनकी कृपासे नीच व्याध भी रोमांच [आदि सात्विक भावों से] युक्त होकर कृष्णकी भक्तिको प्राप्त हुआ। २२२।

भक्तोंके [पांच प्रकारके] भेदोंसे [भक्तिप्रसादजन्य] यह भाव [रति] पांच प्रकारका माना गया है। उसका वर्णन आगे करेंगे इसलिए यहाँ उसका विस्तार [पूर्वक वर्णन] नहीं किया है ॥ ११ ॥

भगवद्भक्ति रूप भावके अनुभाव—

साधनानुष्ठानजन्य और भगवान [कृष्ण] अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे जन्य दो प्रकारके भावोंका वर्णन ऊपर किया गया है। इस प्रकारका 'भाव' या रति जब मनके भीतर उत्पन्न होता है तब भक्तमें उसके कुछ बाह्य चिह्न भी प्रकट होते हैं जिनसे उसके हृदयके अन्तवर्ती इस भावका आभास देखने वालोंको भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकारके चिह्न इस भावोत्पत्तिके बाद उत्पन्न होते हैं और उसके कार्य होते हैं इसलिए उनको 'अनुभाव' नाम से कहा जाता है। साहित्यशास्त्रमें रसोंके साथ जिस प्रकार 'अनुभावों'का वर्णन होता है उसी प्रकार यहाँ भी 'भाव' के साथ 'अनुभावों' का वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार भक्तिके इन अनुभावोंका वर्णन अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार करते हैं—

१. क्षान्ति [सहनशीलता], २. समयको व्यर्थ न खोना, ३. वैराग्य, ४. अभिमान-

आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ।
आसक्तिस्तद्‌गुणाख्याने प्रीतस्तद्वसतिस्थले ॥१३॥
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ।

तत्र क्षान्तिः—

क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता ॥१४॥

यथा प्रथमे—

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्राः ! गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥२२३॥

अव्यर्थकालत्वं यथा हरिभक्तिसुधोदये—

वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः ।
भक्ता स्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति ॥२२४॥

अथ विरक्तिः—

विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम् ।

शून्यता, ५. आशावाद, ६. समुत्कण्ठा, ७. नामकीर्तनमें सदा रुचि, ८. उन [भगवान्]के गुण-गानमें प्रेम, ९. उनके वासस्थलमें अनुराग इत्यादि अनुभाव उस पुरुषमें पाए जाते हैं जिसमें [भगवद्विषयक] भावका अंकुर उत्पन्न हो गया है ॥ १२-१३ ॥

इस प्रकार इन दो कारिकाओंमें भावकी उत्पत्तिके बाद भक्तमें अभिव्यक्त होनेवाले अनुभावोंचे नामोंका कथन किया है। अब आगे वे कमशः इन अनुभावोंके लक्षण करते हुए उदाहरणों द्वारा समझानेका यत्न करेंगे। उनमेंसे पहले 'क्षान्ति' का लक्षण करते हैं—

उनमेंसे क्षान्ति [का लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार है]—

क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर भी क्षुब्ध न होना 'क्षान्ति' [कही जाती है] ॥१४॥

जैसा कि [भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [निम्न श्लोकमें क्षान्तिका उदाहरण पाया जाता है]—

हे विप्रो ! आप मेरे पास भले ही मत आइए या [आकर भी] वापस चले जाइए। गङ्गादेवी भी शिवमें मन लगाए हुए [वहीं बनी] रहें [मेरे ऊपर कृपा न करे, कर्मकाण्डी] ब्राह्मणोंके द्वारा प्रेरित साँप या तक्षक नाग भले ही डस ले [इन सब बातों की मुझे कोई चिन्ता नहीं है। पर कृपा करके] विष्णुकी कथाका गान करते रहें।२२३।

अव्यर्थकालत्व [का उदाहरण] जैसाकि 'हरिभक्तिसुधोदय'में [निम्न श्लोक द्वारा प्रस्तुत किया गया है]—

जिनके नेत्रोंसे [प्रेमके] आँसुओंका जल बह रहा है इस प्रकारके भक्तगण वाणीके द्वारा [भगवान्‌की] स्तुति करते हुए, मनसे [भगवान्‌का स्मरण करते हुए, शरीरसे [भगवान्‌को] रात-दिन नमस्कार करते हुए भी तृप्त नहीं होते] हैं। और सारी आयुको भगवान् [की भक्ति] के ही अर्पण कर देते हैं। २२४।

अब विरक्ति [का लक्षण तथा उदाहरण आगे देते हैं]—

इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति [अस्वस्थता आदिके बिना] स्वयं ही अरुचि हो जाना 'विरक्ति'

यथा पञ्चमे—

योदुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥२२५॥

अथ मानशून्यता—

उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं कथिता मानशून्यता ॥१५॥

यथा पाद्मे—

हरौ रतिं वहन्नेष नरेन्द्राणां शिखामणिः।
भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि वन्दते ॥२२६॥

अथाशाबन्धः—

आशाबन्धो भगवतः प्राप्तिसम्भावना दृढा।

यथा श्रीमत्प्रभुपादानाम्—

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथ वा वैष्णवो—
ज्ञानं वा शुभकर्म्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाऽप्यच्छेद्यमूला सती
हे गोपीजनवल्लभ ! व्यथयते हा हा मदाशैव माम् ॥२२७॥

[कहलाती] है ॥ १४ ॥

जैसा कि [भागवतके] पञ्चम [स्कन्ध] में [विरक्तिका उदाहरण निम्न प्रकार पाया जाता है]—

जिसने [उत्तम श्लोक अर्थात्] भगवान् [को प्राप्त करने] की लालसासे युवा अवस्था में ही हृदयको लुभानेवाले और कठिनतासे छोड़े जा सकनेवाले स्त्री, पुत्र, मित्र, राज्य आदि [सब विषयों] को मलके समान त्याग दिया। २२५।

अब मानशून्यता [का लक्षण और उदाहरण कहते हैं]—

[स्वयं] उत्कृष्ट होनेपर भी [अपनेसे नीचेके सामने भी] अभिमानको न रखना मानशून्यता कहलाती है ॥ १५ ॥

जैसा कि पद्मपुराणमें [मानशून्यताका उदाहरण निम्न प्रकार पाया जाता है]—

भगवान्के प्रति भक्तिको धारण किए हुए राजाओंका शिरोमणि यह [सम्राट्] शत्रुके नगरमें भिक्षा मांगता हुआ चाण्डालको भी नमस्कार करता है। २२६।

आशाबन्ध [का लक्षण और उदाहरण आगे देते हैं]—

भगवान्की प्राप्तिकी दृढ सम्भावना 'आशाबन्ध' [कहलाती है]—

जैसे श्रीमत्प्रभुपाद [श्री चैतन्य महाप्रभुका निम्न वचन आशाबन्धका उत्तम उदाहरण है]—

[मेरे भीतर] न [भगवान्का] प्रेम है, न श्रवणादि भक्ति है, न वैष्णवोंका योग है। न ज्ञान है, न शुभकर्म है, और कितने आश्चर्यकी बात है कि उत्तम जाति भी नहीं है फिर भी हे गोपीजनवल्लभ ! हीन अर्थको भी उत्तम बना देनेवाले आपके विषयमें आबद्धमूला मेरी आशा ही [आपकी भक्तिकी प्राप्तिकेलिए निरन्तर] मुझको प्रयत्नशील बनाए रहती है [व्यथयते]। २२७।

अथ समुत्कण्ठा—

समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता ॥१६॥

यथा कर्णामृते—

आनम्रामसितभ्रुवोरुपचितामक्षीणपद्माङ्कुरे—
ष्वालोलामनुरागिणोर्नयनयोरार्द्रां मृदौ जल्पिते ।
आताम्रामधरामृते मदकलामम्लानवंशीस्वने—
ष्वाशास्ते मम लोचनं व्रजशिशोर्मूर्त्ति जगन्मोहनीम् ॥२२८॥

अथ नामगाने सदा रुचिर्यथा—

रोदनबिन्दुमरन्दस्यन्दिदृगिन्दीवराऽद्य गोविन्द ! ।
तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलिं बाला ॥२२९॥

तद्गुणाख्यान आसक्तिर्यथा कर्णामृते—

माधुर्य्यादपि मधुरं मन्मथतातस्य किमपि कैशोरम् ।
चापल्यादपि चपलं चेतो बत हरति हन्त किं कुर्म्मः ॥२३०॥

तद्वसतिस्थले प्रीतिर्यथा पद्यावल्याम्—

अत्रासीत्किल नन्दसद्म शकटस्यात्राभवद्भञ्जनं—
बन्धच्छेदकरोऽपि दामभिरभूद्बद्धोऽत्र दामोदरः ।

समुत्कण्ठा [का लक्षण और उदाहरण आगे देते हैं]—

अपने अभीष्टकी प्राप्तिकेलिए अत्यन्त लुब्धता [लोभ] 'समुत्कण्ठा' [कहलाती है] ॥१६॥

जैसाकि 'कर्णामृत' में [पाया जाता है]—

मेरे नेत्र, व्रजकिशोर [श्रीकृष्ण] की काली भौंहोंपर झुकी हुई, सघन पलकोंपर उठी हुई, अनुराग भरे नेत्रोंमें चंचलतामयी, मृदु भाषणमें आर्द्रतासे भरी हुई, अधरामृत पर रक्तवर्णा मधुर वंशी रवमें मदभरी, जगत्को मोहित करने वाली मूर्तिको [देखना] चाहते हैं । २२८ ।

अब नाम-गानमें सदा रुचि [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसे—

हे गोविन्द ! अपने नयन-कमलोंसे अश्रुबिन्दु रूपी मकरन्दको टपकाती हुई [अर्थात् प्रेमाश्रुओंसे परिपूर्ण नेत्रोंवाली व्रजवासिनी] बाला, आज आपकी नामावलीको मधुर-स्वरसे गा रही है । २२९ ।

उनके गुणोंके वर्णनमें आसक्ति [का उदाहरण] जैसे कर्णामृतमें [निम्न श्लोक है]—

ओह ! कामदेवके जनक [श्रीकृष्ण] का माधुर्यसे भी अधिक मधुर और चापल्य से भी अधिक चपल अनिर्वचनीय कैशोर [किशोरावस्था बलात्] मनको हरण किए जा रहा है, अरे हम क्या करें । २३० ।

उनके निवास-स्थानमें प्रीति [का उदाहरण] जैसे पद्यावलीमें [निम्न श्लोक है]—

यहाँपर [पहले कभी] नन्दका घर था, यहाँपर शकटका भञ्जन हुआ था, यहाँपर बन्धनोंको भी काटनेवाले [मुक्ति प्रदान करने वाले] दामोदरको रस्सियों से बाँधा गया था, इस प्रकार मथुराके वृद्धजनोंके मुखसे निकलती हुई [वचनामृत रूप] अमृतकी धाराका पान

इत्थं माथुरवृद्धवक्त्रविगलत्पीयूषधारां पिब—
न्नानन्दाश्रुधरः कदा मधुपुरीं धन्यश्चरिष्याम्यहम् ॥२३१॥

अपि च—

व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम् ।
मुमुक्षुप्रभृतीनां चेद्भवेदेषा रतिर्न हि ॥१७॥
विमुक्ताखिलतर्षैर्या मुक्तैरपि विमृग्यते ।
या कृष्णेनातिगोप्याऽऽशु भजद्भ्योऽपि न दीयते ॥१८॥
सा भुक्तिमुक्तिकामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम् ।
हृदये सम्भवत्येषां कथं भागवती रतिः ॥१९॥
किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिन्हवीक्षया ।
अभिज्ञेनसुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्त्तितः ॥२०॥

करता हुआ आनन्दाश्रुओंसे परिपूर्ण सौभाग्यशाली मैं कब मथुरामें घूमनेका सौभाग्य प्राप्त करूँगा । २३१ ।

मुमुक्षुओंमें भक्तिका अभाव—

मुमुक्षुओंका ज्ञानमार्ग भक्तिमार्गसे बिलकुल भिन्न है। भक्ति केवल भक्तिकेलिए है। मोक्ष आदि रूप किसी फलकी कामनाकेलिए भक्तिका अनुष्ठान नहीं होता है। भक्ति-मार्गका साधक भगवद्भक्तिको छोड़कर मोक्षको भी प्राप्त करना पसन्द नहीं करता है। मुमुक्षकी प्रवृत्तिका मुख्य प्रयोजक मोक्षकी इच्छा होती है। ग्रन्थकारकी दृष्टिमें मुमुक्षुओंका व्यापार सकाम भावनासे होता है और भक्तिका अनुष्ठान निष्काम भावनासे होता है। इस-लिए मुमुक्षुओंमें भक्तिकी सम्भावना नहीं है। उनमें यदि कभी प्रेमाश्रु, पुलक आदि, भक्तोंके चिह्न दिखलाई देते हैं तो वे वस्तुतः 'भाव' के व्यंजक चिह्न नहीं हैं किन्तु वे भावाभासके व्यंजक हैं। मुमुक्षुजनोंका 'भाव', भाव नहीं, भावाभास है, रति रति नहीं रत्याभास है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली चार कारिकाओं द्वारा बतलाते हैं—

यदि मुमुक्षु आदि [अर्थात् भक्तिसे भिन्न ज्ञान और कर्म मार्गके अनुयायियों] में चित्त का द्रवीभाव आदि रूप रति [अर्थात् भाव] के लक्षण दिखलाई देते हैं तो वे [भी वास्तविक] रति [के व्यञ्जक] नहीं हैं ॥ १७ ॥

जिस [भक्ति] को समस्त तृष्णाओंका त्याग कर देने वाले मुक्त जन भी खोजते फिरते हैं [उनको भी प्राप्त नहीं है] और जिसको श्रीकृष्ण अत्यन्त छिपाकर [रखते हैं] जल्दी भक्तों को भी प्रदान नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

भोग और मोक्ष रूप फलोंकी कामनाके कारण [निष्काम भावसे] शुद्ध भक्तिको न करने वाले इन [मुमुक्षुओं]को वह भगवान्की रति कैसे प्राप्त हो सकती है ॥ १९ ॥

फिर भी उस [रतिके] के [अश्रु-रोमांचादि रूप] चिह्नोंको देख लेनेसे अज्ञानियोंका आश्चर्यमें डालनेवाला [जो रतिका-सा आभास होता है वह भाव] रत्याभास कहलाता है और भक्तिमार्गका] विशेषज्ञ उसको तुरन्त पहचान लेता है [कि यह रति नहीं रत्याभास है, भाव

प्रतिबिम्बस्तथा छाया रत्याभासो द्विधा मतः ।

तत्र प्रतिबिम्बः—

अश्रमाभीष्टनिर्वाही रतिलक्षणलक्षित ॥२१॥
भोगापवर्गसौख्यांशव्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः ।
दैवात्सद्भक्तसङ्गेन कीर्त्तनाद्यनुसारिणाम् ॥२२॥
प्रायः प्रसन्नमनसां भोगमोक्षादिरागिणाम् ।
केषांचिद् हृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति ॥२३॥
तद्भक्तहृन्नभःस्थस्य तत्संसर्गप्रभावतः ।

अथ छाया—

क्षुद्रकौतूहलमयी चञ्चला दुःखहारिणी ॥२४॥

नहीं भावाभास है] ॥ २० ॥

रत्याभासके दो भेद—

मुमुक्षु आदिमें पाए जानेवाले इस रत्याभास या भावाभासके भी ग्रन्थकारने (१) प्रतिबिम्ब रूप तथा (२) छाया रूपसे दो भेद किए हैं। प्रतिबिम्ब रूप रत्याभासकी प्राप्ति भक्तजनों के संसर्गसे होती है। भक्तजनोंके हृदयमें भक्तिके चन्द्रमाका उदय होता है। उनके सत्संगसे शुद्ध-हृदयवाले मुमुक्षुजनोंके अन्तस्तलमें भी कभी-कभी उसका प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। वह मुमुक्षुके हृदयमें उदित वास्तविक भाव नहीं है केवल संसर्गसे कुछ समयके लिए आ गया है। इस लिए उसको प्रतिबिम्ब रूप भावाभास या रत्याभास कहते हैं। इस प्रतिबिम्ब रूप रत्याभास का वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने अगली तीन कारिकाएँ लिखी हैं। उनका अर्थ इस प्रकार है कि—

(१) प्रतिबिम्ब रूप और (२) छाया रूप [इन भेदोंसे] रत्याभास [या भावाभास] दो प्रकारका माना गया है।

उनमेंसे प्रतिबिम्ब [रूप रत्याभासका लक्षण निम्न प्रकार है]—

बिना परिश्रमके [या स्वल्प परिश्रमसे] अभीष्ट [फल] को प्रदान कर देनेवाला, रतिके [रोमांच अश्रुपात आदि] लक्षणोंसे पहचाने जानेवाला और भोग-अपवर्गरूप सुखों [की कामना] का अभिव्यंजक [भगवद्भक्तोंके संसर्गसे प्राप्त होनेवाला भाव] 'प्रतिबन्ध' नामक रत्याभास है। २१।

दैवात् उत्तम भक्तके संगसे कीर्तन आदिमें अनुराग हो जानेसे प्रायः विशुद्ध हृदयवाले भोगमोक्षके अनुरागियोंमें भी—॥ २२ ॥

उन-उन भक्तोंके हृदयाकाशमें स्थित भाव-चन्द्रका प्रतिबिम्ब उन [भक्तों] के संसर्गके प्रभावसे किन्हीं [भोग-मोक्षके अनुरागियों] के हृदयमें भी उदय हो जाता है ॥ २३ ॥

इस प्रकार यहाँ तक प्रतिबिम्ब रूप प्रत्याभास या भावाभासका विवेचन किया गया। अब इसके आगे छाया रूप रत्याभासका या भावाभासका विवेचन आरम्भ करते हैं। छायारूप रत्याभास पूर्व-कथित प्रतिबिम्ब रूप रत्याभासकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होता है। इस छायाका लक्षण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

क्षुद्र कौतूहलको उत्पन्न करने वाली, चंचला, [फिर भी किसी अंशमें] दुःखका नाश

रतेश्छाया भवेत् किञ्चित्तत्सादृश्यावलम्बिनी ।
हरिप्रियक्रियाकालदेशपात्रादिसङ्गमात् ॥२५॥

अप्यानुषङ्गिकादेषा क्वचिदज्ञेष्वपीक्ष्यते ।
किं तु भाग्यं विना नासौ भावच्छायाऽप्युदञ्चति ॥२६॥

यदभ्युदयतः क्षेमं तत्र स्यादुत्तरोत्तरम् ।
हरिप्रियजनस्यैव प्रसादभरलाभतः ॥२७॥

भावाभासोऽपि सहसा भावतामुपगच्छति ।
तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमः ॥२८॥

क्रमेण क्षयमायाति स्वस्थः पूर्णशशी यथा ।

किं च—

भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः ॥२९॥
आभासतां च शनकैर्न्यूनजातीयतामपि ।

करने वाली, रतिकी छाया उससे मिलती-जुलती-सी होती है ॥ २४ ॥

भगवान्‌के प्रिय कार्य, काल, देश या पात्र आदिके संसर्गसे आनुषंगिक रूपसे यह कभी कभी अज्ञानियोंमें भी दिखलाई देती है ॥२५॥

किन्तु भाग्यके बिना यह भावच्छाया भी प्रायः उदित नहीं होती है जिसके उदय होने से बादको उत्तरोत्तर कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

भावाभासका वृद्धि और क्षय—

भगवद्भक्तोंके संसर्गसे मुमुक्षु आदिके हृदयमें जो यह कादाचित्क भावाभास उत्पन्न होता है वह उन्हीं भक्तोंकी कृपासे कभी स्थिर भी बन सकता है। और उस दशामें उनको विशुद्ध भावकी प्राप्ति हो सकती है। किन्तु उन्हीं भक्तोंकी अकृपा या अप्रसन्नतासे प्राप्त हुआ भाव या भावाभास विनष्ट भी हो सकता है। इस बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओं द्वारा दिखलाते हैं—

भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके ही विशेष प्रसादके प्राप्त होनेपर भावाभास भी सहसा भाव-रूपताको प्राप्त हो जाता है [भाव बन जाता है] ॥ २७ ॥

और उनका ही अपराध करनेसे [अनुत्तमः जिससे अधिक उत्तम दूसरा नहीं है अर्थात्] अत्यन्त उच्चकोटिका भावाभास भी स्वर्गमें स्थित पूर्ण चन्द्रमाके समान क्रमशः क्षीण हो जाता है ॥ २८ ॥

[इतना ही नहीं] और भी [अनिष्ट हो सकता है जैसे—]—

भगवान्‌के प्रिय [भक्तों] का अपराध करनेसे भाव भी अभावको प्राप्त हो जाता है [विनष्ट हो जाता है]। अथवा धीरे-धीरे भावाभास बन जाता है या हीन-जातीयताको प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

गाढासङ्गात्सदा याति मुमुक्षौ सुप्रतिष्ठिते ॥३०॥
आभासतामसौ किं वा भजनीयेशभावताम् ।
अत एव क्वचित्तेषु नव्यभक्तेषु दृश्यते ॥३१॥
क्षणमीश्वरभावोऽयं नृत्यादौ मुक्तिपक्षगः ।
साधनेक्षां विना यस्मिन्नकस्माद्भाव ईक्ष्यते ॥३२॥
विघ्नस्थगितमत्रोह्यं प्राग्भवीयं सुसाधनम् ।
लोकोत्तरचमत्कारकारकः सर्वशक्तिदः ॥३३॥
यः प्रथीयान् भवेद्भावः स तु कृष्णप्रसादजः ।
जने चेज्जातभावेऽपि वैगुण्यमिव दृश्यते ॥३४॥
कार्य्या तथाऽपि नासूया कृतार्थः सर्वथैव सः ।

यथा नारसिंहे—

भगवति च हरावनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ।
न हि शशकलुषच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः ॥२३२॥

भक्तोंके लिए मुमुक्षुओंका अधिक संग हानिप्रद है—

सुप्रतिष्ठित मुमुक्षुओंके साथ अधिक संगमें [भक्तके भीतर उत्पन्न हुआ] यह [भाव] या तो भावाभासताको प्राप्त हो जाता है अथवा फिर भजनीय परमात्माके स्वरूप [अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूपमें ब्रह्मके साथ अभेद बुद्धि] के रूपमें परिवर्तित हो जाता है। [ये दोनों ही अवस्थाएँ भक्तको श्रेयस्कर नहीं हैं। दोनों हीमें उसकी स्थिति पतित हो जाती है] ॥३०॥

इसलिए उन नए भक्तोंके भीतर नृत्य आदिके अवसरपर [भक्ति पक्षको छोड़कर] मुक्ति पक्षकी ओर झुकाव रखनेवाला ईश्वर भाव कुछ समयकेलिए दिखलाई देता है ॥३१॥

जिस [किसी सौभाग्यशाली भक्त] के भीतर साधनानुष्ठानके बिना ही अकस्मात् भाव दिखलाई देने लगता है उसके भीतर, विघ्नोंके कारण प्रतिहत-शक्ति हुआ पूर्व-जन्मका साधनका अनुष्ठान है [वही इस आकस्मिक भावकी उत्पत्तिका कारण है] यह समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

लोकोत्तर चमत्कारका जनक, सब प्रकारकी शक्तियोंका प्रदान करनेवाला जो अत्यन्त प्रबल भाव हो उसे [साधनानुष्ठान-जन्य अथवा भक्त-प्रसादजन्य न समझकर साक्षात् कृष्ण] भगवान्‌के प्रसादसे उत्पन्न समझना चाहिए ॥ ३३ ॥

जिस पुरुषमें भावकी उत्पत्ति हो गई है उस पुरुषमें यदि किसी प्रकारकी [चारित्रिक त्रुटि आदि रूप] विगुणता पाई जाय तो भी उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए क्योंकि [भगवद्भक्तिके प्राप्त हो जानेसे] वह सर्वथा कृतार्थ हो चुका है ॥ ३४ ॥

जैसाकि नृसिंह-पुराणमें [लिखा है]—

अनन्य भावसे भगवान्‌की उपासना करने वाला पुरुष अत्यन्त मलिन [चरित्रका] होने पर भी शोभायमान [आदरणीय] होता है। जैसे हरिणसे कलुष छवि वाला चन्द्रमा कभी

रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव ।
ऊष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वी ॥३५॥
इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे भावभक्तिलहरी ॥३॥

अन्धकारके समान तिरस्कारका पात्र नहीं होता है। [अपितु सदा पूजनीय ही रहता है। इसी प्रकार ईश्वरभक्त चारित्रिक किसी दुर्बलताके होनेपर भी पूज्य होता है]। २३२।

भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके बाद भी यदि पुरुषमें कोई वैगुण्य या चारित्रिक दुर्बलता पाई जाती है तो उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। यह बात जो यहाँ कही गई है वह अप-वादके रूपमें कही गई है। सामान्यतः तो भक्तजन इस स्थितिमें पहुँच जाते हैं कि वे प्रायः अशुभ आचरण नहीं करते हैं। अपनेको सदैव चारित्रिक दुर्बलताओंसे बचानेका यत्न करते हैं। सामान्य रूपसे जो भक्त कहलाने वाले लोग चारित्रिक दुर्बलताओंके शिकार बनते पाए जाते हैं वे वास्तविक भक्त नहीं हैं। छद्मवेषी भक्त बनकर अपनी उस साधुताकी आड़में अन्य वृत्तियोंको ही चरितार्थ करते हैं। उनके सम्बन्धमें यह उक्ति लागू नहीं होती है। वे तो सदैव निन्दाके पात्र ही हैं। किन्तु यदि कभी किसी वास्तविक भक्तमें मानव-सुलभ कोई न्यूनता पाई जावे तो केवल उनके लिए उसे किसी अंश तक क्षन्तव्य माना जा सकता है। यही इस उक्तिका भाव है। वह भक्तोंके लिए यथेष्टाचरणका प्रमाणपत्र नहीं है। ज्ञानमार्ग में जीवन्मुक्तके विषयमें कुछ इसी प्रकारकी स्थिति पाई जाती है। जीवन्मुक्तके लिए मातृवध पितृवध-जैसे कर्म भी पापजनक नहीं माने जाते हैं। 'न मातृवधेन न पितृवधेन'। किन्तु वह इस प्रकारके कर्म करता नहीं है। इसी बातको निम्न श्लोकमें कहा गया है—

प्राप्त तत्त्वावबोधस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥

रतिकी आनन्दैकरूपता—

इस प्रकरणमें रति शब्दका प्रयोग भगवद्विषयक भाव या रतिके लिए हो रहा है। किन्तु रति शब्द एक सामान्य शब्द है। भगवद्र रतिके अतिरिक्त लौकिक रतिकी भी स्थिति है। और शृङ्गाररसके स्थायिभावका नाम भी रति है। जहाँ कहीं भी रति और जिस रूपकी भी रति हो वह सदा एक प्रकारकी उष्णताको उत्पन्न करती है। भगवदविषयक रति भी भगवान्‌के विषयमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रेमको उत्पन्न करती हुई एक प्रकारकी उष्णताको व्यक्त करती है। किन्तु अत्यन्त उष्णताको वमन करने वाली होने पर भी वह सदा सब रूप में परम आनन्दको प्रदान करने वाली ही होती है। इसलिए ग्रन्थकारने अगली कारिकामें उसकी उपमा चन्द्रकलासे दी है। चन्द्रमाका प्रकाश अपना नहीं है, वह सूर्यकी उष्णतम रश्मियों द्वारा प्रकाशित होनेपर भी सदा शीतलता और आनन्द प्रदान करता है। इसी प्रकार स्वभावतः उष्ण होनेपर भी रति चन्द्रकलासे भी अधिक आनन्ददायिनी होती है। इसी बातको ग्रन्थकार इस लहरीकी अन्तिम कारिकामें लिखते हैं—

रति सदैव स्वभावतः उष्ण [होनेपर भी] अत्यन्त प्रबल आनन्दरूपा ही होती है। इसलिए ऊष्माका वमन करती हुई भी वह चन्द्रकलासे भी अधिक आह्लाददायिनी होती है॥ ३५॥

भक्तिरसामृतसिन्धुके पूर्वविभागमें भावलहरी नामक तृतीय लहरी समाप्त हुई ॥१-३॥

अथ चतुर्थी प्रेमभक्तिलहरी

अथ प्रेमा—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥१॥

यथा पञ्चरात्रे—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥२३३॥

भक्तिः प्रेमोच्यते भीष्ममुखैर्यत्र तु संगता ।
ममताऽन्यममत्वेन वर्जितेत्यत्र योजना ॥२॥

अथ चतुर्था प्रेमभक्तिलहरी

द्वितीय लहरीके आरम्भमें भक्तिके तीन भेद किए गए थे । (१) साधनभक्ति, (२) भावभक्ति और (३) प्रेमभक्ति । इनमेंसे साधनभक्ति व भावभक्तिका निरूपण पिछली दूसरी तथा तीसरी लहरियोंमें हो चुका है । अब इस चतुर्थ लहरीमें प्रेमभक्तिका निरूपण करेंगे । इसीलिए इस लहरीका नाम 'प्रेमभक्ति-लहरी' रखा गया है । मोटे रूपसे भक्तिके साधन-भक्ति और साध्यभक्ति दो भेद होते हैं । साध्यभक्तिके फिर भावभक्ति और प्रेमभक्ति नामसे दो भेद किए गए हैं । भाव और प्रेम दोनों साध्यभूत हैं । उनमें केवल मात्रा-कृत भेद है । भावभक्ति प्रारम्भिक श्रेणी है और प्रेमभक्ति उससे ऊँची अवस्थाका नाम है । प्रगाढ प्रबल 'भाव'का नाम ही 'प्रेम' हो जाता है । इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकार इस लहरीमें प्रेमका संक्षिप्त रूपसे विवेचन करते हैं । प्रारम्भसे प्रेमका लक्षण करते हुए उन्होंने इस लहरी, का प्रारम्भ निम्न प्रकारसे किया है ।

अब प्रेम [का लक्षण आदि करते हैं]—

अन्तःकरणको अत्यन्त द्रवीभूत करा देनेवाला और अत्यधिक ममतासे युक्त सान्द्र 'भाव'को ही विद्वान् लोग 'प्रेम' [नामसे] कहते हैं ॥ १ ॥

जैसाकि पञ्चरात्रमें [लिखा है]—

जहां अन्योंके साथ ममतासे रहित, ममता [केवल] विष्णुमें संगत होती है उस भक्ति को ही भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव, नारद आदिने 'प्रेमभक्ति' [नामसे] कहा है ।

नारद-पञ्चरात्रके इस श्लोकका अर्थ तनिक अस्पष्ट-सा है । 'अनन्यममता' का अथ अन्य किसीके भी प्रति ममतासे रहित यह करना चाहिए अन्योंके प्रति ममतासे रहित ममता जब विष्णुमें संगत होती है उस ममताको विद्वान् लोग 'प्रेमभक्ति' नामसे कहते हैं । यह श्लोकका अर्थ है । किन्तु शब्द-रचनाके अस्त-व्यस्त होनेसे यह अर्थ कठिनाईसे समझमें आता है । इसलिए ग्रन्थकारने स्वयं ही अगली कारिकामें इस श्लोककी व्याख्या निम्न प्रकारसे की है—

भीष्म इत्यादिने [अर्थात् यह श्लोकके 'भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः' इस पदकी व्याख्या है] उस भक्तिको प्रेम कहा है जिसमें अन्योंके प्रति ममत्वसे वर्जित ममता [विष्णुमें] संगत होती है । [अर्थात् अनन्यभावसे की जानेवाली भगवद्भक्ति ही 'प्रेम' नामसे कही गई है] ॥२॥

भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति स द्विधा ।

तत्र भावोत्थः—

भाव एवान्तरङ्गाणामङ्गानामनुसेवया ।।३।।

आरूढः परमोत्कर्षं भावोत्थः परिकीर्त्तितः ।

तत्र वैधभावोत्थो यथैकादशे—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकवाह्यः ॥२३४॥

रागानुगाभावोत्थो यथा पाद्मे—

न पतिं कामयेत् कंचिद् ब्रह्मचर्य्यस्थिता सदा ।
तामेव मूर्त्तिं ध्यायन्ती चन्द्रकान्तिर्वरानना ॥२३५॥
श्रीकृष्णगाथां गायन्ती रोमाञ्चोद्भेदलक्षणा ।
अस्मिन्मन्वन्तरे स्निग्धा श्रीकृष्णप्रियवार्त्तया ॥२३६॥

अथ हरेरतिप्रसादोत्थः—

प्रेमके दो भेद—

वह प्रेम भी (१) [अपने पूर्ववर्ती] भावसे उत्पन्न, अथवा (२) भगवान्‌की अत्यन्त लोकोत्तर कृपासे उत्पन्न [इस प्रकार] दो तरहका होता है ।

आगे ग्रन्थकार इन दोनों प्रकारके प्रेमको उपाहरण आदि द्वारा स्पष्ट करनेका यत्न करते हैं ।

उनमेंसे भावोत्थ [प्रेमका लक्षण उदाहरण निम्न प्रकार है]—

अन्तरङ्ग अङ्गोंके क्रमशः [निरन्तर] सेवनके द्वारा परम उत्कर्षको पहुँचा हुआ भाव ही भावोत्थ प्रेम कहलाता है ।। ३ ।।

उनमेंसे वैध भावसे उत्पन्न [प्रेमका उदाहरण] जैसा [कि भागवतके] ग्यारहवें स्कन्ध में [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

इस प्रकार व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाला वह [भक्त] अपने प्रिय [भगवान्] के नामके कीर्तनसे अनुराग-युक्त तथा द्रवित-चित्त होकर कभी हँसता है, कभी रोने लगता है, कभी चिल्लाता है, कभी उन्मत्तकी तरह गाने लगता है और कभी [लोकवाह्य अर्थात्] पागलको तरह नाँचता है । २३४ ।

रागानुगा [भक्ति] से उत्पन्न भावके द्वारा उद्भूत [प्रेमभक्तिका उदाहरण] जैसाकि पद्मपुराण [के निम्न श्लोक] में [पाया जाता है]—

चन्द्रमाके समान कान्तिवाली वह सुन्दरी उसी [कृष्णकी सुन्दर] मूर्तिका ध्यान करती हुई [कृष्णसे भिन्न] किसी अन्यको पति [रूपमें वरण करना] नहीं चाहती है और सदा ब्रह्मचर्य व्रतमें [अविवाहित रूपमें] रहती है । २३५ ।

[प्रेमातिरेकसे] श्रीकृष्णकी गाथाओंका गान करती हुई पुलकित-तनु [वह सुन्दरी] इस मन्वन्तर [इस जन्म] में भी श्रीकृष्णकी प्रिय वार्ता [के सुनने] से द्रवीभूत [स्निग्ध] हो जाती है । २३६ ।

भगवान्‌की अति कृपासे उत्पन्न [प्रेमका लक्षण और उदाहरण आगे देते हैं]—

हरेरतिप्रसादोऽयं सङ्गदानादिरात्मनः ।

यथैकादशे—

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसो सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥२३७॥

माहात्म्यज्ञानयुक्तश्च केवलश्चेति स द्विधा ॥४॥

तत्राद्यो यथा पञ्चरात्रे—

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्ट्‌र्यादि नान्यथा ॥२३८॥

केवलो यथा तत्रैव—

मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता ।
अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी ॥२३९॥ इति ।

महिमज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम् ।
रागानुगाश्रितानां तु प्रायशः केवलो भवेत् ॥५॥

भगवान्‌की यह अतिकृपा [भक्तको] अपने [अर्थात् भगवान्‌के] संग-दानसे आरम्भ होती है [संगदानं आदिर्यस्य सः सङ्गदानादिः] ।

जैसा कि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [पाया जाता है]—

श्रुतिगणोंको बिना पढ़े हुए, महापुरुषोंकी उपासना न करने वाले, व्रतोंका पालन और तपोंका अनुष्ठान न करनेवाले, भी वे [भक्त जिनको कि भगवान्‌की विशेष कृपा प्राप्त हो जाती है मेरे] सत्संगसे मुझको [अर्थात् भगवान्‌को] प्राप्त हो जाते हैं । २३७ ।

[प्रभुका वह अति प्रसाद प्रभुके] माहात्म्यके ज्ञानसे युक्त और केवल [अर्थात् माहात्म्य ज्ञानसे रहित] दो प्रकारका होता है ॥ ४ ॥

उनमेंसे प्रथम [अर्थात् माहात्म्य ज्ञानयुक्त अतिप्रसादका उदाहरण] जैसाकि पंचरात्र [के निम्न श्लोक] में [पाया जाता है]—

[प्रभुके] माहात्म्यके ज्ञानसे युक्त, अटल और सबसे अधिक स्नेह, 'भक्ति' कहलाता है उसीसे सार्ष्टि [सायुज्य] आदि [रूप मुक्ति प्राप्त] होती है अन्यथा नहीं । २३८ ।

केवल [अर्थात् माहात्म्यज्ञान-रहित प्रभुके अतिप्रसादका उदाहरण] जैसाकि वहीं [अर्थात् पञ्चरात्रमें निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

भगवान्‌के विषयमें अन्य अभिप्राय [अर्थात् किसी फल विशेषकी कामना] से रहित प्रेमयुक्त मनोवृत्तिका बना रहना ही भगवान्‌को वशमें करनेवाली भक्ति कहलाती है ।२३८।

दोनों प्रकारके प्रभुप्रसादकी व्यवस्था—

[इन दो प्रकारके प्रभुप्रसादोंमेंसे] महिमा-ज्ञानयुक्त [प्रभुप्रसाद प्रायः] विधिमार्गका अनुसरण करनेवालोंको [प्राप्त होता है] और रागानुगा [भक्तिका] का अनुगमन करनेवालोंको प्रायः केवल [अर्थात् माहात्म्यज्ञानसे रहित प्रभुका प्रसादातिशय] प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥६॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥७॥
धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा ॥८॥

अत एव नारदपञ्चरात्रे—

भावोन्मत्तो हरेः किञ्चिन्न वेद सुखमात्मनः।
दुःखं चेति महेशानि ! परमानन्दमाप्लुतः ॥२४०॥

प्रेम्ण एव विलासत्वाद्वैरल्यात्साधकेष्वपि।
अत्र स्नेहादयो भेदा विविच्य न हि शंसिताः ॥९॥
श्रीमत्प्रभुपदाम्भोजैः सर्वा भागवतामृते।
व्यक्तीकृताऽस्ति गूढाऽपि भक्तिसिद्धान्तमाधुरी ॥१०॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे प्रेमभक्तिलहरी ॥४॥

प्रेम आदिकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया—

सबसे पहले १. श्रद्धा [की उत्पत्ति होती है] उसके बाद २. साधुसंग, तदनन्तर ३. भजनक्रिया, तब ४. अनर्थ निवृत्ति, उसके बाद ५. निष्ठा विश्वास, उसके बाद ६. रुचि, तदनन्तर ७. आसक्ति फिर ८. भाव, उसके बाद ९. प्रेमका उदय होता है। साधकोंके भीतर प्रेमके प्रादुर्भूत होनेका यह क्रम बतलाया गया है ॥ ६-७ ॥

जिस सौभाग्यशालीके चित्तके भीतर यह अपूर्व प्रेम उत्पन्न होता है उसकी मुद्राको [अन्तर्वाणि] विद्वान् लोग भी भली प्रकार समझनेमें असमर्थ रहते हैं ॥ ८ ॥

इसीलिए नारदपञ्चरात्रमें [लिखा है]—

भगवान्के प्रेममें मत्त पुरुष परमानन्दमें निमग्न होकर हे पार्वति ! न अपने सुखको समझता है और न दुःखको [अर्थात् लौकिक सुख-दुःख सबको भूल जाता है]। २४०।

[साध्यभक्तिमें प्रेमसे भी परे स्नेह आदि अन्य भी भेद हो सकते हैं किन्तु उनके केवल प्रेमका ही विलासमात्र होनेसे, और साधकोंमें बहुत पाए जानेके कारण यहाँ स्नेहादि] भेदोंको विस्तारपूर्वक यहाँ विवेचन करके नहीं दिखलाया है ॥ ९ ॥

श्रीप्रभुके चरणकमलोंने भागवतामृतमें भक्तिसिद्धान्तकी गूढ़ माधुरीको भी भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है। [विशेष जिज्ञासुओंको वहींसे देखना चाहिए] ॥ १० ॥

भक्तिरसामृतसिन्धुके पूर्वविभागमें चतुर्थी प्रेमभक्तिलहरी
समाप्त हुई ॥ ४ ॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।
तुष्यतु सनातनात्मा प्रथमविभागे रसाम्बुनिधेः ॥११॥
इति भक्तिरसामृतसिन्धौ रसोपयोगिस्थायिभावोपपादनो
नाम पूर्वो विभागः ॥ १ ॥

पूर्वविभागका उपसंहार—

यहाँ तक चतुर्थी प्रेमलहरीका विषय समाप्त हो गया। इसलिए ग्रन्थकारने १०वीं कारिकाके बाद चतुर्थी लहरीकी समाप्तिसूचक पुष्पिका भी दे दी है। किन्तु इसके बाद भी एक और कारिका जिसपर ११ संख्या पड़ी हुई है, यहाँ पाई जाती है। यह वस्तुतः पूर्व-विभागकी समाप्तिपर उपसंहार रूपमें लिखी गई है। उसके बाद प्रथमविभागकी समाप्ति सूचक श्लोक दिया गया है। पहली 'पुष्पिका' चतुर्थ लहरीकी समाप्तिको सूचित करती है और यह दूसरी 'पुष्पिका' सम्पूर्ण पूर्वविभागकी समाप्तिको सूचित करती है।

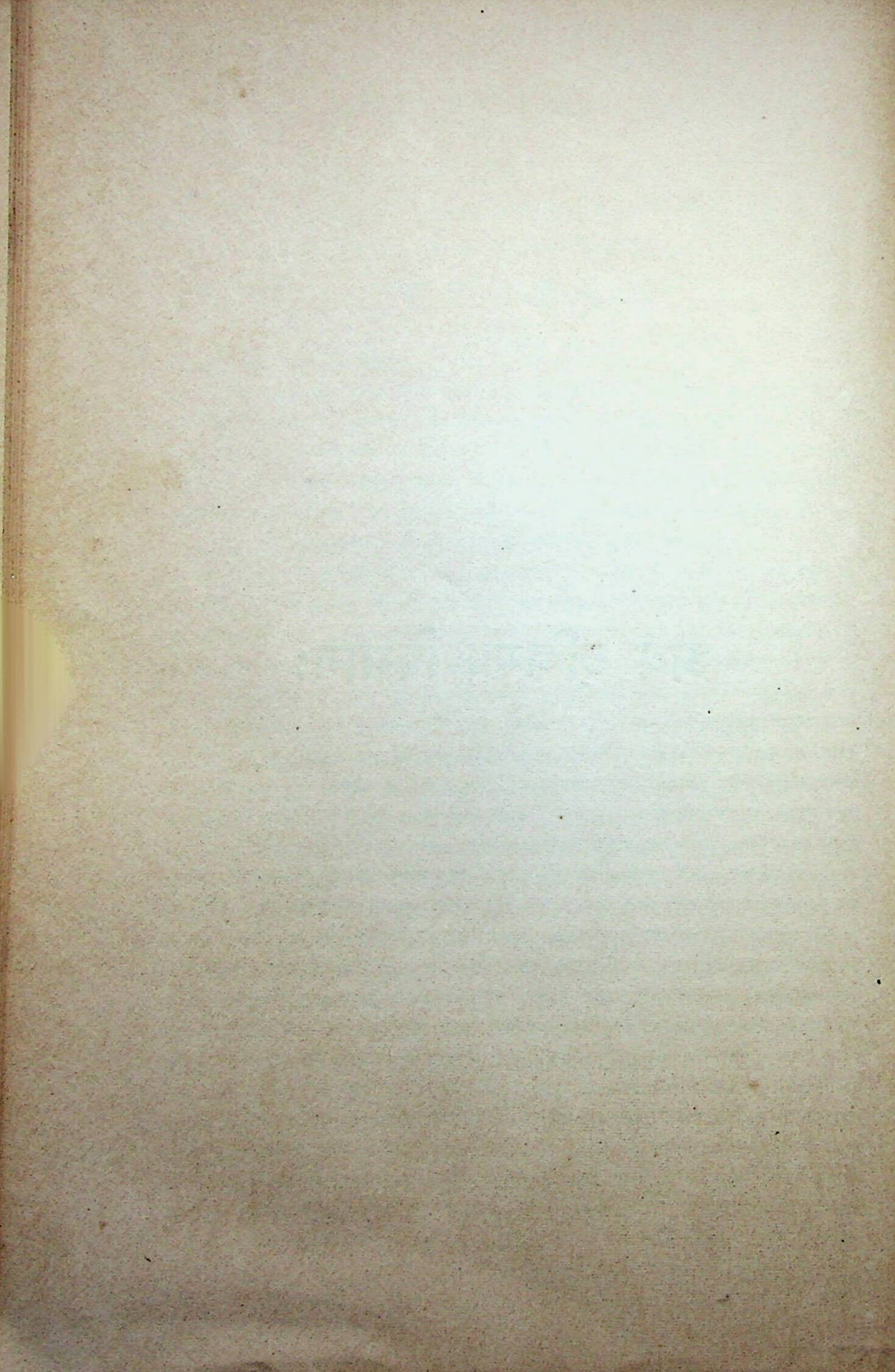
पूर्वविभागकी समाप्तिपर जो यह उपसंहारात्मक श्लोक लिखा गया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें एक बात तो राम और कृष्ण दोनों के भगवद्रूप होने और उनके अभेद को सूचित करती है। गोपालरूप शोभाधारी होनेपर भी रघनाथभावको प्रकट करनेवाले इन पदोंके द्वारा गोपाल और रघुनाथका अभेद प्रकाशित होता है। इसके अतिरिक्त ये गोपाल तथा रघुनाथ शब्द ग्रन्थकार श्री रूप गोस्वामीके सहयोगियोंके नाम भी है। राम और कृष्ण के अतिरिक्त शब्दोंके द्वारा ग्रन्थकारने अपने सहयोगियोंको भी स्मरण किया है। इसी प्रकार श्लोक में आए हुए 'रूप' तथा 'सनातन' शब्द भी श्लिष्ट हैं। ये दोनों शब्द अपने सामान्य अर्थको छोड़कर दूसरे अर्थको भी व्यक्त करते हैं। इनमेंसे 'रूप' शब्द इस ग्रन्थके निर्माता श्री रूपगोस्वामीका और 'सनातन' शब्द उनके अग्रज ज्येष्ठ भ्राता सनातनदेवका भी बोध करता है। जिस प्रकार इस पूर्वविभागके आरम्भमें ग्रन्थकारने 'सनातनतनोः' और 'मदीशस्य' आदि शब्दों द्वारा अपने गुरुदेव श्री चैतन्यमहाप्रभु तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनदेवका भी स्मरण किया था। इसी प्रकार इस विभागके अन्तमें उन्होंने फिर अपने मित्रों तथा सनातनदेवका स्मरण किया है। इससे सनातनदेवके प्रति उनके अतुलनीय स्नेहकी अभिव्यक्ति होती है। इन्हीं सब बातों को ध्यानमें कर श्लिष्ट श्लोक द्वारा इस पूर्वविभागका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

गोपाल [श्रीकृष्ण] के रूपकी शोभाको धारण करते हुए भी रघुनाथ [राम] के भाव [स्वरूप अथवा प्रेम] को प्रकाशित करने वाले सनातन स्वरूप [भगवान और सनातनदेव ज्येष्ठ भ्राता] भक्तिरसामृतसिन्धुके पूर्वविभाग [के समाप्त होने] पर प्रसन्न हों॥ ११॥

१. रूप, २. सनातन, ३. जीव, ४. गोपालभट्ट, ५. रघुनाथदास और ६. रघुनाथ भट्ट ये छहों वृन्दावनके षड्गोस्वामी प्रसिद्ध हैं। एक जीवगोस्वामीको छोड़कर अन्य सबके नामोंका उल्लेख यहाँ ग्रन्थकारने कर दिया है।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें रसके उपयोगी स्थायिभावका उपपादन
करने वाला पूर्वविभाग समाप्त हुआ।

अथ दक्षिणो विभागः



अथ दक्षिणो विभागः

प्रथमा विभावलहरी

प्रबलमनन्याश्रयिणा निषेवितः सहजरूपेण ।
अघमथनो मथुरायां सदा सनातनतनुर्जयति ।।१।।

अथ दक्षिणो विभागः

भक्तिरस-सामान्यनिरूपणपरक दक्षिण विभागमें प्रथमा विभावलहरी

मंगलाचरण—

जैसाकि ग्रन्थके आरम्भमें कहा जा चुका है कि यह ग्रन्थ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर विभाग रूप चार विभागोंमें विभक्त किया गया है। पूर्वविभागमें सामान्य रूपसे भक्ति के भेदोंका निरूपण किया गया था। और चार लहरियोंमें उसकी समाप्ति हुई है। इस विभाग की समाप्तिमें ग्रन्थकारने समाप्ति सूचक श्लोक तथा पुष्पिका दोनों देकर उस भागको इस तरह समाप्त कर दिया है मानों वहां स्वयं ग्रन्थकी समाप्ति हो रहीं है। इसलिए अब जबकि दक्षिणविभाग नामक द्वितीय विभागका आरम्भ करने जा रहे हैं तो इस विभागके आरम्भमें फिर मङ्गलाचरणकी आवश्यकता अनुभव हुई। इसलिए ग्रन्थकारने इस विभागके आरम्भमें प्रथम श्लोक मङ्गलाचरणके रूपमें लिखा है। इस श्लोकमें अपने आराध्यदेव कृष्णके स्मरणके साथ उन्होंने अपने अग्रज भ्राता श्रीं सनातन देवका भीं स्मरण किया है। इस मङ्गल-श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

मथुरामें अपने सहज अनन्याश्रित रूपसे प्रबल रूपसे सेवन किए जाने वाले [अर्थात् उपास्मान] पापोका नाश करनेवाले, सनातन-स्वरूप [श्रीकृष्ण] सर्वोत्कर्षशाली हैं ।। १ ।।

दक्षिणविभागका विषय—

ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थका नाम 'भक्तिरसामृतसिन्धु' रखा है। इस नामसे ही स्पष्ट है कि वे भक्तिरसको रस हीं नहीं सर्वोत्कृष्ट रस अमृतस्वरूप मानते हैं। रस-सिद्धान्त की विवेचना मुख्य रूपसे साहित्यशास्त्रमें कीं गई है। किन्तु वहाँ भक्ति नामका कोई रस नहीं माना गया है। देवादि-विषयक रति जिसको कि भक्ति सिद्धान्तमें 'रस' नामसे कहा जाता है साहित्यशास्त्रमें केवल 'भाव'के रूपसे उसकीं स्थिति पाई जातीं है। 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः भावः प्रोक्तः', अर्थात् देवादि विषयक रति तथा व्यंग्य रूपसे प्रतींत होने वाला व्यभिचारभाव, इन दोनोंको 'भाव' कहा जाता है। इस प्रकार साहित्यशास्त्रमें 'भक्ति'

रसामृताब्धेर्भागेऽस्मिन् द्वितीये दक्षिणाभिधे ।
सामान्यभगवद्भक्तिरसस्तावदुदीर्य्यते ॥२॥
अस्य पञ्च लहर्य्यः स्युर्विभावाख्याऽग्रिमा मता ।
द्वितीया त्वनुभावाख्या तृतीया सात्त्विकाभिधा ॥३॥

को 'रस' की श्रेणीमें न गिनकर 'भाव' की श्रेणीमें गिना गया है। भावकी स्थिति रससे निम्न कोटिकी है। साहित्यशास्त्रमें शृङ्गार आदि आठ रसोंको प्रायः माना गया है। शान्तरसके विषयमें आचार्योंमें मतभेद है। अभिनवगुप्त आदि कुछ लोग स्पष्ट रूपसे शान्तरसकी स्थिति मानते हैं। धनिक, धनञ्जय आदि कुछ लोग स्पष्ट रूपसे उसको रस माननेका खण्डन करते हैं। परन्तु भक्तिको रस माननेवाला साहित्यशास्त्रका कोई भी सम्प्रदाय नहीं है। भक्तिरस की सृष्टि धार्मिक साहित्यमें हुई है। धार्मिक-साहित्यमें साहित्यिक रसोंकी अपेक्षा शान्त तथा भक्तिरसको हीं विशेष महत्व दिया गया है। वहाँ इनको 'रसराज' और 'रसामृत'-जैसे आदर-व्यञ्जक शब्दोंमें निर्दिष्ट किया जाता है। इस भक्तिरसकी उद्भावना करनेवाला प्रमुख ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है। भागवतकी रसवत्ता सहृदयोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। निम्नलिखित श्लोकमें भागवतकी रसवत्ताका प्रदर्शन बड़ी सुन्दरताके साथ किया है—

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।"

रस-सिद्धान्त साहित्यशास्त्रका सिद्धान्त है। भक्तिमार्गके अनुयायियोंने जब अपने भक्ति-सिद्धान्तको रस-सिद्धान्तके साथ जोड़कर उसे रसामृतका रूप प्रदान करनेका यत्न आरम्भ किया तो उन्हें अन्य साहित्यिक रसोंकी प्रक्रियाके अनुसार ही भक्तिकी रसरूपता सिद्ध करनेकी चिन्ता हुई। उसी चिन्ताका फल यह ग्रन्थ और उसमें भी विशेषकर यह द्वितीय दक्षिण विभाग है। इस विभागमें ग्रन्थकारने बिलकुल साहित्यशास्त्रकी प्रक्रियाका अवलम्बन कर भक्तिको स्वतन्त्र रस सिद्ध करनेका यत्न किया है। साहित्यशास्त्रमें 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसष्पत्तिः' है। इस भरतसूत्रके आधारपर रसका विवेचन किया जाता है। भरतसूत्रके अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके द्वारा व्यक्त हुआ स्थायिभाव रस कहलाता है। इस लक्षणके अनुसार रसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्तिमें १. विभाव, २. अनुभाव, ३. व्यभिचारिभाव, ४. स्थायिभाव और ५. सात्त्विकभाव इन पाँचकी आवश्यकता पड़ती है। इनके विना रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए भक्तिरसकी अभिव्यक्तिके लिए भी इन पाँचोंकी आवश्यकता होना अपरिहार्य है। इस दक्षिणविभागमें ग्रन्थकारने भक्तिरसके उपयुक्त विभाव, अनुभाव आदि पाँचोका वर्णन किया है। इसी दृष्टिसे उन्होंने इस दक्षिण विभागको पाँच लहरियोंमें विभक्त किया है। और उनमें क्रमशः १. विभाव, २. अनुभाव ३. सात्त्विकभाव, ४. व्यभिचारिभाव और ५. स्थायिभावका विवेचन किया है। यही संक्षेपमें इस दक्षिणविभागका प्रतिपाद्य विषय है। मङ्गलाचरणके वाद ग्रन्थकार अगले दो श्लोकोंमें दक्षिणविभागके विषयका निर्देश निम्न प्रकार करते हैं—

भक्तिरसामृतसिन्धुके दक्षिणविभाग नामक इस द्वितीय विभागमें सामान्य रूपसे भगवद्भक्ति-रसका निरूपण किया जा रहा है ॥ २ ॥

इसमें पांच लहरियां रखी गई हैं जिनमेंसे पहली विभावलहरी है। दूसरी अनुभाव

व्यभिचार्य्यभिधा तुर्य्या स्थायिसंज्ञा तु पञ्चमी ।
अथास्याः केशवरतेर्लक्षिताया निगद्यते ॥४॥
सामग्रीपरिपोषेण परमा रसरूपता ।
बिभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ॥५॥
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ॥६॥
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना ।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते ॥७॥
भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम् ।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम् ॥८॥

लहरी, तीसरी सात्त्विकविभावलहरी, चौथी व्यभिचारलहरी और पांचवीं स्थायिभावलहरी कहलाती है ॥ ३-४ ॥

अब [विभाव, अनुभाव आदि रूप] सामग्रीके द्वारा पुष्ट होनेसे इस पूर्वकथित भगवद्-भक्ति [केशवरतेर्लक्षितायाः] की परम रसरूपता [सर्वोत्कृष्ट रसरूपता] का उपपादन करते हैं ॥ ५ ॥

विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारिभावोंके द्वारा श्रवण [मनन] आदि की सहायतासे भक्तोंके हृदयमें आस्वाद्यताको प्राप्त हुआ यह भगवद्रति [एषा कृष्णरतिः] रूप स्थायिभाव कहलाता है ॥ ६ ॥

विभाव, अनुभाव आदि रसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्तिकी सामग्री है । किन्तु उसके साथ ही रसका अनुभव करने वाला व्यक्ति भी प्रत्येक व्यक्ति नहीं हो सकता है । उसके लिए पूर्वजन्मके और इस जन्मके दोनों प्रकारके विशेष संस्कारोंकी आवश्यकता है । उन दोनों प्रकारके संस्कारोंसे युक्त सहृदय-पुरुष ही रसानुभूतिका अधिकारी हो सकता है । इसी प्रकार भक्तिरसकी अनुभूतिके लिए भी प्राक्तन तथा आधुनिक दोनों प्रकारके पुण्य-संस्कारोंकी आवश्यकता होती है । उन संस्कारोंसे युक्त विशिष्ट पुरुषोंको ही भक्तिरसका आस्वाद हो सकता है । अन्योंको नहीं । इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें कहते हैं—

जिसके भीतर पूर्वजन्मकी [प्राक्तनी], और इस जन्मकी [आधुनिकी] उत्तम भक्ति-वासना [भक्ति-संस्कार] विद्यमान हैं उसीके हृदयमें इस भक्तिरसका आस्वादन हो सकता है [अन्योंको नहीं] ॥ ७ ॥

भक्तिरसका आश्रय और उत्पत्ति प्रकार—

अगली चार कारिकाओंमें ग्रन्थकार भक्तिरस कहाँ और कैसे उत्पन्न होता है इसकी विवेचना करते हुए लिखते हैं कि—

[साधन-रूपा वैधी] भक्तिके द्वारा जिनके दोषोंका शमन हो गया है, अत एव प्रसन्न और निर्मल चित्तवाले, रसिकजनोंके संसर्गमें मग्न रहनेवाले, भगवान्‌में अनुरक्त,

जीवनीभूतगोबिन्दपादभक्तिसुखश्रियाम् ।
प्रेमान्तरङ्गभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम् ॥९॥
भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला ।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम् ॥१०॥
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि ।
प्रौढानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम् ॥११॥
किं तु प्रेमा विभावाद्यैः स्वल्पैर्नीतोऽप्यणीयसीम् ।
विभावनाद्यवस्थां तु सद्य आस्वाद्यतां व्रजेत् ॥१२॥

अत्र विभावादिसामान्यलक्षणं—

ये कृष्णभक्तमुरलीनादाद्या हेतवो रतेः ।
कार्य्यभूताः स्मिताद्याश्च तथाऽष्टौ स्तब्धताऽऽदयः ॥१३॥
निर्वेदाद्याः सहायाश्च ते ज्ञेया रसभावने ।
विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ॥१४॥

भगवान्के चरणारविन्दकी भक्तिका सुख ही जिनका प्राण है, और जो सदा प्रेमके अन्तरंग कृत्योंका ही अनुष्ठान करते हैं—

इस प्रकारसे भक्तोंके हृदयमें [प्राक्तन तथा आधुनिक] दोनों प्रकारके संस्कारोंसे उज्ज्वल आनन्द-रूपा रति ही आस्वाद-योग्यताको प्राप्त होकर—

कृष्ण आदि रूप विभाव आदिके द्वारा देखनेसे [गतैरनुभवाध्वनि] प्रौढ आनन्दके चमत्कारको पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाती है [उसीका नाम भक्तिरस है]॥ ८-११ ॥

इन चार कारिकाओंमें ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि रति या भाव किस प्रकार प्राक्तन तथा आधुनिक उभयविध संस्कारोंकी सहायतासे विभावादि द्वारा परिपुष्ट होकर रस-रूपताको प्राप्त होता है। इससे अगली एक कारिकामें ग्रन्थकार प्रेमकी रसरूपताको प्राप्ति का प्रकार दिखलाते हैं। प्रेम और रति या भावके भेदका प्रदर्शन पहले किया जा चुका है। प्रेम, भावसे उत्कृष्ट अवस्था है। अत एव वह भावकी अपेक्षा अधिक सरलतासे रसरूपताको प्राप्त हो जाता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें इस प्रकार लिखते हैं—

किन्तु प्रेम थोड़े-से विभाव आदिके द्वारा भी सूक्ष्म रूपसे विभावन आदि व्यापारको प्राप्त कर तत्काल ही आस्वाद-योग्य [भक्तिरसके रूपमें परिणत] हो जाता है॥ १२ ॥

अब विभावादिके सामान्य लक्षण [लिखते हैं]—

जो कृष्ण या उनके भक्त [आलम्बन-विभाव रूप] और मुरली नाद आदि [रूप उद्दीपन विभाव] रतिके [क्रमशः आलम्बन और उद्दीपन रूपसे] कारण होते हैं [वे दो प्रकार के 'विभाव' कहलाते हैं। और जो उस रतिके] कार्य रूप स्मित आदि [हैं वे अनुभाव] तथा स्तब्धता आदि [सात्त्विकभाव है]—

और जो वैराग्य आदि [रतिके] सहायक हैं वे ही [भक्ति] रसकी अभिव्यक्तिमें

तत्र विभावाः—

तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः ।
ते द्विधाऽऽलम्बना एके तथैवोद्दीपनाः परे ॥१५॥

तदुक्तमग्निपुराणे—

विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र, येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ॥२४१॥

तत्रालम्बनाः—

कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः ।
रत्यादेर्विषयत्वेन तथाऽऽधारतयाऽपि च ॥१६॥

तत्र श्रीकृष्णः—

नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
यत्र नित्यतया सर्वे विराजन्ते महागुणाः ॥१७॥

[क्रमशः] विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारिभाव कहलाते हैं ॥ १३-१४ ॥

इन कारिकाओंमें रतिके आलम्बन और उद्दीपन रूप दो प्रकारके कारणोंको 'विभाव', रतिके कार्यभूत स्मित आदिको 'अनुभाव', तथा उसके सहकारी निर्वेदादिको 'व्यभिचारिभाव' कहा गया है। इन तीनोंके ये लक्षण बिलकुल साहित्यशास्त्रके आधारपर किए गए हैं। साहित्यशास्त्रमें भी रति आदिके कारण कार्य तथा सहकारियोंको क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव नामसे कहा जाता है।

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेत् काव्य-नाट्ययोः ।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः ।"

अब विभावोंका विशेष रूपसे निरूपण करते हैं।

अब विभाव [कहे जाते हैं]—

रतिके आस्वादनके [जो] कारण [हैं वे] विभाव कहलाते हैं। वे दो प्रकारके होते हैं एक आलम्बन [विभाव] और दूसरे उद्दीपन [विभाव] ॥ १५ ॥

जैसाकि अग्निपुराणमें कहा है—

रति आदि [स्थायिभावों] को जिसमें और जिससे प्रतीति होती है वह आलम्बन और उद्दीपन नामका दो प्रकारका विभाव होता है। २४१।

उनमेंसे [भक्तिरसके] आलम्बन [आगे कहते हैं]—

कृष्ण और उनके भक्त [इन दोनों] को विद्वानोंने [भक्तिरसका] आलम्बन [विभाव] माना है। क्योंकि वे ही रतिके विषय और रतिके आधार होते हैं। [कृष्ण, भक्तिके विषयरूप होनेसे और भक्तोंके भक्तिके आधाररूप होनेसे दोनों आलम्बन विभाव कहलाते हैं] ॥१६॥

उनमेंसे कृष्ण [रूप आलम्बन विभावका विवेचन करते हैं]—

[साहित्यशास्त्रमें कहे हुए धीरोदात्त आदि सोलह प्रकारके] नायकोंके शिरोमणि

सोऽन्यरूपस्वरूपाभ्यामस्मिन्नालम्बनो मतः ।

तत्रान्यरूपेण—

हन्त मे कथमुदेति सवत्से वत्सपालपटले रतिरत्र ।
इत्यनिश्चितमतिर्बलदेवो विस्मयस्तिमितमूर्त्तिरिवासीत् ॥२४२॥

अथ स्वरूपं—

आवृतं प्रकटं चेति स्वरूपं कथितं द्विधा ॥१८॥

तत्रावृतं—

अन्यवेषादिनाऽऽच्छन्नं स्वरूपं प्रोक्तमावृतम् ।

तेन यथा—

मां स्नेहयति किमुच्चैर्महिलेयं द्वारकाऽवरोधेऽत्र ।
आं विदितं कुतुकार्थी वनितावेषो हरिश्चरति ॥२४३॥

भगवान् कृष्ण स्वयं [भक्तिरसके विषय होनेसे] नायक [आलम्बन विभाव] हैं । जिनके भीतर समस्त महागुण नित्य रूपसे विराजमान रहते हैं ॥ १७ ॥

वे अन्य स्वरूपसे और अपने स्वरूपसे [दो प्रकारसे] इस [भक्तिरस] में आलम्बन माने गए हैं ।

उनमेंसे अन्यरूपसे [आलम्बन होनेका उदाहरण] जैसाकि [निम्न श्लोकमें कहा है]—

कृष्ण बहुतसे गोपाल-बालोंके बीचमें खेल रहे हैं । वे अपने हाथमें बछड़ेको पकड़े हुए हैं । गोपालबालोंके भीतर उस सवत्स, बछड़ा पकड़े हुए, गोपाल-बालकी ओर बलदेवका विशेष आकर्षण न जाने क्यों हो रहा है । इस बातको बलदेव नहीं समझ पा रहे हैं । पर वास्तवमें वह सवत्स बालकृष्ण रूप ही है । इसीलिए उसमें अन्योंकी अपेक्षा विशेष आकर्षण है । इस प्रकार यहाँ कृष्ण अन्य रूपसे अर्थात् गोपाल-बालके रूपसे भक्तिरसके आलम्बन बने हैं । इस आशयसे यह उदाहरण दिया गया है । उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

वत्सपालकोंके समूहमेंसे बछड़ेको पकड़े हुए इस [वत्सपाल] में ही मेरी प्रीति क्यों उत्पन्न हो रही है इसका निश्चय न कर सकनेके कारण बलदेव आश्चर्यसे स्तब्ध हो गए । २४२ ।

अब अपना स्वरूप [कहते हैं]—

[कृष्णका] अपना रूप भी १. आवृत और २. प्रकट भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥ १७ ॥

उनमेंसे आवृत [स्वरूपका उदाहरण आगे देते हैं]—

अन्यके वेष आदिसे आच्छादित [कृष्णका] स्वरूप आवृत-स्वरूप कहलाता है ।

उस [आवृत स्वरूप] से [उदाहरण] जैसे—

द्वारकाके अन्तःपुरमें यह महिला मेरे भीतर विशेष स्नेह क्यों उत्पन्न कर रही है । अच्छा, समझ गया, कौतुक [मनोरंजन] केलिए स्त्रीका रूप धारण किए हुए श्रीकृष्ण ही घूम रहे हैं । २४३ ।

प्रकटस्वरूपेण यथा—

अयं कम्बुग्रीवः कमलकमनीयाक्षिपटिमा
तमालश्यामाङ्गद्युतिरतितरां छत्रितशिराः ।
दरश्रीवत्साङ्कः स्फुरदरिदराद्यङ्कितकरः
करोत्युच्चैर्मोदं मम मधुरमूर्त्तिर्मधुरिपुः ॥२४४॥

अथ तद्गुणाः—

अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्वसल्लक्षणान्वितः ॥१९॥
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसाऽन्वितः ।
विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः ॥२०॥
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभाऽन्वितः ।
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढव्रतः ॥२१॥
देशकालसुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी ।
स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गभीरो धृतिमान् समः ॥२२॥
वदान्यो धार्म्मिकः शूरः करुणो मान्यमानकृत् ।
दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागतपालकः ॥२३॥

प्रकट रूपसे [कृष्णके आलम्बन होनेका उदाहरण] जैसे—

शङ्खकी-सी गर्दनवाले, कनकके समान सुन्दर नेत्र कान्ति वाले, तमालके समान अत्यन्त श्यामल देह वाले, और [घुंघराले बालोंसे] जिनका सिर छत्र धारण किए हुए-सा प्रतीत होता है और [कृष्णके वक्षःस्थल परका चिन्ह श्रीवत्स कहलाता है] छोटेसे श्रीवत्स [चिन्ह] से अङ्कित, [अरि अर्थात् चक्र और दर अर्थात् शङ्ख] चक्र तथा शङ्ख जिसके हाथपर अङ्कित हैं इस प्रकार सुन्दर शरीर वाले कृष्ण मुझे अत्यन्त आनन्द प्रदान कर रहे हैं । २४४ ।

उस [नायक रूप कृष्ण] के गुण [लिखते हैं]—

यह [कृष्ण रूप] नायक १. सुन्दर अंगवाला, २. समस्त [शुभ] लक्षणोंसे युक्त, ३. रुचिर, ४. तेजोयुक्त, ५. अत्यन्त बलवान्, ६. सुन्दर अवस्था [कैशोरावस्था] से युक्त, ७. विविध और अद्भुत भाषाओंको जाननेवाला, ८. सत्यभाषी, ९. प्रियवादी, १०. वावदूक, [अत्यन्त अधिक बोलनेवाला], ११. अत्यन्त विद्वान्, १२. बुद्धिमान, १३. प्रतिभाशाली, १४. विदग्ध [कलाओंमें कुशल], १५. चतुर [तीव्रबुद्धि], १६. दक्ष [क्रियानिपुण], १७. कृतज्ञ, और १८. अत्यन्त दृढ़व्रती [है]—॥१९-२१॥

१९. देश, काल और पात्रोंको भली प्रकार पहिचाननेवाला, २०. शास्त्रोंसे [सब बातों को] देखनेवाला, २१. पवित्र, २२. जितेन्द्रिय, २३. स्थिर, २४. इन्द्रियनिग्रही, २५. क्षमाशील २६. गम्भीर, २७. धैर्यशाली, और २८. समदृष्टि [है]—॥२२॥

२९. दानी, ३०. धार्मिक, ३१. शूरवीर, ३२. दयालु ३३. मान्योंका सम्मान करनेवाला, ३४. उदार, ३५. विनयशील, ३६. लज्जालु, ३७. शरणागतोंकी रक्षा करनेवाला [है]—॥२३॥

सुखी भक्तसुहृत प्रेमवश्यः सर्वशुभङ्करः ।
प्रतापी कीर्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः ॥२४॥

नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान् ।
वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्त्तिताः ॥२५॥

समुद्रा इव पञ्चाशद् दुर्विगाहा हरेरमी ।
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दुबिन्दुतया क्वचित् ॥२६॥

परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे ।
तथा हि पाद्मे पार्वत्यै शितिकण्ठेन तद्गुणाः ॥२७॥

कन्दर्पकोटिलावण्या इत्याद्याः परिकीर्त्तिताः ।
एत एव गुणाः प्रायो धर्म्माय वनमालिनः ॥२८॥

पृथिव्या प्रथमस्कन्धे प्रथयाश्चक्रिरे स्फुटम् ।

यथा—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिः त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥२४५॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्य्यं शौर्य्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥२४६॥

---

३८. सुखी, ३९. भक्तोंका मित्र, ४०. प्रेमके वशीभूत, ४१. सबका कल्याण करनेवाला ४२. प्रतापी, ४३. यशस्वी, ४४. सब लोगोंका प्रिय और सज्जनोंका सहारा [है]—॥२४॥

४६. स्त्रियोंके मनको हरण करने वाला, ४७. सबका आराध्य, ४८. समृद्धिशाली, ४९. वरेण्य, और ५०. ईश्वर [ऐश्वर्यशाली] है। समुद्रके समान दुरवगाह ये उसके [कृष्णके] पचास गुण कहे गए हैं ॥ २५ ॥

जीवोंमें ये [गुण] बिन्दु रूपसे [अत्यन्त अल्पमात्रामें] कहीं रहनेपर भी परिपूर्ण रूपसे उसी पुरुषोत्तम [कृष्ण] में विराजते हैं ॥ २६ ॥

जैसेकि पद्मपुराणमें शिवजीने पार्वतीसे कामदेवके समान सौन्दर्य आदि [रूप गुण] कहे हैं ॥ २७ ॥

प्रायः कृष्णके इन्हीं गुणोंको प्रथम स्कन्धमें पृथिवीने धर्मके सामने प्रकट किया है ॥ २८ ॥

जैसेकि [भागवतके प्रथम स्कन्धमें इन गुणोंको गिनाया गया है]—

१ सत्य, २ शौच, ३ दया, ४ सहनशीलता, ५ त्याग, ६ सन्तोष, ७ सरलता, ८ शम, ९ दम, १० तप, ११ समता, १२ तितिक्षा, १३ वैराग्य, १४ विद्या,—।२४५।

१५ ज्ञान, १६ वैराग्य, १७ ऐश्वर्य, १८ शूरता, १९ तेज, २० बल, २१ स्मृति, २२ स्वतन्त्रता, २३ कौशल, २४ कान्ति, २५ धैर्य, २६ कोमलता—। २४६ ।

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं मह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्य्यं स्थैर्य्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥२४७॥
इमे चान्ये च भगवन्! नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचिद् ॥२४८॥ इति,

अथ पञ्च गुणा ये स्युरंशेन गिरिशादिषु ॥२९॥
सदास्वरूपसम्प्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः।
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः सर्वसिद्धिनिषेवितः ॥३०॥
अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादिवर्त्तिनः।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः ॥३१॥
अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः ॥३२॥
सर्व्वाद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः।
अतुल्यमधुरप्रेममण्डितप्रियमण्डलः ॥३३॥

---

२७ प्रगल्भता, २८ विनय, २९ शील, ३० महः, ३१ ओज, ३२ बल, ३३ ऐश्वर्य, ३४. गम्भीरता, ३५ स्थिरता, ३६ आस्तिकता, ३७ कीर्ति, ३८ स्वाभिमान, ३९ अहंकार-हीनता—। २४७।

हे भगवन्! महत्त्वको चाहनेवालोंसे प्रार्थनीय ये और इनके सदृश अन्य महान् गुण जिससे कभी भी अलग नहीं होते हैं। २४८।

इस प्रकार पिछली १९ से २८वीं कारिका तक दस कारिकाओंमें श्रीकृष्णके पचास गुण गिनाए गए थे। उसकी पुष्टिमें भागवतके प्रथम स्कन्धके चार श्लोक उद्धृत किए हैं। इनमें केवल ३९ गुण दिखलाए गए हैं। अब अगली कारिकाओंमें अंश रूपसे गिरीश अर्थात् महादेव आदिमें पाए जानेवाले पाँच गुण दिखलाते हैं—

अब उन पाँच गुणोंको [कहते हैं] जो अंशतः गिरिशादिमें रहते हैं [बतलाते हैं]॥२९॥

५१. सदा स्वरूपमें स्थित, ५२. सर्वज्ञ, ५३. नित्य,नूतन, ५४. सच्चित् आनन्दसे परिपूर्ण स्वरूप वाले और ५५. समस्त सिद्धियोंसे सेवित [वे पाँच गुण गिरीश महादेव आदि में पाए जाते हैं] ॥ ३० ॥

अब लक्ष्मीश [विष्णु] आदिमें रहनेवाले पाँच गुण बतलाते हैं। [ये पाँच गुण निम्न-प्रकार हैं] ५६. जिसका हम विचार भी न कर सकें इस प्रकारकी महाशक्तिसे युक्त, ५७. करोड़ों ब्रह्माण्ड जिनके शरीरभूत हैं ॥ ३१ ॥

५८. अवतार परम्पराओंके बीजभूत, ५९. [अपने द्वारा] मारे गए शत्रुओंको उच्च गति प्रदान करनेवाले और ६०. [आत्मारामगण अर्थात्] योगिवृन्दको आकर्षित करने वाला ये [पाँच गुण विशेष रूपसे लक्ष्मीश अर्थात् विष्णुरूप] कृष्णमें पाए जाते हैं ॥३२॥

इस प्रकार यहाँ तक कुल ६० गुण हुए। इनके अतिरिक्त चार गुण और आगे बतलाते हैं—

६१. सब प्रकारकी अद्भुत चमत्कारमयी लीलाओंके सागर, ६२. अनुपम मधुर प्रेमसे

त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरलीकलकूजितैः ।
असमानोर्ध्वरूपश्रीर्विस्मापितचराचरः ॥३४॥
लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्य्यं वेणुरूपयोः ।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ॥३५॥
एवंगुणाश्चतुर्भेदाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः ।
सोदाहरणमेतेषां लक्षणं क्रियते क्रमात् ॥३६॥

१. तत्र सुरम्याङ्ग—

श्लाघ्याङ्गसंनिवेशो यः सुरम्याङ्गः स कथ्यते ।

अपने प्रियमण्डल [भक्तजनों] को अलंकृत करनेवाले—॥ ३३ ॥

६३. मुरलीवादनकी ध्वनिसे तीनों लोकोंके मनको हरण कर लेनेवाले और ६४. जिसके तुल्य या जिससे अधिक [रूपश्री] नहीं है इस प्रकारकी रूपश्रीसे समस्त चराचर-जगत्को आश्चर्यान्वित करने वाले [ये चार गुण विशेष रूपसे] गोविन्दमें अद्‌भुत रूपसे पाए जाते हैं ॥ ३४ ॥

[इन्हीं चार गुणोंको संक्षिप्त रूपसे फिर दिखलाते हैं] १ लीला, २ प्रेमके कारण प्रियोंका आधिक्य, ३ वंशीका माधुर्य तथा ४ रूपका माधुर्य इन चारको गोविन्दका असाधारण गुण कहा जाता है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकारने चार भागोंमें विभक्त करके ६४ गुण गिनाए हैं। इनमेंसे प्रथम वार कहे हुए ५० गुण कृष्णके विशेष गुण हैं। उसके बाद पाँच गुण विशेष रूपसे गिरीश अथवा शिवके और उसके बाद पाँच गुण विशेष रूपसे लक्ष्मीश अर्थात् विष्णुके और अन्तमें कहे हुए चार गुण विशेषतः गोविन्दके विशेष गुण हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ६४ गुण हो जाते हैं। कृष्णमें ये सब गुण रहते हैं। अन्य शिव, लक्ष्मीश तथा गोविन्द आदिमें चार-पाँच गुण ही रहते हैं। कृष्ण, गोविन्द, लक्ष्मीश आदि नामोंका प्रयोग यद्यपि अन्यत्र प्रायः कृष्ण रूप एक ही अर्थके लिए भी होता है। किन्तु यहाँ उन सबमें अवान्तर भेद मानकर उनका प्रयोग किया है। इनमें पचास गुणवाले कृष्णका स्थान मुख्य है। शेष गिरीश, लक्ष्मीश तथा गोविन्दका स्थान उनको अपेक्षा गौण है। क्योंकि उनमें बहुत कम गुणोंको स्थिति वर्णित है। ५०+५+५+४=६४ को चार वर्गोंमें विभाजित कर यहाँ जो ६४ गुण दिखलाए हैं वे सब कृष्णमें पाए जाते है। इसलिए आगे इन सबको लक्षण तथा उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित करनेका यत्न करेंगे। पूर्व विभागमें ६४ प्रकारके भक्त्यङ्गोंका विवेचन किया गया था। इस दक्षिण विभागमें ६४ गुणोंका उसी प्रकार विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा रहा है। यह सादृश्य विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार चार वर्गोंमें जो ६४ गुण बतलाए गए हैं आगे क्रमसे उनके लक्षण तथा उदाहरण दिए जाते हैं ॥ ३६ ॥

१—उनमेंसे सुरम्याङ्ग [पहिला गुण है। उसका लक्षण निम्न प्रकार है]—

जिसके अवयवोंका विन्यास श्लाघनीय है वह सुरम्याङ्ग कहलाता है।

यथा—

मुखं चन्द्रकारं करभनिभमूरुद्वयमिदं—
भुजौ स्तम्भारम्भौ सरसिजवरेण्यं करयुगम्।
कपाटाभं वक्षःस्थलमविरलं श्रोणिफलकं—
परिक्षामो मध्यः स्फुरति मुरहन्तुर्मधुरिमा ॥२४९॥

२. सर्वसल्लक्षणान्वितः—

तनौ गुणोत्थमङ्कोत्थमिति सल्लक्षणं द्विधा ॥३७॥

तत्र गुणोत्थम—

गुणोत्थं स्याद् गुणैर्योगे रक्ततातुङ्गताऽऽदिभिः।

यथा—

रागः सप्तसु हन्त षट्स्वपि शिशोरङ्गेष्वलन्तुङ्गता
विस्तारस्त्रिषु खर्वता त्रिषु तथा गम्भीरता च त्रिषु।
दैर्घ्यं पञ्चसु किञ्च पञ्चसु सखे! सम्प्रेक्ष्यते सूक्ष्मता
द्वात्रिंशद्वरलक्षणः कथमसौ गोपेषु सम्भाव्यते ॥२५०॥

जैसे—

[कृष्णका] मुख चन्द्रमाके समान है, ये दोनों जंघाएँ करभ [मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' कलाईसे लेकर कनिष्ठका अंगुली तकका जो हाथका बाहरी भाग है उसको 'करभ' कहा जाता है] के समान हैं, भुजाएँ स्तम्भकी तरह बनी हैं, दोनों हाथ कमलोंके समान सुन्दर हैं, छाती कपाटोंके समान और दोनों नितम्ब एक-दूसरेसे सटे हुए हैं, कमर पतली है। इस प्रकार मुरारिके शरीरका सौन्दर्य [उनके शरीरके प्रत्येक अवयवसे] प्रकट हो रहा है।२४९।

२—सर्वलक्षणान्वित [गुणका लक्षण यह है कि]—

शरीरमें १ गुणोंसे उत्पन्न २. और चिन्होंसे उत्पन्न सल्लक्षणत्व दो प्रकारका होता है॥ ३७॥

उनमेंसे गुणोंसे उत्पन्न [सल्लक्षणत्वका स्वरूप आगे दिखलाते हैं]—

[शरीरकी] रक्तता तथा तुङ्गता [ऊँचाई] आदि गुणोंके योगसे गुणोत्थ [सल्लक्षणत्व] होता है।

जैसे—

[इस सामने उपस्थित गोपवेषधारी कृष्णके १ नेत्रप्रान्त, २ पाद, ३ करतल, ४ तालु ५ अधरोष्ठ, ६ जिह्वा और ७ नख इन] सात [अङ्गों]में रक्तता [रूप सल्लक्षण] पाया जाता है और], इस शिशुके [१ वक्षःस्थल, २ स्कन्ध, ३ नख, ४ नासिका, ५ कटि और ६ मुख इन] छहोंमें तुङ्गता [उच्चता पाई जाती है। १ कटि, २ ललाट, ३ वक्षःस्थल इन] तीनमें विस्तार पाया जाता है। [१ ग्रीवा, २ जंघा तथा ३ मेहन, लिंग इन] तीनमें लघुता तथा [१ नाभि, २ स्वर, ३ मन इन] तीनमें गम्भीरता [पाई जाती है। १ नासिका, २ भुजा, ३ नेत्र, ४ हनु ठोड़ी, ५ जंघाओं इन] पाँचमें लम्बाई तथा [१ त्वक्, २ केश, ३ अंगुलि, ४ दन्त, तथा

अङ्कोत्थम्—

रेखामयं रथाङ्गादि स्यादङ्कोत्थं करादिषु ॥३८॥

यथा—

करयोः कमलं तथा रथाङ्गं स्फुटरेखामयमात्मजस्य पश्य ।
पदपल्लवयोश्च वल्लवेन्द्र ! ध्वजवज्राङ्कुशमीनपङ्कजानि ॥२५१॥

३. रुचिरः—

सौन्दर्य्येण दृगानन्दकारी रुचिर उच्यते ।

यथा तृतीये—

यद्धर्म्मसूनोर्वत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातुरर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥२५२॥

यथा वा—

अष्टानां दनुजभिदङ्गपङ्कजानामेकस्मिन्कथमपि यत्र वल्लवीनाम् ।
लोलाक्षिभ्रमरततिः पपात तस्माद् नोत्थातुं द्युतिमधुपङ्किलात्क्षमाऽऽसीत् ॥२५३॥

---

५ अंगुलिपर्व इन] पाँचमें सूक्ष्मता पाई जाती है। हे सखे ! इन [महापुरुषोंके] बत्तीस लक्षणों से युक्त [बालक] गोपोंमें कहां हो सकता है।२५०।

यह गुणोत्थ 'सल्लक्षणसमन्वितत्व' का उदाहरण हुआ। अब आगे अंकोत्थ अर्थात् शरीरमें पाए जाने वाले चिन्होंके आधारपर सल्लक्षणत्वका उदाहरण आगे देते हैं।

अंकोत्थ [सल्लक्षणताका लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

हाथ आदिमें रेखाओंसे बने हुए चक्रादि [चिन्हों] के होनेपर अंकोत्थ [सल्लक्षणत्व] होता है ॥ ३८ ॥

जैसे—

हे गोपराज ! अपने पुत्रके हाथोंमें स्पष्ट रेखाओंसे बने हुए कमलों और चक्रोंको तथा पैरोंमें ध्वज, वज्र, कुश, मीन और कमलों [के चिन्हों] को देखो। २५१।

३—रुचिर [गुणका लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

सौन्दर्यके द्वारा नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाला 'रुचिर' कहलाता है।

जैसे [भागवतके] तृतीय [स्कन्धमें] में [रुचिरका उदाहरण निम्न प्रकार पाया जाता है]—

[बत इति हर्षे] कैसी प्रसन्नताकी बात है कि धर्मराज [युधिष्ठिर] के राजसूय यज्ञमें नेत्रोंके लिए आनन्द प्रदान करने वाले 'दृक्स्वस्त्ययनं' नेत्रानन्ददायी कृष्ण] को देखकर तीनों लोकों [के निवासियों] ने यह समझा [यह अनुभव किया] कि पूर्व सृष्टियोंमें अर्जित विधाता का सारा कौशल यहाँ [अर्थात् कृष्णके शरीरकी रचनामें] समा गया है। २५२।

अथवा जैसे [रुचिरत्वका दूसरा उदाहरण निम्न रूपमें भी पाया जाता है]—

असुरोंका नाश करनेवाले [कृष्ण] के [मुख, दो नेत्र, दो हाथ, दो पैर और एक मुख तथा एक नाभि कुल मिलाकर आठ अङ्गोंकी उपमा कमलोंसे दी जाती है इसलिए इन] आठों कमलोंमेंसे किसी एक भी अङ्गमें किसी प्रकारसे जो गोपियोंके नेत्रोंकी भ्रमर पंक्ति किसी प्रकार से पड़ गई वह द्युतिके मधुसे पंकिल उस [कमल] से निकलनेमें समर्थ न हो सकी। २५३।

४. तेजसा युक्तः—

तेजो धाम प्रभावश्चेत्युच्यते द्विविधं बुधैः ॥३६॥

तत्र धाम—

दीप्तिराशिर्भवेद्धाम

यथा—

अम्बरमणिनिकुरम्बं विडम्बयन्नपि मरीचिकुलैः।
हरिवक्षसि रुचिनिविडं कौस्तुभमणिरुडुरिव स्फुरति ॥२५४॥

प्रभावः—

प्रभावः सर्वजित् स्थितिः।

यथा—

दूरतस्तमवलोक्य माधवं कोमलाङ्गमपि रङ्गमण्डले।
पर्वतोद्भटभुजान्तरोऽप्यसौ कंसमल्लनिवहः स विव्यथे ॥२५५॥

५. बलीयान्—

प्राणेन महता पूर्णो बलीयानिति कथ्यते ॥४०॥

यथा—

पश्य विन्ध्यगिरितोऽपि गरिष्ठं दैत्यपुङ्गवमुदग्रमरिष्टम्।
तूलखण्डमिव पिण्डितमारात् पुण्डरीकनयनो विनुनोद ॥२५६॥

४—तेजोयुक्तता [का लक्षण निम्न प्रकार है]

धाम [दीप्ति] और प्रभाव इस तरह तेजको विद्वान् लोग दो प्रकारका मानते हैं ॥३६॥

उनमेंसे 'धाम' [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

दीप्ति-समूहको 'धाम' कहते हैं।

जैसे [धामका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

[अपनी] रश्मियोंके समुदायसे सूर्यके समूहका अनुकरण [अथवा तिरस्कार] करने वाला, कौस्तुभ मणि भी विष्णुके वक्षःस्थलपर हल्के तारेके समान टिमटिमाता-सा है।२५४।

प्रभाव [रूप तेजके द्वितीय भेदका लक्षण निम्न प्रकार है]—

सबको जीत लेनेवाली [सबको पराभूत कर देनेवली] स्थिति 'प्रभाव' [नामसे कही जाती] है।

जैसे [प्रभावका उदाहरण निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

रणभूमिमें कोमल अंगोंवाले होनेपर भी उस कृष्णको देखकर पर्वतके समान विस्तीर्ण वक्षःस्थल वाला भी कंसके मल्लोंका समुदाय घबड़ा गया।२५५।

५—अत्यन्त बलवत्ता [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

महान् पौरुष [प्राण] से परिपूर्ण [व्यक्ति] बलवान् कहलाता है ॥ ४० ॥

जैसे—

देखो विन्ध्याचलसे भी अधिक बड़े भारी भयंकर और समीपमें आए हुए दैत्यराजका पुण्डरीकाक्ष [विष्णु] ने रुईके पिण्डके समान [अनायास ही] उड़ा दिया। २५६।

यथा वा—

वामस्तामरसाक्षस्य भुजदण्डः स पातु वः।
क्रीडाकन्दुकतां येन नीतो गोवर्द्धनो गिरिः ॥२५७॥

६. वयसाऽन्वितः—

वयसो विविधत्वेऽपि सर्वभक्तिरसाश्रयः।
धर्म्मी किशोर एवात्र नित्यनानाविलासवान् ॥४१॥

यथा—

तदात्वाभिव्यक्तीकृततरुणिमारम्भरभसं—
स्मितश्रीनिर्धूतस्फुरदमलराकापतिमदम् ।
दरोदञ्चत्पञ्चाशुगनवकलामेदुरमिदं—
मुरारेर्माधुर्य्यं मनसि मदिराक्षीर्मदयति ॥२५८॥

७. विविधाद्भुतभाषाविद्—

विविधाद्भुतभाषावित् स प्रोक्तो यस्तु कोविदः।
नानादेश्यासु भाषासु संस्कृते प्राकृतेषु च ॥४२॥

व्रजयुवतिषु शौरिः शौरसेनीं सुरेन्द्रे
प्रणतशिरशि सौरीं भारतीभातनोति।
अहह पशुषु कीरेष्वप्यपभ्रंशरूपां—
कथमजनि विदग्धः सर्वभाषाऽवलीषु ॥२५९॥

अथवा जैसे [बलवत्ताका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार हो सकता है]—

कमलपत्रके समान नेत्रोंवाले [भगवान् कृष्ण] का वह भुजदण्ड तुम सबकी रक्षा करे जिसने गोवर्धन पर्वतको खेलकी गेंद-सा बना दिया। २५७।

६—वयसान्वित [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

आयुके अनेक भेद होनेपर भी किशोर [आयु वाला स्वरूप] ही नित्य नाना विलासों से युक्त यहाँ [भक्ति-सिद्धान्तमें] सब प्रकारकी भक्तिका आश्रय [माना गया] है ॥ ४१ ॥

जैसे [इसका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

उस समय [अर्थात् किशोरावस्थामें] अभिव्यक्त यौवनके आरम्भसे भरे हुए, मुस्कराहट के सौन्दर्यसे निर्मल, चन्द्रमाके मदको भी नष्ट कर देनेवाला, ईषदुन्मुक्त कामदेवकी कलाके समान सुन्दर, कृष्णका यह माधुर्य मदिराक्षियोंको मनको उन्मत्त बना देता है। २५८।

७—विविध और अद्भुत भाषाओंका ज्ञान [इसका लक्षण आगे देते हैं]—

जो नाना देशोंकी भाषाओंमें और संस्कृत तथा प्राकृत आदिमें निपुण होता है उसको 'विविधाद्भुतभाषावित्' कहा जाता है ॥ ४२ ॥

जैसे—

कृष्ण व्रजयुवतियोंके साथ शौरसेनी [भाषा बोलते हैं], देवराज इन्द्रके नमस्कार करने पर [उनके साथ सौरीं अर्थात्] देववाणी संस्कृत भाषाको बोलते हैं। और पशुओं तथा तोता [आदि पक्षियों] के साथ अपभ्रंश भाषाको बोलते हैं। आश्चर्यकी बात है कि वे सारी

८. सत्यवाक्यः—

स्यान्नानृतं वचो यस्य सत्यवाक्यः स भण्यते ।

यथा—

पृथे ! तनयपञ्चकं प्रकटमर्पयिष्यामि ते
रणोर्वरितमित्यभूत्तव यथाऽर्थमेवोदितम् ।
रविर्भवति शीतलः कुमुदबन्धुरप्युष्णल-
स्तथाऽपि न मुरान्तक ! व्यभिचरिष्णुरुक्तिस्तव ॥२६०॥

यथा वा—

गूढोऽपि वेषेण महीसुरस्य हरिर्यथाऽर्थं मगधेन्द्रमूचे ।
संसृष्टमाभ्यां सह पाण्डवाभ्यां मां विद्धि कृष्णं भवतः सपत्नम् ॥२६१॥

९. प्रियंवदः—

जने कृतापराधेऽपि सान्त्ववादी प्रियंवदः ॥४३॥

यथा—

कृतव्यलीकेऽपि न कुण्डलीन्द्र ! त्वया विधेया मयि दोष्टदृष्टिः ।
प्रवास्यमानोऽसि सुराच्चितानां परं हितायाद्य गवां कुलस्य ॥२६२॥

१०. वावदूकः—

श्रुतिप्रेष्ठोक्तिरखिलवाग्गुणान्वितवागपि ।
इति द्विधा निगदितो वावदूको मनीषिभिः ॥४४॥

भाषावलीमें चतुर कैसे हो गए ? । २५९ ।

८—सत्यवाक्य [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

जिसका वचन कभी झूठ न हो वह सत्यवाक् कहलाता है ।

जैसे [सत्यवाक्यका उदाहरण निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे कुन्ति ! मैं तुम्हारे पाँचों पुत्रोंको रणमेंसे [सुरक्षित] निकालकर सबके सामने तुमको समर्पित कर दूँगा यह जो तुमने कहा था सो तुम्हारा वह कथन सत्य ही सिद्ध हुआ । सूर्य भले ही शीतल हो जाय और चन्द्रमा भी भले ही ऊष्ण हो जाय किन्तु, हे मुरारे! आपका वचन फिर भी असत्य नहीं हो सकता है । २६० ।

अथवा जैसे [सत्यवाक्यताका प्रतिपादक दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

ब्राह्मणके वेषमें छिपे होने पर भी कृष्णने मगधराजसे यह ठीक ही कहा कि इन [भीम तथा अर्जुन रूप] दोनों पाण्डुपुत्रोंके साथ सम्मिलित मुझको अपना शत्रु कृष्ण ही समझो ।२६१।

९—प्रियवदता [गुणका लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

अपराधी पुरुषके प्रति भी शान्तिपूर्वक बात करनेवाला 'प्रियंवद' कहकाता है ॥४३॥

जैसे—

हे नागराज ! आज आप देवताओं द्वारा पूजित गौओंके कुलके कल्याणके लिए जा रहे हैं इसलिए आपका अपराध करनेवाले मेरे प्रति आप दोष दृष्टि न करें । २६२ ।

१०—वावदूक [नामक गुणका लक्षण निम्न प्रकार है]—

कानोंको सुन्दर लगनेवाली बात कहनेवाला, और वाणीके समस्त गुणोंसे युक्त वचन

तत्राद्यो यथा—

अश्लिष्टकोमलपदावलिमञ्जुलेन प्रत्यक्षरक्षरदमन्दसुधारसेन ।
सख्यः ! समस्तजनकर्णरसायनेन नाहारि कस्य हृदयं हरिभाषितेन ॥२६३॥

द्वितीयो यथा—

प्रतिवादिचित्तपरिवृत्तिपटुर्जगदेकसंशयविमर्दकरी ।
प्रमिताक्षराऽद्य विविधार्थमयी हरिवागियं मम धिनोति धियः ॥२६४॥

११. सुपाण्डित्यः—

विद्वान् नीतिज्ञ इत्येष सुपाण्डित्यो द्विधा मतः ।
विद्वानखिलविद्याविन्नीतिज्ञस्तु यथाऽर्हकृत् ॥४५॥

तत्राद्यो यथा—

यं सुष्ठु पूर्वं परिचर्य्य गौरवात् पितामहाद्यम्बुधरैः प्रवर्त्तिता ।
कृष्णार्णवं काश्यगुरुक्ष्माभृतस्तमेव विद्यासरितः प्रपेदिरे ॥२६५॥

बोलनेवाला, यह दो प्रकारका 'वावदूक' विद्वान् लोगोंने बतलाया है ॥ ४४ ॥

उनमेंसे प्रथम [अर्थात् श्रुतिप्रिय वाणीको बोलनेवाले वावदूकका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

सरल और कोमल पदावलियोंसे मनोहर और जिसके प्रत्येक अक्षरसे प्रचुरमात्रामें सुधारस प्रकट हो रहा है इस प्रकारके तथा सब लोगोंके कानोंके लिए रसायनके समान जो कृष्णका भाषण है उसने हे सखियो ! किसका मन नहीं हर लिया । २६३ ।

दूसरा [अर्थात् जिसकी वाणी समस्त वाग्गुणोंसे युक्त है इस प्रकारके वावदूकका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें दिखलाया गया है]—

प्रतिवादियोंके चित्तोंको [अपनी युक्तियोंके द्वारा] परिवर्तित कर देने वाली, संसार भरके [लोगोंके चित्तमें उदय होनेवाले] संशयोंका नाश कर देनेवाली, स्वल्प अक्षरवाली [होने पर] भी अनेक अर्थोंसे युक्त यह कृष्णकी वाणी मेरे चित्तको प्रसन्न करती है । २६४ ।

११—सुपाण्डित्य [का लक्षण निम्न प्रकार किया जाता है]—

१ विद्वान् और २ नीतिज्ञ इस प्रकार सुपाण्डित्यके दो भेद माने गए हैं । [इनमेंसे] समस्त विद्याओंका जाननेवाला विद्वान् [कहलाता] है और यथोचित कार्य करनेवाला नीतिज्ञ [माना गया] है ॥ ४५ ॥

उनमेंसे पहिला [अर्थात् कृष्णके विद्वत्तारूप गुणका उदाहरण] जैसाकि [निम्न श्लोक में कहा गया है]—

अत्यन्त गौरवके कारण जिस [कृष्ण रूप विद्या-सागर] को [मेघोंके समान] भली प्रकार सेवन करके पितामह [ब्रह्मा] आदि मेघोंके द्वारा प्रवर्तित [अर्थात् जैसे मेघ समुद्रसे जल लेकर गौरवयुक्त भारी हो जाता है और फिर वृष्टि द्वारा नदियोंको प्रवाहित करता है । इसी प्रकार पितामह आदिने जिस कृष्णसे विद्या ग्रहण कर गौरव प्राप्त किया और विद्याकी नदियोंको प्रवाहित किया] वे विद्यारूप नदियां [काशीमें उत्पन्न होनेसे कृष्णके गुरु सान्दीपनि मुनि 'काश्य' कहलाते हैं । उन] सान्दीपनि रूप पर्वतसे निकलकर [अर्थात् सान्दीपनि गुरुके उपदेश द्वारा गंगा आदियोंके समान] फिर [उन नदियों या विद्यानदियोंके आदि मूल] कृष्ण-

यथा वा—

आम्नायप्रथितान्वया स्मृतिमती बाढं षडङ्गोज्ज्वला
न्यायेनानुगता पुराणसुहृदा मीमांसया मण्डिता।
त्वां लब्धावसरा चिराद् गुरुकुले प्रेक्ष्य स्वसङ्गार्थिनं-
विद्या नाम वधूश्चतुर्दशगुणा गोविन्द। शुश्रूषते ॥२६६॥

रूप सागरको ही प्राप्त हो गई [सागरमें ही पहुँच गई]। २६५।

अथवा जैसे [इसीका दूसरा उदाहरण]—

इस श्लोकमें विद्याभ्यासके लिए गुरुकुल गए हुए कृष्णके साथ वधूके रूपमें विद्याका सम्बन्ध दिखलाया गया है। जिस प्रकार गुरुकुलमें शिक्षा प्राप्त कर स्नातक बनकर निकलने के बाद वधू उसकी सेवार्थ प्रतीक्षा करती है। इस प्रकार विद्यावधू कृष्णकी सेवाकी प्रतीक्षा करती है। इसमें विद्याको कविने वधू रूपमें प्रस्तुत किया है। और उसको चतुर्दश गुणवती बतलाया है। यह 'चतुर्दशगुणा' विशेषण विद्या और वधू दोनों पक्षोंमें लगता है। विद्यापक्षमें चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये मिलकर चौदह गुण माने गए हैं। जैसाकि निम्न श्लोकमें बतलाया गया है—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दशः॥

अर्थात्—१ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ छन्द और ६ ज्योतिष रूप छः वेदांग; १ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद और ४ अथर्ववेद रूप चार वेद ये मिलकर दस हुए। इसके साथ ११ मीमांसा, १२ न्याय, १३ धर्मशास्त्र और १४ पुराण ये सब मिलकर विद्याके चौदह भेद हो जाते हैं। इन्हींको यहाँ विद्याके चौदह गुण कहा गया है। यहाँ जो श्लोक उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है उसमें विद्याके इन्हीं चौदह गुणोंकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि—

अम्नाय अर्थात् वेदसे जिसके वंशका विस्तार हुआ है इस प्रकारकी [अर्थात् चारों वेदोंसे युक्त] स्मृति [अर्थात् धर्मशास्त्र] से युक्त, [शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष रूप] छः अंगोसे उज्ज्वल, [यहाँ तक ११ गुण हो गए इसके आगे १२वें] न्यायसे अनुगत, १३ पुराण रूप सुहृत् और १४ मीमांसासे सेवित इस प्रकार चौदह गुणोंवाली विद्या-वधू बहुत समयसे गुरुकुलमें [ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए] देखकर अवसर प्राप्त होनेपर तुम्हारा संग प्राप्त करनेके लिए हे गोविन्द ! तुम्हारी सेवा करना चाहती है। २६६।

इस श्लोकमें विद्याके चौदह गुणोका निरूपण तो हो गया है। किन्तु ये चौदह गुण वधूपक्षमें भी लागू होते हैं। किन्तु उनके अर्थमें थोड़ा-सा भेद हो जाता है। विद्या पक्षमें 'अम्नाय प्रथितान्वया' का अर्थ वेदसे जिसके वंशका विस्तार हुआ है यह किया था। वधूपक्षमें उसका अर्थ वेदके समान जिसका वंश प्रसिद्ध है यह होगा। अर्थात् अत्यन्त पवित्र एवं प्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न हुई वधू, स्मृतिका अर्थ वधूपक्षमें मेधा होगा। 'स्मृतिमती'का अभिप्राय मेधाविनी है। विद्यापक्षमें 'षडंगोज्ज्वला' से शिक्षा कल्प आदि अङ्गोंका ग्रहण किया गया था किन्तु वधूपक्षमें दो हाथ, दो पैर, शिर और मध्य भाग अथवा वधूके किन्हीं अन्य आकर्षक अङ्गोंका ग्रहण इस पदसे हो सकता है। न्यायका अर्थ नीति होगा। 'पुराणसुहृदा मीमांसया

द्वितीयो यथा—

मृत्युस्तस्करमण्डले सुकृतिनां वृन्दे वसन्तानिलः
कन्दर्पो रमणीषु दुर्गतकुले कल्याणकल्पद्रुमः ।
इन्दुर्वन्धुगणे विपक्षपटले कालाग्निरुद्राकृतिः
शास्ति स्वस्तिधुरन्धरो मधुपुरीं नीत्या व्रजेन्द्रात्मजः ॥२६७॥

१२. बुद्धिमान्—

मेधावी सूक्ष्मधीश्चेति प्रोच्यते बुद्धिमान् द्विधा ।

तत्र मेधावी यथा—

अवन्तिपुरवासिनः सदनमेत्य सान्दीपने,
गुरोर्जगति दर्शयन् समयमत्र विद्याऽर्थिनाम् ।
सकृन्निगदमात्रतः सकलमेव विद्याकुलं—
दधौ हृदयमन्दिरे किमपि चित्रवन् माधवः ॥२६८॥

मण्डिता' का अर्थ वधूपक्षमें यह है कि 'पुराणाः वृद्धाः, सुहृदः सहाया यस्यां तया मीमांसया विचारेण मण्डिता' अर्थात वृद्ध लोग जिस विचारमें सहायक हैं इस प्रकाके विचारसे युक्त वधू 'चतुर्दशगुणा' यह विशेषण इस पक्षमें भी विद्याके चौदह तुणोंका ग्राहक होगा। अर्थात वधू भी चौदह गुणोंवाली विद्यासे युक्त है। यह अर्थ इसलिए करना होगा कि इसके विना वधू पक्षमें चौदह गुण नहीं वन पाते हैं। क्योंकि अम्नायप्रथितान्वयाका पहिले पक्षमें तो चार वेद अर्थ होनेसे विद्याके चार अङ्गोका निर्देश उस एक ही पदसे हो गया था। वधू पक्षमें उस पद से केवल एक ही सद्वंशप्रभवत्व रूप गुणका ग्रहण होता है।

इस प्रकार विद्यावित्व रूप विद्वत्ता गुणका लक्षण करके कृष्णमें उसको दिखलानेवाले दो श्लोक उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किए हैं। अब 'सुपाण्डित्य'का दूसरा भेद जो 'नीतिज्ञ' किया था वह गुण भी कृष्णमें पाया जाता है इसके समर्थनकेलिए ग्रन्थकार अगला उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ 'नीतिज्ञ' का अर्थ यथोचित व्यवहार करनेवाला माना गया है। इसलिए इस उदाहरणमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके साथ कृष्णके भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यवहार दिखलाकर उनकी नीतिज्ञताका प्रदर्शन किया गया है।

दूसरा [अर्थात् नीतिज्ञता रूप सुपाण्डित्य का उदाहरण] जैसे—

तस्करों [अर्थात् चोर-डाकुओं] के मण्डलमें यमराजके समान, पुण्यात्माओंके समुदाय में वसन्त-वायुके समान [आनन्ददायक], रमणियोंके बीच कामदेवके समान, दीनोंके बीच कल्याणके कल्पवृक्षके समान, बन्धुवर्गके भीतर चन्द्रमाके समान आल्हाददाहक, शत्रुदलके बीच भयंकर आकृतिवाले कालाग्निके समान, व्रजेन्द्र [नन्द] के पुत्र [कृष्णचन्द्र] नीतिपूर्वक मथुराका शासन कर रहे हैं। २६७।

१२—बुद्धिमान [का लक्षण आगे देते हैं]—

१ मेधावी और [सूक्ष्मबुद्धि इस प्रकार] बुद्धिमान दो प्रकारके कहे गए हैं।

उनमेंसे [कृष्णके] मेधावी [होनेका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें कहा गया है]—

अवन्तिपुरमें रहनेवाले गुरु सान्दीपनि-मुनिके आश्रममें आकर और समस्त लोगोंके समक्ष विद्यार्थियोंकी मर्यादाको प्रकट करते हुए [अर्थात् पूर्ण रूपसे ब्रह्मचारियोंके नियमोंका पालन करते हुए] कृष्णने [गुरुके] केवल एक बार कहने मात्रसे सारी विद्याओंको चित्रके समान हृदयमें अङ्कित कर लिया। २६८।

सूक्ष्मधीर्यथा—

यदुभिरयमवध्यो म्लेच्छराजस्तदेनं—
तरलतमसि तस्मिन्विद्रवन्नेव नेष्ये ।
सुखमयनिजनिद्राभञ्जनध्वंसिदृष्टि—
र्भरमुचि मुचुकुन्दः कन्दरे यत्र शेते ॥२६६॥

१३. प्रतिभाऽन्वितः—

सद्यो नवनवोल्लेखिज्ञानः स्यात्प्रतिभाऽन्वितः ॥४६॥

यथा पद्यावल्यां—

वासः सम्प्रति केशव ! क्व भवतो मुग्धेक्षणे ! नन्विदं-
वासं ब्रूहि शठ ! प्रकामसुभगे ! त्वद्गात्रसंसर्गतः ।

[कृष्णके] सूक्ष्मबुद्धि [होनेका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें कहा गया है]—

यदुवंशी लोग इस [काल यवन नामक] म्लेच्छराजको मारनेमें असमर्थ हैं इसलिए इसके आगे-आगे भागता हुआ मैं वहाँ [उस कन्दरामें] ले जाऊँगा [सकल सुख-सामग्रीके] झरनेको प्रवाहित करनेवाले जिस कन्दरामें [इसके पहुँचनेसे] अपनी सुखमय निद्राके भङ्ग होनेपर देवताओंके वरदानके अनुसार [निद्रासुखमें विघ्न उपस्थित करने वालेके प्रति दुष्टको भस्म कर देनेकी शक्तिसे युक्त] विनाश करनेवाली दृष्टिसे युक्त मुचुकुन्द [मान्धाताके पुत्र] सो रहे हैं [अर्थात् जब अपने पीछे भागता हुआ मैं इसको उस कन्दरामें जानेपर विवश कर दूँगा और इसके कन्दरामें घुसनेसे मान्धाताके पुत्र मुचुकुन्दकी सुखमय निद्रामें विघ्न पड़ा तो देवताओंके वरदानके अनुसार उसकी क्रुद्ध दृष्टिसे ही भस्म होकर इसका नाश हो जावेगा। इस प्रकार कृष्णने कालयबनका नाश कराया, यह उनकी सूक्ष्मबुद्धिका परिचायक है] ।२६६।

१३—प्रतिभान्वित [रूप गुणका लक्षण अगली कारिकामें देते हैं]—

तुरन्त नवीन-नवीन बातोंको कहने [की कला] को जाननेवाला [हाजिर-जवाब प्रत्युत्पन्नमति] 'प्रतिभान्वित' [कहलाता] है । ४६ ।

[कृष्णके प्रतिभान्वित होनेका उदाहरण] जैसाकि पद्यावली [के निम्नांकित श्लोक] में [पाया जाता है]—

[कहिए श्रीकेशवजी महाराज !] आजकल आप [रातको] कहाँ रहते हैं ? [हमें आपके कभी दर्शन नहीं होते हैं । इस प्रकार किसी गोपवधूने कृष्णसे प्रश्न किया । इसमें 'वासः' शब्द गोपीने वास-स्थानकेलिए प्रयुक्त किया था । यह 'वास' शब्द अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द है और उसका प्रथमा विभक्तिके एकवचनमें 'वासः' रूप बनता है । कृष्णने इस 'वासः' शब्दको हलन्त 'वासस्' शब्दका प्रथमाके एकवचनका रूप मानकर उत्तर दिया है । इस वासस् शब्दके रूप वासः, वाससी, वासांसि इस प्रकार चलते हैं । और इसका अर्थ कपड़ा होता है । कृष्ण गोपीके अन्य अर्थमें प्रयुक्त 'वासः' शब्दका उसके अभिप्रेत अर्थसे भिन्न अर्थ लेकर उसको उत्तर देते हैं कि] अरी भोले नेत्रों वाली [तुझे दीखता नहीं है] यह तो रहा [मेरा वस्त्र । फिर काहेको पूछ रही है ? गोपी कृष्णकी इस धूर्तताको समझ जाती है । वह फिर उसी बातको दूसरी तरहसे पूछती है कि] अरे धूर्त ! [कृष्ण, कपड़ा तो मुझे भी दीख रहा है] अपने निवास-स्थानको बतलाओ [मैं कपड़ेको नहीं, हजरतके निवास-स्थानको पूछ

यामिन्यामुषितः क्व धूर्त ! वितनुर्मुष्णाति किं यामिनी-
त्येव गोपवधूं छलैः परिहसन् कृष्णश्चिरं पातु वः ॥२७०॥

१४. विदग्धः—

कलाविलासदिग्धात्मा विदग्ध इति कीर्त्यते ।

यथा—

गीतं गुम्फति ताण्डवं घटयति ब्रूते प्रहेलाक्रमं—
वेणुं वादयते स्रजं विरचयत्यालेख्यमभ्यस्यति ।

रही हूँ। इस बार गोपीने उसी अकारान्त पुल्लिङ्ग 'वास' शब्दके द्वितीया विभक्तिके एकवचन का रूप 'वासं' प्रयुक्त किया है। उसके प्रयोग करनेका आशय यह है कि पहली बार जो 'वासः' शब्दका प्रयोग उसने किया था वह अकरान्त पुल्लिङ्ग 'वास' शब्दका और हलन्त नपुंसकलिंग 'वासस्' शब्द दोनोंका प्रथमाके एक वचनमें 'वासः' यह एक-सा ही रूप बनता है। इसलिए कृष्णको उस शब्दका दूसरा अर्थ लेनेका अवसर मिल गया था। अबकी बार जो द्वितीया विभक्तिके एकवचन 'वासं' रूपका प्रयोग किया है वह हलन्त नपुंसकलिंग 'वासस्' शब्दका नहीं बन सकता है। हलन्त नपुंसकलिङ्ग 'वासस्' शब्दका द्वितीयाके एकवचन में भी वही 'वासः' रूप बनता है। अतः गोपीने इस बार विशेष रूपसे 'वासं ब्रूहि शठ' यह व्यंग्य कसा है। पर कृष्णजी तो 'प्रतिभान्वित' ही जो ठहरे उन्होंने इस 'वासं' शब्दका अर्थ 'सुगन्ध' ले लिया। और झट उत्तर दिया कि] हे अत्यन्त सुन्दर ! तुम्हारे अंगोंके संसर्गसे [मुझे यह सुवास, सुगन्ध प्राप्त हुआ है]। इसपर गोपी फिर प्रकारान्तरसे अपने प्रश्नको और अधिक स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत करती हुई कहती है कि अरे धूर्त मैं यह पूछ रही हूँ कि] आप रातको कहाँ रहे थे [यामिन्यां उषितः क्व धूर्त']। पर कृष्णजी उस 'यामिन्यां उषितः' का प्रकारान्तरसे 'यामिन्या मुषितः' पदच्छेद करके उसको फिर उत्तर देते हैं कि] हे सुन्दरि ! क्या रात्रि भी चोरी करती है ? [मुष धातुका अर्थ स्तेय चोरी करना है] इस प्रकार छलसे गोपवधूका उपहास करते हुए कृष्ण आपकी रक्षा करें। २७०।

इस श्लोकमें प्रश्न करनेवाली गोपीने भिन्न-भिन्न रूपोंमें कई बार कृष्णसे यह जानना चाहा कि आप रातको कहाँ, किस सौभाग्यशालिनीके पास रहे थे ? पर कृष्णने एक बार भी उस प्रश्नका ठीक उत्तर नहीं दिया। वे हर बार उसके शब्दका भिन्न अर्थ लेकर उसका उत्तर देते रहे। इस प्रकारके स्थलोंपर 'वक्रोक्ति' अलंकार माना जाता है। 'अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि। अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा'॥ यह वक्रोक्ति अलंकारका लक्षण है। इस श्लोकमें कृष्ण गोपीके निवास-स्थान परक 'वासः', 'वासं' और 'यामिन्यामुषितः' शब्दोंका वस्त्र, सुगन्ध, तथा चोरी आदि अर्थ लेकर उत्तर दे रहे हैं इसलिए यहाँ वक्रोक्ति अलंकार है। इसीके प्रयोग-कौशलके कारण कृष्ण प्रतिभान्वित प्रतीत होते हैं।

१४—विदग्ध [गुणका लक्षण निम्न प्रकार करते हैं]—

[गीत-वाद्यादि विविध] कलाओंके विलाससे युक्त 'विदग्ध' कहलाता है।

जैसे [कृष्णकी विदग्धताका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें मिलता है]—

[कृष्ण कभी] गीतरचना [अथवा गान] करते हैं, कभी नाच रचाते हैं, कभी पहेलियाँ बुझाते हैं, कभी वीणा बजाते हैं, कभी मालाएँ गूँथते हैं, [कभी] चित्रकलाका अभ्यास करते

निर्म्माति स्वयमिन्द्रजालपटलीं द्यूते जयत्युन्मदान्
प्रयोद्दामकलाविलासवसतिश्चित्रं हरिः क्रीडति ॥२७१॥

१५. चतुरः—

चतुरो युगपद् भूरिसमाधानकृदुच्यते ॥४७॥

यथा—

पारावतीविरचनेन गवां कलापं गोपाङ्गनागणमपाङ्गतरङ्गितेन।
मित्राणि चित्रतरसंगरविक्रमेण धिन्वन्नरिष्टभयदेन हरिर्विरेजे ॥२७२॥

१६. दक्षः—

दुष्करे क्षिप्रकारी यस्तं दक्षं परिचक्षते।

यथा श्रीदशमे—

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह !।
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ॥२७३॥

यथा वा—

अघहर ! कुरु युग्मीभूय नृत्यं मयैव
त्वमिति निखिलगोपीप्रार्थनापूर्त्तिकामः।

हैं, [कभी] स्वयं ही अनेक प्रकारके इन्द्रजालके कार्योंका प्रदर्शन करते हैं और [कभी द्यूतके प्रबल] खिलाड़ियोंको द्यूतमें जीतते हैं। इस प्रकार देखो प्रबल कलाओंके विलासके आश्रयभूत कृष्ण नाना प्रकारसे [अपना] मनोविनोद करते हैं [क्रीडति]। २७१।

१५—चतुर [का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है]—

एक साथ अनेकोंका समाधान करनेवाला [व्यक्ति] 'चतुर' कहलाता है ॥ ४७ ॥

जैसे [कृष्णके चातुर्यका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें किया गया है]—

अरिष्ट [अर्थात् वृषासुर] को भयभीत करनेवाली गोपगीतियों [पारावती गोपगीतिः] की रचनाके द्वारा गौओंके समुदायको [प्रसन्न करते हुए, और उसी अरिष्ट अर्थात् वृषासुरको भय प्रदान करनेवाले] नेत्रप्रान्तोंके संचालन द्वारा गोपियोंको [प्रसन्न करते हुए तथा उसी वृषासुरको भयभीत करनेवाले उसके साथ किए गए] नाना प्रकारके युद्धके पराक्रमके द्वारा मित्रोंको आह्लादित करते हुए कृष्ण [वृषासुरवधके समय अत्यन्त] शोभित हुए। २७२।

१६—दक्ष [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

कठिन [दुष्कर कार्य] को भी तुरन्त [अनायास] कर डालनेवाला [व्यक्ति] 'दक्ष' कहलाता है।

जैसाकि [भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [कृष्णकी दक्षताका प्रदर्शक निम्न उदाहरण पाया जाता है]—

हे कुरुराज ! अनेक योद्धाओंने जो [नाना प्रकारके] शस्त्र और अस्त्र प्रयुक्त किए उन सबको कृष्णने एक-एक शस्त्रके द्वारा [अनायास ही] काट डाला। २७३।

अथवा जैसे [कृष्णकी दक्षताका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें भी दिया गया है]—

हे पापनाशक [कृष्ण] ! आप [केवल] मेरे साथ ही मिलकर नाचो, इस प्रकारकी समस्त गोपियोंकी प्रार्थनाको पूर्ण करनेकी इच्छासे उन्होंने इस प्रकारकी सफाईसे [ये तेजीसे]

अतनुत गतिलीलालाघवोर्मि तथाऽसौ
ददृशुरधिकमेतास्तं यथा स्व-स्वपार्श्वे ॥२७४॥

१७. कृतज्ञः—

कृतज्ञः स्यादभिज्ञो यः कृतसेवाऽऽदिकर्म्मणाम् ॥४८॥

यथा महाभारते—

ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥२७५॥

यथा वा—

अनुगतिमतिपूर्वां चिन्तयन्नृक्षमौले-
रकुरुत वहुमानं शौरिरादाय कन्याम् ।
कथमपि कृतमल्पं विस्मरेन्नैव साधुः
किमुत स खलु साधुश्रेणिचूडाग्ररत्नम् ॥२७६॥

१८. सुदृढव्रतः—

प्रतिज्ञा नियमौ यस्य सत्यौ स सुदृढव्रतः ।

तत्र सत्यप्रतिज्ञो यथा हरिवंशे—

तदेव गन्धर्वगणा न राक्षसा न चासुरा नैव च यक्षपन्नगाः ।
मम प्रतिज्ञामपहन्तुमुद्यता मुने ! समर्थाः खलु सत्यमस्तु ते ॥२७७॥

गतिलीलाकी परम्परा प्रदर्शित की, जिससे वे उन सबको अधिकतर अपने-अपने पास ही दिखलाई दिए ।२७४।

१७—कृतज्ञ [का लक्षण निम्न प्रकार किया जाता है]—

जो [अपने प्रति] किए गए सेवा आदि कर्मोंको माननेवाला होता है उसको 'कृतज्ञ' कहते हैं ॥ ४८ ॥

जैसाकि महाभारतमें [कृष्णकी कृतज्ञताका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें पाया जाता है]—

[चीरहरणके समय] जिस द्रौपदीने [अत्यन्त] दूर रहनेपर भी, हे गोविन्द ! [मेरी लाज बचाओ] कहकर [अत्यन्त विश्वासके साथ] मुझे पुकारा [उसका] यह ऋण [किसी प्रकारसे भी] मेरे हृदयसे दूर नहीं हो सकता है । २७५ ।

अथवा जैसे [कृष्णकी कृतज्ञताका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें भी किया गया है]—

वानरराज [जाम्बवान्] की अत्यन्त पुरानी [रामजन्मकालीन अनुमति अर्थात्] भक्तिको विचारकर [इस समय] कृष्णने उसकी कन्या [जाम्बवती] को स्वीकार कर उसका अत्यन्त आदर किया साधुपुरुष [अपने साथ] किए हुए तनिकसे उपकारको भी किसी प्रकार नहीं भुलाते हैं फिर सज्जनोंकी श्रेणीमें अग्रगण्य उन [कृष्ण] का तो कहना ही क्या । २७६ ।

१८—सुदृढव्रत [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जिसके प्रतिज्ञा और नियम दोनों [सदा] सत्य रहते हैं वह 'सुदृढव्रत' [कहलाता] है ।

उनमेंसे [कृष्णके] सत्यप्रतिज्ञ [होनेका उदाहरण] जैसे हरिवंश [के निम्नांकित श्लोक में [पाया जाता है]—

हे [नारद] मुने ! मेरी प्रतिज्ञाकी मिथ्या करनेकेलिए न गन्धर्वगण [उसे मिथ्या करनेमें

यथा वा—

सखेलमाखण्डलपाण्डुपुत्रौ विधाय कंसारिरपारिजातौ।
निजप्रतिज्ञां सफलां दधानः सत्यां च कृष्णां च सुखामकार्षीत् ॥२७८॥

सत्यनियमो यथा—

गिरेरुद्धरणं कृष्ण! दुष्करं कर्म्म कुर्वता।
मद्भक्तः स्यान्न दुःखीति स्वव्रतं विवृतं त्वया ॥२७६॥

१६. देशकालसुपात्रज्ञः—

देशकालसुपात्रज्ञस्तत्तद्योग्यक्रियाकृती ॥४६॥

यथा—

शरज्ज्योत्स्नीतुल्यः कथमपि परो नास्ति समय-
स्त्रिलोक्यामाक्रीडः क्वचिदपि न वृन्दावनसमः।
न काऽप्यम्भोजाक्षी व्रजयुवतिकल्पेति विमृशन्
मनो मे सोत्कण्ठं मुहुरजनि रासोत्सवरसे ॥२८०॥

२०. शास्त्रचक्षुः—

समर्थ हो सकते हैं] न राक्षस, न असुर, और न यक्ष तथा पन्नग ही समर्थ हो सकते हैं [तदेव ते सत्यमस्तु] इसीको तुम सत्य समझो। २७७।

अथवा जैसे [कृष्णकी सत्यप्रतिज्ञाका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें भी होता है]—

कंसारि [कृष्ण]ने अनायास ही इन्द्र और पाण्डवों दोनोंको 'अपारिजात' बनाकर [इन्द्रके पक्षमें अपारिजातका अर्थ पारिजात कल्पवृक्षसे रहित बनाकर, और पाण्डव-पक्षमें 'अपिगतं अरिजातं शत्रुसमूहो यस्मात्' जिसके शत्रुसमूहका नाश हो गया है, यह होगा] अपनी प्रतिज्ञाको सफल करते हुए [सत्या अर्थात्] सत्यभामा और द्रौपदी दोनोंको सुखी बना दिया। २७८।

सत्यनियम [का उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें कृष्णके सत्यनियमका प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है]—

हे कृष्ण! आपने [गोवर्धन] पर्वतके उठानेके दुष्कर कार्यको करके यह बात स्पष्ट कर दी कि मेरा [भगवान्का] भक्त कभी दुःखी नहीं रहता। २७६।

१६—देश-कालसुपात्रज्ञ [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

उस-उस [देश अथवा काल अथवा पात्र] के योग्य क्रियाका करनेवाला 'देश-काल-पात्रज्ञ' [कहलाता] है ॥ ४६ ॥

जैसे [कृष्णकी देश-काल-पात्रज्ञताका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें पाया जाता है]—

[मथुरामें उद्धवके प्रति यह कृष्णकी उक्ति है। हे उद्धव!] शारदी ज्योत्स्ना [की रात्रियों] से बढ़कर और अच्छा समय नहीं हो सकता है और तीनों लोकोंमें वृन्दावनसे बढ़कर मनोरञ्जनका स्थान [आक्रीडः] नहीं मिल सकता है। न व्रजयुवतियोंके समान सुन्दरी अन्यत्र कहीं मिल सकती है इसलिए मेरा मन [वृन्दावनमें] रासोत्सव मनानेकेलिए बार-बार उत्कण्ठित होने लगा। २८०।

२०—शास्त्रचक्षु [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

शास्त्रानुसारिकर्म्मा यः शास्त्रचक्षुः स कथ्यते ।

यथा—

अभूत् कंसरिपोर्नेत्रं शास्त्रमेवार्थदृष्टये ।
नेत्राम्बुजं तु युवतिवृन्दोन्मादाय केवलम् ॥२८१॥

२१. शुचिः—

पावनश्च विशुद्धश्चेत्युच्यते द्विविधः शुचिः ॥५०॥

पावनः पापनाशी स्याद्विशुद्धस्त्यक्तदूषणः ।

तत्र पावनः—

तं निर्व्याजं भज गुणनिधिं पावनं पावनानां
श्रद्धाशुध्यन्मतिरतितरामुत्तमश्लोकमौलिम् ।
उद्यन्नन्तःकरणकुहरे हन्त यन्नामभानो-
राभासोऽपि क्षपयति महापातकध्वान्तधाराम् ॥२८२॥

विशुद्धो यथा—

कपटं न हठश्च नाच्युते बत सत्राजिति नाप्यदीनता ।
कथमद्य वृथा स्यमन्तक ! प्रसभं कौस्तुभसख्यमिच्छसि ॥२८३॥

जो शास्त्रके अनुसार ही कार्य करता है वह 'शास्त्रचक्षु' कहलाता है ।

जैसे [कृष्णके शास्त्रचक्षु होनेका वर्णन निम्न उदाहरणमें पाया जाता है]—

अर्थोंके देखनेकेलिए [अर्थात् किसी कार्यके औचित्य अनौचित्यकी परीक्षाकेलिए] शास्त्र ही कृष्णके नेत्र थे । उनके नेत्रकमल तो केवल युवतियोंको उन्मत्त बना देनेके लिए थे ।२८१।

२१—शुचि [गुणका लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

[दूसरोंके पापोंका नाश कर उनको] पवित्र बनानेवाला और [स्वयं सब पापोंसे रहित] पवित्र, दो प्रकारका 'शुचि' [कहा जाता] है ॥ ५० ॥

[उनमेंसे दूसरोंके] पापोंका नाश करनेवाला पावन कहलाता है और स्वयं दोषोंसे रहित 'विशुद्ध' कहलाता है ।

उनमेंसे [कृष्णके] 'पावन' [होनेका वर्णन निम्न श्लोकमें किया गया है] जैसे—

पावनोंको भी पावन करनेवाले उन गुणनिधि, और उत्तम कीर्तिवालोंमें भी सर्वोत्तम [कृष्ण] का श्रद्धासे पवित्रबुद्धि होकर निश्छल रूपसे भजन करो, जिनके नामरूप सूर्यकी किरणोंके आभासमात्रके हृदयमें उदय होते ही महान् पातक रूप अन्धकारका नाश हो जाता है । २८२ ।

'विशुद्ध' [का उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें कृष्णको विशुद्धताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है]—

न तो कृष्णमें कपट है और न हठ [कि वे सत्राजित्की बहिन सत्यभामाको कपटसे या हठसे जबरदस्ती ले लें] और न सत्राजित्में ही दीनता है [कि वह स्वयं ले जाकर उसका विवाह कृष्णके साथ करनेका प्रस्ताव करे] तो फिर हे स्यमन्तक ! [सत्राजित्के पास रहनेवाले मणि] तुम आज कौस्तुभके साथ जबरदस्ती मित्रताकेलिए क्यों उत्सुक हो रहे हो । २८३ ।

२२. वशी—

वशी जितेन्द्रियः प्रोक्तः ।

यथा प्रथमे—

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहासव्रीडाऽवलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।
संमुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्तायस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥२८४॥

२३. स्थिरः—

आफलोदयकृत् स्थिरः ॥५१॥

यथा—

निर्वेदमाप न वनभ्रमणे मुरारिर्नाचिन्तयद् व्यसनमृक्षबिलप्रवेशे ।
आहृत्य हन्त मणिमेव पुरं प्रपेदे स्यादुद्यमः कृतधियां हि फलोदयान्तः ॥२८५॥

२४. दान्तः—

स दान्तो दुःसहमपि योग्यं क्लेशं सहेत यः ।

यथा—

गुरुमपि गुरुवासक्लेशमव्याजभक्त्या
हरिरजगणदन्तः कोमलाङ्गोऽपि नायम् ।

२२—वशी [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जितेन्द्रियको 'वशी' कहा जाता है ।

जैसा कि [भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [कृष्णके वशित्व गुणका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि]—

जिन मदमाती सुन्दरियोंके उद्दाम भावको सूचित करनेवाले मनोहर हास्य और लज्जाको देखकर [उनके सामने अपने चाप आदिके प्रयोगको व्यर्थ समझकर] पराजित हुए कामदेवने भी मोहमें पड़ अपने हथियार डाल दिए वे सुन्दरियां भी अपने कृत्रिम हाव-भावोंसे जिसके मन [इन्द्रियोंका अर्थ मन लेना चाहिए] को विचलित करनेमें समर्थ नहीं हुई [इस प्रकारके कृष्ण हैं] । २८४ ।

२३—स्थिर [गुणका लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जब तक फलकी प्राप्ति न हो तब तक बराबर काममें लगा रहनेवाला 'स्थिर' कहलाता है ।। ५१ ।।

जैसे [कृष्णके स्थिर होनेका वर्णन निम्न उदाहरणमें मिलता है]—

[स्यमन्तकमणिकी खोज करते समय] कृष्ण, न तो वनमें घूमनेसे घबड़ाए और न रीछ [जाम्बवान्] के बिलमें घुसनेके भयकी ही उन्होंने चिन्ता की । किन्तु [उस स्यमन्तक] मणिको [जाम्बवान्की कन्दराओंमेंसे] प्राप्त करके ही नगर [द्वारका] में वापस आए । निश्चय ही दृढ़ निश्चयी लोगोंका परिश्रम फलप्राप्ति पर्यन्त चलता रहता है । २८५ ।

२४—दान्त [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो उचित होनेपर दुःसह क्लेशको भी सहन करता है वह 'दान्त' कहलाता है ।

जैसे [कृष्णके दान्त होनेका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

इन कृष्णने कोमलाङ्ग होते हुए भी अपनी निश्छल गुरुभक्तिके कारण [विद्याध्ययनके

प्रकृतिरतिदुरूहा हन्त लोकोत्तराणां
किमपि मनसि चित्रं चिन्त्यमाना तनोति ॥२८६॥

२५. क्षमाशीलः—

क्षमाशीलोऽपराधानां सहनः परिकीर्त्यते ॥५२॥

यथा माघकाव्ये—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभृते ।
अनुहुँकुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केशरी ॥२८७॥

यथा वा यामुनाचार्य्यस्तोत्रे—

रघुवर ! यदभूस्त्वं तादृशो वायसस्य
प्रणत इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण ! ।
प्रतिभवमपराद्धुर्म्मुग्ध ! सायुज्यदोऽभू-
र्वद किमपदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायाः ॥२८८॥

२६. गम्भीरः—

दुर्विबोधाशयो यस्तु स गम्भीर इतीर्यते ।

यथा—

वृन्दावने वराभिः स्तुतिभिर्नितरामुपास्यमानोऽपि ।
शक्तो न हरिर्विधिना रुष्टस्तुष्टोऽथवा ज्ञातुम् ॥२८९॥

समय सान्दीपनि मुनिके] गुरुकुलमें रहनेके महान् क्लेशको भी कुछ नहीं गिना । हाँ लोकोत्तर पुरुषोंका [साधारणजनोंकी] समझमें न आनेवाला स्वभाव ही विचार करनेपर मनमें कुछ अपूर्व आश्चर्य उत्पन्न कर देता है । २८६ ।

२५—क्षमाशील [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

अपराधोंको सहन कर लेनेवाला 'क्षमाशील' कहलाता है ॥ ५२ ॥

जैसे माघकाव्यमें [कृष्णके क्षमाशील होनेका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

गाली देनेवाले चेदिराज [शिशुपाल] को भी कृष्णने कोई उत्तर नहीं दिया । सिंह मेघकी गर्जनको सुनकर हुंकार करता है शृङ्गालोंके शब्दोंको सुनकर नहीं । २८७ ।

अथवा जैसे यामुनाचार्यके स्तोत्रमें [कृष्णकी क्षमाशीलता निम्न प्रकार पाई जाती है]—

हे रघुवर ! शरणागत समझकर जो आप [राम रूपके समय] काकभुशुण्डिके प्रति उस प्रकारके दयालु बन गए और जो कृष्ण रूपमें शिशुपालके प्रति दयालु बन गए । इस प्रकार प्रत्येक जन्ममें अपराध करने वालोंको भी सायुज्य मुक्तिके प्रदान करनेवाले हैं तब फिर आप ही बतलाइए कि ऐसा कौनसा अपराध है जो आपके यहाँ क्षमाके योग्य नहीं है । [अर्थात् आपके यहाँ सभी कुछ सर्वथा क्षन्तव्य है] । २८८ ।

२६—गम्भीर [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

जिसके मनकी बात बहुत कठिनाईसे समझमें आए उसको 'गम्भीर' कहा जाता है ।

जैसे [कृष्णकी गम्भीरताका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

वृन्दावनमें उत्तम स्तुतियोंके द्वारा अत्यन्त आराधना किए जानेपर भी कृष्ण रुष्ट हैं अथवा तुष्ट, इस बातको ब्रह्मा न जान सके । २८९ ।

यथा वा—

उन्मदोऽपि हरिर्नव्याराधाप्रणयसीधुना ।
अभिज्ञेनापि रामेण लक्षितोऽयमविक्रियः ॥२६०॥

२७. धृतिमान्—

पूर्णस्पृहश्च धृतिमान् शान्तश्च क्षोभकारणे ॥५३॥

तत्राद्यो यथा—

स्वीकुर्वन्नपि नितरां यशःप्रियत्वं कंसारिर्मगधपतेर्वधप्रसिद्धाम् ।
भीमाय स्वयमतुलामदत्त कीर्त्तिं किं लोकोत्तरगुणशालिनामपेक्ष्यम् ॥२६१॥

द्वितीयो यथा—

निन्दितस्य दमघोषसूनुना संभ्रमेण मुनिभिः स्तुतस्य च ।
राजसूयसदसि क्षितीश्वरैः काऽपि नास्य विकृतिर्वितर्किता ॥२६२॥

२८. समः—

रागद्वेषविमुक्तो यः समः स कथितो बुधैः ।

यथा श्रीदशमे—

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टिर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥२६३॥

अथवा जैसे [कृष्णकी गम्भीरता निम्न श्लोकमें भी देखी जा सकती है]—

राधाके नवीन प्रेमकी मद्यसे उन्मत्त होनेपर भी [राधाके प्रति कृष्णके प्रियके]जानकर बलरामने उनको विकार रहित ही पाया । २९० ।

२७—धृतिमान् [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

१ जिनकी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं वह, और २ क्षोभका कारण होनेपर भी शान्त रहनेवाला [दो प्रकारका] 'धृतिमान्' होता है ॥ ५३ ॥

उनमेंसे पहला [अर्थात् पूर्णस्पृहत्व रूप गुण कृष्णमें विद्यमान था इसका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

यशके प्रति प्रेमको स्वीकार करते हुए भी [अर्थात् स्वयं यशके इच्छुक होनेपर भी] कृष्णने मगधपति जरासन्धके वधसे उत्पन्न अतुल कीर्तिको स्वयं भीमको प्रदान कर दिया । क्योंकि लोकोत्तर गुणोंसे युक्त [कृष्ण जैसे पूर्णकाम] व्यक्तियोंको किस [वस्तु] की आवश्यकता है ? [अर्थात् उन्हें किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है] । २९१ ।

दूसरा [क्षोभकारणके उपस्थित होनेपर भी शान्त रहनेका गुण कृष्णमें विद्यमान था यह बात निम्न श्लोकमें पाई जाती है] जैसे—

[युधिष्ठिरके] राजसूयकी सभामें शिशुपालके द्वारा निन्दा किए जानेपर और मुनियों द्वारा आदरपूर्वक स्तुति किए जानेपर दोनों ही अवस्थाओंमें राजाओंने इन [कृष्ण] में कोई [अनुकूल या प्रतिकूल] परिवर्तन नहीं पाया । २९२ ।

२८—सम [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो राग और द्वेषसे रहित होता है उसको विद्वान् लोग 'सम' कहते हैं ।

जैसे [भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [कृष्णके समत्वका प्रतिपादन किया गया है]—

यथा वा—

रिपुरपि यदि शुद्धो मण्डनीयस्तवासौ
यदुवर ! यदि दुष्टो दण्डनीयः सुतोऽपि ।
न पुनरखिलभर्त्तुः पक्षपातोज्झितस्य
क्वचिदपि विषमं ते चेष्टितं जाघटीति ॥२६४॥

२९. वदान्यः—

दानवीरो भवेद्यस्तु स वदान्यो निगद्यते ॥५४॥

यथा—

सर्वार्थिनां बाढमभीष्टपूर्त्या व्यर्थीकृताः कंसनिषूदनेन ।
ह्रियेव चिन्तामणि-कामधेनु-कल्पद्रुमा द्वारवतीं भजन्ति ॥२६५॥

यथा वा—

येषां षोडश पूरिता दशशती स्वान्तःपुराणां तथा
चाष्टश्लिष्टशतं विभाति परितस्तत्संख्यपत्नीयुजाम् ।
एकैकं प्रति तेषु तर्णकभृतां भूषाजुषामन्वहं-
गृष्टीनां युगपच्च बद्धमददाद्यस्तस्य वा कः समः ॥२६६॥

३०. धार्मिकः—

अपराध करनेवाले इसको दण्ड देना उचित ही है क्योंकि आपका अवतार ही दुष्टोंके दमनकेलिए हुआ है । आप [अपने] शत्रुओं और पुत्रों दोनोंको समान समझते हुए [फलमेवानुशंसन् उनके] कल्याणकी भावनासे ही दण्ड देते हैं । २६३ ।

अथवा जैसे [कृष्णके समत्व गुणका प्रतिपादन निम्न श्लोकमें भी पाया जाता है]—

हे यदुवर [कृष्ण] ! यदि आपका शत्रु भी शुद्ध है तो आप उसका भी सत्कार करते हैं और यदि पुत्र भी दुष्ट है तो आप उसको दण्ड देते हैं । पक्षपातसे रहित, और समस्त जगत् का पालन करनेवाले आपके लिए कहीं भी विषम व्यवहार संगत नहीं होता है । २६४ ।

२९—वदान्य [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो दान देनेमें वीर हो उसको 'वदान्य' कहते हैं ॥ ५४ ॥

जैसे [कृष्णकी वदान्यताका वर्णन निम्न श्लोलमें पाया जाता है]—

निश्चय ही कृष्णके द्वारा समस्त याचकोंके अभीष्टकी पूर्ति कर दिए जानेके कारण व्यर्थ कर दिए गए चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष अब द्वारकामें रहने लगे हैं । २६५ ।

अथवा जैसे—

जिन [कृष्ण] के यहाँ अपनी १६००० रानियोंके सोलह सहस्र [षोडश पूरिता षोडश गुणिता दशशती १०००] अन्तःपुर हैं और [उनमें भी] १०८ [विशेष अन्तःपुर] उतनी पत्नियोंके लिए [अलग-अलग] बने हुए हैं । उनमेंसे प्रत्येक [अन्तःपुरके लिए प्रतिदिन भूषणों से अलंकृत और बछड़ों सहित पहलोठी गौएं ['गृष्टि सकृत् प्रसूता गौः'] बंधी हुई मिलती हैं उनकी [अर्थात् कृष्णकी] बराबरी कौन कर सकता है ? । २६६ ।

३०—धार्मिक [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

कुर्वन् कारयते धर्म्मं यः स धार्मिक उच्यते ।

यथा—

पादैश्चतुर्भिर्भवता वृषस्य गुप्तस्य गोपेन्द्र ! तथाऽभ्यवर्द्धि ।
स्वैरं चरन्नेष यथा त्रिलोक्यामधर्म्मशस्यानि हठाज्जघास ॥२६७॥

यथा वा—

वितायमानैर्भवता मखोत्करैराकृष्यमाणेषु पतिष्वनारतम् ।
मुकुन्द ! खिन्नः सुरसुभ्रुवां गणस्तवावतारं नवमं नमस्यति ॥२६८॥

३१. शूरः—

उत्साही युधि शूरोऽस्त्रप्रयोगे च विचक्षणः ॥५५॥

तत्राद्यो यथा—

जो स्वयं [धर्मका अनुष्ठान] करता हुआ [दूसरोंसे भी] करवाता है उसको 'धार्मिक' कहा जाता है ।

[कृष्णके धार्मिकत्वका उदाहरण] जैसे—

हे गोविन्द [कृष्ण] ! आपके द्वारा रक्षित इस वृष [वृषका अर्थ बैल और धर्म दोनों होते हैं । श्लोकमें श्लेष अलंकार है । अतः सब पद दोनों पक्षोंमें लगेंगे] के चारों पैर [धर्म पक्षमें यज्ञ, अध्ययन, तप और दान ये धर्मके चार चरण कहलाते हैं] इस प्रकार बढ़े कि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्दतापूर्वक विचरते हुए उसने अधर्मरूप शस्यों [फसलों] को जबरदस्ती खा डाला [नष्टकर डाला] । २६७ ।

धार्मिकके लक्षणमें 'कुर्वन्' और 'कारयते' ये दो पद दिए गए हैं । अर्थात् जो स्वयं धर्मका अनुष्ठान करता हुआ अन्योंसे धर्मका अनुष्ठान करवाता है वह धार्मिक कहलाता है । इसमेंसे 'कुर्वन्'का उदाहरण ऊपर वाला श्लोक है । 'कारयते' का उदाहरण अगले श्लोकमें दिखलाया गया है ।

अथवा जैसे [धार्मिकताका दूसरा उदाहरण निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे मुकुन्द [कृष्ण] ! आपके द्वारा [प्रेरित करके अन्य राजाओंसे] करवाए जानेवाले यज्ञोंमें अपने [पतियों [अर्थात् देवताओं] के निरन्तर आकृष्ट [होकर सदा बाहर] रहनेके कारण दुःखी होकर अप्सराओंका समुदाय [अर्थात् सारी देवस्त्रियाँ] अब नवम अवतार [अर्थात् बुद्ध भगवान्] को नमस्कार करने लगेंगी [अर्थात् वैराग्य धारण कर भिक्षुणी बन जावेंगी] ऐसा प्रतीत होता है । [क्योंकि उनके पति लोग सदा आपके द्वारा करवाए जानेवाले यज्ञोंमें बाहर ही रहते हैं तब वे घरमें रहकर क्या करें] । २६८ ।

३१—शूर [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

१ युद्धमें उत्साह रखनेवाला और २ अस्त्रोंके प्रयोगमें निपुण [दो प्रकारका] 'शूर' होता है ॥ ५५ ॥

उनमेंसे प्रथम प्रकार [के शूर]का [उदाहरण] जैसे निम्न श्लोकमें कृष्णके युद्धोत्साहित्व रूप शूरत्वका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

पृथु समरसरो विगाह्य कुर्वन् द्विषदरविन्दवने विहारचर्य्याम् ।
स्फुरसि तरलबाहुदण्डशुण्डस्त्वमघविदारण ! वारणेन्द्रलीलः ॥२६६॥

द्वितीयो यथा—

क्षणादक्षौहिणीवृन्दे जरासन्धस्य दारुणे ।
दष्टः कोऽत्र न वा दष्टो हरे प्रहरणाहिभिः ॥३००॥

३२. करुणः—

परदुःखासहो यस्तु करुणः स निगद्यते ।

यथा—

राज्ञामगाधगतिभिर्मगधेन्द्रकारा—
दुःखान्धकारपटलैः स्वयमन्धितानाम् ।
अक्षीणि यः सुखमयानि घृणी व्यतानीद्-
वन्दे तमद्य यदुनन्दनपद्मबन्धुम् ॥३०१॥

यथा वा—

स्खलन्नयनवारिभिर्विरचिताभिषेकश्रिये
त्वराभरतरङ्गतः कवलितात्मविस्फूर्त्तये ।
निशातशरशायिना सुरसरित्सुतेन स्मृतेः
सपद्यवशवर्ष्मणे भगवतः कृपायै नमः ॥३०२॥

हे पापनाशक [कृष्ण] ! विशाल समर-सरोवरका अवगाहन करके शत्रुरूप कमलोंके वनमें विहार करते हुए, चञ्चल बाहुदण्ड रूप सूँडसे युक्त आप गजराजके समान शोभित हो रहे हैं। २६६।

दूसरे प्रकार [के कृष्णके शूरत्वका] का [उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें कृष्णके शूरत्वका वर्णन पाया जाता है]—

कृष्णके शस्त्ररूप सर्पोंने जरासन्धकी विशाल अक्षौहिणी सेनाके समूहको क्षण-भरमें ही किसको डस लिया, किसको नहीं [इस भेदका करना असम्भव हो गया। अर्थात् तनिक देरमें ही कृष्णके अस्त्रोंने जरासन्धकी १६००० अक्षौहिणी सेनाओंमें सबको घायल कर दिया या मार डाला]। ३००।

३२—करुण [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो दूसरोंके दुःखको सहन न कर सके उसको 'करुण' [दयालु] कहा जाता है।

जैसे [कृष्णके दयालु होनेका वर्णन निम्न उदाहरणमें पाया जाता है]—

अगाध गति वाले मगधेन्द्र [जरासन्ध] के कारागृहके दुःखरूप अन्धकार पटलोंसे स्वयं अन्धे हुए [जरासन्धके कारागृहमें पड़े हुए] राजाओंके नेत्रोंको जिस दयालु [कृष्ण] ने सुखमय बनाया उस यदुनन्दन रूप [पद्मबन्धु अर्थात्] सूर्यकी मैं वन्दना करता हूँ। ३०१।

अथवा जैसे [कृष्णकी दयालुताका प्रतिपादक दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है]—

तीक्ष्ण बाणोंके ऊपर सोते हुए गंगाके पुत्र भीष्मके द्वारा स्मरण किए जानेके कारण [कृष्णके आनन्दके अतिरेकसे उत्पन्न] टपकते हुए आँसुओंसे [कृष्णको] स्नान करानेवाली,

३३. मान्यमानकृत्—

गुरुब्राह्मणवृद्धादिपूजको मान्यमानकृत् ।।५६।।

यथा—

अभिवाद्य गुरोः पदाम्बुजं पितरं पूर्वजमप्यथानतः ।
हरिरञ्जलिना तथा गिरा यदुवृद्धाननमत् क्रमादयम् ।।३०३।।

३४. दक्षिणः—

सौशील्यसौम्यचरितो दक्षिणः कीर्त्यते बुधैः ।

यथा—

भृत्यस्य पश्यति गुरूनपि नापराधान्
सेवां मनागपि कृतां बहुधाऽभ्युपैति ।
आविष्करोति पिशुनेष्वपि नाभ्यसूयां
शीलेन निर्मलमतिः कमलेक्षणोऽयम् ।।३०४।।

३५. विनयी—

औद्धत्यपरिहारी यः कथ्यते विनयीत्यसौ ।।५७।।

शीघ्रताके बाहुल्यके कारण अपनी सुध-बुध भुला देनेवाली, और शरीरको अवश बना डालने वाली भगवान्‌की कृपाको नमस्कार है। ३०२।

शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मने जब प्रेमपूर्वक कृष्णका स्मरण किया तो उसको सुनकर कृष्णकी आँखोंसे आनन्दाश्रुओंकी वृष्टिसी होने लगी और उन आँसुओंसे वे नहा गए। उनके पास पहुँचनेकी शीघ्रतामें वे अपनी सुध-बुध भी भूल गए और इस प्रकार उनका अपने शरीर पर ही कोई अधिकार नहीं रह गया। इस प्रकार जिस कृपाभाव या दयालुताने कृष्णको विह्वल बना दिया उस कृष्णकी लोकोत्तर कृपाको नमस्कार हैं। अर्थात् वह सब लोकसे परेकी वस्तु है। यह बात इस श्लोकसे सूचित की गई हैं।

३३—मान्यमानकृत [गुणका लक्षण निम्न प्रकार है]—

गुरु, ब्राह्मण, वृद्ध आदिका सम्मान करनेवाला 'मान्यमानकृत' कहलाता है ।। ५६ ।।

जैसे [कृष्णके मान्यमानकृत गुणका प्रदर्शन निम्न उदाहरण द्वारा होता है]—

गुरु [सान्दीपनि मुनि] के चरणोंको छूकर, पिता और बड़े भाईको भी नमस्कार करके, कृष्णने हाथ जोड़कर और वाणीसे यदुवंशके वृद्धोंको भी क्रमसे नमस्कार किया।३०३।

३४—दक्षिण [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

उत्तम स्वभावके कारण कोमल चरितवाला 'दक्षिण' कहलाता है।

जैसे [कृष्णके दक्षिण होनेका परिचय निम्न श्लोकसे मिलता है]—

सेवकजनके बड़े अपराधोंपर भी ध्यान नहीं देते हैं और [उनके द्वारा] की गई तनिक-सी भी सेवाको बहुत मानकर स्वीकार करते हैं। ये विशुद्धमति कमल-नयन [कृष्ण] अपनी सुशीलताके कारण दुष्टोंके प्रति भी घृणाको प्रकट नहीं करते हैं। ३०४।

३५—विनयी [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो औद्धत्यका निवारण करनेवाला है वह 'विनयी' कहलाता है ।। ५७।

यथा माघकाव्ये—

अवलोक एव नृपतेः सुदूरतो रभसाद्रथादवरीतुमिच्छतः ।
अवतीर्णवान् प्रथममात्मना हरिः, विनयं विशेषयति संभ्रमेण सः ॥३०५॥

३६. ह्रीमान्—

ज्ञाते स्मररहस्येऽन्यैः क्रियमाणे स्तवेऽथ वा ।
शालीनत्वेन संकोचं भजन् ह्रीमानुदीर्य्यते ॥५८॥

यथा ललितमाधवे—

दरोदञ्चद्गोपीस्तनपरिसरप्रेक्षणभवात्—
करोत्कम्पादीषच्चलति किल गोवर्धनगिरौ ।
भयार्त्तैरारब्धस्तुतिरखिलगोपैः स्मितमुखं—
पुरो दृष्ट्वा रामं जयति नमितास्यो मधुरिपुः ॥३०६॥

जैसे माघकाव्यमें [कृष्णके विनयी होनेका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

दूरसे देखते ही जल्दीसे रथसे उतारनेकी इच्छा करनेवाले, राजाके [उतर पाने] के पहिले ही जो हरि स्वयं अपने आप ही रथसे उतर पड़े वे उन्होंने आदर [के अतिशय] के द्वारा विनयको भी अलंकृत कर दिया [अथवा विशेष विनयका प्रदर्शन किया] । ३०५ ।

३६—ह्रीमान् [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

[अ-स्मर रहस्य अर्थात्] कामका रहस्य न होनेपर भी दूसरोंके द्वारा [कामका विकार] जान जानेपर [अथवा ज्ञाते स्मररहस्येऽन्यैः' अन्योंके द्वारा अपने काम-रहस्यको भाँप लिए जाने पर] अथवा स्तुति किए जानेपर जो शालीनताके कारण संकोचको प्राप्त हो जाता है उसको 'ह्रीमान्' कहते हैं ॥ ५८ ॥

जैसे ललितमाधममें [कृष्णके ह्रीमान् होनेका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

तनिकसे खुले हुए गोपीके स्तनकी विशालताको देखकर उत्पन्न होनेवाले हाथके कंपन [रूप सात्त्विक भाव] से [उस हाथके ऊपर धारण किए हुए] गोवर्धन पर्वतके तनिक हिल जानेके भयसे ग्रस्त हुए समस्त गोपवृन्दके द्वारा जिनकी स्तुति प्रारम्भ कर दी गई है इस प्रकारके कृष्ण, और सामने मुस्कराते हुए बलरामको देखकर [कामविकारके भांप लिए जानेके कारण] सिर झुकाए कृष्ण सर्वोत्कर्षशाली हैं । ३०६ ।

ऊपर ५८वीं कारिकामें जो 'ह्रीमान्' का लक्षण किया गया है उसमें 'ज्ञाते स्मर-रहस्येऽन्यैः' इस प्रकारका पाठ किया गया है । इसका सीधा अर्थ यह है कि अपने काम-विकारके दूसरों द्वारा भाँप लिए जानेपर जो संकोचको अनुभव करता है वह 'ह्रीमान्' कहलाता है । किन्तु दुर्गमसंगमनीकारने यहाँ 'स्मररहस्य' के स्थान पर 'अस्मररहस्य' इस प्रकार का पदच्छेद किया है । अर्थात वास्तवमें स्मररहस्य न होनेपर भी दूसरोंने यदि उसको 'स्मर-रहस्य' समझ लिया हो तो जो संकोचका अनुभव करे वह 'ह्रीमान्' कहलाता है । इसी प्रकार का अर्थ करनेका यत्न किया है उनका यह यत्न उचित प्रतीत नहीं होता है । अगले उदाहरण से उसकी पुष्टि नहीं होती है । उस उदाहरणमें स्पष्ट रूपसे गोपीके स्तनप्रान्तके देखनेसे उत्पन्न कम्पका वर्णन किया गया है । यह कम्प जब स्तन-प्रान्तके देखनेसे ही उत्पन्न हुआ है तो वह

३७. शरणागतपालकः—

पालयन् शरणापन्नान् शरणागतपालकः ।

यथा—

ज्वर ! परिहर वित्रासं त्वमत्रसमरे कृतापराधोऽपि ।
सद्यः प्रपद्यमाने यदिन्दवति यादवेन्द्रोऽयम् ॥३०७॥

३८. सुखी—

भोक्ता च दुःखगन्धैरप्यस्पृष्टश्च सुखी भवेत् ॥५६॥

तत्राद्यो यथा—

रत्नालंकारभारस्तव धनदमनोराज्यवृत्त्याऽप्यलभ्यः
स्वप्ने दम्भोलिपाणेरपि दुरधिगमं द्वारि तौर्य्यत्रिकं च ।
पार्श्वे गौरीगरिष्ठाः प्रचुरशशिकलाः कान्तसर्वाङ्गभाजः
सीमन्तिन्यश्च नित्यं यदुवर ! भुवने कस्त्वदन्योऽस्ति भोगी ॥३०८॥

अवश्य ही कामविकार है। उसमें कामविकारका भ्रम नहीं हुआ है। बलराम कृष्णके इस सात्त्विक भावके उदयसे उनके कामविकारको भाँप गए हैं इसलिए उनको हँसी आ गई है। अत एव उस उदाहरणको देखते हुए 'ज्ञाते स्मररहस्येऽन्यैः' यही सीधा पाठ है। 'इसमें अस्मर-रहस्ये' का पदच्छेद करना उचित नहीं हैं। अतः हमने 'अस्मररहस्ये' का सूचक पूर्वरूपका चिह्न मूलपाठ नहीं दिया हैं।

३७—शरणागत पालक [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

शरणमें आए हुओंका पालन करनेवाला 'शरणागतपालक' कहलाता है।

जैसे [कृष्णकी शरणागतपालकताका प्रदर्शन निम्न उदाहरणमें पाया जाता है]—

हे ज्वर ! इस युद्धमें अपराधी होनेपर भी तुम भयको छोड़ दो [कृष्णकी शरणमें आ जाओ] क्योंकि यह यादवराज शरणमें आए हुएके लिए तुरन्त चन्द्रमाके समान शीतल हो जाते हैं। ३०७।

३८—सुखी [का लक्षण तथा भेद निम्न प्रकार है]—

१ [सुखका] भोग करनेवाला और २ दुःखके सम्पर्कसे सर्वथा रहित रहनेवाला [दो प्रकारका] 'सुखी' होता है ॥ ५६ ॥

उनमेंसे पहिली तरह [के अर्थात् सुखभोक्ता कृष्ण थे इसका उदाहरण निम्न श्लोकमें पाया जाता है] जैसे—

कुबेरके मनोरथसे भी आपका [अर्थात् आपकी बराबरका] रत्नों तथा अलंकारोंका भार प्राप्त नहीं हो सकता है [कुबेरके कोषमें उनकी उपस्थितिकी तो बात ही क्या है] और [आपके यहाँ जो नृत्य, गीत वादित्रकी सामग्री हैं वह] वज्रपाणि इन्द्रके द्वारपर स्वप्नमेंभी वह तौर्यत्रिक [नृत्य, गीत, वाद्यकी सामग्री] प्राप्त नहीं हो सकती है। और हे यदुवर ! आपके पास [सैंकड़ों नखक्षत रूप] प्रचुर चन्द्रकलाओंसे युक्त [गौरीके पास तो एक ही चन्द्रकला है किन्तु आपके पास जो स्त्रियाँ रहती हैं उनके पास नखक्षत रूप प्रचुर चन्द्रकलाएँ हैं। इसी प्रकार गौरी अर्थात् पार्वतीका केवल आधा शरीर कान्तमय शिवमय है क्योंकि वे शिवकी

द्वितीयो यथा—

न ह्यानिं न ग्लानिं न निजगृहकृत्यव्यसनितां-
न घोरं नोद्घूर्णां न किल कदनं वेत्ति किमपि।
वराङ्गीभिः साङ्गीकृतसुहृदनङ्गाभिरभितो
हरिर्वृन्दाऽरण्ये परमनिशमुच्चैर्विहरति ॥३०६॥

३६. भक्तसुहृत्—

सुसेव्यो दासबन्धुश्च द्विधा भक्तसुहृन्मतः ।

तत्राद्यो यथा विष्णुधर्मे—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च ।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥३१०॥

अर्धाङ्गिनी हैं। किन्तु आपके पास रहनेवाली स्त्रियाँ 'कान्तसर्वाङ्गभाजः' है। सम्पूर्ण सुन्दर शरीरसे युक्त [हैं] इसलिए गौरीसे भी अधिक श्रेष्ठ स्त्रियाँ आपके पास हैं तब आपसे बढ़कर भोगी और कौन हो सकता है। ३०८।

इस श्लोकके अन्तिम दो चरणोंका अर्थ विशेष ध्यान देने योग्य है। उसमें कृष्णके पास रहनेवाली स्त्रियोंको 'गौरीगरिष्ठाः' पार्वतीसे भी अधिक महत्त्वशालिनी कहा गया है। इस बातको सिद्ध करनेकेलिए उन स्त्रियोंके दो विशेषण दिए गए हैं एक 'प्रचुरशशिकलाः' और दूसरा 'कान्तसर्वाङ्गभाजः'। गौरी केवल एक शशिकला वाली है किन्तु कृष्णकी पार्श्व-वर्तिनी स्त्रियों के पास प्रचुर शशिकलाएँ हैं इसलिए गौरीसे अधिक श्रेष्ठ हैं। इन स्त्रियोंके पक्षमें शशिकला शब्दसे अर्द्धचन्द्रके समान दिखलाई देखनेवाले नखक्षतोंका ग्रहण होता है। दूसरा विशेषण 'कान्तसर्वाङ्गभाजः' है। गौरी अपने कान्त शिवकी केवल अर्धाङ्गिनी है। किन्तु ये स्त्रियाँ 'कान्तसर्वाङ्गभाजः' है। इसलिए भी वे गौरीसे अधिक श्रेष्ठ हैं। इन स्त्रियोंके पक्षमें 'कान्तसर्वाङ्गभाजः' का अर्थ जिनके सम्पूर्ण अंग सुन्दर हैं यह होता है। इन दोनों विशेषणोंका अर्थ समझ लेनेपर कृष्णकी पार्श्ववर्तिनी स्त्रियोंका गौरीसे अधिक श्रेष्ठ होना समझमें आ जाता है। कविने यहाँ श्लेषसे उसका प्रतिपादन किया है।

दूसरे प्रकारका [अर्थात् दुःखगन्धसे अस्पृष्ट सुखीका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें कृष्णके दुःखकी अस्पृष्टताका प्रतिपादन किया गया है]—

[गोपियोंके साथ विहार करते समय कृष्णको] न हानिकी, न ग्लानिकी, न अपने घरेलू कार्योंकी, न भयकी, और न [उद्घूर्णा] चिन्ताकी और न कदन [दुःख या मानापमान] की कोई परवाह है। सहचारियोंके सहित अनंगोपभोगमें प्रवृत्त होनेवाली सुन्दरियोंके साथ कृष्ण रात-दिन वृन्दावनमें विहार करते रहते हैं। ३०९।

३६—भक्तसुहृत् [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

१ सरलतासे सेवन करने योग्य [सहज प्रसन्न] और २ भक्तोंके बन्धु दो प्रकारके 'भक्तसुहृत्' माने गए हैं।

उनमेंसे पहले प्रकारके [अर्थात् सुसेव्य सहज-प्रसन्न कृष्णका वर्णन] विष्णुधर्ममें [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

केवल तुलसीके एक पत्र और चुल्लू-भर जलसे भी भक्तवत्सल भगवान् अपनेको भक्तों

द्वितीयो यथा प्रथमे—

स्वनिगमसपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्त्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्यगाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥३११॥

४०. प्रेमवश्यः—

प्रियत्वमात्रवश्यो यः प्रेमवश्यो भवेदसौ ॥६०॥

यथा श्री दशमे—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥३१२॥

यथा वा तत्रैव—

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकवरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने ॥३१३॥

४१. सर्वशुभङ्करः—

सर्वेषां हितकारी यः स स्यात्सर्वशुभङ्करः।

के हाथ बेच देते हैं। ३१०।

दूसरे प्रकारके [दासबन्धु रूप भक्तसुहृत्के रूपमें कृष्णका वर्णन] जैसाकि [भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

[युद्धमें शस्त्र न ग्रहण करनेकी] अपनी प्रतिज्ञाको भूलकर मेरी [अर्थात् अपने भक्त भीष्मकी] प्रतिज्ञा [अर्थात् कृष्णको शस्त्र ग्रहण कराकर रहूँगा] को अमृत समान मानकर उसको पूर्ण करनेके लिए व्याकुल होकर रथपर बैठे हुए [कृष्ण रथांग अर्थात्] चक्रको लेकर सिंह जिस तरह हाथीको मारनेके लिए चलता है इस प्रकार पृथिवीको कम्पित करते हुए [कृष्ण मेरी ओर दौड़नेके लिए रथपरसे] कूद पड़े। जिसमें कि [कूदते समय उनका उत्तरीय वस्त्र] दुपट्टा गिर ही गया। ३११।

४०—प्रेमवश्य [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो केवल प्रेम [प्रियत्वमात्र] के द्वारा वशीभूत हो जाय वह 'प्रेमवश्य' [कहलाता] है ॥ ६० ॥

जैसे [कृष्णके प्रेमवश्यत्वका परिचय भागवतके] दशम [स्कन्धके निम्न श्लोक] में पाया जाता है]—

अपने प्रिय मित्र ब्रह्मर्षिके अंगोंके स्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित होकर कमलनयन [कृष्ण] अपने नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाने लगे। ३१२।

अथवा जैसे [इस प्रकारका दूसरा उदाहरण भी] वहीं [अर्थात् दशम स्कन्धमेंही निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

[कृष्णको पकड़नेकेलिए उनके पीछे-पीछे भागते हुए] जिनके बाल बिखर गए हैं और शरीर पसीनेसे तर हो गया है इस प्रकारकी अपनी माताके परिश्रमको देखकर कृष्ण दया करके स्वयं ही बन्धनमें पड़ गए। ३१३।

४१—सबके कल्याणकारक [का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है]—

जो सबका हितकारी हो उसको 'सबका शुभंकर' कहते हैं।

यथा—

कृताः कृतार्था मुनयो विनोदैः खलक्षयेणाखिलधार्मिकाश्च ।
वपुर्विमर्दन खलाश्च युद्धे न कस्य पथ्यं हरिणा व्यधायि ॥३१४॥

४२. प्रतापी—

प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापिप्रसिद्धिभाक् ॥६१॥

यथा—

भवतः प्रतापतपने भुवनं कृष्ण ! प्रतापयति ।
घोरासुरघूकानां शरणमभूत्कन्दरातिमिरम् ॥३१५॥

४३. कीर्तिमान्—

साद्गुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्त्तिमानिति कीर्त्यते ।

यथा—

त्वद्यशःकुमुदबन्धुकौमुदी शुभ्रभावमभितो नयन्त्यपि ।
नन्दनन्दन ! कथं नु निर्म्ममे कृष्णभावकलिलं जगत्त्रयम् ॥३१६॥

जैसे [कृष्णके सर्वशुभंकरत्वका परिचय निम्न श्लोकसे मिल सकता है]—

[कृष्णने विविध प्रकारके मनो-] विनोदोंके द्वारा मुनियोंको, दुष्टोंके नाशके द्वारा समस्त धार्मिकजनोंको, और युद्धमें [दुष्टोंके] शरीरके नाशद्वारा [उनको परमगति प्रदान कर] दुष्टोंको, कृतार्थ किया । इस प्रकार कृष्णने किसका कल्याण नहीं किया । ३१४ ।

४२—प्रतापी [का लक्षण निम्न प्रकार हैं]—

पराक्रमसे उत्पन्न शत्रुओंको भयभीत करनेवाली प्रसिद्धिवाला 'प्रतापी' [कहलाता] है ॥ ६१ ॥

जैसे [कृष्णके प्रतापी होनेका परिचय निम्न श्लोकसे मिलता है]—

हे कृष्ण ! आपके प्रताप सूर्यके द्वारा संसारके प्रकाशित होनेपर भयंकर असुर रूप उलूकोंकेलिए कन्दराओंका अन्धकार ही शरण बन गया है [अर्थात् आपके भयके मारे असुर लोग कन्दराओंमें जा छिपे हैं] । ३१५ ।

४३—कीर्तिमान [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

उज्ज्वल शुभ गुणोंके कारण विख्यात 'कीर्तिमान' कहा जाता है ।

जैसे [कृष्णके कीर्तिमान होनेका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे नन्दनन्दन [कृष्ण] ! आपके यशो रूप चन्द्रमा [कुमुद-बन्धु] की कौमुदी जगत्को निरन्तर उज्ज्वल करती हुई भी पता नहीं कैसे उसको कृष्णभावसे व्याप्त कर रही है । ३१६ ।

यहाँ 'कृष्णभाव' शब्द श्लिष्ट है । और उसके कारण विरोधाभास अलङ्कार है । कीर्ति कौमुदी जगतको उज्ज्वल करते हुए भी उसको 'कृष्णभाव' अर्थात कालिमासे व्याप्त कर रही है यह विरोध हुआ । इस पक्षमें कृष्णभावका अर्थ कालिमा है । अतः विरोध प्रतीत होता है । किन्तु इसी शब्दका अर्थ जब 'कृष्णभाव' अर्थात सारे जगतमें कृष्ण या भगवान्की महिमा या प्रेमकी व्याप्ति ले लिया जाता है तो उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसी विरोधाभास अलंकार को लेकर कविने इस श्लोकको रचना की है । और उसमें कृष्णकी कीर्तिका महत्त्व तथा विस्तार दिखलाया है ।

यथा वा ललितमाधवे—

भीता रुद्रं त्यजति गिरिजा श्याममप्रेक्ष्य कण्ठं
शुभ्रं दृष्ट्वा क्षिपति वसनं विस्मितो नीलवासाः।
क्षीरं मत्वा श्रपयति यमीनीरमाभीरिकोत्का
गीते दामोदर! यशसि ते वीणया नारदेन ॥३१७॥

४४. रक्तलोकः—

पात्रं लोकानुरागाणां रक्तलोकं विदुर्बुधाः ॥६२॥

यथा प्रथमे—

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाऽथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्रविं विनाऽक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत! ॥३१८॥

यथा वा—

आशीस्तथ्या जय जय जयेत्याविरास्ते मुनीनां
देवश्रेणीस्तुतिकलकलो मेदुरः प्रादुरस्ति।
हर्षोद्‌घोषः स्फुरति परितो नागरीणां गरीयान्
के वा रङ्गस्थलभुवि हरौ भेजिरे नानुरागम् ॥३१९॥

अगले श्लोकमें भ्रान्तिमान् अलङ्कार द्वारा कृष्णकी कीर्तिका वर्णन करते हुए ललितमाधवमें कविने निम्न श्लोक लिखा है—

अथवा जैसे ललितमाधवमें [कृष्णकी कीर्तिका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

हे दामोदर [कृष्ण]! नारदके द्वारा वीणापर आपकी कीर्तिका गान होनेपर [उसके कारण नीलकण्ठ शिवके] कण्ठको नीला न देखकर [परपुरुषकी शंकासे] भयभीत पार्वती शिवको छोड़ देती है, [नीलाम्बरधारी बलराम अपने] वस्त्रको सफेद देखकर फेंक देते हैं, अहीरिन [यमी-नीर अर्थात्] ओसको [फैला हुआ] दूध समझकर [हाय, यह दूध कैसे फैल गया इस प्रकार] उत्कण्ठित होकर बटोरने लगती हैं। ३१७।

४४—रक्तलोक [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

समस्त जनोंके अनुरागोंका जो पात्र है [अर्थात् जिसको सब लोग प्यार करते हैं] उसको विद्वान् लोग 'रक्तलोक' कहते हैं ॥ ६२॥

जैसे [कृष्णकी रक्तलोकताका परिचय भागवतके] प्रथम स्कन्धमें [निम्न प्रकारसे पाया जाता है]—

हे कमलनयन [कृष्ण]! जब आप मित्रोंसे मिलनेके लिए कुरु देशको या मधुपुरीको चले जाते हैं तब जैसे सूर्यके बिना आँखोंके लिए [एक क्षण भी कल्पके समान हो जाता है इसी प्रकार] तुम्हारे बिना एक-एक क्षण करोड़ों वर्षोंके समान हो जाता है। ३१८।

अथवा जैसे [कृष्णके रक्तलोक होनेका परिचय निम्न श्लोकमें भी पाया जाता है]—

कृष्णके रंगभूमिमें उतरनेपर मुनियोंका 'विजयी हो, विजयी हो' इस प्रकारका सत्य आशीर्वाद उद्‌घोषित होने लगा। देवगणोंका प्रचण्ड स्तुति कोलाहल प्रकट हुआ और चारों ओरसे नगरवासियोंकी प्रबल हर्षध्वनि होने लगी। इस प्रकार [कृष्णके रंगभूमिमें पहुँचनेपर] किसने अनुराग प्रदर्शित नहीं किया? । ३१९।

४५. साधुसमाश्रयः—

सदेकपक्षपाती यः सः स्यात्साधुसमाश्रयः ।

यथा—

पुरुषोत्तम ! चेदवातरिष्यद्भुवनेऽस्मिन्न भवान् भुवः शिवाय ।
विकटासुरमण्डलान्न जाने सुजनानां बत का दशाऽभविष्यत् ॥३२०॥

४६. नारीगणमनोहारी—

नारीगणमनोहारी सुन्दरीबृन्दमोहनः ॥६३॥

यथा दशमे—

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥३२१॥

यथा वा—

त्वं चुम्बकोऽसि माधव ! लोहमयी नूनमङ्गनाजातिः ।
धावति ततस्ततोऽसौ यतो यतः क्रीडया भ्रमसि ॥३२२॥

४७. सर्वाराध्यः—

सर्वेषामग्रपूज्यो यः सर्वाराध्यः स उच्यते ।

यथा प्रथमे—

४५—साधुसमाश्रय [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो केवल सज्जनोंका पक्षपात करने वाला है उसको 'साधुसमाश्रय' कहा जाता है ।

जैसे—

हे पुरुषोत्तम [कृष्ण] ! यदि आप जगत्के कल्याणके लिए यहाँ अवतार धारण न करते तो हाय, भयंकर असुरोंके द्वारा सज्जनोंकी न जाने क्या दशा होती । ३२० ।

४६—नारीगणमनोहारी [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो सुन्दरियोंके समूहको मोहित करनेवाला है उसको 'नारीगणमनोहारी' कहते हैं ॥ ६३ ॥

जैसे दशम स्कन्धमें—

उत्तम भक्तोंके द्वारा [उरुगायैः] प्रबल रूपसे गान किए जानेपर [उसके] श्रवणमात्र से जो स्त्रियोंके चित्तको बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है तो देखनेवालियोंके [चित-हरण] की तो बात ही क्या कही जाय । ३२१ ।

अथवा जैसे [कृष्णके नारीगणमनोहारी रूपका वर्णन निम्न श्लोकमें भी पाया जाता है]—

हे कृष्ण ! आप चुम्बक हो और स्त्रीजाति निश्चय ही लौह सदृश है । इसीलिए आप खेलते हुए जिधर-जिधर जाते हो उधर-उधर ही वह [तुम्हारे पीछे] दौड़ती है । ३२२ ।

४७ – सर्वाराध्य [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो सबके लिए सबसे प्रथम पूजाके योग्य है उसको 'सर्वाराध्य' कहा जाता है ।

जैसे प्रथम [स्कन्ध]में [कृष्णके सर्वाराध्य होनेका परिचय निम्न प्रकार मिलता है]—

मुनिवरनृपवर्य्यसंकुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशि गोचर एष आविरात्मा ॥३२३॥

४८. समृद्धिमान्—

महासंपत्तियुक्तो यो भवेदेष समृद्धिमान् ॥६४॥

यथा—

षट्पञ्चाशद्यदुकुलभुवां कोटयस्त्वां भजन्ते
वर्षन्त्यष्टौ किमपि निधयश्चार्थजातं तवामी ।
शुद्धान्तश्च स्फुरति नवभिर्लक्षितः सौधलक्षैः
लक्ष्मीं पश्यन् मुरदमन ! ते नात्र चित्रीयते कः ॥३२४॥

यथा वा बिल्वमङ्गले—

चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गनानां शृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम् ।
वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनुवृन्दानि चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः ॥३२५॥

४९. वरीयान्—

सर्वेषामाभिमुख्ये यः स वरीयानितीर्य्यते ।

यथा—

हे मुनिवर ! युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें राजाओंसे भरे हुए सभा-भवनमें मेरे नयनों के गोचर प्रकाशित स्वरूपवाले और दर्शनीय इन [कृष्ण] ने उन [समस्त राजाओं] की पूजा प्राप्त की । ३२३ ।

४८—समृद्धिमान् [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो विशाल वैभवसे युक्त हो उसको 'समृद्धिमान' कहा जाता है ॥ ६४ ॥

जैसे [कृष्णके समृद्धिमान होनेका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे मुरमर्दन [कृष्ण] ! छप्पन करोड़ यदुवंशी आपका आश्रय लेते हैं । और आपकी आठों निधियाँ कुछ अपूर्व अर्थकी वृष्टि कर रही है । आपका अन्तःपुर नौ लाख प्रासादोंसे युक्त दिखलाई देता है इस प्रकार आपकी लक्ष्मीको देखकर कौन आश्चर्यमें नहीं पड़ जाता है ।३२४।

अथवा जैसे बिल्वमंगलमें [भी कृष्णकी समृद्धिका वर्णन निम्न प्रकार मिलता है]—

वृन्दावनमें चिन्तामणि [रत्न वहाँकी] स्त्रियोंके चरणोंका भूषण बन रहा है, देवताओंके [कल्पतरु आदि पाँचों] वृक्ष [वृन्दावनकी स्त्रियोंके] शृङ्गार पुष्पोंके वृक्ष हैं [अर्थात् उनका इतना ही उपयोग है कि वहाँकी स्त्रियाँ उनके फूलोंसे अपना शृङ्गार करती हैं] और कामधेनुके समूह वृन्दावनमें गोशाला [व्रज गोष्ठ गौओंके बैठनेका स्थान] की शोभा मात्र है । अहो, सुखसिन्धु [कृष्ण] की विभूति आश्चर्यजनक है । ३२५ ।

४९—वरीयान [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो सबके अभिमुख रहता है [जिससे मिलनेकेलिए सब उत्सुक रहते हैं] उसको 'वरीयान' कहते हैं ।

जैसे [कृष्णके वरीयान होनेका प्रमाण निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

ब्रह्मन्नत्र पुरद्विषा सह पुरः पीठे निषीद क्षणं
तूष्णीं तिष्ठ सुरेन्द्र ! चाटुभिरलं वारीश! दूरीभव ।
एते द्वारि मुहुः कथं सुरगणाः कुर्वन्ति कोलाहलं
हन्त द्वारवतीपतेरवसरो नाद्यपि निष्पद्यते ॥३२६॥

५०. ईश्वरः—

द्विधेश्वरः स्वतन्त्रश्च दुर्लङ्घ्याज्ञश्च कीर्त्यते ॥६५॥

तत्र स्वतन्त्रो यथा—

कृष्णः प्रसादमकरोदपराध्यतेऽपि पादाङ्कमेव किल कालियपन्नगाय ।
न ब्रह्मणे दृशमपि स्तुवतेऽप्यपूर्वं स्थाने स्वतन्त्रचरितो निगमैर्नुतोऽयम् ॥३२७॥

दुर्लङ्घ्याज्ञो यथा तृतीये—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः ॥३२८॥

यथा वा—

नव्ये ब्रह्माण्डवृन्दे सृजति विधिगणः सृष्टये यः कृताज्ञो-
रुद्रौघः कालजीर्णे क्षयमवतनुते यः क्षयायानुशिष्टः ।

हे ब्रह्माजी ! आप शिवजी [पुरद्विषा] के साथ तनिक देर सामने कुर्सीपर विराजें, हे देवेन्द्र ! चुपचाप बैठ जाओ [अभी आपके लिए समय नहीं है], अरे बृहस्पते ! भागो, यह चाटुकारी करना व्यर्थ है [आपको इस समय कृष्णके दर्शन नहीं हो सकते हैं] ये देवता लोग दरवाजेपर क्यों शोर मचा रहे हैं अभी द्वारकापतिको [मिलनेका] अवसर नहीं है । ३२६ ।

५०—ईश्वर [का लक्षण निम्न प्रकार किया जाता है]—

१ स्वतंत्र और २ जिसकी आज्ञाका उल्लंघन न किया जा सके इस प्रकार दो तरह का 'ईश्वर' कहा जाता है । ६५ ॥

उनमेंसे स्वतन्त्र [कृष्णका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

कृष्णने अपराध करनेपर भी कालिया नागको अपना चरण-चिह्न प्रसाद रूपमें प्रदान किया और नए-नए ढंगसे स्तुति करनेवाले ब्रह्माकी ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं इसलिए शास्त्रोंने जो उनको स्वतन्त्र चरित्रवाला कहा है सो उचित ही है । ३२७ ।

[कृष्णकी आज्ञाका उल्लंघन कठिन है इसका वर्णन करते हुए उनकी] दुर्लंघ्य आज्ञा वाला होनेका [उदाहरण] जैसे तृतीय स्कन्धमें [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

जिनके न कोई समान है, और न जिनसे अधिक कोई है [असाम्यातिशयः] स्वराज्य लक्ष्मीके द्वारा जिनकी समस्त मनोकामनाएँ परिपूर्ण हैं इस प्रकारके [कृष्ण], स्वयं ही उपहार लानेवाले लोकपालोंके द्वारा चिरकालसे [किरीट कोटि+ईडित] मुकुटोंके अग्रभागसे जिनके चरणपीठकी वन्दना की जाती है इस प्रकारके हैं । ३२८ ।

अथवा जैसे [कृष्णके दुर्लंघ्याज्ञ होनेका परिचय निम्न श्लोकमें भी मिलता है]—

नवीन ब्रह्माण्डों [की रचनाके समय] में जिसको [सृष्टि-रचनाकी] आज्ञा प्रदान की गई है इस प्रकारके ब्रह्माओंका समुदाय [सृष्टिकी] रचना करता है । कालवश [सृष्टिके] जीर्ण

रक्षां विष्णुस्वरूपा विदधति तरुणे रक्षिणो ये त्वदंशाः
कंसारे ! सन्ति सर्वे दिशि दिशि भवतः शासनेऽजाण्डनाथा ॥३२६॥

५१. अथ सदास्वरूपसंप्राप्तः—

सदास्वरूपसंप्राप्तो मायाकार्य्यावशीकृतः ।

यथा प्रथमे—

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यतेऽसदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥३३०॥

५२. सर्वज्ञः—

परचित्तस्थितं देशकालाद्यन्तरितं तथा ॥६६॥
यो जानाति समस्तार्थं स सर्वज्ञो निगद्यते ।

हो जानेपर जिस [रुद्रगण] को [सृष्टिका] नाश करनेकी आज्ञा प्रदान की गई है वह [सृष्टिका] नाश करता है । और [जगत्की] तरुणावस्थामें विष्णु रूप आपके जो अंश [सृष्टिकी] रक्षा करने वाले हैं वे [जगत्की] रक्षा करते हैं । हे कंसारि [कृष्ण] ! प्रत्येक दिशामें सारे नित्य ब्रह्माण्डके जो स्वामी [ब्रह्मा, विष्णु, महेश] हैं, वे सब आपकी आज्ञाके वशवर्ती है। ३२६ ।

५१—सदास्वरूपसम्प्राप्त [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो [अपनी] माया रूप कार्यके वशीभूत नहीं होता है वह 'सदास्वरूपसम्प्राप्त' कहा जाता है ।

जैसे प्रथम स्कन्धमें [कृष्णके सदास्वरूपसम्प्राप्त होनेका वर्णन निम्न प्रकार मिलता है]—

परमात्माका ईश्वरत्व यही है कि प्रकृतिमें स्थित होनेपर असत् स्वरूपमें स्थित उसके गुणोंसे, उसमें रहनेवाली बुद्धिके समान लिप्त नहीं होता है। [-यह व्यतिरेक उदाहरण है । प्रकृति जैसे गुणोंसे लिप्त होती है उस प्रकार ईश्वर प्रकृतिमें रहते हुए भी उसके गुणोंसे लिप्त नहीं होता है यह अभिप्राय है] । ३३० ।

५२ – सर्वज्ञ [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

जो दूसरेके चित्तमें स्थित तथा देश, काल आदिसे व्यवहित [अर्थात् अतीत और अनागतकी] समस्त वस्तुओंको जानता है वह 'सर्वज्ञ' कहलाता है ॥ ६६ ॥

इस श्लोकका अर्थ समझनेकेलिए इससे सम्बद्ध कथाका परिज्ञान आवश्यक है । उसके विना श्लोकका अर्थ समझमें नहीं आ सकता है इसलिए महाभारतमें आई हुई इस कथाको संक्षिप्त रूपमें यहाँ दिया जा रहा है ।

एक बार राजा दुर्योधनने महर्षि दुर्वासाकी बड़ी सेवा की । उससे प्रसन्न होकर मुनि ने दुर्योधनसे वर माँगनेको कहा । दुर्योधनने यह सोचकर कि ऋषिके शाप द्वारा पाण्डवोंका नष्ट करनेका यह अच्छा अवसर है मुनिसे कहा कि हे ब्रह्मन् ! हमारे कुलमें युधिष्ठिर सबसे प्रधान है इसलिए आप अपने दस सहस्र शिष्योके साथ उनका आतिथ्य स्वीकार करें । किन्तु आप उनके यहाँ उस समय जायँ जब द्रौपदी भोजन कर चुकी हो, जिससे उसे भूखका कष्ट न उठाना पड़े ।

यथा प्रथमे—

योनो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद् दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥३३१॥

५३. नित्यनूतनः—

सदाऽनुभूयमानोऽपि करोत्यननुभूतवत् ॥६७॥
विस्मयं माधुरीभिर्यः स प्रोक्तो नित्यनूतनः।

द्रौपदीके पास सूर्य की दी हुई एक इस प्रकारकी बटलोई थी, जिसमें पकाया हुआ अन्न द्रौपदीके भोजन करनेसे पूर्व किसी प्रकार भी समाप्त नहीं हाता था और द्रौपदीके भोजन कर लेनेपर समाप्त हो जाता था। इसीलिए दुर्योधनने दुर्वासासे आग्रह किया था कि जब द्रौपदी भोजन कर चुके उसके बाद आप जाना। ताकि भोजन न मिलनेपर दुर्वासा शाप देकर पाण्डवोंका नाश कर सकें, यह दुर्योधनका अभिप्राय था। दुर्योधनकी प्रार्थनाके अनुसार दुर्वासा द्रौपदीके भोजन कर चुकनेके बाद पहुंचे और धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले कि हम लोग नदीपर स्नान करने जाते हैं तुम हमारे लिए भोजन तैयार रखना। उस समाचारको सुनकर द्रौपदी बड़े संकटमें पड़ गई और उसने आर्तभावसे कृष्णका स्मरण किया। उसकी प्रार्थना सुनकर कृष्ण तुरन्त उसके स्थानपर पहुंचे और उससे कहा कि मुझे भूख लग रही है, कुछ खानेको दो। द्रौपदी अब और भी संकटमें पड़ गई, पर उसने यथार्थ स्थिति उनके सामने निवेदन कर दी। पर कृष्णने आग्रह किया कि अच्छा, अपनी बटलोई तो उठा लाओ। बटलोई लानेपर द्रौपदीने देखा कि उसमें शाकका एक पत्ता या टुकड़ा लगा हुआ शेष है। कृष्णने आग्रहपूर्वक उस शाकावशेषको खा लिया। उनके खा लेनेसे न केवल उनकी तृप्ति हुई अपितु सारे जगतकी तृप्ति हो गई। इसी कारण उन दस सहस्र शिष्यों सहित दुर्वासा आदिकी भी तृप्ति हो गई और फिर वे दुबारा भोजन करनेके लिए युधिष्ठिरके पास नहीं आए। इस प्रकार कृष्णने अपनी इस प्रक्रियासे पाण्डवोंको एक अत्यन्त भयंकर शापजन्य आपत्तिसे बचा लिया। इसी बातका उल्लेख इस श्लोकमें किया गया है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

जैसे प्रथम स्कन्धमें [कृष्णके सर्वज्ञ होनेका वर्णन निम्न रूपमें पाया जाता है]—

[दुर्वासाके] दस सहस्र [शिष्यों] के पहले खानेवाले जिन [कृष्ण] ने [द्रौपदीकी बटलोईके] बचे हुए शाकान्नको खाकर शत्रु [अर्थात् दुर्योधन] के द्वारा रचे गए दुर्वासाके [शापरूप] दुस्तर कष्टसे हमारी रक्षाकी। क्योंकि [उन कृष्णके भोजन कर लेनेसे स्नानकार्य केलिए] नदीके जलमें निमग्न संघवाले [दुर्वासा] ने तीनों लोकोंको तृप्त समझ लिया [अर्थात् कृष्णकी तृप्ति हो जानेसे तीनों लोक तृप्त हो गए और उनके अन्तर्गत होनेसे दस सहस्र शिष्यमण्डल सहित दुर्वासा भी तृप्त हो गए इसलिए वे फिर युधिष्ठिरके यहाँ उस असमयमें भोजन करने नहीं आए]। ३३१।

५३—नित्यनूतन [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

सदा अनुभूत होनेपर भी जो अपने सौन्दर्यके कारण अननुभूतके समान आश्चर्यको उत्पन्न करता है वह 'नित्यनूतन' कहलाता है ॥ ६७ ॥

यथा प्रथमे—

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथाऽपि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।
पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलाऽपि यं श्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥३३२॥

यथा वा ललितमाधवे—

कुलवरतनुधर्मग्रावबृन्दानि भिन्दन्
सुमुखि ! निशितदीर्घापाङ्गटङ्कच्छटाभिः ।
युगपदयमपूर्वः कः परो विश्वकर्मा
मरकतमणिलक्षैर्गोष्ठकक्षां चिनोति ॥३३३॥

५४. सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः—

सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गश्चिदानन्दघनाकृतिः ॥६८॥

यथा—

क्लेशे क्रमात्पञ्चविधे क्षयं गते यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम् ।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥३३४॥

यथा वा—
ब्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्ये—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधाऽऽदिविभूतिभिन्नम् ।

जैसे [भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [लिखा है कि]—

यद्यपि वे [कृष्ण सदा] पासमें रहनेवाले हैं और एकान्तमेंभी [साथ] रहते हैं फिर भी उनके चरणकमल सदा नवीनही प्रतीत होते हैं। चंचला लक्ष्मी भी जिसको कभी नहीं छोड़ती है इस प्रकारके उन [कृष्ण]के चरणों [की सेवा] से कौन [गोपी] विरत होसकती है।३३२।

अथवा जैसा श्री ललितमाधवमें [कहा है]—

हे सुमुखि ! अपने तीक्ष्ण बड़े-बड़े नेत्रोंरूप टांकियोंके प्रहारसे कुलीन सुन्दरियोंके समस्त धर्मों रूप पत्थरोंको तोड़ता हुआ यह कौन-सा अपूर्व विश्वकर्मा है जो [अपने मुकुटके मोरपंखोंकी कान्ति रूप] लाखों मरकत-मणियोंसे गोशालाके कमरेको एक साथ भरे दे रहा है। ३३३।

५४—सच्चिदानन्दसे परिपूर्ण [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

चैतन्य और आनन्दसे परिपूर्ण आकृतिवाला [होनेसे कृष्ण] 'सच्चिदानन्दघनासान्द्र' कहलाता है ॥ ६८॥

जैसे—

[अविद्या अस्मिता राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पंच क्लेशाः। योगसूत्रके इस लक्षणके अनुसार कथित] पाँच प्रकारके क्लेशोंके क्रमशः नष्ट हो जानेपर जो [मोक्ष रूप] ब्रह्मसुख स्वयं प्रकाशित हो गया था उसको [अपने दर्शन सौख्यके सामने] व्यर्थ बनाता हुआ आमोदसे परिपूर्ण 'श्याम वर्ण' मानवाकारको धारण किए हुए यह कौन [सामने] प्रकट हो रहा है ! ३३४।

अथवा जैसे ब्रह्मसंहितामें आदिपुरुषके रहस्य [के निरूपणके प्रसंग] में [निम्न श्लोक लिखा गया है]—

जिन [प्रभवतः] सर्वशक्तिमान् [गोविन्दकी] प्रभा करोड़ों प्रकारके ब्रह्माण्डोंमें

तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं-
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥३३५॥

अतः श्रीवैष्णवैः सर्वश्रुतिस्मृतिनिदर्शनैः ।
तद् ब्रह्म श्रीभगवतो विभूतिरिति कीर्त्यते ॥६९॥

तथा हि यामुनाचार्य्यस्तवे—

यदण्डमण्डान्तरगोचरं च यद्दशोत्तराण्यावरणानि यानि च ।
गुणाः प्रधानं पुरुषः परं पदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः ॥३३६॥

५५. सर्वसिद्धिनिषेवितः—

स्ववशाखिलसिद्धिः स्यात्सर्वसिद्धिनिषेवितः ।

यथा—

दशभिः सिद्धसखीभिर्वृता महासिद्धयः क्रमादष्टौ ।
अणिमादयो लभन्ते नावसरं द्वारि कृष्णस्य ॥३३७॥

५६. अथाविचिन्त्यमहाशक्तिः—

दिव्यस्वर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मरुद्रादिमोहनम् ॥७०॥
भक्तप्रारब्धविध्वंस इत्याद्याचिन्त्यशक्तिता ।

[विरचित] पृथिवी आदि विभूतियोंमें भिन्न-भिन्न [प्रकाशित होती] है उन निष्फल अनन्त अशेषभूत आदिपुरुष रूप गोविन्दकी मैं उपासना करता हूँ । ३३५ ।

इसलिए श्रीवैष्णव लोग समस्त श्रुतियों, स्मृतियों आदिके आधारपर उस ब्रह्मको भगवान् [कृष्ण या विष्णु] की विभूतिमात्र मानते हैं ॥ ६९ ॥

जैसाकि यामुनाचार्यके स्तवमें [कहा गया है]—

यह जितना ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत जो-कुछ है और एक-दूसरेसे दस-दस गुणा अधिक महत्त्ववाले ['दशोतराण्यावरणानि यानि च' आगे गिनाए जानेवाले सत्त्व, रज, तम आदि तीन] गुण [उनसे दशगुणाधिक] प्रधान [उससे दशगुण] पुरुष [उससे दशगुण] परं पद [मोक्ष, और उससे दशगुण] परात्पर ब्रह्म, ये सब आप [कृष्ण या विष्णु]की विभूति मात्र है ।३३६।

५५—सब सिद्धियोंमे निषेवित [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

सारी सिद्धियाँ जिसके वशमें हों वह 'सर्वसिद्धिनिषेवित' [कहलाता] है ।

जैसे—

[अणूर्मिमत्वादि रूप] दस सिद्धि-सखियों सहित अणिमादि आठों महासिद्धियाँ क्रमसे [भी] कृष्णके द्वारपर [खड़ी प्रतीक्षा करती रहती हैं उनसे मिल पानेका] अवसर नहीं पाती है । [अर्थात् सारी सिद्धियाँ उनके वशीभूत हैं । वे उनकी सेवाकी प्रतीक्षामें हर समय द्वारपर खड़ी रहती है भीतर जानेका अवसर नहीं पाती है] । ३३७ ।

५६—अविचिन्त्य महाशक्ति [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

१ दिव्य स्वर्गादिको बनानेकी सामर्थ्य, २ ब्रह्मा तथा रुद्रादिको मोहित करनेकी सामर्थ्य, और ३ भक्तोंके प्रारब्ध [कर्मों] को विध्वंस करनेकी सामर्थ्य इत्यादि 'अचिन्त्यशक्तिता' [कहलाती] है ॥ ७० ॥

तत्र दिव्यस्वर्गादिकर्त्तृत्वं यथा—

आसीच्छायाद्वितीयः प्रथममथ विभुर्वत्सडिम्भानशेषान्
स्वांशांशेनाशु कृत्वा परमपुरुषतायोग्यरूपानमूंश्च।
भूयः क्लृप्तैः सतत्त्वैः सगणविधिगणैरप्यजाण्डैरखण्डैः
प्रत्येकं सेव्यमानानकृत लघुतरं यः प्रपद्ये तमीशम् ॥३३८॥

ब्रह्मरुद्रादिमोहनं यथा—

मोहितः शिशुहृतौ पितामहो हन्तशम्भुरपि जृम्भितो रणे।
येन कंसरिपुणाऽद्य तत्पुरः के महेन्द्र ! विबुधा भवद्विधाः ॥३३९॥

भक्तप्रारब्धविध्वंसो यथा दशमे—

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्म्मनिबन्धनम्।
आनयस्व महाराज ! मच्छासनपुरस्कृतः ॥३४०॥

उनमेंसे [कृष्णमें] दिव्य स्वर्गादिके कर्तृत्वका [प्रतिपादक उदाहरण निम्न है]—

जो [विष्णु या कृष्ण] प्रारम्भमें [छाया द्वितीय अर्थात्] स्वय एकाकी थे उस सर्व-शक्तिमान [विभु विष्णु] ने अपने अंशसे शीघ्र ही [ब्रह्मा आदि] समस्त बच्चोंको उत्पन्न कर और उनको परम पुरुषताके योग्य बनाकर फिर [सतत्त्वैः अर्थात् पञ्चभूतादि रूप] तत्त्वों के साथ [प्रत्येक ब्रह्माण्डकेलिए अलग-अलग] विधिगणों [अर्थात् अनेक ब्रह्माओं] के सहित [उन-उन] सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंके द्वारा जिनकी सेवा की जा रही हैं इस प्रकारका [लघुतर अर्थात] शीघ्र ही बना दिया उन ईश्वर [विष्णु] को नमस्कार करता हूं। ३३८।

ब्रह्मा रुद्रादिको मोहित करने [का वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे महेन्द्र ! जिस कंसारि [कृष्ण] ने शिशुके हरणमें पितामह [ब्रह्मा] को भी मुग्ध कर दिया और युद्धमें शम्भुको भी जम्भाई लिवा दी [उकता दिया] उनके सामने आप जैसे देवता क्या कर सकते हैं ? । ३३९ ।

भक्तोंके प्रारब्धका विध्वंस [करनेकी भी सामर्थ्य कृष्ण में है यह बात] जैसे [भागवत के) दशम [स्कन्धमें निम्न श्लोक] में [कही हैं]—

हे महाराज ! अपने कर्मोंके कारण [यहाँ इस संयमिनी नामक यमपुरीमें] आए हुए गुर-पुत्रको मेरी आज्ञासे यहाँ बुलवा लो [मेरी अर्थात कृष्णकी आज्ञासे उस भक्तके प्रारब्धका नाश होकर और उसको फिर अपने देहकी प्राप्ति हो सकती हैं]। ३४०।

यह श्लोक भागवतके दशम स्कन्धके ४५वें अध्याय [श्लोक ४५] से लिया गया है। श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंकी शिक्षा-दीक्षा अवन्ति [उज्जैन] में स्थिति सान्दीपनि मुनिके गुरुकुलमें हुई थी। गुरुकुलकी शिक्षा समाप्त होनेपर स्नातक बनते समय उन्होंने अपते गुरुदेव से प्रार्थना की कि भगवन् ! आप जो आज्ञा करें वह गुरुदक्षिणा आपके चरणोंमें भेंट की जाय। सान्दीपनि मुनि उनकी सामर्थ्य जानते थे। वे जब प्रभासक्षेत्रमें रहते थे तब उनका एक पुत्र समुद्रमें डूबकर मर गया था। इसलिए अपनी पत्नीसे सलाह करके सान्दीपनि मुनिने कृष्ण और बलरामसे यही कहा कि हमारा जो पुत्र प्रभासक्षेत्रमें समुद्रमें डूबकर मर गया था तुम लोग उसको ला दो। गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य करके वे दोनों रथपर चढ़कर वहाँ गए चल दिए और प्रभासक्षेत्रमें पहुंचकर समुद्रके किनारे जा बैठे। थोड़ी देर बाद समुद्र उनकी

आद्यशब्देन दुर्घटघटनाऽपि यथा—

अपि जनिपरिहीनः सूनुराभीरभर्त्तु-
विभुरपि भुजयुग्मोत्सङ्गपर्याप्तमूर्त्तिः ।
प्रकटितबहुरूपोऽप्येकरूपः प्रभुर्मे
धियमयमविचिन्त्यानन्तशक्तिर्धिनोति ॥३४१॥

५७. कोटिब्रह्माण्डविग्रहः—

अगण्यजगदण्डाढ्यः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः ॥७१॥

इति श्रीविग्रहस्यास्य विभुत्वमनुकीर्त्तितम् ।

यथा तत्रैव—

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भु-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।

पूजाकी सामग्री लेकर स्वागतार्थ उपस्थित हुआ । तब उन्होंने समुद्रसे कहा कि तुम अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गों द्वारा हमारे गुरुपुत्रको बहाकर ले गए हो उसको लाकर दो ।

तब मनुष्य वेषधारी समुद्रने कहा कि मेरे जलमें 'पञ्चजन' नामका एक बड़ा भारी दैत्य जातिका असुर शंखके रूपमें रहता है । अवश्य उसीने उस बालकको चुरा लिया होगा । समुद्रकी बात सुनकर कृष्ण तुरन्त ही जलमें घुस गए और शंखासुरको मार डाला । किन्तु बालक उसके पेटमें नहीं मिला । तब कृष्ण उसके शंखरूप शरीरको लेकर रथपर चढ़कर फिर चल दिए और यमराजकी प्रिय पुरी 'संयमिनी' में पहुंचे और वहां उन्होंने अपनः यह 'पाञ्चजन्य' शंख बजाया । उसकी आवाज सुनकर यमराज भक्तिभावसे उनका स्वागत करने के लिए उपस्थित हुए । उस समय कृष्णने यमराजसे यह श्लोक कहा कि "अपने कर्मोंके बन्धन के अनुसार हमारे गुरुका पुत्र यहाँ तुम्हारी नगरीमें लाया गया है । मेरी आज्ञाको स्वीकार करो और उसके कर्मबन्धनों पर ध्यान न देकग उसे मेरे पास ले आओ ।" यमराजने "जो आज्ञा" कहकर कृष्णका आदेश स्वीकार किया और गुरुपुत्रको ला दिया । कृष्ण और बलराम उसको लेकर फिर गुरुकुल [उज्जैन] आए और सान्दीपनि मुनिका पुत्र उनको सौंप दिया । अपने पुत्रको पुनः प्राप्त कर सान्दीपनि मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए ।

आद्य शब्दसे दुर्घट-घटना [का] भी [ग्रहण करना चाहिए] जैसे—

अजन्मा [जनिपरिहीनः] होनेपर भी आभीरराज [नन्द बाबा] के पुत्र हैं, विभु [सर्वव्यापक] होनेपर भी दोनों बाहुओंके बीच [गोदमें] समा जाने योग्य आकारवाले हैं, अनेक रूपोंको प्रकट करनेपर भी जो सदा एक रूप [कूटस्थ] है वे अविचिन्त्य अनन्तशक्तिवाले भगवान् [कृष्ण] मेरी बुद्धिको तृप्त, आह्लादित कर रहे हैं । ३४१ ।

५७—कोटि ब्रह्माण्डविग्रह [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

अगणित ब्रह्माण्डोंसे [आढ्यः] युक्त [कृष्ण], 'कोटिब्रह्माण्डविग्रह' [कहलाते हैं] इस प्रकार इन श्रीविग्रहवाले [कृष्ण] का विभुत्व बतलाया गया है ॥ ७१ ॥

जैसे वहीं [अर्थात् दशम स्कन्धमें] ही [कहा गया है]—

तम् [प्रकृति], महत् [महत् तत्त्व], अहं [अहंकार], आकाश [खम्], वायु [चरःवायु] अग्नि, जल और पृथिवी आदिसे संवेष्टित [अण्डों अर्थात्] अवयवोंसे बने हुए सात बालिश्त

क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥३४२॥

यथा वा—

तत्त्वैर्ब्रह्माण्डमाढ्यं सुरकुलभुवनैश्चाङ्कितं योजनानां
पञ्चाशत्कोट्यखर्वक्षितिखचितमिदं यच्च पातालपूर्णम्।
तादृग्ब्रह्माण्डलक्षायुतपरिचयभागेककक्षं विधात्रा
दृष्टं यस्यात्र वृन्दावनमपि भवतः कः स्तुतौ तस्य शक्तः ॥३४३॥

५८. अवतारावलीबीजं—

अवतारावलीबीजमवतारी निगद्यते ॥७२॥

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥३४४॥

५९. हतारिगतिदायकः—

[साढ़े तीन हाथ] के शरीरवाला, कहाँ मैं। और कहाँ इस प्रकारके अगणित ब्रह्माण्ड रूप परमाणुके गतागतिकेलिए [पराणुचर्या] लिए [वाताध्व अर्थात्] गवाक्षके समान जिसके रोम कूप हैं इस प्रकारके आपका महत्त्व !। ३४२।

अथवा जैसे—

समस्त तत्त्वोंसे परिपूर्ण, योजनों लम्बे, सहस्रों स्वर्गोंसे युक्त, पचास करोड़ योजनकी सम्पूर्ण पृथिवीसे जो व्याप्त हो रहा है, और पातालसे युक्त है इस प्रकारका असंख्य ब्रह्माण्ड जिसको एक कक्षामें [एक कमरेमें] समा जाते हैं इस प्रकारका जिन आपका वृन्दावन भी ब्रह्मा ने देखा है उसकी स्तुतिमें कौन समर्थ हो सकता है। ३४३।

५८—अवतारावली बीज [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

[अनेक] अवतारोंको धारण करनेवाला [होनेसे कृष्ण] 'अवतारावलीके बीज' कहलाता है॥ ७२॥

जैसे गीतगोविन्दमें [कहा है]—

१. वेदोंका उद्धार करनेवाले [मत्स्यावतार], २. जगत्का वहन करनेवाले [कूर्मावतार] ३. भूमण्डलको [दंष्ट्रापर] धारण करनेवाले [वराहावतार], ४. दैत्यराज [हिरण्यकश्यपु] को विदारण करनेवाले [नृसिंहावतार], ५. बलिको छलनेवाले [वामनावतार], ६. क्षत्रियोंका [२१ बार] नाश करनेवाले [परशुरामावतार], ७. रावणको विजय करनेवाले [रामावतार], ८. हलको धारण करनेवाले [बलरामावतार यहाँ कृष्णावतारका ही इससे ग्रहण होता है], ९. दयाका प्रसार करनेवाले [बुद्धावतार] और १० म्लेच्छोंका नाश करनेवाले [कालक्यवतार] दश अवतारोंको धारण करनेवाले आप कृष्णको नमस्कार है। ३४४।

५९—मारे गए शत्रुओंको [मोक्षादि रूप] उत्तम गति देनेवाले [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

मुक्तिदाता हतारीणां हतारिगतिदायकः ।

यथा—

परामवं फेनिलवक्त्रतां च बन्धं च भीतिं च मृतिं च कृत्वा ।
पवर्गदाताऽपि शिखण्डमौले ! त्वं शात्रवाणामपवर्गदोऽसि ॥३४५॥

यथा वा—

चित्रं मुरारे ! सुरवैरिपक्षस्त्वया समन्तादनुबद्धयुद्धः ।
अमित्रवृन्दान्यविभिद्य भेदं मित्रस्य कुर्वन्नमृतं प्रयाति ॥३४६॥

६०. आत्मारामगणाकर्षी—

आत्मारामगणाकर्षीत्येतद्व्याक्तार्थमेव हि ॥७३॥

मारे गए शत्रुओंको मुक्ति प्रदान करनेवाला [होनेसे कृष्ण मृत शत्रुओंके गतिदाता] [कहे जाते] हैं ।

जैसे—

हे मोरपंखधारी [शिखण्डमोले] कृष्ण ! [युद्धभूमिमें शत्रुओंको क्रमशः] १ पराभव, २ फेनिलवक्त्रता [मुखमें फेन आ जाना], ३ बन्ध, ४ भय और ५ मृत्यु देकर [पवर्गके पकार से पराभव, फकारसे फेनिलवक्त्रता, बकारसे बन्ध, भकारसे भय और मकारसे मृत्यु इस प्रकार पवर्गके अक्षरोंके]पवर्गके दाता होनेपरभी आप शत्रुओंके अपवर्गदाता हे [यह आश्चर्य की बात है ।३४५।

इसमें विरोधाभास अलंकार है । जो 'पवर्गदाता' है उसको 'अ-पवर्गदाता' वह पवर्ग का दाता तहीं है यह कैसे कहा जा सकता है ? यह 'पवर्गदाता' तथा 'अपवर्गदाता पदोका विरोध आपाततः प्रतीत होता है । किन्तु अन्तमें 'अपवर्गदाता' का अर्थ मोक्षदाता माननेपर उस विरोधका परिहार हो जाता है अतः यह विरोधाभासका उदाहरण है ।

अथवा जैसे—

हे मुरारे ! तुम्हारे साथ चारों ओरसे युद्धमें लगा हुआ देवताओंके वैरियों असुरगण का पक्ष अमित्र-समुदाय [शत्रुसमुदाय अर्थात् देवसमूह] का नाश किए बिना [युद्धमें मारे जानेसे [मित्र भेदन अर्थात्] सूर्य मण्डलका भेदन करके अमृतत्व [मोक्ष] को प्राप्त होते हैं, यह आश्चर्यकी बात है । ३४६ ।

इसमें 'मित्रभेद' शब्द श्लिष्ट है । उसके दो अर्थ होने हैं । एक पक्षमें 'मित्र' शब्दका अर्थ मित्र सुहृत् सपक्ष आदि होता है और दूसरे पक्षमें 'मित्र' शब्दका अर्थ सूर्य होता है । अमित्रवृन्द अर्थात् शत्रुओका नाश करके मोक्षकी प्राप्ति हो यह तो ठीक है किन्तु असुरगण अपने अमित्रोका नाश किए विना 'अमित्रवृन्दानि अवमिद्य' ही मोक्षको प्राप्त करते हैं यही आश्चर्यकी वात है । उससे भी अधिक आश्चर्यकी वात यह है कि वे मित्रभेदन करके भी मोक्ष प्राप्त करते हैं । इस पक्षमें 'मित्र' शब्दका अर्थ सूर्य है । युद्धभूमिमें मरने वाले वीर सूर्य भेदन कर स्वर्गको प्राप्त करते हैं इस प्रकारकी प्रसिद्धि पाई जाती है ।

६०—आत्मारामगण [योगिवृन्द] का आकर्षण करनेवाले [का लक्षण निम्न है]—

आत्मारामगणोंका आकर्षण करनेवाला इसका अर्थ स्पष्ट ही है । [अर्थात् आत्मज्ञानमें रमण करनेवाले योगियोंको भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाले होनेके कारण कृष्ण 'आत्मा-रागणाकर्षी कहलाते हैं] ॥ ७३ ॥

यथा—

मां पूर्णपरमहंसं माधव ! लीलामहौषधिर्घ्राता ।
कृत्वा बत सारङ्गं व्यधित कथं सारसे तृषितम् ॥३४७॥

६१. अथासाधारणचतुष्के लीला—

यथा बृहद्वामने—

सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः ।
न हि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत् ॥३४८॥

यथा वा—

परिस्फुरतु सुन्दरं चरितमत्र लक्ष्मीपते—
स्तथा भुवननन्दिनस्तदवतारवृन्दस्य च ।

जैसे—

इस श्लोकमें 'परमहंस', 'सारंग' और 'सारस' शब्द श्लिष्ट हैं । 'परमहंस' का एक अर्थ आत्मामें रमण करनेवाला योगी, और दूसरे पक्षमें उसका अर्थ उत्कृष्ट हंस है । 'सारंग' पदका एक पक्षमें चातक, और दूसरे पक्षमें भक्त अर्थ होता है । 'सारस' पदका एक अर्थ कमल होता है, और दूसरे पक्षमें 'सा' पद अलग और 'रस' पद अलग कर दिया जाता है । 'सा' पद लीलामहौषधिके साथ अन्वित होता है । कृष्णकी लीलाओंको देखकर बड़े-बड़े योगिराज या परमहंस भी 'सारंग' अर्थात् भक्त बन जाते हैं और फिर उसकी लीलाओंके रसमें उनकी तृष्णा हो जाती है । यह सब उनकी लीलाओंके देखनेका प्रभाव है । मानो लीला कोई ऐसी दिव्य औषधि है जो 'परमहंस' उत्कृष्ट हंसको भी 'सारंग' अर्थात् चातक बनाकर कमलमें सतृष्ण बना देती है । हंसको 'सारंग' चातक बना देना यही एक आश्चर्यकी बात है । उसपर उस चातकको फिर कमलमें सतृष्ण बना देना और भी अधिक आश्चर्यकी बात है । चातककी तृष्णा कमलके प्रति नहीं और न 'सारस' अर्थात तालावमें रहनेवाले जलके प्रति होती है अपितु वह तो स्वातिके जलको ही ग्रहण करता है । इसलिए उसको 'सारस' अर्थात् तड़ागके जलके प्रति सतृष्ण बना देना और भी आश्चर्यजनक है । यह सब 'लीला' रूप 'महौषधि' का प्रभाव है । यह इस श्लोकका भाव है । उसका शब्दानुवाद इस प्रकार है—

हे माधव ! [कृष्ण ! बत] आश्चर्यकी बात है कि आपकी लीला रूप दिव्य औषधि के सूंघनेने मुझ पूर्ण परमहंस [योगिराज] को भी [सारंग अर्थात्] भक्त [दूसरे पक्षमें चातक] बनाकर [तुम्हारे प्रेम] रसमें [दूसरे पक्षमें सरोवरके जलमें] सतृष्ण कैसे बना दिया । ३४७ ।

पिछली ३५वीं कारिकामें १. लीला, २. प्रेम्णा प्रियाधिक्य, ३. रूपमाधुर्य तथा ४. वेणु-माधुर्य इन चारको कृष्णका असाधारण धर्म कहा था । उन चारोंका विवेचन आगे करते हैं ।

६१—अब असाधारण चारोंमेंसे लीला [का कथन करते हैं]—

जैसे बृहद्वामनमें [रासलीलाकी प्रशंसा करते हुए लिखा है]—

यद्यपि मेरी अनेक प्रकारकी [तास्ताः] उत्तम [प्राज्याः] लीलाएं हैं किन्तु रासका स्मरण होनेपर मेरा मन न जाने [उसके लिए] कैसा [उत्सुक] हो उठता है । ३४८ ।

अथवा जैसे—

लक्ष्मीपति [विष्णु] का सुन्दर चरित्र यहाँ चाहे जैसे हो प्रकाशित हो और संसारको

हरेरपि चमत्कृतिप्रकरवर्द्धनः किं तु मे
विभर्त्ति हृदि विस्मयं कमपि रासलीलारसः ॥३४९॥

६२. प्रेम्णा प्रियाधिक्यं—

यथा दशमे—

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥३५०॥

यथा वा—

ब्रह्मरात्रिततिरप्यघशत्रोः सा क्षणार्धवदगात्तव सङ्गे ।
हा क्षणार्धमपि वल्लविकानां ब्रह्मरात्रिततिवद्विरहेऽभूत् ॥३५१॥

६३. वेणुमाधुर्य्यम्—

यथा तत्रैव—

सवनशस्तदुपधार्य्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥३५२॥

यथा वा विदग्धमाधवे—

आह्लादित करनेवाले उनके अवतार वृन्दका [चरित कितना भी सुन्दर प्रकाशित प्रदर्शित हो] और चमत्कारको बढ़ानेवाले हरि [कृष्ण] के भी [अन्य चरित्र] कितने ही सुन्दर रूपमें क्यों न प्रदर्शित किए जाएँ] किन्तु रासलीलाका रस तो मेरे हृदयमें किसी अपूर्व चमत्कारको [विस्मय] उत्पन्न कर देता है [उस रासलीलाके सामने अन्य सारी लीलाएँ फीकी मालूम होती हैं] । ३४९ ।

६२—प्रेमसे प्रियाधिक्य [का वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

आप दिनमें जब यहाँ वन-विहार करते हैं तब तुमको न देख सकनेवाले [गृहवासियों] केलिए [त्रुटि अर्थात्] पल-पल [रूप सूक्ष्मकाल] युगके समान बीतता है । और घुँघराले बालों वाला तुम्हारा मुख, उसको देखनेवालोंके पलकों [के व्यापार] का छेदन करनेवाला हो जाता है [अर्थात् देख सकनेवाले लोग तुम्हारे मुख-कमलको देखकर पलक मारना भी भूल जाते हैं । निर्निमेष नेत्रोंसे अनवरत तुम्हारे मुखकी ओर निहारते रहते हैं] । ३५० ।

अथवा जैसे [इसी प्रकारका वर्णन निम्न श्लोकमें भी पाया जाता है]—

पापोंका नाश करनेवाले आपके संगमें [अर्थात् आपके संगम कालमें] सैकड़ों ब्राह्म-रात्रियाँ [अर्थात् लम्बा काल] भी अर्ध-क्षणके समान बीत गईं । और तुम्हारे वियोगमें गोपियों के लिए आधा क्षण भी सैकड़ों ब्राह्म-रात्रियोंके समान [लम्बा] बन गया । ३५१ ।

६३—वंशीका माधुर्य—

जैसे [निम्न श्लोकमें वेणुमाधुर्यका वर्णन किया गया है]—

उस [वंशीध्वनि] को [सवनशः अर्थात्] बार-बार सुनकर गर्दन झुकाए और एकाग्र-चित्त [आनतकन्धरचित्ताः] इन्द्र, शिव और ब्रह्मा आदि देवता तथा कविगण उसके तत्त्वको निश्चय न कर सकनेके कारण [कश्मल अर्थात्] मोहको प्राप्त हुए । ३५२ ।

अथवा जैसे विदग्धमाधवमें [वेणुमाधुर्यका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बरुं—
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान्विस्माययन्वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥३५३॥

६४. रूपमाधुर्य्यम्—

यथा तृतीये—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥३५४॥

श्रीदशमे च—

का स्त्र्यङ्ग ! ते कलपदामृतवेणुगीत-
संमोहिताऽऽर्य्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥३५५॥

यथा वा ललितमाधवे—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ॥३५६॥

मेघोंको रोकता हुआ [अर्थात् आकाश तक व्याप्त हुआ] तुम्बरु [अर्थात् देवोंके प्रसिद्ध गायनाचार्य] को आश्चर्यान्वित करता हुआ, सनक-सनन्द आदि मुनियोंको ध्यान [समाधि] विचलित करता हुआ, ब्रह्माको चकित करता हुआ, सैकड़ों अगणित उत्कण्ठाओंके द्वारा बलि को विकल बनाता हुआ, शेषनागको [ध्वनिके माधुर्यके द्वारा] झुमाता हुआ, ब्रह्माण्ड रूप कटाह [कढ़ाव] की सीमाको चारों ओरसे तोड़ता-फोड़ता हुआ वंशीका शब्द [सारे लोक-लोकान्तरोंमें] घूमता रहा। ३५३।

६४—रूपमाधुर्य [का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

जैसे तृतीय [स्कन्ध] में [कृष्णके रूपमाधुर्यका वर्णन करते हुए लिखा है]—

अपनी योगमायाके प्रभावको प्रदर्शित करते हुए मानवलीलाके साधनभूत, सौन्दर्य-सम्पत्तिके चरम-सीमा रूप, भूषणोंको भी भूषित करनेवाले, [अपने सौन्दर्यातिशयके कारण] स्वयं अपनेको भी विस्मयमें डाल देनेवाले जिस [अतिशय रूप-माधुर्ययुक्त] शरीरको आपने धारण किया है [उसका-सा रूप-माधुर्यका वर्णन कैसे किया जा सकता है] ?। ३५४।

और दशम [स्कन्ध] में भी [कृष्णके रूप-माधुर्यका वर्णन करते हुए लिखा है]—

हे कृष्ण ! तुम्हारे सुन्दर वचनामृत, वंशी तथा गीतकी ध्वनिसे मोहित होकर तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी स्त्री है जो आर्य-चरितसे विचलित न हो जाय। जबकि त्रैलोक्यके सौन्दर्यभूत तुम्हारे इस रूपको देखकर गौ, पक्षी [या ब्राह्मण] वृक्ष और मृग आदि भी रोमांचित हो जाते हैं। [तब स्त्रियोंकी तो कथा ही क्या है]। ३५५।

अथवा जैसे ललितमाधवमें [कृष्णके रूप-माधुर्यका वर्णन करते हुए लिखा है]—

जिसको पहले कभी नहीं देखा है इस प्रकारका अपूर्व, अत्यन्त आश्चर्यजनक, यह महान् माधुर्यका प्रवाह-सा कौन मेरे सामने प्रकट हो रहा है जिसको देखकर राधिकाके समान

समस्तविविधाश्चर्य्यकल्याणगुणवारिधेः ।
गुणानामिह कृष्णस्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ।।७४।।

यथा च श्रीदशमे—

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-र्भू पांशवः खे मिहिका द्युभासः ।।३५७।।

नित्यगुणो वनमाली यदपि शिखामणिरशेषनेतॄणाम् ।
भक्तापेक्षिकमस्य त्रिविधत्वं लिख्यते तदपि ।।७५।।

हरिः पूर्णतमः पूर्णतरः पूर्ण इति त्रिधा ।
श्रेष्ठमध्यादिभिः शब्दैर्नाट्ये यः परिपठ्यते ।।७६।।

प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः ।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः ।।७७।।

कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताऽभूद् गोकुलान्तरे ।
पूर्ण-पूर्णतरता द्वारका-मथुराऽऽदिषु ।।७८।।

स पुनश्चतुर्विधः स्याद् धीरोदात्तश्च धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्तनामा तथैव धीरोद्धतः कथितः ।।७९।।

ललचाता हुआ मैं स्वयं भी उसके साथ बलात् उपभोग करना चाहता हूँ । ३५६ ।

नाना प्रकारके आश्चर्यजनक समस्त सुन्दर गुणोंके आश्रयभूत कृष्णके [अनन्त] गुणों मेंसे यहाँ दिङ्मात्र कुछ गुण ही दिखलाए हैं ।। ७४ ।।

जैसा कि दशम [स्कन्ध] में [कृष्णके अनन्त गुणोंका प्रदर्शन करते हुए लिखा है]—

[जगत्के] कल्याणके लिए अवतीर्ण हुए [अनन्त] गुणस्वरूप इन [कृष्ण] के गुणोंकी गणना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अथवा यदि कभी कोई पुण्यवान् उनकी गणना कर सकेगा तो [उसको] वे [गुण] भूमिके धूलकणोंके समान अथवा आकाशको प्रकाशित करने वाले तारकोंके समान [अनन्त अपरिसंख्येय ही] मिलेंगे । ३५७ ।

नित्य गुणोंसे युक्त कृष्ण यद्यपि समस्त नायकोंके शिरोमणि हैं फिर भी भक्तोंकेलिए अपेक्षित उनके तीन रूपोंका वर्णन यहाँ करते हैं ।। ७५ ।।

१ पूर्णतम, २ पूर्णतर, और ३ पूर्ण ये कृष्णके तीन रूप हैं जिनको नाटकमें श्रेष्ठ मध्य [तथा अधम] आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है ।। ७६ ।।

सम्पूर्ण गुणोंको प्रकाशित करनेवाला [कृष्णका स्वरूप] विद्वानोंके द्वारा पूर्णतम [स्वरूप] कहा जाता है । सम्पूर्ण गुणोंको प्रकाशित न करनेवाला [कृष्णका स्वरूप] पूर्णतर और थोड़ेसे गुणोंका प्रदर्शक [स्वरूप] पूर्ण कहलाता है ।। ७७ ।।

कृष्णकी पूर्णतमता गोकुलके भीतर प्रकट हुई थी । और पूर्णता तथा पूर्णतरता [क्रमशः] द्वारका तथा मथुरा आदिमें प्रकट हुई ।। ७८ ।।

फिर वह [कृष्ण नायक] १ धीरोदात्त, २ धीरललित, ३ धीरप्रशान्त और ४ धीरोद्धत

बहुविधगुणक्रियाणामास्पदभूतस्य पद्मनाभस्य ।
तत्तल्लीलाभेदाद्विरुध्यते न हि चतुर्विधता ॥८०॥

तत्र धीरोदात्तः—

गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढव्रतः ।
अकत्थनो गूढगर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत् ॥८१॥

यथा—

वीरम्मन्यमदप्रहारिहसितं धौरेयमार्त्तोद्धृतौ
निर्व्यूढव्रतमुन्नतक्षितिधरोद्धारेण धीराकृतिम् ।
मय्युच्चैःकृतकिल्बिषेऽपि मधुरं स्तुत्या मुहुर्यन्त्रितं
प्रेक्ष्य त्वां मम दुर्वितर्कहृदयं धीर्गीश्च न स्पन्दते ॥३५८॥

गम्भीरत्वादिसामान्यगुणा यदिह कीर्त्तिताः ।
तदेतेषु तदाधिक्यप्रतिपादनहेतवे ॥८२॥

रूपसे चार प्रकारका होता है । [अर्थात् नाटकोंमें जो चार प्रकारके नायक माने जाते हैं कृष्ण में उन चारों प्रकारके नायकोंके लक्षण पाए जाते हैं] ॥ ७९ ॥

[यद्यपि कृष्णके चार प्रकारके ही नहीं अपितु उनसे भी कुछ अधिक] नाना प्रकारके गुणों और क्रियाओंके आधारभूत होनेपर भी [यहाँ उनकी चतुर्विधता कही गई है] उस-उस प्रकारकी लीलाओंके भेदके कारण उस चतुर्विधताका [स्वतःसिद्ध बहुविधताके साथ] कोई विरोध नहीं होता है ॥ ८० ॥

उनमेंसे धीरोदात्त [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

गम्भीर, विनयी, क्षमाशील, दयावान, दृढप्रतिज्ञ, आत्मश्लाघा न करनेवाला जिसका अभिमान [भीतर रहनेपर भी] बाहर प्रकाशित न हो, और उत्तम शक्तिको धारण करनेवाला [नायक] धीरोदात्त [नायक कहलाता] है ॥ ८१ ॥

जैसे [कृष्णके धीरोदात्तत्वका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

अपनेको वीर समझनेवालोंके मदको चूर्ण करनेवाला, जिनका 'हास्य' [मुस्कराहट] है [इस विशेषणके द्वारा गूढगर्वत्व रूप गुण सूचित किया है], दुःखीजनोंसे उद्धार करनेमें अग्रगण्य [इससे दयाशीलता रूप गुण], ऊँचे [गोवर्धन] पर्वतको उठाकर अपने व्रतको पूर्ण करनेवाले [इससे सुदृढव्रतत्व सूचित होता है और उसीमें आए हुए 'उन्नत' पदसे सुसत्त्वभृत्त्व सूचित होता है], धीर आकृतिवाले, अत्यन्त अपराधी, पापी होनेपर भी मेरे प्रति प्रेमयुक्त है [इससे क्षमाशीलता सूचित होती है], बार-बारकी स्तुतिके द्वारा वशीभूत हो जानेवाले [इससे अविकत्थन और विनयत्व सूचित होता है] और जिनके हृदयकी बातको समझा न जा सके [इससे गम्भीरत्व सूचित होता है] इस प्रकारके आपको देखकर मेरी बुद्धि और वाणी [दोनों] स्तब्ध रह जाती हैं । ३५८ ।

गम्भीरत्वादि जिन सामान्य गुणोंका कथन किया है [वे अन्योंमें भी हो सकते हैं इसलिए सामान्य गुण हैं किन्तु] उनका इन [धीरोदात्त आदि] में आधिक्य प्रतिपादन करनेके लिए ही विशेष रूपसे कथन किया गया है ॥ ८२ ॥

इदं हि धीरोदात्तत्वं पूर्वैः प्रोक्तं रघूद्वहे ।
तत्तद्भक्तानुसारेण तथा कृष्णे विलोक्यते ॥८३॥

अथ धीरलिलितः—

विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः ।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात्प्रायः प्रेयसीवशः ॥८४॥

यथा—

वाचा सूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भ्यया राधिकां-
व्रीडाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ ।
तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारं गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः ॥२५६॥

गोविन्दे प्रकटं धीरललितत्वं प्रदृश्यते ।
उदाहरन्ति नाट्यज्ञाः प्रायोऽत्र मकरध्वजम् ॥८५॥

अथ धीरशान्तः—

पूर्व [आचार्योंने] यह धीरोदात्तत्व रामचन्द्रमें बतलाया था [अर्थात् पूर्व नाटकादिमें रामचन्द्रको धीरोदात्त नायक माना गया है] किन्तु उन-उन भक्तोंके अनुसार कृष्णमें भी [यह धीरोदात्तत्व] पाया जाता है [अर्थात् कृष्णके विशेष भक्तगण कृष्णको भी धीरोदात्त नायक मानते हैं] ॥ ८३ ॥

अब धीरललित [का लक्षणादि आगे करते हैं]—

[कलाओंमें] चतुर, नव-यौवनसे युक्त, परिहास करनेमें पारंगत, [सब प्रकारकी] चिन्ताओंसे रहित, और प्रायः प्रेमिकाके वशमें रहनेवाला [नायक] धीरललित [नायक] कहलाता है ॥ ८४ ॥

जैसे [निम्न श्लोकमें कृष्णके धीरललित स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है]—

रात्रिकी रतिकलाकी प्रगल्भताको सूचित करनेवाली वाणीके द्वारा [अर्थात् राधाने रातको इस प्रकार रतिकलामें अपना कौशल दिखलाया इस प्रकार कहकर] सखियोंके सामने राधाको लज्जासे नीचे नेत्रोंवाली बनाते हुए, उस [राधा] के स्तनोंके ऊपर विचित्र प्रकारकी केलि मकरी [चित्रकी रचना] के पाण्डित्यमें पारंगत कृष्ण, कुञ्जोंमें [राधाके साथ] विहार करते हुए अपनी किशोरावस्थाको सफल बना रहे हैं । २५६ ।

इस श्लोकमें धीरललित नायकके सभी गुण कृष्णमें दिखलाए गए है। इसलिए वे धीरललित नायक भी कहलाते हैं ।

गोविन्द [कृष्ण] में विशेष रूपसे धीरललित्व स्पष्ट रूपसे दिखलाई देता है। इस विषयमें नाट्यके तत्त्वज्ञ लोग प्रायः [धीरललित नायकके रूपमें] कामदेवका [कृष्णके सदृश] नाम लेते हैं ॥ ८५ ॥

आगे धीरप्रशान्त [नायकका लक्षण तथा कृष्णमें उस लक्षणका समन्वय दिखलाते हैं]—

शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः ।
विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदीर्य्यते ॥८६॥

यथा—

विनयमधुरमूर्त्तिर्मन्थरस्निग्धतारो
वचनपटिमभङ्गीसूचिताशेषनीतिः ।
अभिदधदिह धर्मं धर्म्मपुत्रोपकण्ठे
द्विजपतिरिवसाक्षात्प्रेक्ष्यते कंसवैरी ॥३६०॥

युधिष्ठिरादिको धीरैर्धीरशान्तः प्रकीर्त्तितः ।

अथ धीरोद्धतः—

मात्सर्य्यवानहङ्कारी मायावी रोषणश्चलः ॥८७॥
विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृत. ।

यथा—

आः पापिन्! यवनेन्द्र दर्दुर ! पुनर्व्याघुट्य सद्यस्त्वया
वासः कुत्रचिदन्धकूपकुहरक्रोडेऽद्य निर्म्मीयताम् ।
हेलोत्तानितदृष्टिमात्रभसितब्रह्माण्डभाण्डः पुरो-
जागर्म्मि त्वदुपग्रहाय भुजगः कृष्णोऽत्र कृष्णाभिधः ॥३६१॥

धीरोद्धतस्तु विद्वद्भिर्भीमसेनादिरुच्यते ॥८८॥

शान्त प्रकृतिवाला, कष्टको सह सकनेमें समर्थ, विवेचक और विनय आदि गुणोंसे सम्पन्न नायक धीरशान्त कहलाता है ॥ ८६ ॥

जैसे [कृष्णके धीरप्रशान्तत्वका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

विनयसे मनोहर स्वरूपवाले, स्निग्ध [प्रेममय] नेत्रोंसे युक्त, बोलनेकी सुन्दर शैलीके द्वारा समस्त नीतिको प्रकाशित करनेवाले, कंस वैरी [कृष्ण] यहाँ युधिष्ठिरके समीप [बैठकर] धर्मका उपदेश करते हुए साक्षात् द्विजपति [विद्वान् ब्राह्मण] के समान मालूम पड़ते हैं ।३६०।

[प्राचीन नाट्याचार्योंने] विद्वानोंने युधिष्ठिर आदिको धीरप्रशान्त [नायक] कहा है । [किन्तु कृष्णमें भी धीरप्रशान्त नायकके समस्त गुण पाए जाते हैं] ।

आगे धीरोद्धत [नायकका लक्षण आदि करते हैं]—

मत्सरयुक्त, अहंकारी, छल-प्रपंच करनेवाला, क्रोधी, चंचल-चित्त और आत्मश्लाघा करनेवाला [नायक] विद्वानोंके द्वारा 'धीरोद्धत' माना जाता है ॥ ८७ ॥

जैसे [कृष्णमें धीरोद्धत नायकके गुणोंका परिचय निम्न श्लोकमें प्राप्त होता है]—

अरे पापी यवनराज [कालयवन] मण्डूक तू तुरन्त लौटकर किसी अन्धे कुएँके बीच की गुफामें अपना स्थान जाकर बना, नहीं तो तेरे खानेके लिए [त्वदुपग्रहाय] अनायास उठाई हुई दृष्टिमात्रसे ब्रह्माण्ड-भाण्डको भस्म कर देनेमें समर्थ कृष्ण नामका यह काला सर्परूप मैं तैयार बैठा हूँ । ३६१ ।

[प्राचीन नाटककारोंने] भीमसेन आदिको धीरोद्धत [नायक] माना है । [परन्तु कृष्ण में भी धीरोद्धत नायकके गुण पाए जाते हैं] ॥ ८८ ॥

मात्सर्य्याद्याः प्रतीयन्ते दोषत्वेन यदप्यमी ।
लीलाविशेषशालित्वन्निर्दोषेऽत्र गुणाः स्मृताः ॥८९॥

यथा वा—

अम्भोभारभरप्रणम्रजलदभ्रान्तिं वितन्वन्नसौ—
घोराडम्बरडम्बरः सुविकटामुत्क्षिप्य हस्तार्गलाम् ।
दुर्वारः परवारणः स्वयमहं लब्धोऽस्मि कृष्णः पुरो
रे श्रीदामकुरङ्ग ! सङ्गरभुवो भङ्गं त्वमङ्गीकुरु ॥३६२॥

मिथोविरोधिनोऽप्येते केचिन्निर्गदिता गुणाः ।
हरौ निरंकुशैश्वर्यात्कोऽपि न स्यादसम्भवः ॥९०॥

तथा च कौर्म्मे—

अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः ।
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः ॥३६३॥
ऐश्वर्य्ययोगाद्भगवान्विरुद्धार्थोऽभिधीयते ।
तथाऽपि दोषाः परमे नैवाहार्य्याः कथंचन ॥३६४॥
गुणा विरुद्धा अपि तु समाहार्य्याः समन्ततः ।

महावाराहे—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥३६५॥

यद्यपि मात्सर्य आदि [लोकमें] दोष रूपसें प्रतीत होते हैं किन्तु लीलाविशेषशाली होने के कारण निर्दोष [भगवान् रूप कृष्ण] में वे गुण माने गए हैं [दोष नहीं] ॥ ८९ ॥

अथवा जैसे [कृष्णके धीरोद्धतत्वका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

भरे हुए जलके भारसे झुके मेघकी भ्रान्तिको उत्पन्न करनेवाले भयंकर [आडम्बरः समारम्भे गजगर्जिततूर्ययोः'] गर्जनसे आटोप आवेशयुक्त, अपनी अत्यन्त भयानक हाथ [या सूँड रूप अर्गलाको उठाते हुए, शत्रुओंका नाश करनेवाले उत्तम हाथी रूप मुझ कृष्णको [तुमने] सामने पाया है इसलिए हे श्रीदाम रूप कुरंग ! तू युद्धभूमिसे [भंगं अंगीकुरु] भाग जा । ३६२ ।

ये जो कुछ परस्पर विरोधी गुण भी कहे गए हैं [वे लोककी दृष्टिसे तो विरोधी हो सकते हैं किन्तु] निरंकुश ऐश्वर्यशाली कृष्णमें उनमेंसे कोई भी [गुण] असम्भव नहीं है॥९०॥

जैसा कि कूर्मपुराणमें [कहा है]—

जो न स्थूल है न अणु है फिर भी सब ओर स्थूल तथा अणु [कहा गया है] । सब ओरसे वर्णहीन होनेपर भी श्याम वर्ण और रक्त नेत्रप्रान्तवाला कहा गया है । ३६३ ।

[अपरिमित] ऐश्वर्यके कारण भगवान् विरुद्ध धर्मोंसे युक्त कहे जाते हैं । फिर भी उन महान् [भगवान्] में दोषोंका सम्बन्ध किसी प्रकार भी नहीं दिखलाना चाहिए । और गुण तो परस्पर विरुद्ध होनेपर भी पूर्ण रूपसे कथन करने चाहिए । ३६४ ।

[इसी बातको] महावराह पुराणमें [भी निम्न प्रकार कहा है]—

उस परमात्माके सारे देह नित्य और सदा रहनेवाले हैं उनका न नाश होता है और

परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः ॥३६६॥

वैष्णवतन्त्रेऽपि—

अष्टादशमहादोषै रहिता भगवत्तनुः।
सर्वैश्वर्य्यमयी सत्यविज्ञानानन्दरूपिणी ॥३६७॥

अष्टादश महादोषा विष्णुयामले—

मोहस्तन्द्रा भ्रमो रूक्षरसता काम उल्वणः।
लोलता मद-मात्सर्ये हिंसा खेद-परिश्रमौ ॥३६८॥
असत्यं क्रोध आकांक्षा आशङ्का विश्वविभ्रमः।
विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशोदिताः ॥३६९॥ इति।

न उत्पत्ति, वे किसी प्रकार भी प्रकृतिजन्य नहीं हैं। ३६५।

[तस्य सर्वे देहाः' यह पिछले ३६५ श्लोकसे आता है। उसके सारे देह] परमानन्दसे परिपूर्ण और सब ओर केवल ज्ञानमात्र, सारे गुणोंसे पूर्ण तथा सब प्रकारके दोषोंसे रहित हैं। ३६६।

वैष्णवतन्त्रमें भी [लिखा है]—

भगवान् [कृष्ण] का शरीर अठारह प्रकारके दोषोंसे रहित, सब ऐश्वर्यमय और सत्य विज्ञानसे युक्त एवं आनन्दस्वरूप है। ३६७।

अठारह प्रकारके महादोष विष्णुयामलमें [निम्न प्रकार गिनाए गए हैं]—

१ मोह, २ तन्द्रा, ३ भ्रम, ४ रुक्षरसता अर्थात् प्रेम सम्बन्धके बिना राग, ५ उत्कट काम, ६ चंचलता, ७ मद, ८ मात्सर्य, ९ हिंसा, १० खेद, ११ [अति] परिश्रम, १२ असत्य-भाषण, १३ क्रोध, १४ [प्रबल] आकांक्षा, १५ आशंका, १६ विश्वविभ्रम अर्थात् जगत्पालने की इच्छा रूप आवेश, १७ विषमता, १८ दूसरेकी अपेक्षा रखना ये अठारह प्रकारके दोष कहे गए हैं। ३६८-३६९।

यद्यपि कृष्णके शरीरको इन अठारह प्रकारके दोषोंसे रहित ऊपरके श्लोकमें कहा गया है किन्तु भक्तोंके सम्बन्धमें इनमेंसे कुछकी स्थिति कृष्णमें पाई जाती है। उस अवस्थामें उनको दोष नहीं अपितु गुण माना गया है। जैसे मोह, तन्द्रा आदि दोष भक्तके सम्बन्धमें गुण बन गए हैं और कृष्णमें निम्न प्रकारसे वर्णित हुए हैं।

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्।

इत्यादिमें कृष्णके मोहका वर्णन पाया जाता है। किन्तु वह मोह भक्तोंके सम्बन्धसे हुआ है। इसलिए वह दोष नहीं अपितु गुण बन गया है। इसी प्रकार—

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्संगोपबर्हणः॥

इसमें तन्द्रा, खेद, श्रम, आदि दोष भक्त सम्बन्धके कारण कृष्णमें पाए जाते हैं और वे दोष न रहकर गुण बन गए हैं। इसी प्रकार 'वत्सान् मुंचन् क्वचिदसमये' इत्यादिमें वर्णित चंचलता 'मद विघूर्णितलोचनः' इत्यादिमें वर्णित मद, 'नाहं भक्षितवानम्ब' इत्यदिमें वर्णित असत्य भाषण। कंसादिके नाशमें हिंसा, और क्रोध आदि सब ही बातें कृष्णमें पाई जाती हैं किन्तु भक्तोंके सम्बन्धके कारण उनको दोष न मानकर गुण माना जाता है।

इत्थं सर्वावतारेभ्यस्ततोऽप्यत्रावतारिणः ।
व्रजेन्द्रनन्दने सुष्ठु माधुर्य्यभर ईरितः ॥६१॥

यथा च ब्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्ये—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति रोमविलजा जगदण्डनाथाः ।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥३७०॥

अथाष्टावनुकीर्त्यन्ते सद्गुणत्वेन विश्रुताः ।
मङ्गलालंक्रियारूपाः सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥६२॥
शोभाविलासो माधुर्य्यं मङ्गल्यं स्थैर्यतेजसी ।
ललितौदार्य्यमित्येते सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥६३॥

१. तत्र शोभा—

नीचे दयाऽधिके स्पर्द्धा शौर्य्योत्साहौ च दक्षता ।
सत्यं च व्यक्तिमायाति यत्र शोभेति तां विदुः ॥६४॥

यथा—

स्वर्गध्वंसं विधित्सुर्व्रजभुवि कदनं सुष्ठु वीक्ष्यातिवृष्ट्या
नीचानालोच्य पश्चान्नमुचिरिपुमुखानूढकारुण्यवीचिः ।

इस प्रकार समस्त अवतारों और स्वयं उन अवतारी [विष्णु] से भी अधिक माधुर्य भार [व्रजनन्दन] कृष्णमें माना गया है और वह [सुष्ठु] उचित ही है ॥ ६१ ॥

इसी प्रकार ब्रह्मसंहितामें आदिपुरुषके रहस्य [के निरूपण] में [कहा गया है]—

जिन [विष्णु] के एक निश्वासकालका अवलम्बन करके [उनके ही] रोमकूप रूप बिलमें उत्पन्न, ब्रह्माण्डोंके स्वामी ब्रह्मा आदि जीवित रहते हैं वह महान् विष्णु भी जिस [गोविन्द] केविभूति-विशेष-मात्र हैं उस आदि पुरुष गोविन्दको मैं नमस्कार करता हूँ । ३७० ।

आठ गुण—

अब सद्गुणोंके रूपमें प्रसिद्ध 'मंगलालंकार रूप पुरुष निष्ठ' आठ प्रकारके रूपमें प्रसिद्ध सत्त्वभेद अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति विशेष [सद्गुणों] को कहते हैं ॥ ६२ ॥

१ शोभा, २ विलास, ३ माधुर्य, ४ मांगल्य, ५ स्थैर्य, ६ तेज, ७ लालित्य और ८ औदार्य ये [आठ] पुरुषगत सत्त्वभेद [अन्तःकरण-वृत्तिविशेष अथवा गुण] है ॥ ६३ ॥

१—उनमेंसे 'शोभा' [का लक्षण आदि आगे लिखते हैं]—

१ [अपनेसे] नीच [दुर्बल] के प्रति दया, २ [अपनेसे] अधिकके प्रति स्पर्धा, ३ शौर्य, ४ उत्साह, ५ दक्षता, और ६ सत्य [ये छः गुण जहाँ प्रकट होते हैं उसको 'शोभा' [नामक सद्गुण] कहते हैं ॥ ६४ ॥

जैसे—

व्रजभूमिमें अतिवृष्टिके द्वारा होनेवाले विनाशको देखकर स्वर्गका नाश करनेकेलिए

अप्रेक्ष्य स्वेन तुल्यं कमपि निजरुषामत्र पर्य्याप्तिपात्रं
बन्धूनानन्दयिष्यन्नुदहरत हरिः सत्यसन्धो महाऽद्रिम् ॥३७१॥

२. अथ विलासः—

वृषभस्येव गम्भीरा गतिर्धीरं च वीक्षणम् ।
सस्मितं च वचो यत्र स विलास इतीर्य्यते ॥९५॥

यथा—

मल्लश्रेण्यामविनयवतीं मन्थरां न्यस्य दृष्टिं-
व्याधुन्वानो द्विप इव भुवं विक्रमाडम्बरेण ।
वागारम्भे स्मितपरिमलैः क्षालयन्मञ्चकक्षां-
तुङ्गे रङ्गस्थलपरिसरे सारसाक्षः ससार ॥३७२॥

३. माधुर्य्यम्—

तन्माधुर्य्यं भवेद्यत्र चेष्टाऽऽदेः स्पृहणीयता ।

यथा—

वरामध्यासीनस्तटभुवमवष्टम्भरुचिभिः
कदम्बैः प्रालम्बं प्रवलितविलम्बं विरचयन् ।

उद्यत् किन्तु [नमुचिरिपु अर्थात्] इन्द्रके नीचे झुके हुए मुखको देखकर जिसके भीतर दयाकी हिलोर उठने लगी है इस प्रकारके, सत्यप्रतिज्ञ कृष्णने अपने क्रोधको चरितार्थ करने योग्य किसी पात्रको अपने तुल्य न पाकर बन्धुओंको आनन्दित करते हुए गिरिराज [गोवर्धन] को ऊपर उठा लिया । ३७१ ।

इस श्लोकमें दया, स्पर्धा, शौर्य, उत्साह, दक्षता आदि शोभोपयोगी सभी गुणोंकी अभिव्यक्ति हो रही है इसलिए 'शोभा' रूप सद्गुणका उदाहरण है ।

२—अब 'विलास' [का लक्षण आदि आगे देते हैं]—

वृषभके समान गम्भीर गति, धीर दृष्टि, और मुस्कराते हुए बात करना जहाँ पाया जाय उसको 'विलास' कहते हैं ॥ ९५ ॥

जैसे [कृष्णके विलास गुणका परिचय निम्न श्लोकमें मिलता है]—

पहलवानोंकी पंक्तिके ऊपर क्रूर और स्थिर दृष्टि डालकर, हाथीके समान भयंकर पादप्रहारसे पृथिवीको कम्पित करते हुए, और बोलते समय अपने स्मितकी कान्तिसे मंचभूमि को उज्ज्वल बनाते हुए कमलनयन [कृष्ण] ऊँचे रंगमंच पर चढ़ गए । ३७२ ।

इसमें कृष्णकी गम्भीर गति, धीर दृष्टि, सस्मित वचन, आदि सभी विलासोपयोगी गुणोंका वर्णन पाया जाता है । इसलिए यह 'विलास' रूप सद्गुणका उदाहरण हैं ।

३—'माधुर्य' [का लक्षण उदाहरण आगे देते हैं]—

जहाँ चेष्टा आदि स्पृहणीय हों उसको माधुर्य कहते हैं ।

जैसे—

[यमुनाके] किनारेकी सुन्दर भूमिपर बैठे हुए, सोनेके समान [अवष्टम्भः सुवर्णम्] कान्तिवाले, कदम्ब-कुसुमोंसे धीरे-धीरे माला बनाते हुए [मधुरिपु] कृष्णने सूर्यतनया

प्रपन्नायामग्रेमिहिरदुहितुस्तीर्थपदवीं—
कुरङ्गीनेत्रायां मधुरिपुरपाङ्गं विकरति ॥३७३॥

४. मङ्गल्यं—

मङ्गल्यं जगतामेव विश्वासास्पदता मता ॥६६॥

यथा—

अन्याय्यं न हराविति व्यपगतद्वारार्गला दानवा
रक्षी कृष्ण इति प्रमत्तमभितः क्रीडासु रक्ताः सुराः।
साक्षी वेत्ति स भक्तिमित्यवनतव्राताश्च चिन्तोज्झिताः
के विश्वंभर! न त्वदङ्घ्रियुगले विस्रम्भितां भेजिरे ॥३७४॥

५. स्थैर्यं—

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नाकुलादपि।

यथा—

[यमुना] के घाट [तीर्थ] पर सामने [पानी भरनेके लिए] आई हुई मृगनयनीके ऊपर कटाक्ष किया। ३७३।

३—'मंगल्य' [गुणका लक्षण आदि आगे देते हैं]—

सब लोगोंका [जनताका] विश्वासपात्र होना ही 'मंगल्य' कहा गया है ॥ ६६ ॥

जैसे [निम्न श्लोकमें कृष्णके मंगल्य-स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है]—

कृष्णके यहाँ [किसीके भी प्रति] अन्याय नहीं है इसलिए दानवोंने निर्भय होकर अपने] दरवाजोंके फाटक खोल दिए हैं। कृष्ण [हमारे] रक्षक हैं यह सोचकर देवता गण चारों ओर [निर्भय होकर] क्रीडाओंमें व्यस्त हो रहे हैं। साक्षी स्वरूप [कृष्ण भगवान् बिना कहे भी] भक्तिको जानते हैं इसलिए भक्तगण निश्चिन्त हो रहे हैं। [इस प्रकार] हे विश्वम्भर! कौन ऐसा है जिन्हें आपके चरणोंमें विश्वास नहीं है। [आप सबके ही परम विश्वासभाजन हैं]। ३७४।

४—'स्थैर्य' [का लक्षण उदाहरण आगे देते हैं]—

सैकड़ों विघ्न [उपस्थित] होनेपर भी अपने निश्चयसे विचलित न होना 'स्थैर्य' [कहलाता] है।

जैसे—

सम्बद्ध कथा—इस श्लोककी रचना एक पौराणिक उपाख्यानके आधारपर हुई है। वह उपाख्यान भागवतके दशम स्कन्धके ६३वें अध्यायमें विस्तारपूर्वक दिया गया है और उसका सम्बन्ध वाणासुरसे है। श्लोककी पृष्ठभूमिमें स्थित इस उपाख्यानके ज्ञानके बिना श्लोक का अर्थ स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आ सकता है इसलिए हम आगे संक्षेपमें उस उपाख्यानको प्रस्तुत कर रहे हैं।

विरोचनके पुत्र वलिके सौ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़ा 'वाणासुर' था। उसकी राजधानी [विन्ध्याचलके आस-पास] 'शोणितपुर' थी। वह शिवका परम भक्त था। उसके एक सहस्र भुजाएँ थीं। एक दिन जब शंकर ताण्डव-नृत्य कर रहे थे, तब उसने अपने सहस्रों हाथोंसे

एक साथ अनेक वाद्य बजाकर शिवजीको अत्यन्त प्रसन्न कर दिया। भक्तवत्सल शिवने उससे वरदान माँगनेको कहा तो उसने यही वरदान माँगा कि 'आप मेरे नगरकी रक्षा करते हुए यही रहा करें।'

बाणासुरकी एक अत्यन्त रूपवती कन्या थी उसका नाम 'ऊषा' था। उसने एक दिन स्वप्नमें देखा कि परम सुन्दर अनिरुद्धके साथ उसका समागम हो रहा है। वह अभी कुमारी ही थी। आश्चर्यकी बात कि उसने न तो अब तक कभी अनिरुद्धको देखा था और न उनके विषयमें कुछ सुना ही था। स्वप्नमें ही उनको देखकर वह अपना सब-कुछ उनके अर्पण कर चुकी। किन्तु समागमके पूर्ण होनेके पहिले ही उसकी नींद खुल गई और वह बोल उठी कि हे प्राणनाथ! आप कहाँ हो? बाणासुरके मन्त्री कुभाण्डकी कन्या चित्रा उसकी सहेली थी। वह उस समय उसके पास ही थी। ऊषाकी आवाज सुनकर और उसकी विह्वलताको देखकर उसने ऊषासे पूछा कि अभी तो तुम्हारा विवाह भी नहीं हुआ है तुम किसको प्राणनाथ कह-कर खोज रही हो। ऊषाने स्वप्नका वृत्तान्त सुनाया तो चित्राने कहा कि देखो मैं संसारके सुन्दर व्यक्तियोंके चित्र बनाती हूँ। यदि तुम इनमेंसे अपने चितचोरको पहचान सको तो फिर वह संसारमें कहीं भी हो मैं उसको तुम्हारे पास लाकर तुम्हारी विरहव्यथाको शान्त कर दूँगी। चित्रलेखाने अनेक चित्र प्रस्तुत किए उनमें अनिरुद्धका भी चित्र था। उसको देखकर ऊषाने लज्जासे सिर झुका लिया और कहा कि ये ही मेरे प्राणवल्लभ हैं।

चित्राको योगविद्याका भी अभ्यास था। उसने योगविद्यासे यह जानकर कि यह प्रद्युम्न के पुत्र और श्रीकृष्णके पौत्र हैं। वह रात्रिमें ही आकाशमार्गसे द्वारका पहुंची और सोते हुए अनिरुद्धको उठाकर ले आई। और उसको ऊषाके पास पहुंचा दिया। इस प्रकार दोनोंका मिलन हुआ और दोनों स्वच्छन्द होकर एकान्त-विहार करने लगे। कुछ समय बाद इस विहार का प्रभाव ऊषाके शरीरपर प्रकट होने लगा तब बाणासुरको विदित हुआ कि मेरी कन्याका कौमार्य समाप्त हो चुका है। यह समाचार जानकर बाणासुर ऊषाके महलमें गया तो क्या देखता है कि अनिरुद्ध बैठे हुए उसके साथ पाँसे खेल रहे हैं। उसको बड़ा क्रोध आया और वह अनिरुद्धको मारने को लपका। दोनोंके बीच घोर युद्ध हुआ। अन्तमें बाणासुर उसको नाग-पाशमें बाँधकर ले गए।

उधर द्वारकापुरीमें अनिरुद्धके गायब हो जानेसे हाहाकार मच गया। कई मास तक निरन्तर खोज करनेपर भी उनका कुछ पता न चला। तब एक दिन अकस्मात् नारदजीने सब समाचार कृष्णको दिया। अनिरुद्धके नागपाश-बन्धनका सचाचार जानकर श्रीकृष्णने बारह अक्षोहिणी सेना लेकर बाणासुरपर चढ़ाई कर दी। बाणासुरपर चढ़ाईका समाचार सुनकर अपने वरदानके अनुसार शिवजी अपना त्रिशूल लेकर और नादियापर चढ़कर उसकी रक्षाके लिए आ गए। इस प्रकार शिव और विष्णुके युद्धका अवसर उपस्थित हो गया। इसी विरोध की ओर प्रकृत श्लोकमें 'प्रतिकूलेऽपि सशूले शिवे' लिखकर कविने संकेत किया है। श्रीकृष्णने शिवजीको बीचमेंसे हटा देनेकेलिए जृम्भणास्त्रका प्रयोग कर दिया। जिससे शिवजीको जम्भाइयाँ-हीं-जम्भाइयाँ आने लगीं और वे युद्धको चालू न रख सके। इस प्रकार शिवजीसे छुटकारा पाकर श्रीकृष्ण बाणासुरकी सेनाका नाश करने लगे। तब बाणासुर जो अब तक सात्यकिसे लड़ रहा था, सात्यकिको छोड़कर कृष्णकी ओर लपका। श्रीकृष्णने उसके रथ,

प्रतिकूलेऽपि सशूले शिवे शिवायां निरंशुकायां च ।
व्यलुनादेव मुकुन्दो विन्ध्यावलिनन्दनस्य भुजाम् ॥३७५॥

६. तेजः—

सर्वचित्तावगाहित्वं तेजः सद्भिरुदीर्य्यते ॥६७॥

यथा दशमे—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥३७६॥

धनुष आदि सब नष्ट कर दिए । ऐसी दशामें बाणासुरके प्राण संकटमें देखकर उसकी धर्म-माता जिसका नाम भागवतमें 'कोटरा' दिया गया है उसकी रक्षाके लिए भागी आई । उस समय वह बाल खोले हुए और बिलकुल नग्न अवस्थामें थी । नंगी स्त्रीको आते देख श्रीकृष्ण ने अपना मुँह फेर लिया । इसी बीचमें बाणासुर वहाँसे भाग गया । इसी नग्न स्त्रीको यहाँ प्रकृत श्लोकमें 'शिवाया निरंशुकाया च' कहकर संकेत किया है ।

बाणासुर एक बार फिर रथ, धनुष आदि लेकर श्रीकृष्णसे युद्ध करनेको तैयार होकर आ गया । अबकी बार उसने अपने हजार हाथोंमें तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र धारण कर रखे थे । उसने बड़े क्रोधमें आकर इस बार श्रीकृष्णके ऊपर भयंकर आक्रमण किया था । किन्तु कृष्णने सहजही उस आक्रमणको भी विफल कर दिया । अबकी बार उन्होंने बाणासुर के अस्त्रों और रथ आदिको नष्ट करनेके बजाय उसकी भुजाओंको ही काटना आरम्भ कर दिया । और धीरे-धीरे करके उसकी एक सहस्र भुजाओंमेंसे ९९६ भुजाएँ काट डालीं । केवल चार भुजाएँ शेष रह गईं । तब श्रीशंकरजी फिर अपने भक्तकी रक्षाके लिए आए । पर इस बार वे श्रीकृष्णसे लड़नेकेलिए उनके शत्रु बनकर नहीं अपितु भक्त बनकर आए । उन्होंने कृष्णकी अनेक प्रकारसे स्तुति कर उनसे बाणासुरको छोड़ देनेकी प्रार्थना की । तब श्रीकृष्ण ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर बाणासुरको अभय प्रदान किया । और बाणासुरने स्वयं अपनी कन्या ऊषाका विवाह अनिरुद्धके साथ कर उसको सम्मानपूर्वक द्वारकाको विदा कर दिया ।

इस कथाके आधारपर ही इस श्लोकमें लिखा है कि—

त्रिशूलधारी शिवके प्रतिकूल होनेपर भी और शिवा [पार्वतीकी प्रतिमूर्ति बाणासुरकी धर्ममाता कोटरा] के नग्न रूपमें होनेपर भी श्रीकृष्णने बाणासुरकी भुजाओंको काट ही डाला । ३७५ ।

६—'तेज' [रूप गुणका लक्षण और उदाहरण आगे देते हैं]—

सबके चित्तोंमें बैठ जाने [की क्षमता] को सज्जन लोग 'तेज' कहते हैं ॥ ६७ ॥

जैसे दशम [स्कन्ध] में [कृष्णके तेजो गुणका वर्णन निम्न प्रकार दिया गया है]—

मल्लोंकेलिए वज्रके समान [भयंकर], सामान्य मनुष्योंकेलिए नररत्न, स्त्रियोंकेलिए मूर्तिमान कामदेव, गोपोंकेलिए अपना स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, अपने माता-पिता [और अन्य वृद्धजनों] केलिए शिशु, [भोजपति अर्थात्] कंसकेलिए यमराज,

यद्वा—

तेजो बुधैरवज्ञाऽऽदेरसहिष्णुत्वमुच्यते ।

यथा—

आकृष्टे प्रकटं दिदण्डयिषुणा चण्डेन रङ्गस्थले
नन्दे चानकदुन्दुभौ च पुरतः कंसेन विश्वद्रुहा ।
दृष्टिं तत्र सुरारिमृत्युकुलटासंपर्कदूतीं क्षिपन्
मञ्चस्योपरि संचुकूर्दिषुरसौ पश्याच्युतः प्राञ्चति ॥३७७॥

७. ललितं—

शृङ्गारप्रचुरा चेष्टा यत्र तं ललितं विदुः ॥६८॥

यथा—

विधत्ते राधायाः कुचमुकुलयोः केलिमकरीं
करेण व्यग्रात्मा सरभसमसव्येन रसिकः ।
अरिष्टे साटोपं कटु रुवति सव्येन विहस-
न्नुदञ्चद्रोमाञ्चं रचयति च कृष्णः परिकरम् ॥३७८॥

८. औदार्य्यं—

आत्माद्यर्पणकारित्वमौदार्य्यमिति कीर्त्त्यते ।

अज्ञानियोंकेलिए विराट्, योगियोंकेलिए परमतत्त्व तथा यादवोंकेलिए अपने इष्टदेवके रूपमें प्रतीत होनेवाले कृष्ण, बलरामके साथ रंगमंचपर आए । ३७६ ।

अथवा [तेजका दूसरा लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार भी हो सकता है]—

अपमान आदिको सहन न करनेको विद्वान् लोग 'तेज' कहते हैं । [यह तेजका दूसरा लक्षण है]—

जैसे—

नन्द और [आनकदुन्दुभिः अर्थात्] वसुदेव [वसुदेवोऽस्य जनकः स्यात् स एवानकदुन्दुभिः] के सामने [कृष्णको] दण्ड देनेकी इच्छा रखनेवाले, [इसीलिए] अत्यन्त उग्र [चण्ड] सबको सतानेवाले कंसके द्वारा युद्धभूमिमें फटकारे जानेपर उसके ऊपर असुरोंके नाश रूप कुलटाके सम्पर्कंकेलिए दूतीके सदृश [अर्थात् असुरोंके नाशकी सूचक] दृष्टि डालते हुए मंचके ऊपर कूदनेकेलिए उद्यत, वे [कृष्ण] तनिक-सा पीछे हटकर आगे बढ़ रहे हैं । ३७७ ।

७—'ललित' [गुणका लक्षण तथा उदाहरण आगे देते हैं]—

जिसमें शृङ्गार-बहुल चेष्टाएँ होती हैं उसको 'ललित' [गुण] कहते हैं ॥ ६८ ॥

जैसे [कृष्णके ललित गुणका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

रसिक-शिरोमणि [कृष्णजी] दाहिने हाथसे राधाके कुचोंके ऊपर ध्यानमग्न होकर जल्दी-जल्दी केलि-मकरी बननेमें व्यस्त हैं [इसी समय] बार-बार [अरिष्टे] कौएके जोर-जोर से बोलनेपर [राधा कहीं डर न जाए यह समझकर] रोमांचित होकर बाएँ हाथसे उनकी कौली भर लेते हैं । ३७८ ।

८—'औदार्य' [गुणका लक्षण आदि आगे देते हैं]—

अपनेको भी [भक्तोंके] अर्पण कर देने आदिको 'औदार्य' कहते हैं ।

यथा—

वदान्यः को भवेदत्र वदान्यः पुरुषोत्तमाद् ।
अकिञ्चनाय येनात्मा निर्गुणायापि दीयते ।।३७९।।

सामान्या नायकगुणाः स्थिरताऽऽद्या यदप्यमी ।।९९।।
तथाऽपि पूर्वतः किंचिद्विशेषात्पुनरीरिताः ।

अथास्य सहायाः—

अस्य गर्गादयो धर्म्मे युयुधानादयो युधि ।।१००।।
उद्धवाद्यास्तथा मन्त्रे सहायाः परिकीर्त्तिताः ।

अथ कृष्णभक्ताः—

तद्भावभावितस्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिताः ।।१०१।।
ये सत्यवाक्य इत्याद्या ह्रीमानित्यन्तिमा गुणाः ।
प्रोक्ताः कृष्णोऽस्य भक्तेषु ते विज्ञेया मनीषिभिः ।।१०२।।
ते साधकाश्च सिद्धाश्च द्विविधाः परिकीर्त्तिताः ।

तत्र साधकाः—

उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः ।।१०३।।

जैसे [कृष्णके औदार्यका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

जो [पुरुषोत्तम कृष्ण] दरिद्र और निर्गुण [भक्त] को भी अपने-आपको दे डालते हैं उनसे बड़ा दानी तुम्हीं कहो कौन होगा। ३७९।

पुराने संस्करणमें इस श्लोकको कारिका रूपमें मोटे टाइपमें छापा गया है और उसपर ९९ कारिका संख्या भी डाली है। परन्तु यह श्लोक उदाहरण रूप है, कारिका नहीं। अतः हमने उसे छोटे टाइपमें दिया है और उसपर उदाहरणकी संख्या डाली है।

यद्यपि ये स्थिरता आदि सामान्य नायक-गुण है। किन्तु पहलेसे इनमें कुछ विशेषता होनेके कारण उनको यहां फिर दुबारा कहा गया है ।। ९९ ।।

अब उन [मुख्य नायक कृष्ण] के सहायकोंका कथन करते हैं—

गर्ग आदि धर्म [कार्य] में, युयुधान आदि युद्धमें और उद्धव आदि मन्त्रणामें इनके सहायक माने गए हैं ।। १०० ।।

अब आगे कृष्णभक्तों [को कहते हैं]—

उनके प्रेमसे अपने अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले 'कृष्णभक्त' कहलाते हैं ।।१०१।।

'सत्यवाक्य' [आठवें गुण] से लेकर 'ह्रीमान' [३६वें गुण] तक जो [२९] गुण कृष्णमें कहे गए हैं उनको विद्वान् लोग उनके कृष्णभक्तोंमें भी समझ लें ।।१०२।।

वे [कृष्णके भक्त] १ साधक और २ सिद्ध [रूपसे] दो प्रकारके कहे गए हैं।

उनमेंसे 'साधक' [भक्तोंका लक्षणादि निम्न प्रकार है]—

जिनके भीतर भली प्रकारसे प्रेम उत्पन्न हो गया है किन्तु निर्विघ्नताको प्राप्त नहीं हुए इस प्रकारके और, कृष्णका साक्षात्कार कर सकनेके योग्य [भक्त] 'साधक' कहलाते हैं ।।१०३।।

कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधका इति कीर्त्तिताः ।

यथैकादशे—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥३८०॥

यथा वा—

सिक्ताऽप्यश्रुजलोत्करेण भगवद्वार्त्तानदीजन्मना
तिष्ठत्येव भवाग्निहेतिरिति ते धीमन्नलं चिन्तया ।
हृद्व्योमन्यमृतस्पृहाहरकृपावृष्टेः स्फुटं लक्ष्यते
नेदिष्ठः पृथुरोमताण्डवभरात्कृष्णाम्बुदस्योद्गमः ॥३८१॥

बिल्वमङ्गलतुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥१०४॥

अथ सिद्धाः—

अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदाकृष्णाश्रितक्रियाः ।
सिद्धाः स्युः सततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः ॥१०५॥

जैसे ग्यारहवें [स्कन्ध] में [साधक भक्तिके विषयमें लिखा है]—

भगवान्में, उनके भक्तोंमें, अज्ञानियों और शत्रुओंमें जो [क्रमशः] प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा करता है वह मध्यम [साधक कहलाता] है । ३८० ।

योगदर्शनके "मैत्री-करुणा-मुदिता-उपक्षाणां सुख-दुःख-पुण्या अपुण्यविषयाणा भावानातश्चित्तप्रसादनम्" इस सूत्रके आधारपर ही यहाँ ही यह श्लोक लिखा गया प्रतीत होता है ।

अथवा जैसे [निम्न श्लोकमें भी साधक भक्तोंका परिचय मिलता है]—

हे विद्वन् ! आप इस बातकी चिन्ता न करें कि भगवान्की वार्ता रूप नदीसे प्राप्त अश्रुजलके समुदायसे [सिक्ता] बुझानेपर भी संसाराग्निकी ज्वाला बनी ही रहती है [शान्त नहीं होती हैं] क्योंकि विस्तीर्ण रोमावलिके ताण्डवसे तुम्हारे हृदयाकाशमें अमृतत्वकी इच्छा और भगवान्की कृपावृष्टिके जनक कृष्ण मेघ [कृष्ण रूप मेघ, और काले बादल] का उदय समीप ही दिखलाई दे रहा है । ३८१ ।

इसका अभिप्राय यह है कि भगवान्की चर्चासे जो प्रेमाश्रु निकलते हैं उनसे यद्यपि संसाररूप अग्निकी ज्वाला शान्त नहीं हो पाती है किन्तु उससे यह अनुमान अवश्य होता है कि शीघ्र ही भक्तके हृदयमें पूर्ण रूपसे भगवान्की व्याप्ति हो जावेगी । कृष्ण मेघका उदय होनेवाला है । जिससे होनेवाली भगवान्की कृपावृष्टिके सामने वह भवाग्नि तनिक देर भी नहीं ठहर सकेगा । यहाँ 'कृष्णाम्बुद' शब्द श्लिष्ट है । एक पक्षमें उसका अर्थ 'काला बादल' होता है और दूसरे पक्षमें 'कृष्ण रूप मेघ' होता है । इसी प्रकार 'पृथुरोम' शब्द भी श्लिष्ट है एक पक्षमें उसका अर्थ 'विस्तीर्ण रोमांच' होता है और दूसरे पक्षमें 'पृथुरोम' का अर्थ 'मयूर' होता है । मयूरोंके ताण्डवसे 'कृष्ण मेघ' काले मेघके उदयका अनुमान होता है और रोमांच-ताण्डवसे कृष्णमेघ अर्थात् भगवत्साक्षात्कार रूप मेघके उदयका अनुमान होता है ।

बिल्वमङ्गलके समान जो [भक्त] हैं वे 'साधक' [साधकभक्त] कहलाते हैं ॥ १०४ ॥

अब 'सिद्ध' [भक्तोंको कहते हैं]—

किसी प्रकारके क्लेश [अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः] का अनुभव न

संप्राप्तसिद्धयः सिद्धा नित्यसिद्धाश्च ते द्विधा ।

तत्र संप्राप्तसिद्धयः—

साधनैः कृपया चास्य द्विधा संप्राप्तसिद्धयः ॥१०६॥

तत्र साधनसिद्धाः—

यच्च व्रजयन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि न स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यवाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥३८२॥

यथा वा—

ये भक्तिप्रभविष्णुताकवलितक्लेशोर्म्मयः कुर्वते
दृक्पातेऽपि घृणां कृतप्रणतिषु प्रायेण मोक्षादिषु ।
तान् प्रेमप्रसरोत्सवस्तवकितस्वान्तान् प्रमोदाश्रुभि-
र्निर्धौतास्यतटान्मुहुः पुलकिनो धन्यान्नमस्कुर्महे ॥३८३॥

करनेवाले, सदा भगवदर्पणबुद्धिसे ही कार्य करनेवाले, और निरन्तर [भगवान्के] प्रेमसुखका आस्वादन करनेवाले, भक्त 'सिद्धभक्त' कहलाते हैं ॥ १०५ ॥

वे [सिद्धभक्त भी] १ सम्प्राप्त-सिद्धि [अर्थात् उपायों द्वारा सिद्धिको प्राप्त करनेवाले] और २ नित्यसिद्ध दो प्रकारके होते हैं ।

योगदर्शनमें 'उपाय-प्रत्यय' तथा 'भव-प्रत्यय' दो प्रकारका समाधि माना गया है । उसीके आधारपर यहाँ सम्प्राप्तसिद्धि तथा नित्यसिद्ध दो प्रकारके सिद्ध भक्तोंके भेद किए हैं । जिनको पूर्वजन्मोंके संस्कारोंके कारण जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है उनको यहाँ 'नित्यसिद्ध' कहा है और जिनको उपायोंके अनुष्ठान द्वारा सिद्धिकी प्राप्ति होती है वे 'सम्प्राप्तसिद्धि' कहलाते हैं । इनके भी दो भेद आगे दिखलाते हैं ।

१ साधनोंके द्वारा और २ भगवान्की कृपाके द्वारा [सिद्धि प्राप्त करनेके कारण] सम्प्राप्तसिद्धि भक्त [भी] दो प्रकारके होते हैं ॥ १०६ ॥

योगदर्शनमें भी समाधिसिद्धिके ये दोनों प्रकार दिखलाए हैं । योगदर्शनके प्रथम पादमें प्राणायामादि अन्य अनेक उपायोंसे समाधिसिद्धिका वर्णन करनेके बाद 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्रमें ईश्वरकृपाको समाधिलाभका सबसे मुख्य साधन बतलाया है । इसी प्रकार यहाँ भी सिद्धि प्राप्त करनेवाले भक्तोंके दो भेद दिखलाए गए हैं ।

उनमेंसे साधनसिद्ध [भक्तोंका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

परस्पर भगवान्के यशकी चर्चाके द्वारा उत्पन्न, प्रेम और द्रवीभाव [वैक्लव्य]के कारण अश्रुधारा तथा रोमांचसे युक्त स्पृहणीय चरित्रवाले जो भक्त निरन्तर भगवान्का अनुगमन करनेके कारण ऊपर नक्षत्र पर्यन्त दूर [अर्थात् स्वर्गलोक] को प्राप्त होते हैं । [वे साधनसिद्ध भक्त कहलाते हैं] । ३८२ ।

अथवा जैसे [साधनसिद्ध भक्तका परिचय निम्न श्लोकमें भी पाया जाता है]—

भक्तिके प्रभावसे जिनके क्लेश नष्ट हो गए हैं इस प्रकारके जो [भक्तगण, स्वयं ही आकर] प्रणाम करनेवाले मोक्षादि [फलों] की ओर दृष्टि डालनेमें भी घृणा करते हैं,

मार्कण्डेयादयः प्रोक्ताः साधनैः प्राप्तसिद्धयः ।

अथ कृपासिद्धाः—

यथा श्रीदशमे—

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥३८४॥

यथा वा—

न काचिदभवद् गुरोर्भजनयन्त्रणेऽभिज्ञता
न साधनविधौ च ते श्रमलवस्य गन्धोऽप्यभूत् ।
गतोऽसि चरितार्थतां परमहंसमृग्यश्रिया
मुकुन्दपदपद्मयोः प्रणयसीधुनो धारया ॥३८५॥

कृपासिद्धा यज्ञपत्नीवैरोचनशुकादयः ॥१०७॥

अथ नित्यसिद्धाः—

[भगवान्के] प्रेमप्रसरसे विकसित-हृदय, रोमांचयुक्त और आनन्दाश्रुओंसे जिनके मुख धुल गए हैं इस प्रकार अन्य भक्तोंको हम नमस्कार करते हैं । ३८३ ।

मार्कण्डेय आदि [भक्त] साधनोंके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले भक्त माने जाते हैं ।

अब [भगवान्की] कृपासे सिद्ध [भक्तोंका परिचय देते हैं]—

जैसे [भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [लिखा है]—

इन [यज्ञपत्नियों] का न [यज्ञोपवीत आदि रूप] द्विजातियोंके योग्य संस्कार हुआ है न गुरुके पास निवास [करके इन्होंने विद्या वेदादिका अध्ययन] किया है, न तप, और न अध्ययन-चर्चाकी है, न शौच और न शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है । फिर भी उत्तम कीर्ति वाले योगेश्वरोंके भी ईश्वर, कृष्णमें इनकी दृढ़ भक्ति है और संस्कारादियुक्त होनेपर भी हमारी [कृष्णके प्रति वैसी भक्ति] नहीं है । ३८४ ।

अथवा जैसे [निम्न श्लोकमें भी कृपासिद्ध भक्तोंका परिचय मिलता है]—

गुरुकी सेवा और नियन्त्रणका परिचय तुमको कभी प्राप्त नहीं हुआ [अर्थात् तुमने कभी गुरुके पास रहकर विद्याका अभ्यास नहीं किया] और न साधनविधिमें तुमको कभी तनिक-सा भी श्रम उठाना पड़ा है फिर भी भगवान्के चरणकमलोंके प्रेम रसकी मद्यधाराके द्वारा, परमहंस [योगी] भी जिसका अनुसन्धान करते हैं [अर्थात् योगी भी जिसको प्राप्त करना चाहते हैं] उस सफलता [सिद्धि] को तुमने प्राप्त कर लिया है । ३८५ ।

कृपासिद्ध [भक्तोंके उदाहरण रूपमें] यज्ञपत्नी वैरोचनि और शुक आदि हैं ॥१०७॥

यहाँ कृपासिद्ध भक्तोंके उदाहरण रूपमें सबसे पहले यज्ञपत्नियों को प्रस्तुत किया है । यज्ञपत्नियोंके उपाख्यानका वर्णन भागवत के दशम स्कन्धके २३वें अध्यायमें आया है । उसका भाव निम्न प्रकार है—

एक दिन श्रीकृष्ण और बलरामजी ग्वालबालों के साथ गौएँ चराते हुए वृन्दावनसे बहुत दूर निकल आए । वहाँ ग्वालबालोंको भूख मालूम हुई तो श्रीकृष्णने उनसे कहा कि

आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमाणं परमं गताः ।
नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत् ॥१०८॥

यथा पाद्मे—
श्रीभगवत्सत्यभामादेवीसंवादे—

यहाँसे कुछ दूर वेदवादी ब्राह्मण स्वर्गकी कामनासे 'आङ्गिरस' नामक यज्ञ कर रहे हैं । तुम उनकी यज्ञशालाओंमें जाओ और हमारे नामसे कुछ भात माँग लाओ । कृष्णकी आज्ञानुसार ग्वालबालोंने वहाँ जाकर यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंसे विनम्रतापूर्वक भोजनकी याचना की । किन्तु उन लोगोंने उनकी प्रार्थनापर कोई ध्यान न दिया । और वे बिचारे यों ही खाली हाथ लौट आए ।

तब श्रीकृष्णने उनसे कहा कि अबकी बार तुम उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास जाओ । और उनसे हमारा [भगवान्‌का] नाम लेकर भोजनकी प्रार्थना करना । वे हमसे [भगवान्‌से] बहुत प्रेम करती हैं । इसलिए वे तुमको यथेष्ट भोजन प्रदान करेंगी । कृष्णकी आज्ञानुसाग अबकी बार ग्वालबालोंने उन याज्ञिकोंकी पत्नियोंके पास जाकर प्रार्थना की । वे ब्राह्मणियाँ बहुत दिनसे कृष्णचन्द्रका नाम सुनती आ रही थीं किन्तु उतके दर्शन अब तक न कर पाई थीं । इसलिए जब उन्हें मालूम हुआ कि कृष्ण कहीं पास आए हुए हैं और इस समय उन्हें भोजनकी आवश्यकता है तब वे नाना प्रकारके व्यंजनोंको साथमें लेकर कृष्णके पास आ पहुँचीं । कृष्णने उनके इस प्रेमको देखकर उनकी प्रशंसा की और कहा कि अब आप लोग अपने घर लौट जाएँ । इसपर उन याज्ञिकपत्नियोंने कहा कि हम सब तो अपने घरवालों और पतियोंका विरोध करनेपर भी यहाँ चली आई हैं इसलिए वे अब हमें घरमें नहीं घुसने देंगे । अब तो हम आपके साथ ही रहेंगी । इसपर कृष्णजीने उनको समझाया कि वे सब गृहस्थ हैं । उन्हें अपने पतियोंके साथ रहकर ही गृहस्थ धर्मका पालन करना चाहिए । उनके घरवाले और पति यहाँ आने के लिए उनका तिरस्कार नहीं करेंगे ।

जब याज्ञिक ब्राह्मणोंको श्रीकृष्णके महत्त्वका ज्ञान हुआ तो उन्होंने उनके प्रति अपनी पत्नियोंके प्रेमकी बड़ी सराहना की और अपनी ओरसे उनको बड़ी ग्लानि हुई । उनकी इसी भावनाका चित्रण ऊपर उद्धृत किए हुए 'नासां द्विजाति संस्कारो' इत्यादि श्लोकमें किया गया है । इस प्रकार याज्ञिकपत्नियोंके ऊपर कृष्ण भगवान्‌ने स्वयं कृपा की और उनको अपनी भोजन-सेवाका अवसर प्रदान किया । इसलिए इन याज्ञिकपत्नियोंको यहाँ कृपासिद्ध भक्तोंमें प्रथम स्थान दिया गया है ।

कृपासिद्ध भक्तोंमें दूसरा स्थान वैरोचनिको दिया गया है । विरोचनका पुत्र बलि वैरोचनि हुआ । बलिकी कथा बहुत प्रसिद्ध है । इसलिए हम उसको यहाँ नहीं दे वहे हैं । तासरे कृपासिद्ध भक्त शुकदेव बतलाए गए हैं । ये स्वयं भागवतके प्रवक्ता हैं ।

अब नित्यसिद्ध [भक्तोंका लक्षण करते हैं]—

कृष्णके प्रति अपनेसे भी कोटिगुना निःस्वार्थ प्रेम करनेवाले, सब नित्यसिद्ध भक्त स्वयं कृष्णके समान [मुकुन्दवत्] नित्य आनन्दादि गुणोंसे युक्त होते हैं ॥ १०८ ॥

जैसाकि पद्मपुराणमें श्रीभगवान् और सत्यभामाके संवादमें [कहा है]—

अथ ब्रह्मादिदेवानां तथा प्रार्थनया भुवः।
आगतोऽहं गणाः सर्वे जातास्तेऽपि मया सह ॥३८६॥
एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि!
सर्वदा मत्प्रिया देवि! मत्तुल्यगुणशालिनः ॥३८७॥

श्रीदशमे—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३८८॥

तत्रैव—

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द! ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥३८९॥

सनातनं मित्रमिति तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्।
स्नेहोऽस्मास्विति चैतेषां नित्यप्रेष्ठत्वमागतम् ॥१०९॥
इत्यतः कथिताः नित्यप्रिया यादवबल्लवाः।
एषां लौकिकवच्चेष्टा लीला मुररिपोरिव ॥११०॥

तथा हि पाद्मोत्तरखण्डे—

यथा सौमित्रिभरतौ यथा संकर्षणादयः।
तथा तेनैव जायन्ते निजलोकाद्यदृच्छया ॥३९०॥

इसके बाद ब्रह्मर्षियोंकी, देवताओंकी तथा पृथिवीकी प्रार्थनासे मैं फिर यहाँ आया हूँ और वे सब 'गण' भी मेरे साथ आ गए हैं। ३८६।

हे प्रिये! ये सब यादवगण मेरे ही गण हैं। हे देवि! वे सर्वदा मेरे प्रिय और मेरे समान गुणोंसे युक्त हैं। ३८७।

[भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [भी कहा हैं]—

अहो! नन्द, गोप और अन्य ब्रजवासियोंका बड़ा सौभाग्य है कि परम आनन्दस्वरूप नित्यसिद्ध पूर्ण ब्रह्म उनके मित्र हैं। ३८८।

वहीं [अर्थात् दशम स्कन्धमें ही यह भी लिखा है कि]—

हे नन्द! आपके इस पुत्रमें हम सब ब्रजवासियोंका [दुस्त्यज अर्थात्] नित्यसिद्ध प्रेम है। तब उनका हमारे प्रति [औत्पत्तिक अर्थात्] अनित्य [प्रेम] कैसे हो सकता है। ३८९।

[पूर्व श्लोकोंमें कृष्णको ब्रजवासियोंका] सनातन मित्र कहा है इसलिए हमारे प्रति उनका [औत्पत्तिक उत्पन्न होनेवाला] अनित्य प्रेम कैसे हो सकता है? इसलिए भी इनका नित्य प्रियत्व सिद्ध होता है ॥ १०९ ॥

इसीलिए यादव और गोप लोग [कृष्णके] नित्य प्रिय कहे गए हैं। कृष्णकी लीलाओं-के समान ही इनकी चेष्टाएँ [वस्तुतः लौकिक न होनेपर भी लौकिक-सी प्रतीत होती] है ॥ ११० ॥

जैसे कि पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें [लिखा है]—

जैसे लक्ष्मण और भरत और संकर्षण आदि [भगवान्से अभिन्न हैं] इसी तरह

पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत्पदं शाश्वतं परम् ।
न कर्म्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यत इति ।।३६१।।

ये प्रोक्ताः पञ्चपञ्चाशत् क्रमात्कंसरिपोर्गुणाः ।
ते चान्ये चापि सिद्धेषु सिद्धिदत्वादयो मताः ।।१११।।
भक्तास्तु कीर्तिताः शान्तास्तथा दाससुतादयः ।
सखायो गुरुवर्गाश्च प्रेयस्यश्चेति पञ्चधा ।।११२।।

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये ।
ते तु श्रीकृष्णचन्द्रस्य गुणाश्चेष्टाः प्रसाधनम् ।।११३।।
स्मिताङ्गसौरभे वंशश्रृङ्गनूपुरकम्बवः ।
पदाङ्कः क्षेत्रतुलसीभक्ततद्वासरादयः ।।११४।।

तत्र गुणाः—

गुणास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः कायवाङ्मानसाश्रयाः ।

तत्र कायिकाः—

यादव [और गोपादि भी भगवान्‌के] अपने लोकसे स्वेच्छया उत्पन्न हो जाते हैं । ३६० ।

और फिर उनके साथ ही परमनित्य पदको प्राप्त हो जाते हैं । इन विष्णुभक्तोंका जन्म कर्मबन्धनोंके अनुसार नहीं होता है । ३६१ ।

कृष्णके गुण भक्तोंके गुण होते हैं—

जो क्रमसे कृष्णके ५५ गुण कहे हैं वे, और सिद्धिप्रदत्वादि अन्य गुण भी सिद्धों [अर्थात् सिद्ध भक्तों] में माने जाते हैं ।। १११ ।।

पाँच प्रकारके भक्त—

१ विरक्त [शान्ताः], २ दासपुत्रादि, ३ मित्र, ४ गुरुवर्ग और ५ प्रेयसीवर्ग ये पांच प्रकारके [कृष्णके] भक्त माने जाते हैं ।। ११२ ।।

अब [भक्तिरसके] उद्दीपन [विभाव कहते हैं]—

जो [भगवान्‌के प्रति] प्रेमको उद्दीप्त करते हैं वे 'उद्दीपन' [विभाव] कहलाते हैं । और वे श्रीकृष्णके १ गुण, २ चेष्टाएँ तथा ३ अलंकरण [ये तीन प्रकारके भक्तिके उद्दीपन विभाव होते] हैं ।। ११३ ।।

[इनके अतिरिक्त कृष्णकी] ४ मुस्कराहट, ५ अंगोंका सौरभ, ६ बाँसुरी, ७ शृङ्ग [वाद्य], ८ नूपुर, ९ शंख, १० चरण-चिन्ह, ११ [मथुरा आदि रूप] क्षेत्र, १२ तुलसी, १३ भक्तगण, और १४ [कृष्णजन्माष्टमी आदि रूप] उनका दिन [ये १४ प्रकारके कृष्णभक्तिके उद्दीपन हैं] ।। ११४ ।।

१—उनमेंसे गुण [का कथन आगे करते हैं]—

कायिक, वाचिक तथा मानसिक [भेदसे] गुण तीन प्रकारके कहे गए हैं ।

उनमेंसे कायिक [गुण आगे कहते हैं]—

वयःसौन्दर्यरूपाणि कायिका मृदुताऽऽदयः ॥११५॥
गुणाः स्वरूपमेवास्य कायिकाद्या यदप्यमी ।
भेदं स्वीकृत्य वर्ण्यन्ते तथाऽप्युद्दीपना इति ॥११६॥
अतस्तस्य स्वरूपस्य स्यादालम्बनतैव हि ।
उद्दीपनत्वमेव स्याद् भूषणादेस्तु केवलम् ॥११७॥
एषामालम्बनत्वं च तथोद्दीपनताऽपि च ।

तत्र वयः—

वयः कौमारपौगण्डकैशोरमिति तत् त्रिधा ॥११८॥
कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि ।
आषोडशाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परम् ॥११९॥
औचित्यात्तत्र कौमारं वक्तव्यं वत्सले रसे ।
पौगण्डं प्रेयसि तथा तत्तत्खेलाऽऽदियोगतः ॥१२०॥
श्रैष्ठ्यमुज्ज्वल एवास्य कैशोरस्य तथाऽप्यदः ।
प्रायः सर्वरसौचित्यादत्रोदाह्रियते क्रमात् ॥१२१॥

---

१ आयु, २ सौन्दर्य, ३ रूप तथा ४ मृदुतादि कायिक [गुण] हैं ॥ ११५ ॥

यद्यपि ये कायिक आदि गुण [कृष्णके] स्वरूपभुत ही है किन्तु [स्वरूपसे अभिन्न होने पर भी काल्पनिक] भेदको स्वीकार करके ही [स्वरूपसे भिन्न गुण रूपमें] कहे गए हैं । क्योंकि उस प्रकारसे [कथित होनेसे ही] ये उद्दीपन [विभाव] होते हैं ॥ ११६ ॥

इसलिए उस [कृष्णके] स्वरूपकी तो आलम्बन रूपता ही हो सकती है और भूषण आदिका केवल उद्दीपनत्व होता है [अर्थात् कृष्णका स्वरूप आलम्बन विभाव और उसके अलंकार गुण आदि उद्दीपन विभाव होते हैं] ॥ ११७ ॥

और इन [गुणों] में तो आलम्बनता और उद्दीपनता दोनों रहती हैं । [अर्थात् कृष्ण का स्वरूप केवल आलम्बन विभाव, और उनके अलंकार आदि केवल उद्दीपन विभाव होते हैं । परन्तु उनके गुण आलम्बन विभाव तथा उद्दीपन विभाव दोनोंका कार्य करते हैं] ।

उनमेंसे [कायिक गुणोंमें सर्वप्रथम] अवस्था [का कथन आगे करते हैं]—

१ कौमार, २ पौगण्ड और ३ कैशोर इस प्रकार अवस्था तीन प्रकारकी हैं ॥११८॥

[इनमेंसे प्रारम्भसे] पांच वर्ष तक 'कौमार' [अवस्था], दश वर्ष पर्यन्त 'पौगण्ड' [अवस्था], और सोलह वर्ष तक किशोरावस्था होती है । उससे आगे यौवन आरम्भ हो जाता है ॥ ११९ ॥

औचित्यके कारण वात्सल्यरसमें कौमार अवस्थाका वर्णन करना चाहिए । और प्रेममें उन-उन क्रीडाओंके सहित 'पौगण्ड' [दश वर्ष तकको] अवस्थाका वर्णन करना चाहिए ।१२०।

इस किशोरावस्थाकी श्रेष्ठता यद्यपि ['उज्ज्वले' अर्थात् उज्ज्वल वेषात्मक] शृङ्गार-रसमें ही होती है । किन्तु प्रायः सब रसोंमें औचित्यके कारण [कैशोरका वर्णन हो सकता

आद्यं मध्यं तथा शेषं कैशोरं त्रिविधं भवेत् ।

तत्राद्यं कैशोरं—

वर्णस्योज्ज्वलता काऽपि नेत्रान्ते चारुणच्छविः ॥१२२॥

रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति ।

यथा—

हरति शितिमा कोऽप्यङ्गानां महेन्द्रमणिश्रियं
प्रविशति दृशोरन्ते कान्तिर्मनागिव लोहिनी ।
सखि ! तनुरुहां राजिः सूक्ष्मा दराऽस्य विरोहते
स्फुरति सुषमा नव्येदानीं तनौ वनमालिनः ॥३९२॥

वैजयन्तीशिखण्डादिनटप्रवरवेषता ॥१२३॥

वंशीमधुरिमा वस्त्रशोभा चात्र परिच्छदः ।

यथा श्रीदशमे—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं-
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दाऽरण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः ॥३९३॥

है इसलिए क्रमसे उसका वर्णन करते हैं ॥ १२१ ॥

१ आद्य, २ मध्य तथा ३ अन्तिम तीन प्रकारका 'कैशोर' होता है ।

उनमेंसे 'आद्य' कैशोर [का वर्णन आगे करते हैं]—

प्रथम कैशोरावस्थाके आनेपर वर्णमें कुछ अपूर्व उज्ज्वलता [आ जाती है], नेत्रप्रान्तों में अरुणच्छवि [हो जाती है] और रोमवलि प्रकट होने लगती है ॥ १२२ ॥

जैसे कि [निम्न श्लोकके वर्णनसे प्रतीत होता है]—

[किशोरावस्थाके आनेपर कृष्णके शरीरकी] कुछ अपूर्व श्यामलता इन्द्रनीलमणिकी कान्तिका अपहरण करने लगी है और तनिक लाल वर्णकी कान्ति आंखोंके भीतर प्रवेश कर रही है। हे सखि ! हल्की-सी पतली रोम-राजि इसके निकल रही है । इस प्रकार वनमाली [कृष्ण] के शरीरमें अभिनव सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा है । ३९२ ।

इस [किशोरावस्थामें] में [पंचवर्णयुक्त और जानु-पर्यन्त लम्बिनी] 'वैजयन्ती' [माला], मोरपंख आदि नटोपयोगी वेष, वंशीका माधुर्य, और वस्त्रशोभा आदि सहकारी [परिच्छेद] हैं ॥ १२३ ॥

जैसे [भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [कृष्णके रूपका वर्णन करते हुए लिखा है]—

नटवर [कृष्ण] के शरीरपर मोरपंखोंका मुकुट है, कानोंमें कनेरके फूल, सोनेके समान पीतवर्ण वस्त्र, और [पंचरंगकी जानुपर्यन्तलम्बिनी] वैजयन्ती मालाको धारण किए हुए वंशीके छिद्रोंको अपनी अधर-सुधासे पूर्ण करते हुए प्रसिद्ध कीर्तिवाले [कृष्ण] गोपवृन्दों के साथ अपने स्थान वृन्दावनमें प्रविष्ट हुए । ३९३ ।

खरताऽत्र नखाग्राणां धनुरन्दोलिता भ्रुवोः ॥१२४॥
रदानां रञ्जनं रागचूर्णैरित्यादि चेष्टितम् ।

यथा—

नवं धनुरिवातनोर्नटदघद्विपोर्भ्रू युगं—
शरालिरिव शाणिता नखरराजिरग्रे खरा ।
विराजति शरीरिणी रुचिरदन्तलेखाऽरुणा
न का सखि ! समीक्षणाद्युवतिरस्य वित्रस्यति ॥३६४॥

अस्य मोहनता यथा—

कर्त्तुं मुग्धाः स्वयमचटुला न क्षमन्तेऽभियोगं
न व्यादातुं क्वचिदपि जने वक्तुमप्युत्सहन्ते ।
दृष्ट्वा तास्ते नवमधुरिमस्मेरतां माधवार्ताः
स्वप्राणेभ्यस्त्रयमुदसृजन्नद्य तोयाञ्जलीनाम् ॥३६५॥

अथ मध्यमं—

ऊरुद्वयस्य बाह्वोश्च काऽपि श्रीरुरसस्तथा ॥१२५॥
मूर्त्तेर्मधुरिमाद्यं च कैशोरे सति मध्यमे ।

यथा—

स्पृहयति करिशुण्डादण्डनायोरुयुग्मं
गरुडमणिकपाटीसख्यमिच्छत्युरश्च ।

इस [किशोरावस्था] में नखाग्रोंकी तीक्ष्णता, भौंहोंमें धनुषकीसी वक्रता एवं चपलता और दाँतोंमें रागजनक चूर्णों [मिस्सी आदि] से राग इत्यादि चेष्टा होती हैं ॥ १२४ ॥

जैसे—

[अघशत्रु अर्थात्] कृष्णकी भौंहें कामदेवके धनुषके समान घूम रही हैं, नखपंक्तिके तीक्ष्ण अगले भाग शानपर रखे हुए बाण-पंक्तिके समान [प्रतीत होते] हैं और मूर्तमती रक्तवर्णकी दन्तपंक्ति शोभित हो रही है । हे सखि ! इसको देखकर कौन युवती भयभीत नहीं होती है । ३६४ ।

इस [कृष्ण रूप] की मोहनता [का वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है] जैसे—

अचपल [सीधी-सादी] मुग्ध स्त्रियाँ [कृष्णको देखकर मोहित हो जानेपर भी] स्वयं [अभियोग अर्थात्] भावोंको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ नहीं होती हैं और न किसी अन्य जन से ही खुलकर अपनी बात कह सकती हैं । [कृष्णकी] नवमधुरिमाके विकासको देखकर कृष्ण केलिए उद्विग्न वे अपने प्राणोंके लिए स्वयं ही तीन जलांजलियाँ देने लगीं । [अर्थात् अन्य कोई गति न होनेसे अपने प्राणत्यागको तैयार हो गई] । ३६५ ।

[यह प्रथम कैशोरका वर्णन हुआ] अब मध्यम [कैशोरका वर्णन करते हैं]—

मध्यम कैशोरके आनेपर दोनों जँघाओं, दोनों बाहुओं और छातीमें कोई अपूर्व सौंदर्य आ जाता है और मूर्तिमें मधुरिमा आदि हो जाती है ॥ १२५ ॥

जैसे—

भुजयुगमपि धित्सत्यर्गलस्यातिनिन्दा—
मभिनवतरुणिम्नः प्रक्रमे केशवस्य ॥२६६॥

मुखं स्मितविकासाढ्यं विभ्रमोत्तरले दृशौ ॥१२६॥
त्रिजगन्मोहनं गीतमित्यादिरिह माधुरी ।

यथा—

अनङ्गनयचातुरीपरिचयोत्तरङ्गे दृशौ
मुखाम्बुजमुदञ्चितस्मरविलासरम्याधरम् ।
अचञ्चलकुलाङ्गनाव्रतविडम्बिसङ्गीतकं
हरेस्तरुणिमाङ्कुरे स्फुरति माधुरी काऽप्यभूत् ॥२६७॥

वैदग्धीसारविस्तारः कुञ्जकेलिमहोत्सवः ॥१२७॥
आरम्भो रासलीलादेरिह चेष्टाऽऽदिसौष्ठवम् ।

यथा—

व्यक्तालक्तपदैः क्वचित्परिलुठत्पिच्छावतंसैः क्वचित्
तल्पैर्विच्युतकाञ्चिभिः क्वचिदसौ व्याकीर्णकुञ्जोत्करा ।
प्रोद्यन्मण्डलवन्धताण्डवघटालदमोल्लसत्सैकता
गोविन्दस्य विलासवृन्दमधिकं वृन्दाऽटवी शंसति ॥२६८॥

कृष्णके नव-यौवनके आरम्भ होनेपर [कृष्णकी] दोनों जाँघें हाथीकी सूँडको पराजित [दण्डनाय] करना चाहती है और छाती मरकतमणिकी किवाड़ोंके साथ मित्रता करना चाहती है। दोनों भुजाएँ अर्गलाकी अत्यन्त निन्दा करना चाहती हैं। [अर्थात् नवयौवनके आरम्भमें कृष्णकी जंघाएँ हाथीकी सूँडके समान, छाती कपाटोंके समान और वाहुएँ अर्गलाके समान हो गईं]। २६६।

मुखपर हर समय मुस्कराहट रहती है, आँखें हाव-भावमें चंचल रहती हैं, और गति-ध्वनि तीनों लोकोंको मोहित करनेवाली होती है इत्यादि यहाँ [मध्य कैशरोवस्थामें] माधुरी [का स्वरूप] होती है ॥ १२६ ॥

जैसे—

कृष्णके यौवनांकुरके निकलनेपर कामशास्त्रके परिचयसे नेत्र चंचल हो उठे हैं। विकसित होते हुए कामके विलाससे मुख रम्य अधरवाला हो रहा है। संगीत अचपल कुल-वधुओंके व्रतको भंग करनेवाला हो रहा है। इस प्रकार कृष्णके यौवनांकुरके विकसित होते ही [उनमें] कुछ अपूर्व माधुरी आ गई है। २६७।

विदग्धताके तत्वकी वृद्धि, कुञ्जोंमें केलि-महोत्सव, और रास लीलादिका आरम्भ, वे इस [मध्यम कैशोर] में चेष्टादिका सौन्दर्य होता है ॥ १२७ ॥

जैसे [निम्न श्लोकमें वर्णन किया गया हैं]—

कहीं [अलक्तक] महावरके स्पष्ट चिन्होंसे [व्याप्त], कहीं पृथिवीपर पड़े हुए मोरपंखों के द्वारा, और कहीं तगड़ी टूटी पड़ी है इस प्रकारके तल्प [शय्या] के द्वारा जिसके कुञ्जोंके समूह व्याप्त हो रहे हैं इस प्रकारकी [अलग-अलग गोपियोंकी विविध प्रकारके भोगोंकी सूचक

तन्मोहनता यथा—

विदूरान्मारागिं हृदयरविकान्ते प्रकटय-
न्नुदस्यन् धर्म्मेन्दुं विदधदभितो रागपटलम्।
कथं हा नस्त्राणं सखि ! मुकुलयन् बोधकुमुदं
तरस्वी कृष्णाभ्रे मधुरिमभरार्कोऽभ्युदयते ॥३६६॥

अथ शेषं कैशोरं—

पूर्वतोऽप्यधिकोत्कर्षं बाढमङ्गानि बिभ्रति ॥१२८॥
त्रिवलिव्यक्तिरित्याद्यं कैशोरे चरमे सति ।

यथा—

मरकतगिरेर्गण्डग्रावप्रभाहरवक्षसं
शतमखमणिस्तम्भारम्भप्रमाथिभुजद्वयम्।
तनुतरणिजावीचीछायाविडम्बिवलित्रयं
मदनकदलीसाधिष्ठोरुं स्मराम्यसुरान्तकम् ॥४००॥

तन्माधुर्य्यं यथा—

दशार्धशरमाधुरीदमनदक्षयाऽङ्गश्रिया
विधूनितवधूधृतिं वरकलापिलास्यास्पदम्।
दृगञ्चलचमत्कृतिक्षपितखञ्जरीटद्युतिं
स्फुरत्तरुणिमोद्गमं तरुणि ! पश्य पीताम्बरम् ॥४०१॥

तथा कहीं अनेक गोपियोंके साथ] एक साथ मण्डल बनाकर नाचनेके चिन्ह जिसके बालुकामय तट प्रदेशोंमें दिखलाई दे रहे हैं इस प्रकारका यह वृन्दावन, गोविन्दके [नाना प्रकारके] विलास-समुदायको और अधिक सूचित कर रहा है। ३९८।

उसकी मोहकता जैसे [निम्न श्लोकमें वर्णन की गई है]—

हृदय रूप सूर्यकान्तमणिके भीतर दूरसे ही कामाग्निको उत्पन्न करता हुआ, धर्म, रूप चन्द्रमाको दूर करता हुआ, चारों ओर रागसमूहको प्रकट करता हुआ, बोधकुमुदको बन्द करता हुआ कृष्णमेघके भीतर [कृष्ण रूप मेघके भीतर] माधुर्यप्रवाह रूप तीव्र सूर्यका उदय हो रहा है। हे सखि ! अब हमारी रक्षा कैसे हो सकती है। ३९९।

अब अन्तिम कैशोर [का वर्णन करते हैं]—

अन्तिम कैशोरके आनेपर निश्चय ही शरीरमें पहिलेसे भी अधिक सौन्दर्य आ जाता है और त्रिवलीकी अभिव्यक्ति आदि होने लगती है॥ १२८॥

जैसे—

मरकतमणिके पर्वतकी विशाल शिलाकी कान्तिको हरण करनेवाले वक्षःस्थलसे युक्त, इन्द्रनीलमणिके स्तम्भको तिरस्कृत करनेवाली दोनों भुजाओंसे युक्त, और यमुनाकी हलकी लहरोंके समान त्रिवलीसे विभूषित तथा कामकदलीसे भी अधिक सुन्दर जंघाओंवाले कृष्णकी [आज] मुझे याद आ रही है। ४००।

उस [शेष कैशोर] का माधुर्य जैसे [निम्न श्लोकमें वर्णन किया गया है]—

कामदेवके सौन्दर्यको पराजित करनेवाले, शरीर-शोभासे वधुओंके धैर्यको हिला डालने

इदमेव हरेः प्राज्ञैर्नवयौवनमुच्यते ।।१२६।।
अत्र गोकुलदेवीनां भावसर्वस्वशालिता ।
अभूतपूर्वकन्दर्पतन्त्रलीलोत्सवादयः ।।१३०।।

यथा—

कान्ताभिः कलहायते क्वचिदयं कन्दर्पलेखान् क्वचित्
कीरैरर्पयति क्वचिद्वितनुते क्रीडाऽभिसारोद्यमम् ।
सख्या भेदयति क्वचित्स्मरकलाषाड्गुण्यवानीहते
सन्धिं क्वाप्यनुशास्ति कुञ्जनृपतिः शृङ्गारराज्योत्तमम् ।।४०२।।

तन्मोहनता यथा—

कर्णाकर्णि सखीजनेन विजने दूतीस्तुतिप्रक्रिया
पत्युर्वञ्चनचातुरी गुणनिका कुञ्जप्रयाणे निशि ।
बाधिर्य्यं गुरुवाचि वेणुविरुतावुत्कर्णतेति व्रतान्
कैशोरेण तवाद्य कृष्ण ! गुरुणा गौरीगणः पाठ्यते ।।४०३।।

नेतुः स्वरूपमेवोक्तं कैशोरमिह यद्यपि ।
नानाऽऽकृतिप्रकटनात्तथाऽप्युद्दीपनं मतम् ।।१३१।।

वाले, सुन्दर मयूरोंके समान नृत्य करनेवाले, और नेत्रप्रान्तोंकी शोभासे खंजरीटोंकी कान्तिको पराजित कर देनेवाले जिन [कृष्ण] के भीतर तरुणिमाका उदय हो रहा है इस प्रकारके पीताम्बर धारी कृष्णको हे तरुणि ! तुम तनिक देखो तो । ४०१ ।

इसी [शेष कैशोर] को विद्वानोंने कृष्णका नवयौवन कहा है और इस [अवस्थामें] में गोकुलकी देवियोंकी कामना पूर्ण होती है ।। १२६ ।।

कामके अधीन अभूतपूर्व लीला उत्सव आदि [भी इसमें होते हैं] ।। १३० ।।

जैसे—

यह [कृष्ण] कभी [किन्हीं] स्त्रियोंसे कलह करते हैं, किन्हींके पास तोतोंके द्वारा प्रेमपत्र [कन्दर्पलेख] भेजते हैं और कहीं [किन्हींके पास जानेके लिए] रमणके लिए अभिसार का यत्न करते हैं । किसीको सखीके द्वारा [बात आदिसे] तोड़ते हैं और किसीके साथ सन्धि करना चाहते हैं, इस प्रकार काम-कलाके [सन्धि विग्रह यान आसन संश्रय द्वैधीभाव रूप] षड्गुणोंके पण्डित कुञ्जोंके राजा [कृष्ण] शृङ्गारके उत्तम राज्यका संचालनकर रहे हैं ।४०२।

उसकी मोहन करनेकी सामर्थ्य जैसे [निम्न श्लोकमें दिखलाई गई है]—

हे कृष्ण ! तुम्हारा यह कैशोर, गुरुरूप बनकर आज [अष्टवर्षा भवेद् गौरी आठ-आठ वर्षकी लड़कियोंको अथवा] सुन्दर स्त्रियोंको, सखीजनोंके द्वारा कर्णपरस्परासे सुनकर एकान्तमें दूतियोंकी खुशामद करनेकी आदत की, रात्रिके समय कुञ्जोंमें जानेके लिए पतियोंको धोखा देनेकी चतुरता, [माता-पितादि] गुरुजनोंकी बात न सुननेकी आदत और वंशीध्वनिके सुननेके लिए कान लगाए रखने] की शिक्षा दे रहा है । ४०३ ।

ये सब भाव कृष्णजी और समाज दोनों केलिए अशोभनीय है । उन्हें भक्तिके साथ जोड़ा गया है यह आश्चर्य एवं खेद की बात है ।

यद्यपि यह कैशोर नेता [अर्थात्] कृष्णका स्वरूप ही कहा है [स्वरूपसे भिन्न नहीं

बाल्येऽपि नवतारुण्यप्राकट्यं श्रूयते क्वचित् ।
तत्रातिरसवाहित्वान्न रसज्ञै रुदाहृतम् ॥१३२॥

अथ सौन्दर्य्यं—

भवेत्सौन्दर्य्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम् ।

यथा—

मुखं ते दीर्घाक्षं मरकततटीपीवरमुरो
भुजद्वन्द्वं स्तम्भद्युति सुवलितं पार्श्वयुगलम् ।
परिक्षीणो मध्यः प्रथिमलहरीहारि जघनं—
न कस्याः कंसारे ! हरति हृदयं पङ्कजदृशः ॥४०४॥

अथ रूपं—

विभूषणं विभूष्यं स्याद्येन तद्रूपमुच्यते ॥१३३॥

यथा—

कृष्णस्य मण्डनततिर्मणिकुण्डलाद्या
नीताऽङ्गसङ्गतिमलंकृतये वराङ्गि ! ।

है] फिर भी नाना प्रकारकी आकृतियोंके प्रकट करनेवाला होनेसे उसको उद्दीपन [विभाव] कहा गया है ॥ १३१ ॥

कहीं-कहीं [कृष्णकी] बाल्यावस्थामें भी तारुण्यका वर्णन मिलता है किन्तु अत्यधिक भृङ्गारका प्रकाशक होनेसे रसज्ञोंने उसको नहीं माना है ॥ १३२ ॥

११५वीं कारिका में वयः, सौन्दर्य, और रूप इन तीन कायिक गुणोंका वर्णन किया गया था। उनमेंसे वयः रूप प्रथम कायिक गुणकी व्याख्या यहाँ १३२वीं कारिका तक समाप्त हुई। अब इसके आगे सौन्दर्यरूप दूसरे कायिक गुणका विवेचन आगे आरम्भ करते हैं।

अब सौन्दर्य [रूप कायिक गुणका लक्षण आदि करते हैं]—

अंगोंके यथायोग्य सन्निवेशको 'सौन्दर्य' कहते हैं।

जैसे [निम्न श्लोकमें कृष्णके सौन्दर्यका वर्णन पाया जाता है]—

हे कंसारे ! बड़ी-बड़ी आँखोंवाला तुम्हारा मुख, मरकतमणिकी शिलाके समान [चौड़ी तुम्हारी] छाती, खम्भोंके समान [स्थूल तुम्हारी] दोनों भुजाएँ, चिकने और गोल दोनों पार्श्व, पतली कमर, और मोटी-मोटी लहरोंके समान [सुन्दर तुम्हारी] जंघाएँ किस कमलनयनीके हृदयको हरण नहीं करती है। ४०४।

इस प्रकार यहाँ तक कायिक गुणोंमें वयः तथा सौन्दर्यरूप दो गुणोंका वर्णन हुआ। अब रूप नामक तृतीय कायिक गुणका निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

अब रूप [नामक तृतीय कायिक गुणका निरूपण करते हैं]—

जिसके द्वारा अलंकार, अलंकार्य बन जाय [अर्थात् जिसकी शोभाकेलिए पहिने गए अलंकार उसकी शोभा न बढ़ाकर स्वयं उससे भूषित हो] उसको 'रूप' कहते हैं ॥ १३३ ॥

जैसे हे वरांगि ! कृष्णके मणि-कुण्डल आदि आभूषणवर्ग शरीरको अलंकृत करनेके लिए [शरीरपर धारण किए गए] थे किन्तु वे उस [शरीरशोभा] को कर सकनेमें तनिक भी

शक्ता बभूव न मनागपि तद्विधाने
सा प्रत्युत स्वयमनल्पमलंकृताऽऽसीत् ॥४०५॥

अथ मृदुता—

मृदुता कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते ।

यथा—

अहह नवाम्बुदकान्तेरमुष्य सुकुमारता कुमारस्य ।
अपि नवपल्लवसङ्गादङ्गान्यपरज्य शीर्य्यन्ति ॥४०६॥

ये नायकप्रकरणे वाचिका मानसास्तथा ॥१३४॥
गुणाः प्रोक्तास्त एवात्र ज्ञेया उद्दीपना बुधैः ।

अथ चेष्टा—

चेष्टा रासाबिलीलाः स्युस्तथा दुष्टवधादयः ॥१३५॥

तत्र रासो यथा—

नृत्यद्गोपनितम्बिनीकृतपरीरम्भस्य रम्भाऽऽदिभि-
र्गीर्वाणीभिरनङ्गरङ्गविवशं संदृश्यमानश्रियः ।
क्रीडाताण्डवपण्डितस्य परितः श्रीपुण्डरीकाक्ष ! ते
रासारम्भरसार्थिनो मधुरिमा चेतांसि नः कर्षति ॥४०७॥

समर्थ नहीं हो सके उलटे वे ही स्वयं [कृष्णके रूपसे] अत्यन्त अलंकृत हो गए । ४०५ ।

अब [कायिक गुणोंमें चतुर्थ] मृदुता [गुणका वर्णन करते हैं]—

कोमल स्पर्शको भी सहन न कर सकनेको 'मृदुता' कहते हैं ।

जैसे [कृष्णकी मृदुताका परिचय निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

अहह—अभिनव मेघके समान सुन्दर इस कुमारकी सुकुमारता कैसी अद्भुत है कि नए पत्तेके लगनेसे भी मलिन होकर इसके अंग मुरझा जाते हैं ।४०६।

११४ तथा ११५ वीं कारिकाओंमें उद्दीपन विभावोंके नाम गिनाए गए थे । इनमें सबसे पहले 'गुण' का नाम था । अगली कारिकामें कायिक, वाचिक तथा मानसिक रूपसे गुणोंके तीन भेद किए गए । फिर यहाँ तक उन 'वयः', 'सौन्दर्य', 'रूप' और 'मृदुता' नामक चारों कायिक गुणोंका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । इसके बाद वाचिक तथा मानसिक गुणोंके निरूपणका अवसर आता है । इनका निरूपण अधिक विस्तारके साथ न करके, अगली एक कारिकामें ही उनका सामान्य निर्देश करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

नायकके प्रकरणमें जो वाचिक तथा मानस गुण कहे गए हैं विद्वानों द्वारा वे ही यहाँ [उद्दीपनविभावोंके निरूपण-प्रसंगमें] उद्दीपन [विभाव] माने गए हैं ।१३४।

रासादि लीला तथा दुष्टोंका वध आदि चेष्टाएँ [कृष्णभक्ति की उद्दीपन विभाव] होती हैं ।१३५।

उनमेंसे रास [का वर्णन निम्न श्लोकमें किया गया है] जैसे—

हे कमल-नयन [पुण्डरीकाक्ष] ! नाचती हुई गोपियोंका आलिंगन किए हुए, जिनकी शोभाको रम्भा आदि काम-परवश होकर देख रही हैं इस प्रकारके लीला-नृत्यमें चतुर और

दुष्टवधो यथा ललितमाधवे—
शम्भुर्वृषं नयति मन्दरकन्दरान्तर्म्लानः सलीलमपि यत्र शिरो धुनाने।
आः कौतुकं कलय केलिलवादरिष्टं तन्दुष्टपुङ्गवमसौ हरिरुन्ममाथ ॥४०८॥
अथ प्रसाधनं—

कथितं वसनाकल्पमण्डनाद्यं प्रसाधनम्।

तत्र वसनम्—

नवार्करश्मिकाश्मीरहरितालादिसन्निभम् ॥१३६॥
युगं चतुष्कं भूयिष्ठं वसनं त्रिविधं हरेः।

तत्र युगं—

परिधानं ससंव्यानं युगरूपमुदीरितम् ॥१३७॥

यथा स्तवावल्यां मुकुन्दाष्टके—
कनकनिवहशोभानिन्दि पीतं नितम्बे, तदुपरिनवरक्तं वस्त्रमित्थं दधानः।
प्रियसखि! किल वर्णं रागयुक्तं प्रियायाः प्रणयतु मम नेत्राभीष्टपूर्तिं मुकुन्दः॥४०९॥
चतुष्कम्—

रासारम्भके आनन्दको चाहनेवाले आपकी माधुरी हमारे चित्तोंको हरण कर रही है। ४०७।

दुष्टबध [रूप चेष्टाका प्रतिपादन निम्न प्रकार किया गया है] जैसे—

जिस [अरिष्टासुरके लीलामें] अनायास [बिना विशेष प्रयोजनके] ही सिर हिलानेपर [उससे डर कर] शिव जी अपने नादियाको [उससे बचानेके लिए] पहाड़की गुफामें हांक ले जाते हैं, आः देखो तो कितने आश्चर्यकी बात है कि उस दुष्टराज अरिष्टासुर को इस कृष्णने खेल-खेलमें ही मार डाला।४०८।

[१६ उद्दीपन विभावोंमेंसे १ गुण तथा २ चेष्टारूप दो उद्दीपन-विभावोंका वर्णन समाप्त करके] अब प्रसाधन [रूप तीसरे उद्दीपन विभावको कहते हैं]—

वस्त्र-विन्यास और अलंकार आदिको 'प्रसाधन' कहते हैं।

उनमेंसे वस्त्र [का वर्णन आगे करते हैं]—

नवीन सूर्यकी किरणों, केसर और हरिताल आदिके समान [पीतवर्ण], और युग [जोड़ा] चौकड़ी [चतुष्क], तथा बहुत [भूयिष्ठ] तीन प्रकारका कृष्णका वस्त्र [कहा गया] है ॥१३६॥

उनमेंसे 'युग [जोड़ाका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

ऊपरका दुपट्टा [उत्तरीय रूप 'परिधान'] तथा नीचेकी धोती [संव्यान ये दोनों मिल कर] जोड़ा ['युग' रूप] कहलाते हैं।१३७।

जैसे 'स्तवावली' के मुकुन्दाष्टकमें [कृष्णके इस युगवस्त्रका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

हे सखि! [नीचे] नितम्बपर कनक-पिण्डके समान पीतवर्ण और उसके ऊपर नवीन रक्तवर्णके [उत्तरीय] वस्त्रको इस प्रकार धारण किए हुए कृष्ण अपनी प्रिया [राधा] के वर्णको रागयुक्त और मेरे नेत्रोंके अभीष्टकी पूर्ति करें।४०९।

चौकड़ी [चतुष्कमें कौन-कौन वस्त्र आते हैं यह बात आगे दिखलाते हैं]—

चतुष्कं कञ्चुकोष्णीष-तुन्दबन्धोत्तरीयकम् ।

यथा—

स्मेरास्यः परिहितपाटलाम्वरश्री—श्लक्ष्णाङ्गः पुरटरुचोरुकञ्चुकेन ।
उष्णीषं दधदरुणं धटीं च चित्रां, कंसारिर्वहति महोत्सवे मुदं नः ॥४१०॥

भूयिष्टम्—

खण्डिताखण्डितं भूरि नटवेषक्रियोचितम् ॥१३८॥
अनेकवर्णवसनं भूयिष्ठं कथितं बुधैः ।

यथा —

अखण्डितविखण्डितैः सितपिशङ्गनीलारुणैः
पटैः कृतयथोचितप्रकृतसन्निवेशोज्ज्वलैः ।
अयं कलभराट्प्रभः प्रचुररङ्गश्रृङ्गारितः
करोति करभोरु ! मे घनरुचिर्मुदं माधवः ॥४११॥

अथाकल्पः—

केशबन्धनमालेपो मालाचित्रविशेषकः ॥१३९॥

---

१ कुर्ता [कचुक], २ पगड़ी [उष्णीष]; ३ धोती [तुन्दबन्ध] और ४ दुपट्टा [उत्तरीय, ये चारों वस्त्र मिल कर 'चतुष्क' चौकड़ी कहलाते हैं ।

जैसे [कृष्णके इन चारों वस्त्रोंका वर्णन निम्न श्लोकमें किया गया है]—

मुस्कराते हुए, पीतवर्णके उत्तरीयको धारण किए हुए, [पुरट]स्वर्णके समान कान्ति वाले लम्बे कुर्तेसे शरीरको आच्छादित किए हुए, लाल पगड़ी बाँधे और नानावर्णकी धोती पहने कृष्ण हमें अत्यन्त सुन्दर मालूम होते हैं [अत्यन्त आनन्द दे रहे हैं] ।४१०।

भूयिष्ठ [वस्त्रका परिचय आगे देते हैं]—

नटके वेष तथा क्रियाके योग्य, खण्डित तथा अखण्डित अनेक वर्णके बहुतसे वस्त्रोंको मिला कर बनाए हुए वस्त्रको विद्वान लोग 'भूयिष्ठ' कहते हैं ।१३८ ।

जैसे [कृष्णके 'भूयिष्ठ' वस्त्रका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे करभोरु ! अखण्डित [पूरे] और कटे हुए [विखण्डित] सफेद पीले नीले और लाल वस्त्रोंसे बनाए हुए अवसरके अनुरूप यथोचित वेषसे मनोहर, अनेक रंगोंसे सुशोभित हाथीके बच्चेके समान, मेघश्यामल कृष्ण मुझे आनन्द प्रदान कर रहे हैं ।४११ ।

१ गुण, २ चेष्टारूप दो उद्दीपनोंका निरूपण करनेके बाद 'प्रसाधन' रूप तृतीय उद्दीपन विभावका निरूपण चल रहा है। इसमें भी 'वस्त्र' रूप प्रथम प्रसाधनका वर्णन यह समाप्त हो गया। अब 'आकल्प' रूप द्वितीय प्रसाधनका वर्णन करते हैं। 'आकल्प' का अर्थ बनावट है। केशादिकी बनावटका ग्रहण 'आकल्प' पदसे होता है। उसको ही आगे कहते हैं।

अब 'आकल्प' [बनावट रूप तृतीय प्रसाधनका वर्णन करते हैं]—

१ बालोंका बाँधना, २ अंगराग [इतर आदि लगाना], ३ माला, ४ चित्र, ५ तिलक, ६ पान, ७ लीला कमल, को 'आकल्प' कहा जाता है ॥ १३९ ॥

इन सात प्रकारके आकल्प, सजावटों या बनावटोंमें सर्वप्रथम केशविन्यास है। इसके

ताम्बूलकेलिपद्मादिराकल्पः परिकीर्त्तितः ।
स्याज्जूटः कबरी चूडा वेणी च कचबन्धनम् ।।१४०।।

पाण्डुरः कर्बुरः पीत इत्यालेपस्त्रिधा मतः ।
माला त्रिधा वैजयन्ती रत्नमाला वनस्रजः ।।१४१।।
अस्या वैकक्षकापीडप्रालम्बाद्या भिदा मताः ।
मकरीपत्रभङ्गाद्यं चित्रं पीतसितारुणम् ।।१४२।।
तथा विशेषकोऽपि स्यादन्यदूह्यं स्वयं बुधैः ।

यथा—

ताम्बूलस्फुरदाननेन्दुरमलं धम्मिल्लमुल्लासयन्
भक्तिच्छेदलसत्सुघृष्टघुसृणालेपश्रिया पेशलः ।
तुङ्गोरःस्थलपिङ्गलस्रगलिकभ्राजिष्णुपत्राङ्गलिः
श्यामाङ्गद्युतिरद्य मे सखि! दृशोर्दुग्धे मुदं माधवः ।।४१२।।

भी पाँच भेद होते हैं। इसी प्रकार 'आलेप' आदिके भी अनेक भेद होते हैं। इन भेदोंका निरूपण आगे करते हैं।

[उनमेंसे] केशबन्धन १ जूड़ा [जूटः घाटोपरि धम्मिलः], २ कबरी [कबरी पुष्पाविना केशावेशः], ३ चूड़ा [चूड़ा ऊर्ध्वबद्धाः कचाः] और ४ वेणी [वेणी पृष्ठभागे दीर्घतया केश-गुम्फनं, चार प्रकारका] केश-विन्यास होता है ।। १४० ।।

सफेद, चितकबरा और पीला तीन प्रकारका 'आलेप' होता है।

१ वैजयन्ती [पंचवर्णमयी जानुपर्यन्तलम्बिता च माला वैजयन्ती], २ रत्नोंकी माला और ३ वनमाला [पत्रपुष्पमयी पादपर्यन्तलम्बिता च माला बनमाला] तीन प्रकारकी माला होती है ।। १४१ ।।

इस [माला] के भी [यज्ञोपवीतके समान बाएं कन्धे के ऊपर तथा दाहिने हाथकी बगलके नीचेसे निकालकर पहनी गई माला] १ वैकक्ष, २ आपीड़ ['चूड़ावेष्टन माल्यमापीडः' चोटीमें लपेटनेवाली माला 'आपीड़' है] और ३ प्रालम्ब [कण्ठादृजुलम्बिमाल्यं प्रालम्बम् गलेमें सीधी पड़ी हुई माला 'प्रालम्ब' कहलाती है] इत्यादि इस [माला] के भेद माने गए हैं।

पीले, सफेद और लाल रंगके मकरी तथा पत्रभंगादि चित्र [कहलाते] हैं ।। १४१ ।।

इसी प्रकार [पीला, सफेद तथा लाल] तिलक [विशेषक] होता है। अन्य [ताम्बूल आदि आकल्पको] को विद्वान् लोग स्वयं समझ लें।

जैसे [कृष्णके समस्त आकल्पोंका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

पानसे जिनका मुख-चन्द्र शोभित हो रहा है, सुन्दर बालोंको काढ़े हुए, भली प्रकार घिसी हुई केसरके, अलग-अलग टुकड़ोंमें लेपनसे सुन्दर शोभावाले, ऊंचे वक्षःस्थलके ऊपर माला धारण किए हुए, ललाटपर पत्र रेखा धारण किए, श्यामल कान्तिवाले कृष्ण, हे सखि! आज मेरे नेत्रोंको [अत्यन्त] आनन्द प्रदान कर रहे हैं। ४१२।

अथ मण्डनम्—

किरीटं कुण्डले हारचतुष्कीवलयोर्म्मयः ॥१४३॥
केयूरनूपुराद्यं च रत्नमण्डनमुच्यते ।

यथा—

काञ्ची चित्रा मुकुटमतुलं कुण्डले हारिहीरे
हारस्तारो वलयममलं चन्द्रचारुश्चतुष्की ।
रम्या चोर्म्मिर्मधुरिमपुरे नूपुरे चेत्यघारे-
रङ्गै रेषाऽऽभरणपटलीं भूषिता दोग्धि भूषाम् ॥४१३॥

कुसुमादिकृतं चेदं वन्यमण्डनमीरितम् ॥१४४॥
धातुक्लृप्तं च तिलकं पत्रभङ्गलताऽऽदिकम् ।

अथ स्मितं—

यथा कर्णामृते—

अखण्डनिर्वाणरसप्रवाहैर्विखण्डिताशेषरसान्तराणि ।
अयन्त्रितोद्वान्तसुधाऽर्णवानि जयन्ति शीतानि तव स्मितानि ॥४१४॥

अङ्गसौरभं—

यथा—

परिमलसरिदेषा यद्वहन्ती समन्तात्
पुलकयति वपुर्नः काऽप्यपूर्वा मुनीनाम् ।

अब मण्डन [रूप प्रसाधनके चतुर्थ भेदका निरूपण करते हैं]—

१ मुकुट, २ कुण्डल, ३ हार, ४ चौकी, ५ कड़े-छड़े, [उर्म्मि], ६ बाजूबन्द, ७ बिछुए [नूपुर], आदि रत्नोंके आभूषण माने जाते हैं ॥ १४३ ॥

जैसे [कृष्णके रत्नाभरणका वर्णन निम्न श्लोकमें मिलता है]—

सुन्दर तगड़ी, अनुपम मुकुट, मनोहर हीरोंसे युक्त कुण्डल, चञ्चल हार, विशुद्ध स्वच्छ [वलय] बाजूबन्द, चन्द्रमाके समान सुन्दर चौकी, सुन्दर छड़े सौन्दर्यके आवासभूत नूपुर, कृष्णके अंगोंसे भूषित यह आभरणावली सौन्दर्यका दोहन कर रही है । ४१३ ।

पुष्पादिसे किया हुआ यह मण्डन वन्य-मण्डन कहलाता है ॥ १४४ ॥

और पत्रभंग लतादि [गैरिक आदि] धातुओंसे किए गए मण्डन होते हैं ।

इस प्रकार यहाँ तक १ गुण, २ चेष्टा, तथा ३ प्रसाधन रूप तीन उद्दीपन-विभावोंका वर्णन किया गया । अब स्मित रूप चतुर्थ उद्दीपन विभावका वर्णन आगे करते हैं ।

अब स्मित [का वर्णन करते हैं]—

जैसाकि 'कर्णामृत'में [कहा है]—

अखण्ड मोक्षानन्दको प्रवाहित करके, अन्य समस्त रसोंको खण्डित कर देनेवाला, अपरिमित सुधा-सागरको प्रवाहित करनेवाला तुम्हारा स्मित सर्वोत्कर्षशाली है । ४१४ ।

अब [पंचम उद्दीपन विभाव] अंगसौरभ [का वर्णन करते हैं]—

जैसे—

श्रीकृष्णके अंगराग [उपराग] में प्रवाहित होती हुई चारों ओर कोई अपूर्व सुगन्ध

मधुरिपुरुपरागे तद्विनोदाय मन्ये
कुरुभुवमनवद्यामोदसिन्धुर्विवेश ॥४१५॥

अथ वेशः—

ध्यानं बलात्परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमाणमधीरधर्म्मा ।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेष शंसन्
वंशध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ॥४१६॥

एष त्रिधा भवेद्वेणुर्मुरली वंशिकेत्यपि ॥१४५॥

तत्र वेणुः—

पाविकाख्यो भवेद्वेणुर्द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यभाक् ।
स्थौल्येऽङ्गुष्ठमितः षड्भिरेष रन्ध्रैः समन्वितः ॥१४६॥

मुरलीः—

हस्तद्वयमितायामा मुखरन्ध्रैसमन्विता ।
चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता मुरली चारुनादिनी ॥१४७॥

वंशी—

अर्द्धाङ्गुलान्तरोन्मानं तारादिविवराष्टकम् ।
ततः सार्द्धाङ्गुलाद्यत्र मुखरन्ध्रं तथाऽङ्गुलम् ॥१४८॥
शिरो वेदाङ्गुलं पुच्छं त्र्यङ्गुलं सा तु वंशिका ।
नवरन्ध्रा स्मृता सप्तदशाङ्गुलमिता बुधैः ॥१४९॥

की नदी हम मुनियोंके शरीरको भी पुलकित कर रही है। मालूम पड़ता है कि उनके विनोद के लिए सुन्दर आमोदका सागर ही कुरुक्षेत्रमें आ गया है। ४१५।

अब 'वेश' [नामक षष्ठ उद्दीपन विभावको कहते हैं]—

परमहंस योगियोंके समुदायकी समाधिको भी बलात् भंग करता हुआ, सुधाके माधुर्य को भी निन्दित करता हुआ, और कामदेवके शासनके भारको बार-बार सूचित करता हुआ, श्रीकृष्णका यह [अधीरधर्मा] चञ्चल बंशीध्वनि सर्वोत्कर्षशाली है। ४१६।

यह वेणु, मुरली और वंशिका नामसे तीन प्रकारकी होती है ॥ १४५ ॥

उनमें वेणु [का लक्षणादि इस प्रकार है]—

बारह अँगुल लम्बा, मोटाईमें अँगूठेके बराबर, छः छिद्रोंसे युक्त, यह 'पाविका' नाम का वेणु होता है ॥ १४६ ॥

मुरली [का लक्षण आदि निम्न प्रकार है]—

दो हाथ लम्बी, चार स्वरछिद्रोंसे युक्त, और मुखछिद्र सहित सुन्दर ध्वनि करनेवाली 'मुरली' कहलाती है ॥ १४७ ॥

वंशी [का लक्षणादि निम्न प्रकार है]—

आधे-आधे अँगुलके अन्तरसे तारा आदि [नामक] आठ छिद्रों और उसके बाद डेढ़

दशाङ्गुलान्तरा स्याच्चेत् सा तारमुखरन्ध्रयोः ।
महानन्देति विख्याता तथा संमोहनीति च ॥१५०॥
भवेत्सूर्य्यान्तरा सा चेत्तत आकर्षणी मता ।
आनन्दनी तदा वंशी भवेदिन्द्रान्तरा यदि ॥।१५१॥
गोपानां वल्लभा सेयं वंशुलीति च विश्रुता ।
क्रमान्मणिमयी हैमी वैणवीति त्रिधा च सा ॥१५२॥

अथ शृङ्गम्—

शृङ्गं तु गवलं हेमनिबद्धाग्रिमपश्चिमम् ।
रत्नजालस्फुरन्मध्यं मन्द्रघोषाभिधं स्मृतम् ॥१५३॥

यथा—

तारावलीवेणुभुजङ्गमेन तारावलीलागरलेन दष्टा ।
विषाणिकानादपयो निपीय विषाणि कामं द्विगुणी चकार ॥४१७॥

नूपुरं यथा—

अघमर्द्दनस्य सखि! नूपुरध्वनिं
निशमय्य संभृतगभीरसंभ्रमा ।

अंगुलके अन्तरपर एक अँगुलका मुखछिद्र, चार अँगुलके शिर और तीन अँगुलके पूंछवाली नौ छिद्रों और सत्रह अंगुलोंवाली वंशी [वेणु] को विद्वान् लोग 'वंशी' कहते हैं ॥ १४८-१४९ ॥

ताररन्ध्र [अर्थात् तारस्वरवाले प्रथम छिद्र] और मुखरन्ध्र [अर्थात् मुखके पासवाले छिद्र] में यदि दस अँगुलोंका अन्तर हो तो वह [वंशी] 'महानन्दा' तथा 'सम्मोहिनी' नामसे विख्यात होती है ॥ १५० ॥

वह वंशी यदि सूर्यान्तरा [अर्थात् १२ अंगुलके अन्तरवाली] हो तो 'आकर्षणी' कहलाती है, और यदि वही इन्द्रान्तरा [अर्थात् १४ अंगुलके अन्तरवाली] हो तो उसको 'आनन्दनी' कहा जाता है ॥ १५१ ॥

गोपोंमें और यादवोंमें इसीको बाँसुरी कहते हैं। वह क्रमशः १ मणिमयी, २ सुवर्णमयी और बांसकी [होनेसे] तीन प्रकारकी मानी गई है ॥ १५२ ॥

[इस प्रकार यहाँ तक ६ उद्दीपन-विभावोंका वर्णन हो गया] अब शृङ्ग [रूप सातवें उद्दीपन-विभावका वर्णन करते हैं]—

जिसके आगे, पीछे [दोनों सिरे] सोनेसे मढ़े हों और बीचमें रत्नोंसे जड़ा हो इस प्रकार जंगली भैंसेका सींग [गवलं वनमहिषशृङ्गम्] 'मन्दघोष' नामसे कहा जाता है।१५३। जैसे—

उच्च स्वर निकालनेमें जो अल्पप्रयत्न [तारस्योच्चध्वनेर्या 'वलीला' अल्पप्रयत्नः] वही जिसका विष है इस प्रकार वेणु रूप सर्पके द्वारा डसीगई तारावली [नामिका गोपी] ने [विषाणिका अर्थात्] शृङ्गके नाद रूप दूधको पीकर, हे शृङ्गधारी [विषाणि अर्थात् शृङ्गधारी] कृष्ण ! कामको द्विगुणित कर दिया [अर्थात् वेणुकी ध्वनिसे ही तारावली कामार्त्ता हो उठी थी उसपर शृङ्गकी ध्वनिने तो उसका बुरा हाल कर डाला है। ४१७।

नूपुर [रूप आठवें उद्दीपनका वर्णन] जैसे—

हे सखि ! [अघमर्दन] कृष्णके नूपुरोंकी ध्वनिको सुनकर अत्यन्त उत्सुक होकर उनके

अहमीक्षणोत्तरलिताऽपि नाभवं
वहिरद्य हन्त गुरवः पुरः स्थिता ॥४१८॥

कम्बुस्तु दक्षिणावर्त्तः पाञ्चजन्यतयोच्यते ।

यथा—

अमररिपुवधूटीभ्रूणहत्याविलासी
त्रिदिवपुरपुरन्ध्रीवृन्दनान्दीकरोऽयम् ।
भ्रमति भुवनमध्ये माधवाध्मातधाम्नः
कृतपुलककदम्बः कम्बुराजस्य नादः ॥४१६॥

पादाङ्को यथा दशमे—

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसंभ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाऽश्रुकुलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥४२०॥

यथा वा—

कलयत हरिरध्वना सखायः!
स्फुटममुना यमुनातटीमयासीत् ।
हरति पदततिर्यदक्षिणी मे
ध्वजकुलिशाङ्कुशपङ्कजाङ्कितेयम् ॥४२१॥

क्षेत्रं यथा—

हरिकेलिभुवां विलोकनं बत दूरेऽस्तु सुदुर्लभश्रियाम् ।
मथुरेत्यपि कर्णपद्धतिं प्रविशन्नाम मनो धिनोति नः ॥४२२॥

देखनेके लिए अधीर होनेपर भी आज मैं गुरुजनोंके सामने खड़े होनेके कारण [घरके] बाहर नहीं गई । ४१८ ।

[कृष्णका] दक्षिणावर्त शंख 'पांचजन्य' नामसे कहा जाता है ।

जैसे [शंखध्वनिका वर्णन निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

असुरोंकी स्त्रियोंका गर्भपात करानेवाला, और सुरलोककी स्त्रियोंकेलिए आनन्ददायक कृष्णके द्वारा जिसका प्रभाव बढ़ा दिया गया है इस प्रकारके शंखराज [पांचजन्य] का शब्द हमको पुलकित करता हुआ संसार भरमें घूम रहा है । ४१९ ।

[नवम उद्दीपन रूप] चरण-चिह्न [का वर्णन आगे करते हैं]—

उन [चरण-चिह्नों] को देखकर अत्यन्त आदरभाव बढ़ जानेसे, प्रेमसे रोमांचित और और आंखोंमें आंसू भरे हुए वह, रथसे उतरकर 'अहो ! यह भगवान्‌के चरणोंकी धूलि है' यह मानकर उनपर लोटने लगा । ४२० ।

अथवा जैसे [चरण-चिह्नोंका दूसरे प्रकारका वर्णन निम्न श्लोकमें किया गया है]—

हे मित्रो ! यह समझ लो कि कृष्ण निश्चय ही इस मार्गसे यमुनाके किनारेको गए हैं क्योंकि ध्वज, कुलिश, अंकुश और कमलोंसे अंकित यह चरण-चिह्नोंकी पंक्ति मेरी दृष्टिको हरण कर रही है । ४२१ ।

[दशम उद्दीपन] क्षेत्र, जैसे [निम्न श्लोकमें क्षेत्रका वर्णन किया गया है]—

अरे ! दुर्लभ सौन्दर्यवाली कृष्णकी केलिभूमियोंके दर्शनकी बात तो जाने दो केवल 'मथुरा' यह नाम भी कानमें पड़ते ही हमारे मनको आह्लादित कर देता है । ४२२ ।

तुलसी यथा बिल्वमङ्गले—

अयि पङ्कजनेत्रमौलिमाले ! तुलसीमञ्जरि ! किञ्चिदर्थयामि ।
अवबोधय पार्थसारथेस्त्वं चरणाब्जे शरणाभिलाषिणं माम् ॥४२३॥

भक्तो यथा चतुर्थे—

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करावभ्युद्यतः साध्वसविस्मृतक्रमः ।
ननाम नामानि गृणन् मधुद्विषः पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जली ॥४२४॥

यथा वा—

सुबल ! भुजभुजङ्गं न्यस्य तुङ्गे तवांसे
स्मितविलसदपाङ्गः प्राङ्गणे भ्राजमानः ।
नयनयुगमसिञ्चद्यः सुधावीचिभिर्नः
कथय स दयितस्ते क्वायमास्ते वयस्यः ॥४२५॥

तद्वासरो यथा—

अद्भुता बहवः सन्तु भगवत्पर्ववासराः ।
आमोदयति मां धन्या कृष्णा भाद्रपदाष्टमी ॥४२६॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-निरूपणे 'विभावलहरी' प्रथमा ॥ १ ॥

[ग्यारहवें उद्दीपन] तुलसी [का वर्णन] जैसे 'बिल्वमंगल'में [निम्न प्रकार किया है]—

हे कमल-नयन [कृष्ण] के मुकटकी माला रूपिणी तुलसि ! मैं तुमसे कुछ याचना करता हूँ कि तुम [पार्थसारथि] कृष्णके चरणोंमें शरण चाहनेवाले मेरे, नामको उनतक पहुँचा दो [यही तुमसे प्रार्थना है] [अर्थात् तुम कृपा करके कृष्णसे यह निवेदनकर दो कि मैं उनकी शरणमें आना चाहता हूँ] । ४२३ ।

[बारहवाँ उद्दीपन] 'भक्त' जैसे चतुर्थ [स्कन्धमें भक्तका वर्णन निम्न प्रकार किया है]—

वे दोनों [अर्थात् सुनन्द और नन्द 'उत्तमगाय' अर्थात्] कृष्णके सेवक हैं यह जानकर जल्दीमें [नामोंके जापके] क्रमको भूलकर ये दोनों कृष्णके प्रधान सेवक हैं इसलिए उनके आगे हाथ जोड़कर और [कृष्णके] नामोंका जाप करता हुआ [भक्तराज ध्रुव] उठ खड़ा हुआ । ४२४ ।

अथवा जैसे [भक्तका दूसरा वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

हे सुबल ! अपने भुजा रूप सर्पको तुम्हारे ऊँचे कन्धोंके ऊपर रखकर मुसकराहटसे जिसके नेत्रप्रान्त शोभित हो रहे हैं इस प्रकारके, और आंगनमें विराजमान, जिसने सुधाकी लहरियोंसे हमारे दोनों नेत्रोंको सींचा, वह तुम्हारा प्रिय मित्र अब कहाँ है । ४२५ ।

उनका 'दिवस' [रूप तेरहवाँ उद्दीपन विभाव आगे कहते हैं]—

भगवान्‌के उत्सवके बहुतसे अद्भुत दिवस भले ही रहें किन्तु भाद्रपदकी सौभाग्यशालिनी कृष्णजन्माष्टमी मुझको [सबसे अधिक] आनन्दित करती है । ४२६ ।

भक्तिरसामृतसिन्धुके सामान्य भक्तिरस निरूपण परक दक्षिणविभागमें प्रथम 'विभावलहरी' समाप्त हुई ।

द्वितीया अनुभावलहरी

अथानुभावाः—

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः ।
ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भासुराख्यया ॥१॥

नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम् ।
हुङ्कारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता ॥२॥

लालास्रवोऽट्टहासश्च घूर्णा हिक्काऽऽदयोऽपि च ।
ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथाऽर्थाख्या द्विधोदिताः ॥३॥

द्वितीया अनुभाव-लहरी

दक्षिणविभागकी प्रथम लहरीमें भक्तिरसके आलम्वन-विभाव तथा उद्दीपन-विभाव दोनों प्रकारके विभावोंका वर्णन किया गया था । अब इस द्वितीय लहरीमें भक्तिरसके अनु-भावोंका वर्णन आरम्भ करते हैं । 'अनु पश्चाद् भवन्तीति अनुभवाः' यह 'अनुभाव' पदकी व्युत्पत्ति है । इसके अनुसार रसोत्पत्तिके बाद होने वाले, उसके सूचक जो वाह्य लक्षण हैं उनको साहित्य शास्त्रमें 'अनुभाव' कहा गया है । यहाँ भक्तिको रसकी स्थितिमें प्रदान करनेके लिए इन अनुभावोंका निरूपण आवश्यक है । विभाव, अनुभाव आदि सामग्रीके विना रसकी निष्पत्ति सम्भव नहीं है । इसलिए ग्रन्थकारने इन सबका इतने विस्तारके साथ यहाँ विवेचन किया है । अनुभावोंके लिए यहाँ भक्तिशास्त्रमें 'उद्भासुर' शब्दका प्रयोग किया गया है । इस बातका संकेत ग्रन्थकार इस लहरीकी प्रथम कारिकामें ही करेंगे । प्रथम कारिकामें वे 'अनुभाव' का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

अब अनुभावों [के लक्षण आदि कहते हैं]—

'अनुभाव' तो चित्तमें स्थित [मुख्य] भावोंके बोधक होते हैं । वे प्रायः वाह्य विक्रिया रूप [होते हैं] और 'उद्भासुर' नामसे कहे गए हैं ।१।

अनुभावोंके नाम—

१ नाचना, २ लोटना, ३ गाना, ४ चिल्लाना, ५ देह मरोड़ना, ६ हुंकार करना, ७ जँभाई लेना, ८ प्रचुर श्वास या लम्बी साँसें भरना, ९ लोककी परवाह न करना, १० लार टपकाना, ११ अट्टहास करना, १२ चक्कर आना, १३ और हिचकी आना आदि भी [भक्ति रसके अनुभाव हैं] ॥२॥

अनुभावोंके दो भेद—

वे [अनुभाव] १ 'शीत' २ 'क्षेपण' इन अन्वर्थ नामोंसे दो प्रकारके कहे गए हैं । गाना और जम्भाई लेना आदि [आदि शब्दसे यहाँ श्वासभूमा, लोकानपेक्षिता तथा लाला-स्रावका भी ग्रहण करना चाहिए ये पाँच अनुभाव] 'शीत' होते हैं । और नृत्य आदि [शेष नौ अनुभाव] 'क्षेपण' नामसे कहे जाते हैं ॥३॥

शीताः स्युर्गीतजृम्भाऽऽद्या नृत्याद्याः क्षेपणाभिधाः ।

तत्र नृत्यं यथा—

मुरलीखुरलीसुधाकिरं हरिवक्त्रेन्दुमवेक्ष्य कम्पितः ।
गगने सगणे सडिण्डिमध्वनिभिस्ताण्डवमाश्रितो हरः ॥४२७॥

विलुठितं यथा तृतीये—

कच्चिद्बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांशुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्य्यः ॥४२८॥

यथा वा—

नवानुरागेण तवावशाङ्गी वनस्रगामोदमवाप्य मत्ता ।
व्रजाङ्गने सा कठिने लुठन्ती गात्रं सुगात्रा व्रणयाञ्चकार ॥४२९॥

गीतं यथा—

रागडम्वरकरम्वितचेताः कुर्वती तव नवं गुणगानम् ।
गोकुलेन्द्र ! कुरुते जलतां सा राधिकाऽद्य दृषदां सुहृदां च ॥४३०॥

१—उनमेंसे नृत्य [रूप अनुभावका उदाहरण आगे देते हैं]—

इस श्लोकमें मुरली पदसे 'मुरली' ध्वनिका और 'खुरली' पदसे उसके अभ्यासका ग्रहण होता है 'खुरली योग्या' इति त्रिकाण्डशेषः ।

बार-बार मुरली ध्वनिके अभ्यासरूप सुधाकी वृष्टि करनेवाले कृष्णके मुख चन्द्रको देखकर कांपते हुए शिवजी गणोंसे भरे हुए आकाशमें डमरू बजाते हुए नाचने लगे ।४२७।

२—लोटना जैसे—

[भागवतके] तृतीय [स्कन्धके निम्न श्लोक] में [कहा गया है]—

लाक्षागृह, विषदान, द्रौपदीका अपमान, पाण्डवोंका राज्यापहरण, आदि पाण्डवोंके साथ किए जानेवाले अनेक प्रकारके अन्यायोंका जब अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रके सामने विदुर विरोध किया तो दुर्योधनने उनको हस्तिनापुरसे निकलवा दिया । उसके बाद वे देशदेशान्तरोंमें घूमते हुए यमुना-तटपर उद्धवजीसे मिले हैं तब उन्होंने सब लोगोंका कुशल समाचार उद्धवजीसे पूछा था । उसी प्रसंगमें उन्होंने अक्रूरजीके कुशल-समाचार जाननेके लिए जो प्रश्न किया था उसी का वर्णन इस श्लोकमें पाया जाता है । उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

भगवान्‌के शरणागत निर्मल भक्त, बुद्धिमान् अक्रूरजी भी प्रसन्न हैं न ? जो श्रीकृष्ण जीके चरणचिह्नोंसे अंकित व्रजके मार्गकी रजमें प्रेमसे अधीर होकर लोटने लगे थे ।४२८।

अथवा जैसे [निम्न श्लोकमें विलुठनका वर्णन किया गया है]—

तुम्हारे नवीन प्रेमसे अवश देहवाली उस [गोपी] ने वनमालाकी सुगन्धिको पाकर कठोर व्रजभूमिमें लोट-लोटकर अपने शरीरको घायल कर डाला ।४२९।

३—गान [रूप अनुभावका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे गोकुलेन्द्र [कृष्ण] ! तुम्हारे प्रेमसागरसे भरे हुए चित्तवाली राधिका तुम्हारे अपूर्व गुणोंका गान करती हुई आज पत्थरोंको [जलके समान] द्रवीभूत और मित्रोंको किंकर्तव्य-विमूढ़ [जड़] बना रही है ।४३०।

क्रोशनं यथा—

हरिकीर्त्तनजातविक्रियः स विचुक्रोश तथाऽद्य नारदः ।
अचिरान्नरसिंहशङ्कया दनुजा येन धुता विलिल्यिरे ॥४३१॥

यथा वा—

उररीकृतकाकुराकुला कुररीव व्रजराजनन्दन ! ।
मुरलीतरलीकृतान्तरा मुहुराक्रोशदिहाद्य सुन्दरी ॥४३२॥

तनुमोटनं यथा—

कृष्णनामनि मुदोपवीणिते प्रीणिते मनसि वैणिको मुनिः ।
उद्भटं किमपि मोटयन् वपुस्त्रोटयत्यखिलयज्ञसूत्रकम् ॥४३३॥

हुङ्कारो यथा—

वैणवध्वनिभिरुद्धमद्धियः शंकरस्य दिवि हुङ्कृतिस्वनः ।
ध्वंसयन्नपि मुहुः स दानवं साधुवृन्दमकरोत्सदा नवम् ॥४३४॥

४—क्रोशन [का उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

आज हरिकीर्तनके समय आवेशमें आकर नारदजी ऐसे चिल्लाने लगे कि जिससे तुरन्त ही दानव-लोग नरसिंह [को आया हुआ] समझकर काँपते हुए भाग खड़े हुए ।४३१।

अथवा जैसे [इसी क्रोशनका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार हो सकता है]—

हे व्रजराज-नन्दन ! [कृष्ण तुम्हारी मुरलीके] शब्दको सुनकर [उररीकृतकाकुः] कुररी [पक्षी] के समान व्याकुल, वह सुन्दरी मुरलीध्वनिसे चंचल-चित्त होकर बार-बार चिल्लाने लगी ।४३२।

५—तनुमोटन [का उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें वर्णन किया है]—

वीणावादन करनेवाले [नारद] मुनि आनन्दसे कृष्णके नामोंका गान करनेके द्वारा मनके प्रसन्न होनेपर [सुनने वालोंके] शरीरको कुछ अद्भुत प्रकारसे मरोड़ते हुए सारे यज्ञोपवीतोंको तुड़वाए डालते हैं ।४३३।

६—हुंकार [रूप अनुभावका उदाहरण] जैसे—

वेणु की ध्वनिसे जिनकी बुद्धि चकरा गई है इस प्रकारके शंकरके आकाशमें व्याप्त हुंकारका वह [अपूर्व] शब्द दानवोंका विनाश करता हुआ भी साधु-समाजको सदा प्रसन्न [सदा नवं] करता था ।४३४।

यह उदाहरण भी भक्तिरसके अनुभावके रूपमें दिया गया है । पर उतना सुश्लिष्ट नहीं हो रहा है । इस श्लोकमें श्लेषानुप्राणित विरोधाभास अलंकार है ।

'स दानवं ध्वंसयन्नपि साधुवृन्दं-सदा नवं करोति' 'दानवका नाश करते हुए भी साधुवृन्दको दानव सहित करता है, यह दो विरुद्ध अर्थ इस श्लोकमें आपाततः प्रतीत होते हैं किन्तु विचार करनेपर दोनों अर्थोंके विरोधका परिहार हो जाता है ।

७—जृम्भण [रूप अनुभावका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

इस श्लोकमें श्लेषालंकार है । 'पद्मिनि', 'कुमुदवने' और 'जृम्भा' शब्द विशेष रूपसे श्लिष्ट है । पद्मिनीका एक अर्थ कमलिनी और दूसरा अर्थ पद्मिनी नायिका होता है । 'पद्मिनि' यह सम्बोधनका रूप है । एक पक्षमें यह श्लोक कमलिनीको सम्बोधन करके कहा गया है और

जृम्भणं यथा—

विस्तृतकुमुदवनेऽस्मिन्नुदयति पूर्णे कलानिधौ पुरतः।
तव पद्मिनी ! मुखपद्मं भजते जृम्भामहो चित्रम् ॥४३५॥

श्वासभूमा यथा—

दूसरे पक्षमें हस्तिनी, पद्मिनी आदि कामशास्त्रमें कही हुई पद्मिनी स्त्रीके लक्षणोंसे युक्त गोपीको सम्बोधन करके कहा गया है। 'कुमुदवने' शब्द भी श्लिष्ट है। उसका एक अर्थ तो सीधा-सादा कुमुदोंका वन होता है और दूसरा अर्थ कृष्णपरक होता है। इस दूसरे पक्षमें 'कोः पृथिव्याः मुदा अवनं पालनं येन सः कुमुदवनः तस्मिन् कुमुदवने' यह इस शब्दका विग्रह होता है और 'जगत्की रक्षा करने वाले कृष्ण' उसका अर्थ होता है। 'जृम्भा' शब्दके भी दो अर्थ हैं। एक जम्भाई और दूसरा विकास।

कृष्णचन्द्रको आता देखकर सुन्दरीको कामातुर होकर जम्भाई आने लगीं यह बात इस श्लोकका सारांश है। पर कविने श्रीकृष्ण के मुखपर चन्द्रमाका और सुन्दरीके ऊपर पद्मिनी अर्थात् कमलिनीका आरोप करके इसीं बातका वर्णन किया है और उसको एक आश्चर्यका विषय बना दिया है। चन्द्रमाका उदय कुमुदवनके विकासका कारण होता है किन्तु वही कमलोंके मुरझानेका कारण होता है। कमल दिनमें खिलते हैं और कुमुद रात्रिमें। कमलोंके विकासका कारण सूर्य है, और कुमुदोंका विकास चन्द्रमाको देखकर होता है। यहाँ सुन्दरी पद्मिनी अर्थात् कमलिनी है और कृष्णजीका मुख चन्द्रमा है। उस चन्द्रमाका उदय होनेपर पद्मिनीमें 'जृम्भा' अर्थात् विकास हो यह बात वास्तवमें आश्चर्यजनक है। चन्द्रोदयसे तो पद्मिनीका संकोच होना चाहिए। पर यहाँ विकास हो रहा है। इस प्रकार श्लेष द्वारा कविने इस साधारणसे अर्थमें अपूर्व चमत्कार पैदा कर दिया है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

हे पद्मिनि ! [पद्मिनीके नायिका स्त्री और कमलिनी दोनों अर्थ लेने हैं] इस कुमुद-वन में [दूसरे पक्षमें पृथिवीका आनन्द-पूर्वक पालन करने वाले] पूर्ण चन्द्रमा [दूसरे पक्षमें पूर्ण-चन्द्रमाके सदृश मुख वाले श्रीकृष्ण] का सामने उदय होनेपर [दूसरे पक्षमें कृष्णके आनेपर] तुम्हारा मुखकमल जृम्भा [अर्थात् विकासको दूसरे पक्षमें जम्भाईको] प्राप्त कर रहा है यह बात बड़ी आश्चर्य-जनक है।४३५।

८—श्वास-बाहुल्य [रूप अनुभावका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोक में दिया है]—

यह श्लोक भी पिछले श्लोकके समान तनिक जटिल-सा श्लोक है। इसे मुख्य रूपसे श्वासाधिक्यके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है। अतः उसका मुख्य तत्त्व ललिता-सखीके निःश्वासोंका वर्णन है। पर कवि ने उस ललिता सखीपर चातकीका आरोप कर दिया है। इससे वर्णनमें थोड़ी जटिलता आ गई है। चातकी केवल स्वाति नक्षत्रमें आकाशसे बरसने वाले पानी को पीती है अन्य कोई पानी ग्रहण नहीं करती, ऐसी कविजनोंकी प्रसिद्धि है। स्वाति नक्षत्रमें भयंकर कृष्णवर्णके बादल नहीं बरसते हैं किन्तु हलके नानारंग वाले बादल बरसते हैं। उन बादलोंको देख कर ही चातकीकी तृष्णा जागृत हो उठती है। कृष्णके वस्त्रोंमें पिछली लहरीमें 'भूयिष्ठ' नामसे नाना वर्णके चित्रपटोंका भी वर्णन किया गया था। इस चित्रपट शब्दका प्रयोग इस श्लोकमें भी किया गया है। यहाँ उसका अभिप्राय यह है कि चित्रपटके समान अथवा चित्रपट-धारी कृष्णरूप मेघके उपस्थित होनेपर ललितासखी रूप चातकीके भीतर उनके

उपस्थिते चित्रपटाम्बुदागमे विवृद्धतृष्णा ललिताऽऽख्यचातकी।
निश्वासझञ्झामरुताऽपवाहितं कृष्णाम्बुदाकारमवेक्ष्य चुक्षुभे ॥४३६॥

लोकानपेक्षिता यथा श्रीदशमे—

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ॥४३७॥

यथा वा पद्यावल्यां—

परिवदतु जनो यथा तथाऽयं ननु मुखरो न वयं विचारयामः।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता भुवि विलुठाम नटाम निर्विशाम ॥४३८॥

लालास्रवो यथा—

शङ्के प्रेमभुजङ्गेन दष्टः कष्टं गतो मुनिः।
निश्चलस्य यदेतस्य लाला स्रवति वक्त्रतः ॥४३९॥

सम्भोगकी तृष्णा उत्पन्न हुई। इस कामतृष्णाके कारण उसमें दीर्घनिःश्वास कौर अश्रु आदि अनुभाव प्रकट हुए। इन निःश्वास और अश्रुओंने मिलकर झंझावात अर्थात् सवृष्टिक वात का रूप धारण कर लिया। झंझावात प्रायः मेघोंको उड़ा देता है। इधर आँसुओं और निःश्वासोंने मिलकर ललिता सखीके कृष्णदर्शनमें बाधा उपस्थित कर दी। यह कृष्णको भली प्रकार देख नहीं पा रही थी। मानो उस झंझावातने आए हुए कृष्णरूप मेघको फिर उड़ा दिया हो। इसीलिए ललिता सखी मानो उनको नहीं देख पा रही है। जैसे झंझावातमें मेघोंके उड़ जानेपर चातकीकी तृष्णा नहीं बुझ पाती है वह प्यासी ही रह जाती है। इसी प्रकार ललिता-सखीकी तृष्णा शान्त न हो सकीं यह इस श्लोकका भाव है। अक्षरार्थ निम्न प्रकार है—

चित्रपट [के समान और चित्रपट] वाले मेघ [अर्थात् कृष्ण] के उपस्थित होनेपर [अर्थात् कृष्णको देखकर] जिसकी [सम्भोग-] तृष्णा उद्दीप्त हो गई है इस प्रकारकी ललिता-सखी रूप चातकी [उसके अनुभाव रूप] निःश्वासके [और उनके मिश्रणसे बने] झंझावातके द्वारा कृष्णमेघको अदृश्य कर दिए जानेके कारण [अर्थात् कृष्णका दर्शन करनेमें असमर्थ हो जानेसे] क्षुब्ध हो गई।४३६।

९—लोककी पर्वाह न करना [रूप अनुभावका उदाहरण] जैसे [भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

अहो जगद्गुरु कृष्णके प्रति स्त्रियोंके अपार प्रेमको तो देखो कि जिसने गृह नामक मृत्युपाशको भी तोड़ डाला [अर्थात् स्त्रियाँ घर-बारकी भी चिन्ता न करके कृष्णके पीछे दीवानी बनी घूमती हैं]।४३७।

अथवा जैसे पद्यावलीमें [इसका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार दिया गया है]—

संसारके लोग जो चाहें सो कहें वे तो वाचाल हैं, हम उनकी चिन्ता नहीं करती हैं। कृष्णके प्रेम रसकी मदिरा पीकर मत्त हुई हम [कभी] पृथिवीपर लोटती हैं [कभी] नाचती हैं और [कृष्णका खूब] भोग करती हैं।४३८।

१०—[दशम अनुभाव] लालास्राव [का उदाहरण] जैसे—

जान पड़ता है कि [कृष्णके] प्रेम रूप सर्पके द्वारा डसा गया यह मुनि, इस बुरी अवस्था [कष्टं] को प्राप्त हुआ है क्योंकि यह निश्चल पड़ा है और इसके मुखसे लार टपक

अट्टहासः—

हासाद्भिन्नोऽट्टहासोऽयं चित्तविक्षेपसम्भवः ॥४॥

यथा—

शङ्के चिरं केशवकिङ्करस्य चेतस्तटे भक्तिलता प्रफुल्ला ।
येनाधितुण्डस्थलमट्टहासप्रसूनपुञ्जाश्चटुलं स्खलन्ति ॥४४०॥

घूर्णा यथा—

ध्रुवमघरिपुरादधाति वात्यां ननु मुरलि ! त्वयि फूत्कृतिच्छलेन ।
किमयमितरथा ध्वनिर्विघूर्णन् सखि ! तव घूर्णयति व्रजाम्बुजाक्षीः ॥४४१॥

हिक्का यथा—

न पुत्रि ! रचयौषधं विसृज रोदमत्युद्धतं
मुधा प्रियसखीं प्रति त्वमशिवं किमाशङ्कसे ।
हरिप्रणयविक्रियाऽऽकुलतया ब्रुवाणा मुहु-
र्वराक्षि ! हरिरित्यसौ वितनुतेऽद्य हिक्काभरम् ॥४४२॥

रही है [ये दोनों सर्प-दष्ट व्यक्तिके लक्षण हैं] ।४३९।

११—अट्टहास [रूप ११वें अनुभावका लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार है]—

चित्त-विक्षेपसे होनेवाला अट्टहास, हाससे भिन्न प्रकारका होता है ।।४।।

जान पड़ता है कि कृष्णके इस पुराने सेवकके चित्तके भीतर भक्तिलता खिल रही है जिसके कारण इसके मुखके ऊपर अट्टहास रूप पुष्पोंका समुदाय बार-बार गिर रहा है ।४४०।

१२—घूर्ण [रूप बारहवें अनुभावका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे मुरलि सखि ! जान पड़ता है कि कृष्ण तुम्हारे भीतर फूंक मारनेके बहाने आंधी का प्रवेश करा देते हैं अन्यथा हे सखि ! तुम्हारा यह शब्द घूमता हुआ व्रजवनिताओंको चक्कर क्यों खिलाता है ।४४१।

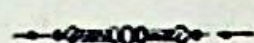
१३—हिचकी [रूप तेरहवें अनुभावका उदाहरण] जैसे [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

हे पुत्रि ! [हिक्कासे गृहीत अपनी इस सखीकी] औषधि करनेकी आवश्यकता नहीं है प्रिय सखीके विषयमें [उसको हिचकी आती देखकर] तुम व्यर्थ उसके अनिष्टकी आशंका क्यों करती हो ? हे सुनेत्रे ! यह तो कृष्णके प्रेमके [हिक्का रूप] विकारसे व्याकुल होकर बार-बार कृष्णका नाम लेते हुए हिचकी-पर-हिचकी ले रही है ।४४२।

इसका अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्णप्रेमके अनुभाव रूप हिक्कासे ग्रस्त किसी सुन्दरी की सखीने जब यह देखा कि इसको निरी हिचकी आ रही है और यह बार-बार भगवान्का नाम ले रही है तो उसने समझा कि इसका अन्तिम काल आ गया है । इन हिचकियोंसे अब इसका प्राण नहीं बचेगा । इसीलिए अन्तिम समयमें यह भगवान्का नाम ले रही है । ऐसा समझकर वह उसकी औषधि आदिकी व्यवस्था करने लगी । तब उसकी माताने उसको बतलाया कि हे पुत्रि ! यह हिक्का, हिक्का रोगके कारण नहीं आ रही है और न यह अपना अन्तिम समय समझकर भगवान्का नाम ले रही है । अपितु ये हिक्काएँ कृष्णके प्रेमातिशयके

वपुरुत्फुल्लतारक्तोद्गमाद्याः स्युः परेऽपि ये ।
अतीव विरलत्वात्ते नैवात्र परिकीर्त्तिताः ।।५।।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरस-
सामान्यनिरूपणेऽनुभावलहरी ।।२।।



अथ दक्षिणविभागे तृतीया सात्त्विकभावलहरी

अथ सात्त्विकाः—

कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात्किञ्चिद्वा व्यवधानतः ।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ।।१।।

अनुभाव रूपमें प्रकट हो रही है और यह जो वार-वार कृष्णका नाम ले रही है वह भी उसी प्रेमातिशयका सूचक है । अत एव न तो इसके लिए औषधि आदिकी व्यवस्था करनेकी आवश्यकता है और न उसके विषयमें किसी प्रकारके अनिष्ट-चिन्तनकी आवश्यकता है ।

इस प्रकार यहाँ तक भक्ति या प्रेमके मुख्य १३ अनुभावोंको उदाहरणों सहित वर्णन कर दिया गया है । इसके अतिरिक्त शरीरका फूल जाना और रक्त निकलने लगना आदि कुछ अन्य अनुभाव हो सकते हैं । किन्तु वे बहुत कम देखे जाते हैं इसलिए उनका वर्णन नहीं किया है । इस बातको अगली कारिकामें लिखकर ग्रन्थकार अनुभाव-निरूपण-विषयक इस द्वितीया लहरीको समाप्त करते हैं—

शरीरका फूल जाना और रक्तका निकलना आदि अन्य भी जो [अनुभाव] होते हैं वे अत्यन्त कम पाए जाते हैं इसलिए यहां उनको नहीं दिखलाया है ।।५।।

दुर्गमसंगमनीकारने 'वपुरुत्फुल्लता' को रोमांचका अतिशय और रक्तोदगमको स्वेदातिशयका रूप माना है ।

भक्तिरसामृतसिन्धुके सामान्य भक्तिरस-निरूपणपरक दक्षिण विभागमें
द्वितीया 'अनुभावलहरी' समाप्त हुई ।



भक्तिरस सामान्य निरूपणपरक दक्षिणविभागे तृतीया सात्त्विकभावलहरी

दक्षिणविभावकी प्रथम लहरीमें भक्तिरसके 'विभावों' का और द्वितीय लहरीमें 'अनुभावों' का वर्णन करनेके बाद अब इस तृतीय लहरीमें 'सात्त्विकभावों' का वर्णन प्रारम्भ करते हैं । उसमें भी पहले 'सात्त्विक' पदका निर्वचन करते हैं—

साक्षात् अथवा कुछ थोड़े व्यवधानसे कृष्ण-सम्बन्धी भावोंसे आक्रान्त चित्तको विद्वान् लोग 'सत्त्व' कहते हैं ।। १ ।।

सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः ।
स्निग्धा दिग्धास्तथा रूक्षा इत्यमी त्रिविधा मताः ॥२॥

तत्र स्निग्धाः—

स्निग्धास्तु सात्त्विका मुख्या गौणाश्चेति द्विधा मताः ।

तत्र मुख्याः—

आक्रमान्मुख्यया रत्या मुख्याः स्युः सात्त्विका अमी ॥३॥
विज्ञेयः कृष्णसम्बन्धः साक्षादेवात्र सूरिभिः ।

यथा—

कुन्दैर्मुकुन्दाय मुदा सृजन्ती स्रजं वरां कुन्दविडम्बिदन्ती ।
बभूव गान्धर्वरसेन वेणोर्गान्धर्विका स्पन्दनशून्यगात्री ॥४४३॥

मुख्यः स्तम्भोऽयमित्थं ते ज्ञेयाः स्वेदादयोऽपि च ॥४॥

अथ गौणाः—

रत्याऽऽक्रमणतः प्रोक्ता गौणास्ते गौणभूतया ।
अत्र कृष्णस्य सम्बन्धः स्यात् किञ्चिद्व्यवधानतः ॥५॥

यथा—

इस सत्त्व [अर्थात् कृष्ण-सम्बन्धी भावोंसे आक्रान्त चित्त] से जो भाव उत्पन्न होते हैं [सत्त्वसे उत्पन्न होनेके कारण] उनको 'सात्त्विक' [भाव] कहा जाता है। वे और १ स्निग्ध, २ दिग्ध तथा ३ रूक्ष इस प्रकार तीन तरहके होते हैं ॥ २ ॥

उनमेंसे 'स्निग्ध' [सात्त्विकभावका लक्षण निम्न प्रकार है]—

स्निग्ध सात्त्विकभाव मुख्य एवं गौण भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

उनमेंसे मुख्य [स्निग्ध सात्त्विकभावका लक्षण निम्न प्रकार है]—

मुख्या [अर्थात् साक्षात् रूपसे कृष्ण सम्बन्धिनी] रतिसे आक्रान्त ये सात्त्विकभाव मुख्य [स्निग्ध सात्त्विकभाव] होते हैं। और इनमें कृष्णका सम्बन्ध साक्षात् रूपसे ही होता है [व्यवधानतः नहीं] यह विद्वानोंको समझना चाहिए ॥ ३ ॥

जैसे [मुख्य सात्त्विकभावका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

कुन्दकलीके समान [सुन्दर] दाँतोंवाली वह, कृष्णकेलिए कुन्दपुष्पोंकी सुन्दर माला बनाते हुए [कृष्णकी] बाँसुरीके उस [अद्भुत आकर्षक] शब्द [के सुनने] से निश्चल देहवाली होकर [किसी भूत-प्रेत रूप गन्धर्वसे आक्रान्त] गन्धर्विका ही बन गई। ४४३।

यह मुख्य स्तम्भ [रूप सात्त्विकभावरूपका उदाहरण] है। इसी प्रकार उन [अर्थात् मुख्य] स्वेदादि [रूप सात्त्विकभावों] को भी समझ लेना चाहिए ॥ ४ ॥

अब गौण [सात्त्विकभावोंको कहते हैं]—

गौणभूत [अर्थात् व्यवधानतः होनेवाली] रतिसे आक्रान्त होनेपर वे गौण [सात्त्विक-भाव] कहलाते हैं। इनमें कृष्णका सम्बन्ध कुछ व्यवधानसे होता है ॥ ५ ॥

जैसे—

स्वविलोचनचातकाम्बुदे पुरि नीते पुरुषोत्तमे पुरा ।
अतिताम्रमुखी सगद्गदं नृपमाक्रोशति गोकुलेश्वरी ॥४४४॥
इमौ गौणौ वैवर्ण्यस्वरभेदौ ।

अथ दिग्धाः—

रतिद्वयविनाभूतैर्भावैर्मनस आक्रमात् ।
जने जातरतौ दिग्धास्ते चेद्रत्यनुगामिनः ॥६॥

यथा—

पूतनामिह निशाम्य निशायां सा निशान्तलुठदुद्भवगात्री ।
कम्पिताङ्गलतिका व्रजराज्ञी पुत्रमाकुलमतिर्विचिनोति ॥४४५॥

कम्पो रत्यनुगामित्वादसौ दिग्ध इतीर्य्यते ।

अथ रूक्षाः—

मधुराश्चर्य्यतद्वार्त्तोत्पन्नैर्मुद्विस्मयादिभिः ॥७॥
जाता भक्तोपमे रूक्षा रतिशून्ये जने क्वचित् ।

यथा—

भोगैकसाधनजुषा रतिगन्धशून्यं स्वं चेष्टया हृदयमत्र विवृण्वतोऽपि ।
उल्लासिनः सपदि माधवकेलिगीतैस्तस्याङ्गमुत्पुलकितं मधुरैस्तदाऽऽसीत् ॥४४६॥

अपने नेत्र रूप चातकके लिए मेघके समान कृष्णको [गोकुलसे] मथुरा नगरीको ले जानेपर [क्रोधके कारण] अत्यन्त लाल-लाल मुख करके गोकुलकी रानी [यशोदा], राजा नन्द पर चिल्लाती है ॥ ४४४ ॥

यहाँ वैवर्ण्य तथा स्वरभेद दोनों गौण [सात्त्विकभाव] हैं ।

अब 'दिग्ध' [सात्त्विकभावोंको कहते हैं]—

[मुख्य तथा गौण] दोनों प्रकारकी रतिके बिना होनेवाले भावोंसे मनके आक्रान्त होने पर मनुष्यके रतियुक्त हो जानेसे यदि वे रतिके अनुगामी [भाव] हों तो वे 'दिग्ध' [सात्त्विक-भाव कहलाते] हैं ॥ ६ ॥

जैसे—

रात्रिमें पूतनाकी बात सुनकर व्रजरानी [यशोदा] कम्पित देह और व्याकुलमति होकर [घबड़ाकर] पुत्रको खोजने लगती है । ४४५ ।

रति [अर्थात् कृष्ण-प्रेम]का अनुगामी होनेसे यह कम्प दिग्ध [सात्त्विकभाव] है ।

अब रूक्ष [सात्त्विभावोंका वर्णन करते हैं]—

कृष्णकी मधुर और आश्चर्यजनक बातोंको सुननेसे उत्पन्न होनेवाले आनन्द और विस्मय आदिके कारण भक्त-सदृश [किन्तु] रतिशून्य पुरुषमें कहीं-कहीं उत्पन्न होनेवाले [रोमांचादि भाव] रूक्ष [सात्त्विकभाव कहलाते] हैं ॥ ७ ॥

जैसे—

केवल भोगके साधनोंमें लगे हुए, इसलिए अपनी चेष्टाओंके द्वारा अपने हृदयको रतिकी गन्धसे रहित सूचित करनेवाले, उसका, शरीर भी मधुर एवं आनन्ददायक कृष्णके केलि-गीतों

रूक्ष एष रोमाञ्चः—

चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम् ॥८॥
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम् ।
तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी ॥९॥
ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥१०॥
चत्वारि क्ष्माऽऽदिभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते ।
कदाचित्स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः ॥११॥
स्तम्भं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रु जलाश्रयः ।
तेजस्थः स्वेदवैवर्ण्ये प्रलयं वियदाश्रितः ॥१२॥
स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक् ।
रोमाञ्चकम्पवैस्वर्य्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ ॥१३॥
बहिरन्तश्च विक्षोभविधायित्वादतः स्फुटम् ।
प्रोक्ताऽनुभावताऽमीषां भावता च मनीषिभिः ॥१४॥

को सुनते ही उस समय तुरन्त ही रोमांचित हो उठा । ४४६ ।

यह रूक्ष रोमांच [रूप सात्त्विकभावका उदाहरण] है ।

सात्त्विकभावोंकी उत्पत्तिके प्रकार—

अ—सत्त्वप्रधान हुआ चित्त, अपनेको बलपूर्वक प्राणोंके साथ संयुक्त करता है ॥८॥

ब—[चित्तके वेगके कारण] विकारको प्राप्त होकर प्राण शरीरको अत्यन्त विक्षुब्ध कर देता है । तब भक्तके शरीरमें [स्तम्भ आदि रूप] ये सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं ॥९॥

वे १ स्तम्भ, २ स्वेद, ३ रोमांच, ४ स्वरभेद, ५ कम्पन, ६ विवर्णता, ७ आँसू आना तथा ८ मूर्च्छा ये आठ सात्त्विकभाव कहलाते हैं ॥ १० ॥

प्राण कभी [आकाश को छोड़कर] पृथिवी आदि चारों भूतोंका अवलम्बन करता है । कभी स्वयं प्रधान [स्वतन्त्र] रूपसे देहमें सर्वत्र विचरण करता है ॥ ११ ॥

[इस विविध प्रकारकी गतिमें] पृथिवीमें स्थित प्राण 'स्तम्भ' को उत्पन्न करता है । जलाश्रित हुआ प्राण 'अश्रु', अग्निमें स्थित 'स्वेद' तथा 'विवर्णता' को और आकाशमें आश्रित प्राण 'मूर्च्छा' उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

स्वयं अपनेमें स्वतन्त्र रूपसे स्थित अपने मन्द, मध्य तथा तीव्रत्व भेदके कारण क्रमशः रोमांच, कम्प तथा [वैस्वर्य] स्वरभेद इन तीनको उत्पन्न करता है ॥ १३ ॥

इसीलिए बाहर तथा भीतर दोनों जगह विक्षोभजनक होनेसे विद्वानोंने इनको अनुभाव तथा सात्त्विकभाव दोनों रूपमें माना है । [बाह्य रूपमें प्रकट होनेपर इनको 'अनुभाव' कहा जाता है और अन्तर रूपमें स्थित होनेपर इन्हींको 'सात्त्विकभाव' कहा जाता है यह अभिप्राय है] ॥ १४ ॥

तत्र स्तम्भः—

स्तम्भो हर्षभयाश्चर्य्यविषादामर्षसम्भवः ।
तत्र वागादिराहित्यं नैश्चल्यं शून्यताऽऽदयः ॥१५॥

तत्र हर्षाद्यथा तृतीये—

यस्यानुरागप्लुतहासरासलीलाऽवलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥४४७॥

भयाद्यथा—

गिरिसन्निभमल्लचक्ररुद्धं पुरतः प्राणपरार्द्धतः परार्घ्यम् ।
तनयं जननी समीक्ष्य शुष्यन्नयना हन्त बभूव निश्चलाङ्गी ॥४४८॥

आश्चर्य्याद् यथा दशमे—

ततोऽतिकुतकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाऽभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥४४६॥

यथा वा—

शिशोः श्यामस्य पश्यन्ती शैलमभ्रंलिहं करे ।
तत्र चित्रार्पितेवासीद्गोष्ठी गोष्ठिनिवासनाम् ॥४५०॥

विषादाद्यथा—

वकसोदरदानवोदरे पुरतः प्रेक्ष्य विशन्तमच्युतम् ।
दिविषन्निकरो विषण्णधीः प्रकटं चित्रपटायते दिवि ॥४५१॥

उनमेंसे 'स्तम्भ' [रूप सात्त्विकभावका लक्षण निम्न प्रकार है]—

१ हर्ष, २ भय, ३ आश्चर्य, ४ विषाद, और ५ क्रोधसे स्तम्भ उत्पन्न होता है उसमें वाणी आदिका अभाव, निश्चलता और शून्यता आदि हो जाती है ॥ १५ ॥

१—(क) उनमेंसे हर्षसे [स्तम्भका उदाहरण] जैसे [भागवत्के] तृतीय [स्कन्ध]में—

जिनके अनुराग-भरे हास तथा रास को देखकर मानिनी [अपनेको भाग्यशालिनी समझनेवाली] गोपियाँ, नेत्रोंसे सम्भोगाभिलाषको व्यक्त करती हुई भी उसे कार्यान्वित नहीं कर पाईं थीं। ४४७ ।

(ख) भयके कारण [स्तम्भका उदाहरण] जैसे—

पर्वतके समान मल्लसमूहके द्वारा सामने, अपने अनन्त प्राणोंसे भी अधिक प्रियपुत्र कृष्णको घिरा हुआ देखकर माता [यशोदा] शुष्क नेत्र और निश्चलांगी हो गई । ४४८ ।

(ग) आश्चर्यके कारण [स्तम्भका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

[अपने द्वारा चुराए हुए बछड़ोंको फिर कृष्णजीके पास देखकर] अत्यन्त आश्चर्यसे ब्रह्माकी सारी इन्द्रियाँ स्तब्ध रह गईं, और वे [पूर्देवी] नगराधि देवताके [अन्वि] सामने पुतलीके समान चुप खड़े रह गए । [श्रीधरी टीका] ॥४४६॥

अथवा जैसे—

उस समय बालक कृष्णके हाथमें गगनचुम्बी [गोवर्धन] पर्वतको देखकर गोवर्धनमें रहनेवाला जनसमुदाय चित्रार्पित-सा रह गया । ४५० ।

(घ) विषादके कारण [स्तम्भका उदाहरण] जैसे—

बगुलेके समान आकारवाले दानवके पेटमें कृष्णको घुसता हुआ सामने देखकर आकाश में देवगण दुःखी होकर चित्रपटके समान [स्तम्भित] हो गए । ४५१ ।

अमर्षाद्यथा—

कर्त्तुमिच्छति मुरद्विपे पुरः पत्रिमोक्षमकृपे कृपीसुते ।
सत्वरोऽपि रिपुनिष्क्रये रुषा निष्क्रियः क्षणमभूत्कपिध्वजः ॥४५२॥

अथ स्वेदः—

स्वेदो हर्षभयक्रोधादिजः स्वेदकरस्तनौ ।

तत्र हर्षाद्यथा—

किमत्र सूर्य्यातपमाक्षिपन्ती मुग्धाक्षि ! चातुर्य्यमुरीकरोषि ।
ज्ञातं पुरः प्रेक्ष्य सरोरुहाक्षं स्विन्नाऽसि भिन्ना कुसुमायुधेन ॥४५३॥

भयाद्यथा—

कुतुकादभिमन्युवेषिणं हरिमाक्रुश्य गिरा प्रगल्भया ।
विदिताकृतिराकुलः क्षणादजनि स्विन्नतनुः स रक्तकः ॥४५४॥

क्रोधाद्यथा—

यज्ञभङ्गादतिवृष्टिकारिणं समीक्ष्य शक्रं सरुषो गरुत्मतः ।
घनोपरिष्टादपि तिष्ठतस्तदा निपेतुरङ्गाद् घननीरबिन्दवः ॥४५५॥

अथ रोमाञ्चः—

(ङ) क्रोधके कारण [स्तम्भका उदाहरण] जैसे—

सामने निष्ठुर [कृपाचार्यकी बहिन, द्रोणाचार्यकी पत्नी और अश्वत्थामाकी माताका नाम कृपी था। उसका पुत्र अर्थात्] अश्वत्थामाको कृष्णके ऊपर बाण प्रहारकेलिए उद्यत देखकर शत्रुसे बदला लेनेमें तीव्र गतिवाला भी अर्जुन क्रोधके कारण क्षणभरकेलिए क्रियाशून्य सा हो गया। ४५२।

२—अब स्वेद [रूप दूसरे सात्त्विकभावका वर्णन करते हैं]—

हर्ष, भय, क्रोध आदिसे उत्पन्न स्वेद [रूप आन्तरिक सात्त्विकभाव बाह्य अनुभावोंके रूपमें] शरीरमें पसीना उत्पन्न कर देता है।

(क) उनमें हर्षसे [उत्पन्न 'स्वेद' का उदाहरण] जैसे—

हे मुग्धाक्षि ! धूपकी [तेजीकी] निन्दा करके अपनी चतुराई क्यों प्रकट कर रही हो। सामने कमलनेत्र [कृष्ण] को देखकर काम-पीड़ित होकर पसीना-पसीना हो रही हो इस बात को हम ताड़ गई है। ४५३।

(ख) भयके कारण [स्वेदका उदाहरण] जैसे—

रक्तक [नामक कृष्णका सेवक] खेल-खेलमें अभिमन्यु [नामक कृष्णके दूसरे सेवक]का वेष रख लेनेवाले कृष्णको अत्यन्त कठोर शब्दोंमें फटकारकर फिर तनिक देरमें ही उनको पहिचानकर [भयके कारण] घबड़ाकर पसीने-पसीने हो गया। ४५४।

(ग) क्रोधके कारण [उत्पन्न स्वेदका उदाहरण] जैसे—

यज्ञके भंग हो जानेके कारण अतिवृष्टि करनेवाले इन्द्रको देखकर मेघोंके भी ऊपर स्थित क्रुद्ध हुए गरुड़के शरीरसे तेजीसे पसीनेकी बूंदें टपकने लगीं। ४५५।

३—अब रोमांच [नामक तीसरे सात्त्विकभावका वर्णन करते हैं]—

रोमाञ्चोऽयं किलाश्चर्य्यहर्षोत्साहभयादिजः ॥१६॥
रोम्णामभ्युद्गमस्तत्र गात्रसंस्पर्शनादयः ।

तत्राश्चर्य्याद्यथा—

डिम्भस्य जृम्भां भजतस्त्रिलोकीं विलोक्य वैलक्ष्यवती मुखान्तः ।
बभूव गोष्ठेन्द्रकुटुम्बिनीयं तनूरुहैः कुड्मलिताङ्गयष्टिः ॥४५६॥

हर्षाद्यथा श्रीदशमे—

किं ते कृतं क्षिति ! तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥४५७॥

उत्साहाद्यथा—

शृङ्गे केलिरणारम्भे रणयत्यघमर्दने ।
श्रीदाम्नो योद्धुकामस्य रेजे रोमाञ्चितं वपुः ॥४५८॥

भयाद्यथा—

विश्वरूपधरमद्भुताकृतिं प्रेक्ष्य तत्र पुरुषोत्तमं पुरः ।
अर्जुनः सपदि शुष्यदाननः शिश्रिये विकटकण्टकां तनुम् ॥४५९॥

अथ स्वरभेदः—

विषादविस्मयामर्षहर्षभीत्यादिसम्भवम् ।
वैस्वर्य्यं स्वरभेदः स्यादेष गद्गदिकाऽऽदिकृत् ।

यह रोमांच [भी] आश्चर्य, हर्ष, उत्साह और भयादिसे उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

उसमें रोम खड़े हो जाते हैं और अंगोंमें [किसी चीजका] स्पर्श आदि [जैसा अनुभव] होने लगता है ।

(क) उनमेंसे आश्चर्यके कारण [उत्पन्न रोमांचका उदाहरण] जैसे—

जम्भाई लेते हुए बालक [कृष्ण] के मुखके भीतर तीनों लोकोंको देखकर गोकुलधीश की पत्नी [यशोदा] आश्चर्यमें पड़ गई और उसके शरीरमें रोमांच हो आया । ४५६ ।

(ख) हर्षके कारण [रोमांचका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

हे पृथिवि ! तुमने ऐसा कौनसा तप किया था कि जिसके कारण केशवके चरणस्पर्श के आनन्दसे पुलकित होकर रोमांचसे शोभित हो रही हो । क्या यह सुख चरण [के स्पर्श] से उत्पन्न है, या त्रिविक्रम [कृष्णके तीनों लोकके मापनेके साथ किए गए] पाद-विन्यासके उत्पन्न है, अथवा वराहाकारके आलिंगनके कारण है । ४५७ ।

(ग) उत्साहके कारण [उत्पन्न रोमांचका उदाहरण] जैसे—

कृतक-युद्ध [बनावटी युद्ध] के आरम्भमें कृष्णके द्वारा बारहसिंगा फूंके जानेपर युद्ध केलिए श्रीदामा [नामक कृष्णके सखा] का शरीर रोमांचयुक्त हो गया । ४५८ ।

(घ) भयसे [रोमांचका उदाहरण] जैसे—

विश्वरूप धारण किए हुए, अद्भुत आकृतिवाले कृष्णको सामने देखकर अर्जुनका मुख तुरन्त ही सूख गया और शरीर रोमांचित हो गया । ४५९ ।

४—अब स्वरभेद [का वर्णन करते हैं]—

१ विषाद, २ विस्मय, ३ अमर्ष, ४ हर्ष, और ५ भय आदिसे उत्पन्न होनेवाली स्वर-

तत्र विषादाद्यथा—

व्रजराज्ञि ! रथात्पुरो हरिं स्वयमित्यर्द्धविशीर्णजल्पया ।
ह्रियमेणदृशा गुरावपि श्लथयन्त्या किल रोदिता सखी ॥४६०॥

विस्मयाद्यथा दशमे—

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥४६१॥

अमर्षाद्यथा तत्रैव—

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्त्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥४६२॥

हर्षाद्यथा तत्रैव—

हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ।
गिरा गद्गदयाऽस्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्त्वतः ॥४६३॥

भीतेर्यथा—

त्वय्यर्पितं वितर वेणुमिति प्रमादी श्रुत्वा मदीरितमुदीर्णविवर्णभावः ।
तूर्णं बभूव गुरुगद्गदरुद्धकण्ठः पत्री मुकुन्द ! तदनेन स हारितोऽस्ति ॥४६४॥

विकृति 'स्वरभेद' कहलाती है और वह गद्गदिका आदिकी जननी होती है ॥ १७ ॥

(क) उनमेंसे विषादसे [उत्पन्न स्वरभेदका उदाहरण] जैसे—

हे व्रजरानि ! [यशोदा] सामने कृष्णको स्वयं रथपरसे, इतना कहते-कहते बीचमें ही रुक जानेवाली और गुरुजनोंके सामने भी लज्जाको शिथिल कर देनेवाली मृगनयनी राधा ने [अपनी इस दयनीय दशा द्वारा अपनी] सखियोंको भी रुला दिया । ४६० ।

(ख) विस्मकके कारण [स्वरभेदका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

इसके बाद वह धीरेसे उठकर, आँखें पोंछकर, कृष्णको देखकर कन्धे झुकाए, हाथ जोड़े हुए विनयशील और एकाग्रचित्त होकर काँपते हुए गद्गद [इलया] वाणीसे [ऐलत कृष्णकी] स्तुति करने लगा । ४६१ ।

अमर्षके कारण [उत्पन्न स्वरभेदका उदाहरण] जैसे वहीं [दशम स्कन्धमें]—

अप्रिय जैसा भाषण करते हुए [अपने] प्रिय कृष्णको [देखकर] उन्हींकेलिए सारे काम करनेवाले अनुरक्त [कृष्णभक्त पहिले रोने लगे, फिर], रुलाई रुकनेपर आँखें पोंछते हुए कुछ क्रोधके कारण गद्गदवाणीसे बोले । ४६२ ।

(घ) हर्षके कारण [उत्पन्न स्वरभेदका उदाहरण] जैसे वहीं [दशम स्कन्धमें]—

सात्त्विक भावोंका उदय होनेके कारण रोमांचयुक्त और प्रेमसे जिनकी आँखोंमें आँसू आ गए हैं इस प्रकारके [सात्त्वत अर्थात्] अक्रूरजी गद्गद वाणीसे कृष्णकी स्तुति करने लगे ।४६३।

(ङ) भयके कारण [उत्पन्न स्वरभेदका उदाहरण] जैसे—

हे मुकुन्द ! मैंने जब पत्री [नामक कृष्णके सेवक] से यह कहा कि मैंने बाँसुरी तुमको दी थी, उसे दो, तो उस प्रमादीके मुखका रंग उड़ गया । भयके कारण उसका गला भर आया । इसीसे वह हार गया [अर्थात् यह निश्चय हो गया कि बाँसुरी उसीने खोई है या कहीं रख दी है] । ४६४ ।

अथ वेथपुः—

वित्रासामर्षहर्षाद्यैर्वेपथुर्गात्रलौल्यकृत् ॥१८॥

तत्र वित्रासेन यथा—

शङ्खचूडमधिरूढविक्रमं प्रेक्ष्य विस्तृतभुजं जिघृक्षया ।
हा व्रजेन्द्रतनयेति वादिनी कम्पसम्पदमधत्त राधिका ॥४६५॥

अमर्षेण यथा—

कृष्णाधिक्षेपजातेन व्याकुलो नकुलानुजः ।
चकम्पे द्रागमर्षेण भूकम्पे गिरिराडिव ॥४६६॥

हर्षेण यथा—

विहससि कथं हताशे ! पश्य भयेनाद्य कम्पमानाऽस्मि ।
चञ्चलमुपसीदन्तं निवारय व्रजपतेस्तनयम् ॥४६७॥

अथ वैवर्ण्यम्—

विषादरोषभीत्यादेर्वैवर्ण्यं वर्णविक्रिया ।
भावज्ञैरत्र मालिन्यकार्श्याद्याः परिकीर्त्तिताः ॥१९॥

तत्र विषादाद्यथा—

श्वेतीकृताखिलजनं विरहेण तवाधुना ।
गोकुलं कृष्ण ! देवर्षेः श्वेतद्वीपभ्रमं दधे ॥४६८॥

५—वेपथु—

१ भय, २ क्रोध और ३ हर्ष आदिसे उत्पन्न शरीरको अस्थिर बना देनेवाला [सात्त्विकभाव] वेपथु [कम्पन] कहलाता है ॥ १८ ॥

(क) उनमें त्राससे [उत्पन्न वेपथुका उदाहरण] जैसे—

अत्यन्त पराक्रमी शंखचूड़को [कृष्णके] पकड़नेके लिए हाथ फैलाए हुए देखकर, हाय नन्दके लाल ! [व्रजेन्द्रके पुत्र] ऐसा कहती हुई राधिका [भयके मारे] काँपने लगी । ४६५ ।

(ख) क्रोधके कारण [उत्पन्न वेपथुका उदाहरण] जैसे—

कृष्णके तिरस्कार [किए जानेसे] उत्पन्न क्रोधके कारण सहदेव भूकम्पसे पर्वतराज [हिमालय] के समान काँपने लगा । ४६६ ।

(ग) हर्षके कारण [उत्पन्न वेपथुका उदाहरण] जैसे—

अरी दुष्टे ! तू हँस क्यों रही है, देख मैं भयके मारे काँप रही हूँ । पास आते हुए इस चञ्चल व्रजपति [नन्द] के पुत्रको मना कर । ४६७ ।

६—वैवर्ण्य—

विषाद, रोष, भय आदिके कारण [मुखके] रँगका बदल जाना [वैवर्ण्य कहलाता है] । भावोंके जाननेवाले [सहृदयों] ने इसमें मलिनता और कृशता आदि [विकार] बतलाए हैं ॥ १९ ॥

(क) उनमेंसे विषादके कारण [उत्पन्न विवर्णताका उदाहरण] जैसे—

हे कृष्ण ! अब तुम्हारे वियोगके कारण जिसके सारे लोग श्वेत [विवर्ण] हो गए हैं । इस प्रकारका गोकुल, अब देवर्षि [नारद] को श्वेतद्वीपका भ्रम उत्पन्न कर रहा था । ४६८ ।

रोषाद्यथा—

कंसशत्रुमभियुञ्जतः पुरो वीक्ष्य कंससहृजानुदायुधान्।
श्रीबलस्य सखि ! तस्य रुष्यतः प्रोद्यदिन्दुनिभमाननं बभौ ॥४६६॥

भीतेर्यथा—

रक्षिते व्रजकुले बकारिणा पर्वतं वरमुदस्य लीलया।
कालिमा बलरिपोर्मुखे भवन्नूचिवान्मनसि भीतिमुत्थिताम् ॥४७०॥

विषादे श्वेतिमा प्रोक्तो धौसर्य्यं कालिमा क्वचित्।
रोषे तु रक्तिमा भीत्यां कालिमा क्वापि शुक्लिमा ॥२०॥
रक्तिमा लक्ष्यते व्यक्तो हर्षोद्रेकेऽपि कुत्रचित्।
अत्रासार्वत्रिकत्वेन नैवास्योदाहृतिः कृता ॥२१॥

अथाश्रु—

हर्षरोषविषादाद्यैरश्रु नेत्रे जलोद्गमः।
हर्षजेऽश्रुणि शीतत्वमौष्ण्यं रोषादिसम्भवे ॥२२॥
सर्वत्र नयनक्षोभरागसंमार्जनादयः।

(ख) रोषके कारण [उत्पन्न विवर्णताका उदाहरण] जैसे—

हे सखि ! कंसके मित्रोंको कंस-शत्रु कृष्णपर आक्रमण करनेकेलिए शस्त्र उठाए देख कर क्रुद्ध हुए श्री बलरामका मुख उदय होते हुए चन्द्रमाके समान [लाल] हो गया।४६९।

(ग) भयके कारण [उत्पन्न विवर्णताका उदाहरण] जैसे—

पर्वतराज [गोवर्धन] को अनायास उठाकर कृष्णके द्वारा ब्रजमण्डलकी रक्षा कर लिए जानेपर [बलरिपु अर्थात्] इन्द्रके मुखपर उदित हुई कालिमाने उसके मनमें उत्पन्न हुए भयको सूचित कर दिया। ४७०।

यह जो विषाद, रोष, भय आदिसे होनेवाली विवर्णताका वर्णन किया गया है। यह विवर्णता सर्वत्र एक-जैसी नहीं होती है। कहीं वह विवर्णता श्वेतिमाके रूपमें प्रकट होती है, कहीं कालिमाके रूपमें और कहीं रक्तिमाके रूपमें। किसी भी रूपमें प्रकट हो, यह सभीप्रकार की मुख-विकृति वैवर्ण्य या विवर्णता रूप सात्त्विकभावके अन्तर्गत समझी जाती है इसी बात को अगली कारिकाओंमें कहते हैं—

[यह वैवर्ण्य] विषादमें श्वेतिमा कहलाता है, कहीं धूसरता या कालिमा भी [विषाद में ही] कहा जाता है। क्रोधमें [यही वैवर्ण्य] रक्तिमा, और भयमें कहीं रक्तिमा, और कहीं शुक्लिमा कहा जाता है।२०।

कहीं-कहीं हर्षके आधिक्यमें भी रक्तिमा देखी जाती है किन्तु इसके सर्वत्र न होनेसे इसका उदाहरण नहीं दिया है।२१।

७—अश्रु—

हर्ष, रोष, विषाद आदिसे नेत्रोंमें पानीका आ जाना अश्रु [रूप सात्त्विक भाव] कहलाता है। हर्षसे उत्पन्न होनेवाले अश्रुमें शैत्य और रोषादिसे उत्पन्न अश्रुओंमें उष्णता होती

तत्र हर्षेण यथा—

गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिबाष्पपूराभिवर्षिणम् ।
उच्चरनिन्ददानन्दमरबिन्दविलोचना ।।४७१।।

रोषेण यथा हरिवंशे—

तस्याः सुस्राव नेत्राभ्यां वारि प्रणयकोपजम् ।
कुशेशयपलाशाभ्यामवश्यायजलं यथा ।।४७२।।

यथा वा—

भीमस्य चेदीशवधं विधित्सो रेजेऽस्रुविस्रावि रुषोपरक्तम् ।
उद्यन्मुखं वाधिकणावकीर्णं सान्ध्यत्विषा ग्रस्तमिवेन्दुविम्बम् ।।४७३।।

विषादेन यथा श्रीदशमे—

पदा सुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक् ।।४७४।।

अथ प्रलयः—

प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ।।२३।।
तत्रानुभावाः कथिता महीनिपतनादयः ।

तत्र सुखेन यथा—

है । सभी प्रकारके अश्रुओं] में नेत्रोंमें विकार, लालिमा और पोंछना आदि होता है ।।२२।।

उनमेंसे हर्षके कारण [उत्पन्न अश्रुका उदाहरण] जैसे—

उस कमल-नयनीने कृष्णके दर्शनमें विघ्न डालनेवाले, आँसुओंको बहानेवाले आनन्दकी अत्यन्त निन्दा की ।४७१।

रोषके कारण [उत्पन्न अश्रुका उदाहरण] जैसे—

प्रणय-कोपके कारण उसके नेत्रोंसे आँसू इस प्रकार टपकने लगे जैसे दो कमलपत्रोंके ऊपरसे ओसकी बूँदें गिर रही हों ।४७२।

अथवा जैसे—

शिशुपालका वध करनेके लिए उद्यत, भीमका क्रोधसे रक्त, और आँसुओंसे युक्त मुख, सन्ध्याकालीन लालिमासे युक्त और जल-कणोंसे व्याप्त उदय-कालीन चन्द्रमाके समान शोभित हुआ ।४७३।

विषादके कारण [उत्पन्न अश्रुका उदाहरण] जैसे—दशम [स्कन्ध] में—

सुन्दर चरणके द्वारा भूमिको कुरेदती हुई, और अंजनके कारण काले हुए आँसुओंसे कुंकम लगे अपने स्तनोंको भिगोती हुई [रुक्मिणी] दुःखके कारण मूक होकर नीचा मुख करके खड़ी रही ।४७४।

८—प्रलय—

सुख या दुःखके [अतिशयके] कारण चेष्टा तथा ज्ञानसे रहित हो जानेकी स्थिति प्रलय [मूर्च्छा] कहलाती है । पृथ्वीपर गिर पड़ना आदि उसके अनुभाव माने जाते हैं ।२३।

उनमेंसे सुखके कारण [उत्पन्न प्रलय या मूर्च्छाका उदाहरण] जैसे—

मिलितं हरिमालोक्य लतापुञ्जादतर्कितम् ।
ज्ञप्तिशून्यमना रेजे निश्चलाङ्गी व्रजाङ्गना ॥४७५॥

दुःखेन यथा श्रीदशमे—

अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः ।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥४७६॥

सर्वे हि सत्त्वमूलत्वाद्भावा यद्यपि सात्त्विकाः ॥२४॥
तथाऽप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात्सात्त्विकप्रथा ।
सत्त्वस्य तारतम्यात्प्राणतनुक्षोभतारतम्यं स्यात् ॥२५॥
तत एव तारतम्यं सर्वेषां सात्त्विकानां स्यात् ।
धूमायितास्ते ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्तसंज्ञिताः ॥२६॥
वृद्धिं यथोत्तरं यान्तः सात्त्विकाः स्युश्चतुर्विधाः ।
सा भूरिकालव्यापित्वं बह्वङ्गव्यापिताऽपि च ॥२७॥
स्वरूपेण तथोत्कर्ष इति वृद्धिस्त्रिधा भवेत् ।
तत्र नेत्राम्बुवैस्वर्यवर्जानामेव युज्यते ॥२८॥

लताकुंजमेंसे अकस्मात् [अतर्कित रूपसे निकलकर] मिलते हुए कृष्णको देखकर [व्रजांगना] राधा ज्ञानशून्य और निश्चलांगी हो गई ।४७५।

दुःखके कारण [उत्पन्न प्रलयका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

उन [कृष्ण] के ध्यानमें समस्त व्यापारोंसे रहित होकर अन्य [गोपियाँ] परलोक-प्राप्त सी होकर इस लोक [के सारी क्रिया और ज्ञान] को भूल गई ।४७६।

सात्त्विकभाव संज्ञाका कारण—

यद्यपि [स्थायी व्यभिचारी आदि] सारे ही भाव 'सत्त्व' से उत्पन्न होनेके कारण [सत्त्व' की व्याख्या इसी लहरीकी पहली कारिकामें कर चुके हैं] 'सात्त्विकभाव' होते हैं फिर भी [स्वेद स्तम्भादि] ये [आठ भाव] केवल सत्त्वमूलक होनेसे [मुख्य रूपसे] 'सात्त्विकभाव' कहलाते हैं ।२४।

सत्त्वके न्यूनाधिक्यके द्वारा प्राण तथा शरीरके विक्षोभमें भी तारतम्य होता है। इसीलिए सारे सात्त्विक-भावोंमें न्यूनाधिक्य [रूप तारतम्य] पाया जाता है ।२५।

अधिकाधिक बढ़ते हुए सात्त्विक भाव क्रमशः १ धूमायित, २ ज्वलित, ३ दीप्त तथा ४ उद्दीप्त भेदसे चार प्रकारके होते हैं ।२६।

[सात्त्विक भावोंकी] वह वृद्धि १ अधिक काल तक टिकनेके कारण, २ अधिक अंगोंमें व्याप्त होने और ३ स्वरूपमें अधिक होनेके कारण इस प्रकार तीन तरहकी होती है ।२७।

उनमेंसे अश्रु तथा स्वरभेद इन दोको छोड़कर [शेष ६ में] बह्वङ्गव्यापिता [रूप वृद्धि] होती है। और [अश्रु तथा स्वरभेद] इन दोनोंमें [बहुकालव्यापित्व तथा स्वरूपोत्कर्ष रूप द्विविध वृद्धिमेंसे] कोई भी विशेषता हो सकती है ।२८।

बह्वङ्गव्यापिताऽमीषां तयोः काऽपि विशिष्टता ।
तत्राश्रूणां दृगौच्छून्यकारित्वमवदातता ॥२९॥
तथा ताराऽतिवैचित्रीवैलक्षण्यविधायिता ।
वैस्वर्य्यस्य तु भिन्नत्वे कौण्ठ्यव्याकुलताऽऽदयः ॥३०॥
भिन्नत्वं स्थानविभ्रंशः कौण्ठ्यं स्यात्सन्नकण्ठता ।
व्याकुलत्वं तु नानोच्चनीचगुप्तविलुप्तता ॥३१॥
प्रायो धूमायिता एव रूक्षास्तिष्ठन्ति सात्त्विकाः ।
सर्वानन्दचमत्कारहेतुर्भावो वरो रतिः ॥३२॥
एते हि तद्विनाभावान्न चमत्कारिताऽऽश्रयाः ।

तत्र धूमायिताः—

अद्वितीया अमी भावा अथ वा सद्वितीयकाः ॥३३॥
ईषद्व्यक्ता अपन्होतुं शक्या धूमायिता मताः ।

यथा—

आकर्णयन्नघहरामघवैरिकीर्त्ति
पद्माग्रमिश्रविरलाश्रुरभूत्पुरोधाः ।

उनमेंसे अश्रुओंमें आँखोंको सुजा देने रूप 'अवदातता' और [आँखके] तारोंको अत्यन्त विलक्षण कर देने रूप 'विचित्रता' [ये दो विशेषता] होती हैं ।२९।

स्वरभेदमें १ भिन्नत्व, २ कुण्ठितता और ३ आकुलता आदि [तीन प्रकारके भेद] होते हैं ।३०।

[स्वरका] स्थानभ्रंश भिन्नत्व कहलाता है [उसके कारण आवाज घरघराने लगती है] गला रुक जाना [सन्नकण्ठता] कौण्ठ्य [कुण्ठितता कहलाता] है । [बोलते समय वर्णोंको कभी] उच्च [कभी] नीच [स्वरसे बोलना कभी गुप्त अर्थात्] अस्पष्ट हो जाना और कभी खा जाना [विलुप्तता] यह नाना प्रकारकी व्याकुलता होती है ।३१।

रूक्ष सात्त्विक भाव प्रायः धूमायित [अवस्थामें] ही रहते हैं । [रूक्ष भावोंका लक्षण इसी लहरीकी सातवीं कारिकामें कर चुके हैं] । समस्त आनन्द और चमत्कारका हेतुभूत सर्वोत्तम भाव 'रति' है ये [रूक्ष सात्त्विक भाव] उस [रति] के बिना होनेके कारण चमत्कार-युक्त नहीं होते हैं । [इसीलिए रूक्ष कहलाते हैं] ।३२।

उनमेंसे धूमायित [का लक्षण आगे करते हैं]—

ये सब [आठों सात्त्विक] भाव [अद्वितीय] अलग-अलग अथवा [सद्वितीयकाः] दूसरे [किसी एक अथवा अनेक सात्त्विक भावों] के साथ मिले हुए जब तनिकसे ही व्यक्त होते हैं और छिपाए जा सकते हैं तब 'धूमायित' [अवस्थाके सात्त्विक भाव] माने जाते हैं ।३३।

जैसे—

[अघवैरी अर्थात् पापनाशक] श्रीकृष्णकी पाप-विमोचिनी कीर्तिको सुनकर पुरोहितके

यष्टा दरोच्छ्‌वसितलोमकपोलमीषत्
प्रस्विन्ननासिकमुवाह मुखारविन्दम् ॥४७७॥

अथ ज्वलिताः—

ते द्वौ त्रयो वा युगपद्यान्तः सुप्रकटां दशाम् ॥३४॥
शक्याः कृच्छ्रेण निन्होतुं ज्वलिता इति कीर्तिताः ।

यथा—

न गुञ्जामादातुं प्रभवति करः कम्पतरलो-
दृशौ सास्रे पिच्छं न परिचिनुतः सत्वरकृति ।
क्षमावूरू स्तब्धौ पदमपि न गन्तुं तव सखे !
वनाद्वंशीध्वाने परिसरमवाप्ते श्रवणयोः ॥४७८॥

यथा वा—

निरुद्धं वाष्पाम्भः कथमपि मया गद्गदगिरो-
ह्रिया सद्यो गूढाः सखि ! विघटितो वेपथुरपि ।
गिरिद्रोण्यां वेणौ ध्वनति निपुणैरिङ्गितमये
तथाऽप्यूहांचक्रे मम मनसि रागः परिजनैः ॥४७९॥

अथ दीप्ताः—

प्रौढां त्रिचतुरा व्यक्तिं पञ्च वा युगपद्गताः ॥३५॥
संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृताः ।

पलकोंके अग्रभाग आँसुओंसे गीले हो गए। और यजमानके गालोंपर हलका-सा रोमांच हो आया तथा उसका मुखारविन्द गीली नासिकासे युक्त हो गया।४७७।

अब प्रज्वलित [सात्विक भावोंका लक्षण करते हैं]—

वे दो या तीन [सात्विक भाव] स्पष्ट रूपको प्राप्त होकर और कठिनाईसे छिपाने योग्य हो जानेपर ज्वलित [अवस्थावाले सात्विक भाव] कहलाते हैं।३४।

जैसे—

वनमेंसे [कृष्णकी] बाँसुरीकी आवाज़ कानमें पहुँचनेपर कम्प [रूप सात्विक भावके उदयके]के कारण हिलता हुआ हाथ गुंजाको पकड़ नहीं पा रहा है। आँखोंमें आँसू [रूप सात्विक भावका उदय] होनेसे वे जल्दी मोरपंखको नहीं पहचान पाती हैं। और हे प्रिय मित्र ! तुम्हारी जंघाएं स्तम्भ [रूप सात्विक भावसे]से युक्त होकर पग-भरभी चलनेमें असमर्थ हो गई हैं।४७८।

अथवा जैसे—

हे सखि ! पर्वतकी तलहटीमें [कृष्णजीकी] बाँसुरी बजनेपर मैंने बड़ी कठिनाईसे अपने आँसुओंको रोका, लज्जित होकर अपनी गद्गद वाणीको भी जैसे तुरन्त छिपाया और वेपथुको भी रोका फिर भी परिजनोंने मेरे मनके अनुरागको भाँप ही लिया।४७९।

अब दीप्त [अवस्था वाले सात्विक भावोंका लक्षण करते हैं]—

तीन-चार अथवा पाँच-छः [सात्विक भाव] एक साथ प्रौढ़ रूपसे अभिव्यक्त होकर छिपानेके [बिल्कुल]अयोग्य हो जाते हैं उनको विद्वान् लोग 'दीप्त'[सात्विक भाव]कहते हैं।३५।

यथा—

न शक्तिमुपवीणने चिरमधत्त कम्पाकुलो-
न गद्गदनिरुद्धवाक् प्रभुरभूदुपश्लोकने।
क्षमोऽजनि न वीक्षणे विगलदश्रुपूरः पुरो-
मुरद्विषि परिस्फुरत्यवशमूर्त्तिरासीन्मुनिः ॥४८०॥

यथा वा—

किमुन्मीलत्यस्रे कुसुमजरजो गञ्जसि सुधा
सरोमाञ्चे कम्पे हिममनिशमाक्रोशसि कुतः।
किनूरुस्तम्भे वा वनविहरणं द्वेक्षि सखि ते
निराबाधा राधे ! वदति मदनाधिं स्वरभिदा ॥४८१॥

अथोद्दीप्ताः—

एकदा व्यक्तिमापन्नाः पञ्चषाः सर्व एव वा ॥३६॥
आरूढा परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति शब्दिताः।

यथा—

अद्य स्विद्यति वेपते पुलकिभिर्निःस्पन्दतामङ्गकै-
र्धत्ते काकुभिराकुलं विलपति म्लायत्यनल्पोष्मभिः।

जैसे—

कृष्णजीके सामने प्रकट होनेपर [नारद] मुनिके कम्प [रूप सात्विक भाव] से [आक्रान्त हो] व्याकुल हो जानेके कारण देर तक वीणा बजाकर स्तुति करनेकी शक्ति नहीं रही, गला भर आनेके कारण वाणी बन्द हो जानेसे वाणी द्वारा स्तुति करने [उपश्लोकने] की शक्ति नहीं रही। और आँखोंमें आंसुओंके आ जानेसे [कृष्णको] देखनेमें असमर्थ हो गए। इस प्रकार [नारदमुनि कृष्णजीको सामने देखकर] विवश हो गए। [उनका अपने शरीर पर ही कोई अधिकार नहीं रहा] ।४८०।

अथवा जैसे—

हे सखि ! आँसुओंके आनेपर पुष्प-परागको व्यर्थ ही क्यों दोष देती हो [अर्थात् तुम्हारे आँसू आँखोंमें पुष्प-पराग पड़ जानेके कारण नहीं आ रहे हैं किन्तु वे तो सात्त्विकभावके रूपमें आ रहे हैं]। और [शरीरमें] रोमांच तथा कम्प [रूप सात्त्विकभावोंका उदय] होनेपर सर्दी को इतना [अनिशं] क्यों कोस रही हो [यह रोमांच और कम्प सर्दीके कारण नहीं अपनी तुम्हारी मदनाधिके कारण है]। और उरुस्तम्भ होनेपर वन-विहारकी निन्दा क्यों करती हो [यह अधिक वन-विहारके कारण नहीं अपितु मदन-विकारके कारण उत्पन्न सात्त्विकभाव रूप उरुस्तम्भ है]। हे राधे ! [तुम कितना ही छिपानेका बहाना करो, पर] तुम्हारी इस मदनाधि को तुम्हारा स्वरभेद प्रकट किए डालता है। ४८१।

अब उद्दीप्त [सात्त्विकभावोंका वर्णन करते हैं]—

पाँच-छः अथवा सारे [आठों सात्त्विकभाव] एक-साथ अभिव्यक्त होकर और अत्यन्त उत्कट रूपको प्राप्त होनेपर उद्दीप्त [सात्त्विकभाव] कहलाते हैं ॥ ३६ ॥

जैसे—हे पीताम्बर [धारी कृष्ण] ! आज तुम्हारे विरहमें गोकुलवासी लोग स्वेदयुक्त हो जाते हैं, कांपते हैं, रोमांचयुक्त अंगोंसे स्तम्भावस्थाको धारण करते हैं, भिन्न प्रकारकी कण्ठ-

तिम्यत्यम्बुभिरम्बकस्तवकितैः पीताम्बरोड्डामरं-
सद्यस्त्वद्विरहेण मुह्यति मुहुर्गोष्ठाधिवासी जनः ॥४८२॥

उद्दीप्ता एव सूद्दीप्ता महाभावे भवन्त्यमी ॥३७॥
सर्व एव परां कोटिं सात्त्विका यत्र बिभ्रति ।

किञ्च—

अथात्र सात्त्विकाभासा विलिख्यन्ते चतुर्विधाः ॥३८॥
रत्याभासभवास्ते तु सत्त्वाभासभवास्तथा ।
निःसत्त्वाश्च प्रतीपाश्च यथापूर्वममी वराः ॥३९॥

तत्राद्याः—

मुमुक्षुप्रमुखेष्वाद्या रत्याभासात्पुरोदितात् ।

यथा—

वाराणसीनिवासी कश्चिदयं व्याहरन् हरेश्चरितम् ।
यतिगोष्ठ्यामुत्पुलकः सिञ्चति गण्डद्वयीमस्रैः ॥४८३॥

अथ सत्त्वाभासभवाः—

ध्वनि द्वारा [काकुभिः] व्याकुल होकर विलापकरते हैं और अत्यन्त सन्तापके कारण म्लानता को प्राप्त हो रहे हैं नेत्रोंमें स्थिर हो जानेके कारण अश्रु रूप नेत्रगुच्छोंसे [अम्बकस्तबकितैः] से दुःखी होते हैं, और तत्क्षण बार-बार मूर्च्छाको प्राप्त ही रहे हैं ।।४८२।

ये उद्दीप्त भाव ही 'महाभाव' [कृष्ण-विषयक परम रति] में और भी अधिक उद्दीप्त [सुद्दीप्त] हो जाते हैं जिसमें सारे ही सात्त्विकभाव [एक साथ] चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं ॥ ३७ ॥

और भी—

अब आगे चार प्रकारके सात्त्विकभासोंको लिखते हैं ॥ ३८ ॥

१ रत्याभाससे उत्पन्न, २ सत्त्वाभाससे उत्पन्न, ३ सत्त्व-रहित और ४ विपरीत [इस प्रकार सात्त्विकाभास चार तरहके होते हैं। इनमेंसे] पहिले-पहिलेके [सात्त्विकाभास] क्रमशः श्रेष्ठ होते हैं ॥ ३९ ॥

उनमेंसे प्रथम प्रकारके [अर्थात् रत्याभाससे उत्पन्न सात्त्विकाभासका लक्षण निम्न प्रकार किया जाता है]—

[इसी लहरीकी पाँचवीं कारिकामें] पहिले कहे हुए रत्याभाससे मुमुक्षु आदिमें उत्पन्न [सात्त्विकभाव] रत्याभास-जन्य [सात्त्विकभाव कहलाते] हैं—

जैसे—

वाराणसीमें रहनेवाला [इससे उस व्यक्तिका मुमुक्षु होना सूचित किया है] यह कोई, संन्यासियोंकी सभामें कृष्ण-चरितकी कथा करता हुआ रोमांच-युक्त होकर अपने दोनों गालों को आँसुओंसे भिगो रहा है [यह मुमुक्षुकी कृष्ण-विषयक रतिका वर्णन रत्याभास है] ।४८३।

अब सत्त्वाभाससे उत्पन्न [सात्त्विक भावोंको कहते हैं]—

मुद्विस्मयादेराभासः प्रोद्यन् जात्या श्लथे हृदि ॥४०॥
सत्त्वाभास इति प्रोक्तः सत्त्वाभासभवास्ततः ।

यथा—

जरन्मीमांसकस्यापि शृण्वतः कृष्णविभ्रमम् ।
हृष्टायमानमनसो बभूवोत्पुलकं वपुः ॥४८४॥

यथा वा—

मुकुन्दचरितामृतप्रसरवर्षिणस्ते मया
कथं कथनचातुरीमधुरिमा गुरुर्वर्ण्यताम् ।
महूर्त्तमतदर्थिनो विषयिणोऽपि यस्याननान्-
न्निशम्य विजयं प्रभोर्दधति बाष्पधारामभी ॥४८५॥

अथ निःसत्त्वाः—

निसर्गपिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च ॥४१॥
सत्त्वाभासं विनाऽपि स्युः क्वाप्यश्रुपुलककादयः ।

स्वभावतः शिथिल अर्थात् रत्यादिसे रहित [व्यक्तिके] हृदयमें [भगवच्चर्चा सुनकर] आनन्द अथवा विस्मयादिका उदय सत्त्वाभास कहलाता है। उससे उत्पन्न होनेवाला [भाव] सात्त्विकाभास जन्य [भाव] कहलाता है ॥ ४० ॥

जैसे—

कृष्णके सौन्दर्यको सुनकर प्रमुदित हृदयवाले उस वृद्ध मीमांसकका भी शरीर रोमांच से युक्त हो गया। ४८४।

अथवा जैसे—

कृष्णके चरितामृतकी वर्षा करनेवाले आपके कथा-चातुर्यके सौन्दर्यकी प्रशंसा हम कैसे करें जिसके मुखसे प्रभु [कृष्ण] की विजयको सुनकर उस [भगवच्चर्चा] से सम्बन्ध न रखनेवाले और विषय-भोगमें फँसे हुए ये लोग [आँखोंसे प्रेमके] आँसू बहा रहे हैं। ४८५।

अब सत्त्वहीन [सात्त्विकभावोंका निरूपण करते हैं]—

अत्यन्त पिच्छिल [अर्थात् बाहरसे शिथिल और भीतरसे कठोर होनेके कारण कहीं भी स्थिर न होनेवाले] अथवा उस [सात्त्विकभावके उदय] केलिए अभ्यास करनेवाले [व्यक्तिके] अन्तःकरणमें सत्त्वाभासके बिना भी कहीं-कहीं रोमांच आदि [सात्त्विकभाव] होते हैं [वे सत्त्व-रहित 'निःसत्त्व' सात्त्विकभाव कहलाते हैं] ॥ ४१ ॥

कृष्ण-सम्बन्धी भावोंसे आक्रान्त चित्त 'सत्त्व' कहलाता है। यह सत्त्वका लक्षण इसी लहरीकी प्रथम कारिकामें किया जा चुका है। उस प्रकारके 'सत्त्व' से रहित होनेपर भी कृष्णकी चर्चाको सुनकर कभी-कभी अश्रु रोमांच आदिका उदय होता देखा जाता है वह निःसत्त्व सात्त्विकभाव कहलाता है। पिछली सत्त्वाभासके लक्षणवाली ४०वीं कारिकामें 'श्लथ' शब्द आया था, इस कारिकामें 'पिच्छिल' शब्द आया है। इन 'श्लथ' तथा 'पिच्छिल' का भेद 'दुर्गमसंगमनीकार' ने यह दिखलाया है कि "उपरि श्लथं अन्तः कठिनं पिच्छिलं, तद्रूपत्वान्न कुत्रापि स्थिरम्। श्लथत्वन्तु अन्तर्बहिरप्यकठिनत्वं, तद्रूपत्वाद्यत्र कुत्रापि संसज्जमान-

यथा—

निशमयतो हरिचरितं न हि सुखदुःखादयोऽस्य हृदि भावाः ।
अनभिनिवेशाज्जाताः कथमस्रवदस्रमश्रान्तम् ॥४८६॥

प्रकृत्या शिथिलं येषां मनः पिच्छिलमेव वा ॥४२॥

तेष्वेव सात्त्विकाभासः प्रायः संसदि जायते ।
हितादन्यत्र कृष्णस्य प्रतीपाः क्रुद्भयादिभिः ॥४३॥

तत्र क्रुधा यथा हरिवंशे—

तस्य प्रस्फुरितौष्ठस्य रक्ताधरतटस्य च ।
वक्त्रं कंसस्य रोषेण रक्तसूर्य्यायते तदा ॥४८७॥

भयेन यथा—

म्लानाननः कृष्णमवेक्ष्य रङ्गे सिष्वेद मल्लस्त्वधिभालशुक्ति ।
मुक्तिश्रियां सुष्ठु पुरो मिलन्त्यामत्यादरादर्घ्यमिवोज्जहार ॥४८८॥

मिति भेदः ।" अर्थात् ऊपरसे शिथिल और भीतरसे कठिन चित्त 'पिच्छिल' कहलाता है। इस रूपके कारण वह कहीं भी स्थिर नहीं होता है। इसके विपरीत 'श्लथ' चित्त बाहर-भीतर दोनों जगह कोमल होता है। इसी कारण वह हर जगह फँस जाता है। यह 'श्लथ' तथा 'पिच्छिल' अवस्थाका भेद है। इस ४१वीं कारिकामें सत्त्वाभास-जन्य सात्त्विकभावका लक्षण किया गया है। आगे उसका उदाहरण देते हैं—

जैसे—

कृष्णके चरितको सुनकर भी जिसके हृदयमें सुख-दुःखादि भावोंका उदय नहीं होता है फिर भी अभिनिवेश [कृष्ण-विषयक प्रेम] के बिना भी [उनके चरितको सुनकर आज] इसके निरन्तर आँसू क्यों बह रहे हैं। ४८६।

जिसका मन स्वभावतः 'शिथिल' [अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य दोनों रूपोंमें कोमल] अथवा 'पिच्छिल' [अर्थात् बाह्य रूपमें शिथिल परन्तु आन्तरिक रूपमें कठोर] होता है, प्रायः सभासे भीतर उन्हीं के मनमें सात्त्विकाभास उदय होता है ॥ ४२ ॥

अब चतुर्थ प्रकारके 'प्रतीप' [विरुद्ध] रूप सात्त्विकाभासका वर्णन करते हैं—

कृष्णके मित्रोंसे भिन्न [शत्रु आदिमें] में क्रोध या भयादिके कारण [उत्पन्न सात्त्विकाभास विपरीत सात्त्विकाभास कहलाते हैं] ॥ ४३ ॥

उनमेंसे क्रोधसे [उत्पन्न प्रतीप सात्त्विकाभासका उदाहरण] जैसे हरिवंशमें—

उस समय जिसका ऊपरका होंठ फड़क रहा है और नीचेका होंठ लाल हो रहा है इस प्रकारके उस कंसका मुख लाल सूर्यके समान हो रहा था। [कंसमें क्रोध-वैवर्ण्य रूप सात्त्विकभावका वर्णन है। इसलिए यह प्रतीप सात्त्विकभावका उदाहरण है]। ४८७।

भयके कारण [उत्पन्न प्रतीप सात्विकाभासका उदाहरण] जैसे—

युद्धभूमिमें कृष्णको सामने देखकर मल्लका चेहरा उतर गया और माथेपर पसीना आ गया। मानो सामने लाई हुई अपनी मुक्ति रूप लक्ष्मी [अर्थात् अपनी मृत्यु] के लिए [अपने मस्तक रूप शुक्तिमें] अत्यन्त आदरपूर्वक अर्घ्य प्रस्तुत कर रहा हो। ४८८।

यथा वा—

प्रवाच्यमाने पुरतः पुराणे निशम्य कंसस्य मदातिरेकम् ।
परिप्लवान्तःकरणः समन्तात् कश्चित्परिम्लानमुखस्तदाऽऽसीत् ।।४८६।।

नास्त्यर्थः सात्त्विकाभासकथने कोऽपि यद्यपि ।
सात्त्विकानां विवेकाय दिक् तथाऽपि प्रदर्शिता ।।४४।।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-
निरूपणे सात्त्विकलहरी तृतीया ।

अथ चतुर्थी व्यभिचारिभावलहरी

अथ व्यभिचारिणः—

अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा ये व्यभिचारिणः ।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति ।। १ ।।
वागङ्गसत्त्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः ।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते ।। २ ।।

अथवा जैसे—

सामने [भागवत] पुराणका पाठ होते समय कंसके अभिमानातिरेक [के वर्णन] को सुनकर, जिसके हृदयमें उथल-पुथल उत्पन्न हो गई है इस कारण कोई [कृष्ण विरोधी] उस समय मलिन मुख हो गया । ४८६ ।

यद्यपि 'सात्विकाभास'के वर्णनसे कोई लाभ नहीं है फिर भी सात्विकभावोंके[समस्त रूपोंके विवेचनके लिए यह प्रकार भी दिखलाया है ।। ४५ ।।

भक्तिरसामृतसिन्धुके दक्षिणविभागके अन्तर्गत भक्तिरसके सामान्य
निरूपणमें तृतीया सात्विकलहरी समाप्त हुई ।

चतुर्थी व्यभिचारिभावलहरी

व्यभिचारिभाव—

अब जो ३३ भाव, विशेष रूपसे और स्थायिभावके प्रति अनुकूलतासे, चरण करते हैं [अर्थात् विशेषेण आभिमुख्येन च स्थायिनं प्रति चरन्ति इस व्युत्पत्तिके अनुसार व्यभिचारि-भाव कहलाते हैं] उन व्यभिचारिभावोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं ।१।

वाचिक, आंगिक और सात्विक रूप जो [३३] भाव हैं वे 'व्यभिचारिभाव' कहलाते हैं । और वे स्थायिभावकी गतिका संचालन करते हैं इसलिए 'संचारिभाव' भी कहे जाते हैं ।२।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ ।
ऊर्म्मिवद्वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते ॥ ३ ॥
निर्वेदोऽथ विषादो दैन्यं ग्लानिश्रमौ च मदगर्वौ ।
शङ्कात्रासावेगा उन्मादापस्मृती तथा व्याधिः ॥ ४ ॥
मोहो मृतिरालस्यं जाड्यं व्रीडाऽवहित्था च ।
स्मृतिरथ वितर्कचिन्तामतिधृतयो हर्ष उत्सुकत्वं च ॥ ५ ॥
औग्र्यामर्षासूयाश्चापल्यं चैव निद्रा च ।
सुप्तिर्बोध इतीमे भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः ॥ ६ ॥

तत्र निर्वेदः—

महाऽऽर्त्तिविप्रयोगेर्ष्यासद्विवेकादिकल्पितम् ।
स्वावमाननमेवात्र निर्वेद इति कथ्यते ॥ ७ ॥
अत्र चिन्ताऽश्रुवैवर्ण्यदैन्यनिश्वसितादयः ।

तत्र महाऽऽर्त्त्या यथा—

हन्त देहहतकैः किममीभिः पालितैर्विफलपुण्यफलैर्नः ।
एहि कालियह्रदे विषवह्नौ स्वं कुटुम्बिनि ? हठाज्जुहवाम ॥४९०॥

वे [व्यभिचारिभाव] स्थायिभाव रूप अमृतके सागरमें लहरोंके समान उन्मज्जित और निमज्जित होते हैं, [लहरोंके समान] उसको बढ़ाते हैं तथा तद्रूपताको प्राप्त होते हैं ।३।

आगे उन तेंतीस व्यभिचारिभावोंके नाम गिनाते हैं—

१ निर्वेद, २ विषाद, ३ दैन्य, ४ ग्लानि, ५ श्रम, ६ मद, ७ गर्व, ८ शंका, ९ त्रास, १० आवेग, ११ उन्माद, १२ स्मृति, १३ व्याधि ।४।

१४ मोह, १५ धृति, १६ आलस्य, १७ जाड्य, १८ व्रीडा, १९ आकार-गोपन [अवहित्था], २० स्मृति, २१ वितर्क, २२ चिन्ता, २३ मत्ति, २४ धृति, २५ हर्ष, २६ औत्सुक्य ।५।

२७ उग्रता, २८ अमर्ष, २९ असूया, ३० चपलता, ३१ निद्रा, ३२ स्वप्न, ३३ बोध ये [तेंतीस] व्यभिचारिभाव कहे जाते हैं ।६।

अब आगे क्रमशः इन तेंतीसों व्यभिचारिभावोंके लक्षण-उदाहरण आदि देते हैं ।

१ निर्वेद—उनमेंसे निर्वेद [के लक्षण-उदाहरण निम्न प्रकार हैं]—

[किसी] महती विपत्ति, वियोग, ईर्ष्या, अथवा सद्विवेक [अर्थात् आत्मज्ञान] से कल्पित अपनी ही निन्दाको 'निर्वेद' कहते हैं । इसमें चिन्ता, अश्रु, विवर्णता, दैन्य तथा निश्वासादि [अनुभाव] होते हैं ।७।

उनमेंसे महती विपत्तिसे [उत्पन्न निर्वेदका उदाहरण] जैसे—

हे कुटुम्बिनि ! जिनके द्वारा किए जानेवाला पुण्य भी निष्फल है इस प्रकारके हमारे इन अभागे शरीरोंका पालन करनेसे ही क्या लाभ है ? इसलिए आओ हम दोनों अपने-आपको कालीदहकी विष-ज्वालाओंमें भस्म कर डालें । ४९०।

विप्रयोगेण यथा—

असंगमान्माधवमाधुरीणामपुष्पिते नीरसतां प्रयाते।
बृन्दावने शीर्य्यति हा कुतोऽसौ प्राणित्यपुण्यः सुवलो द्विरेफः ॥४६०॥

यथा वा दानकेलिकौमुद्यां—

भवतु माधवजल्पमशृण्वतोः श्रवणयोरलमश्रवणिर्मम।
तमविलोकयतोरविलोचनिः सखि! विलोचनयोश्च किलानयोः ॥४६१॥

ईर्ष्यया यथा हरिवंशे सत्यादेवीवाक्यं—

स्तोतव्या यदि तावत् सा नारदेन तवाग्रतः।
दुर्भगोऽयं जनस्तत्र किमर्थमनुशब्दितः ॥४६२॥

सद्विवेकेन यथा श्रीदशमे—

ममैष कालोऽजित ! निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोषभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४६३॥

अमङ्गलमपि प्रोच्य निर्वेदं प्रथमं मुनिः ॥ ८ ॥
मेनेऽमुं स्थायिनं शान्त इति जल्पन्ति के चन।

अथ विषादः—

विप्रयोगके कारण [उत्पन्न निर्वेदका उदाहरण] जैसे—

[इस श्लोकमें 'माधव' शब्द श्लिष्ट है। उसके कृष्ण तथा वसन्त ये दोनों अर्थ होते हैं। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

वसन्त और कृष्णकी सुषमाके सम्पर्कसे रहित होनेके कारण पुष्पहीन तथा नीरसता को प्राप्त वृन्दावनके सूख जानेपर भी यह पापी बलिष्ठ भ्रमर क्यों जी रहा है।४६०।

अथवा जैसे दानकेलिकौमुदीमें [विप्रयोग-जन्य निर्वेदका दूसरा उदाहरण]—

माधव [कृष्ण] की बातोंको न सुन सकनेवाले मेरे इन दोनों कानोंका बहरा हो जाना ही अच्छा है। और हे सखि ! उन [कृष्ण] का दर्शन न करनेवाले मेरे इन दोनों नेत्रोंका अन्धा हो जाना ही ठीक है।४६१।

ईर्ष्याके कारण [उत्पन्न निर्वेदका उदाहरण] जैसे हरिवंशमें सत्यभामा देवीका निम्नांकित वचन—

यदि नारदको तुम्हारे सामने उस [रुक्मिणी] ही की प्रशंसा करनी थी फिर हमारे जैसी कुरूप व्यक्तिको क्यों बुलाया था।४६२।

सद्विवेकके कारण [उत्पन्न निर्वेदका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

हे अजित ! राज्यलक्ष्मीके कारण मदमें चूर, पुत्र-स्त्री-कोष और भूमिमें ही लगे हुए, और मर्त्य [शरीर] को ही आत्मा समझनेवाले मुझ राजाका यह सारा काल कभी समाप्त न होनेवाली चिन्तामें ही व्यर्थ बीत गया।४६३।

अमंगलभूत इस निर्वेदको [व्यभिचारिभावोंकी गणनामें] सबसे पहले गिनाकर भरत-मुनिने इसको शान्तरसका स्थायिभाव भी माना है ऐसा किन्हीं [अभिनवगुप्तादि] का मत है।८।

२ अब विषाद [रूप व्यभिचारिभावके लक्षण उदाहरणादि देते हैं]—

इष्टानवाप्तिप्रारब्धकार्य्यासिद्धिविपत्तितः ॥ ६ ॥
अपराधादितोऽपि स्यादनुतापो विषण्णता ।
अत्रोपायसहायानुसंधिश्चिन्ता च रोदनम् ॥१०॥
विलापश्वासवैवर्ण्यमुखशोषादयोऽपि च ।

तत्रेष्टानवाप्तितो यथा—

जरां याता मूर्त्तिर्मम विवशतां वागपि गता
मनोवृत्तिश्चेयं स्मृतिविधुरतापद्धतिमगात् ।
अघध्वंसिन् ! दूरे वसतु भवदालोकनशशी
मया हन्त प्राप्तो न भजनरुचेरप्यवसरः ॥४६४॥

प्रारब्धकार्य्यासिद्धेर्यथा—

स्वप्ने मयाऽद्य कुसुमानि किलाहृतानि
यत्नेन तैर्विरचिता वनमालिका च ।
यावन्मुकुन्दहृदि हन्त निधीयते सा
हा तावदेव तरसा विरराम निद्रा ॥४६५॥

विपत्तेर्यथा—

कथमनायि पुरे मयका सुतः कथमसौ न निगृह्य गृहे धृतः ।
अमुमहो वत दन्तिविधुन्तुदो विधुरितं विधुमत्र विधित्सति ॥४६६॥

इष्टकी अप्राप्ति कार्यकी सिद्धिका न होने, विपत्ति और अपराध आदिके कारण होने वाला पश्चात्ताप 'विषाद' कहलाता है ।६।

इसमें उपायों तथा सहायकोंकी खोज, चिन्ता, रोदन, विलाप, दीर्घश्वास, विवर्णता और मुखका सूख जाना आदि [अनुभाव] होते हैं ।१०।

उनमेंसे इष्टकी प्राप्ति न होनेके कारण [होनेवाले विषादका उदाहरण] जैसे—

मेरा शरीर बूढ़ा हो गया, वाणी क्षीण हो गई और मन स्मरण-शक्तिसे रहित हो गया । हे पापनाशक ! [अथवा हे अघासुरके मारनेवाले कृष्ण] आपके दर्शनका चन्द्रमा [अर्थात् आपके मुखचन्द्रका दर्शन] तो दूर रहा, हाय मैंने तो कभी आपका भजन करनेकी रुचिका भी अवसर नहीं पाया । [मैंने तो कभी आपका रुचिसे भजन भी नहीं किया ।४६४।

प्रारब्ध कार्यकी असिद्धिके कारण [होनेवाले विषादका उदाहरण] जैसे—

आज स्वप्नमें मैंने [भगवान्के पूजनके लिए] फूल चुने और बड़े यत्नपूर्वक उनसे [घुटनों तक लटकनेवाली] वनमालाकी रचना की, किन्तु दुःखकी बात है कि जब मैं उसको कृष्णके गलेमें डालने लगी तभी मेरी नींद खुल गई ।४६५।

विपत्तिसे [उत्पन्न विषादका उदाहरण] जैसे—

[नन्दजी कह रहे हैं कि] मैं इस [कृष्ण] को मथुरा क्यों लाया, इसको पकड़कर घरमें ही क्यों नहीं रखा । [यहाँ लानेका दुष्परिणाम यह है कि] देखो यह हाथी रूप राहु इस [कृष्ण रूप] चन्द्रमाको नष्ट करना चाहता है ।४६६।

अपराधाद् यथा श्रीदशमे—

पश्येश ! मेऽनार्य्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥४६७॥

यथा वा—

स्यमन्तकमहं हृत्वा गतो घोरास्यमन्तकम् ।
करवै तरणीं कां वा क्षिप्तो वैतरणीमनु ॥४६८॥

अथ दैन्यं—

दुःखत्रासापराधाद्यैरनौर्ज्जित्यं तु दीनता ॥११॥
चाटुकृन्मान्द्यमालिन्यचिन्ताऽङ्गजडिमादिकृत् ।

तत्र दुःखेन यथा श्रीदशमे—

चिरमिह वृजिनार्त्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रो लब्धशान्तिः कथं चित् ।
शरणद ! समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ! ॥४६६॥

त्रासेन यथा प्रथमे—

अभिद्रवति मामीश ! शरस्तप्तायसः प्रभो ! ।
कामं दहतु मां नाथ ! मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥५००॥

अपराधके कारण [उत्पन्न विषादका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

हे प्रभो ! मेरी दुष्टता तो देखो कि जो मायावियोंमें भी माया करने वाले, अनादि, अनन्त आपके प्रति भी माया, छल करके अग्निके सामने उसकी ज्वाला के समान मैं अपनी सामर्थ्य को देखना चाहता था । ४६७ ।

अथवा जैसे—

मैं [अक्रूर] स्यमन्तक [मणि] का हरण करके भयंकर यमराज [के पाश] को प्राप्त हो गया हूँ । अब वैतरणी [नदी] में पड़कर कहो किसको नौका बनाऊँ । ४६८ ।

३—अब दैन्य [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण आदि कहते हैं]—

दुःख, त्रास, अपराध आदिके कारण होनेवाला अनौर्जित्य [अर्थात् अपनेको निकृष्ट समझनेकी भावना] 'दैन्य' कहलाता है। वह चाटुकारिता, मन्दता, मलिनता, चिन्ता तथा अंगोंकी निष्क्रियता आदिको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ११ ॥

उनमेंसे दुःखसे [उत्पन्न दैन्यका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

हे शरण प्रदायक प्रभो ! मैं दीर्घकाल तक पापोंसे पीड़ित और पश्चात्ताप से सन्तप्त होता हुआ तथा [काम, क्रोधादि] छः शत्रुओंसे प्रज्वलित [रहकर] किसी प्रकार [कुछ] शान्ति प्राप्त कर हे परमात्मन् अभय प्रदान करनेवाले और शोक नाश करनेवाले आपके चरणारविन्द [की] शरण में आया हूँ । हे भगवान् ! आप मेरी रक्षा करें । ४६६ ।

त्राससे [उत्पन्न दैन्यका उदाहरण] जैसे प्रथम [स्कन्ध] में—

परीक्षितकी माता अपने गर्भस्थ बालककी रक्षाके लिए प्रार्थना करती हुई कह रही है—

हे प्रभो ! गरम लोहे [के फल] वाला बाण मेरा पीछा कर रहा है। वह मुझे भले

अपराधेन यथा श्रीदशमे—

अतः क्षमस्वाच्युत ! मे रजोभुवोह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजाऽवलेपान्धतमोऽन्धचक्षुषएषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥५०१॥

आद्यशब्देन लज्जयाऽपि यथा तत्रैव—

माऽनयं भोः ! कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।
जानीमोऽङ्ग ! व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥५०२॥

अथ ग्लानिः—

ओजः सोमात्मकं देहे बलपुष्टिकृदस्य तु ॥१२॥
क्षयाच्छ्रमाधिरत्याद्यैर्ग्लानिर्निष्प्राणता मता ।
कम्पाङ्गजाड्यवैवर्ण्यकार्श्यदृग्भ्रमणादिकृत् ॥१३॥

तत्र श्रमेण यथा—

आघूर्णन्मणिवलयोज्ज्वलप्रकोष्ठा गोष्ठान्तर्मधुरिपुकीर्त्तिनर्त्तितौष्ठी ।
लोलाक्षी दधिकलसं विलोलयन्ती कृष्णाय क्लमभरनिःसहा बभूव ॥५०३॥

यथा वा—

गुम्फितुं निरुपमां वनस्रजं चारुपुष्पपटलं विचिन्वती ।
दुर्गमे क्लमभरार्तिदुर्बला कानने क्षणमभून्मृगेक्षणा ॥५०४॥

ही भस्म कर डाले किन्तु हे नाथ ! मेरा गर्भपात न होने पाए [उसकी रक्षा कीजिए] ।५००।

अपराधसे [उत्पन्न दैन्यका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में [ब्रह्मा कह रहे हैं]—

इसलिए हे अच्युत ! आपसे पृथक् [अपने-आपको] ईश्वर समझने वाले, [अजत्व अर्थात्] ईश्वरके गर्वके गहन अन्धकारसे अन्धे हुए मुझ [ब्रह्मा रूप] अविवेकी और रजोगुणी को [मयि नाथवान् इति] अपना दास मानकर क्षमा करो । ५०१ ।

'आद्य' शब्द [के ग्रहण] से लज्जा [का भी ग्रहण होता है । उस] से [उत्पन्न विषाद का उदाहरण] जैसे वहीं [अर्थात् दशम स्कन्धमें]—

अरे, यह अनीति मत करो । व्रजभूमिमें प्रसिद्ध नन्दगोपके पुत्र और अपने प्रिय आपको हम [गोपियाँ] जानती हैं, हमारे कपड़े हमको दे दो। [देखो] हम काँप रही हैं । ५०२ ।

४—अब ग्लानि [रूप व्यभिचारिभावके लक्षण उदाहरण देते हैं]—

शरीरमें बल तथा पुष्टिको प्रदान करनेवाला ओज है उसका नाश होनेसे, थकावट तथा मानसी व्यथा [आदि] इत्यादिके कारण उत्पन्न निष्प्राणता 'ग्लानि' कहलाती है इससे [शरीरमें] कम्प, जाड्य, विवर्णता, कृशता और आंखोंका घूमने लगना आदि [अनुभाव] होते हैं ।१२-१३।

उनमेंसे श्रमसे [उत्पन्न ग्लानिका उदाहरण] जैसे—

घूमते हुए मणिके कंकणसे जिसकी कलाई चमक रही है और मधुरिपु कृष्णके कीर्तनमें जिसके ओठ नाच रहे हैं इस प्रकारकी चंचल नेत्रोंवाली [यशोदा] कृष्णके लिए दही के कलशका मन्थन करती हुई परिश्रमकी अधिकताके कारण बिलकुल थक गई । ५०३ ।

अथवा जैसे—

अनुपम वनमालाकी रचना करनेके निमित सुन्दर पुष्पोंको चुनती हुई मृगेक्षणा

आधिना यथा —

सा रसव्यतिकरेण विहीना क्षीणजीवनतयोच्चलहंसा ।
माधवाद्य विरहेण तवाम्बा शुष्यति स्म सरसी शुचिनेव ॥५०५॥

रत्या यथा रससुधाकरे—

अतिप्रयत्नेन रतान्ततान्तां कृष्णेन तल्पादवरोपिता सा ।
आलम्ब्य तस्यैव करं करेण ज्योत्स्नाकृतानन्दमलिन्दमाप ॥५०६॥

अथ श्रमः—

अध्वनृत्यरताद्युत्थः खेदः श्रम इतीर्य्यते ।
निद्रास्वेदाङ्गसंमर्द्दजृम्भाश्वासादिभागसौ ॥१४॥

तत्राध्वनो यथा—

[राधा] दुर्गम काननमें श्रमाधिक्यके कारण तनिक देरकेलिए अत्यन्त दुर्बल हो गई । ५०४ ।

आधि [मानसी व्यथा] से [उत्पन्न ग्लानिका उदाहरण] जैसे—

इस श्लोकमें श्लेष है । इसमें रस, जीवन, हंस शब्दोंके दो-दो अर्थ हैं । 'रस' शब्दका एक अर्थ आनन्द और दूसरा अर्थ जल है । 'जीवन' शब्द भी एक अर्थ पक्षमें जलका वाचक और दूसरे पक्षमें जीवनका बोधक है । 'हंस' शब्द एक पक्षमें हंस पक्षीका और दूसरे पक्षमें प्राण या आत्माका वाचक है । 'शुचि' शब्दका एक पक्षमें शोक और दूसरे पक्षमें ग्रीष्म ऋतु अर्थ होता है । कविने कृष्णकी माता यशोदाको 'सरसी' तालाव वनाया है, जो कृष्ण-वियोग के शोकमें उसी प्रकार सूखी जा रही है जिस प्रकार गीष्म ऋतुमें 'सरसी' सूख जाती है । सूखनेवाली सरसी 'रसव्यतिकर' अर्थात् जलके सम्पर्कसे रहित और 'क्षीण-जीवना' अर्थात् स्वल्प जलवाली हो जाती है । और उससे हंस पक्षी उड़कर अन्यत्र चले जाते हैं । इसी प्रकार कृष्णके वियोगमें यशोदा 'रस-व्यतिकर' से रहित अर्थात् आनन्द'विहीन और 'क्षीण-जीवना' अर्थात जिसकी जीवनशक्ति नष्ट हो गई है तथा 'उच्चलद् हंसा' अर्थात जिसकी आत्मा या प्राण उन्हें छोड़कर जाना चाहता है इस प्रकारकी हो गई हैं । यह कविका भाव है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

हे कृष्ण ! आनन्दसे विहीन [यशोदा सरसी पक्षमें जलसे विहीन] जीवन[जीवनीशक्ति यशोदा पक्षमें, और सरसी पक्षमें जलके] के कम हो जानेसे [यशोदा पक्षमें हंस अर्थात्] जिसके प्राण [सरसी पक्षमें हंस पक्षी] उड़े जा रहे हैं इस प्रकारकी तुम्हारी माता [यशोदा] आज ग्रीष्म ऋतुमें सूखती हुई सरसीके समान सूखी जा रही है । ५०५ ।

रतिसे [उत्पन्न ग्लानिका उदाहरण] जैसे रससुधाकरमें—

रतिके अन्तमें थकी हुई उस [गोपी] को कृष्णने बड़े प्रयत्नसे शैय्यापरसे उतारा और उन्हीं [कृष्णका हाथ थामकर वह चाँदनीसे मनोहर चबूतरे पर आई । ५०६ ।

५—अब श्रम [रूप व्यभिचारिभावके लक्षण आदि आगे देते हैं]—

मार्ग [के चलने], नृत्य तथा रति आदिसे उत्पन्न थकावटको 'श्रम' कहा जाता है । इसमें निद्रा, पसीना, अंगोंका सम्मर्दन, जम्भाई और दीर्घश्वास आदि होते हैं ॥ १४ ॥

उनमेंसे मार्गगमनसे [उत्पन्न श्रमका उदाहरण] जैसे—

कृतागसं पुत्रमनुव्रजन्ती व्रजाजिरान्तर्व्रजराजराज्ञी।
परिस्खलत्कुन्तलबन्धनेयं बभूव घर्म्माम्बुकरम्बिताङ्गी ॥५०७॥

नृत्याद्यथा—

विस्तीर्य्योत्तरलितहारमङ्गहारं संगीतोन्मुखमुखरैर्वृतः सुहृद्भिः।
अस्विद्यद्विरचितनन्दसूनुपर्वा कुर्वाणस्तटभुवि ताण्डवानि रामः ॥५०८॥

रताद्यथा श्रीदशमे—

तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शान्तमेनाङ्ग ! पाणिना ॥५०९॥

अथ मदः—

विवेकहर उल्लासो मदः स द्विविधो मतः।
मधुपानभवोऽनङ्गविक्रियाभरजोऽपि च ॥१५॥
गत्यङ्गवाणीस्खलनदृग्घूर्णारक्तिमादिकृत्।

तत्र मधुपानभवो यथा ललितमाधवे—

विले क नु विलिल्यिरे नृपपिपीलिकाः पीडिताः
पिनष्मि जगदण्डकं ननु हरिः क्रुधं धास्यति।
शचीगृहकुरङ्ग रे ! हससि किं त्वमित्युन्नद—
न्नुदेति मदडम्बरस्खलितचूडमग्रे हली ॥५१०॥

अपराध करके भागनेवाले पुत्र [कृष्ण] के पीछे [उसको पकड़नेके लिए] भागती हुई इस व्रजराजकी रानी [यशोदा] के सारे बाल खुल गए है और पसीनेसे तर हो गई है ।५०७।

नृत्यके कारण [उत्पन्न श्रमका उदाहरण] जैसे—

[नृत्यके समय] जिसमें हार हिल रहा है इस प्रकारके अंगहार [आंगिक चेष्टाओं] को करके गीतोन्मुख वाचाल मित्रोंसे घिरे हुए [यमुनाके] किनारेकी भूमिपर नाचते हुए बलराम [नन्दसूनु अर्थात्] कृष्णको नाचनेकी बारी देकर थककर बैठ गए [अस्विद्यत] ।५०८।

रमणके कारण [उत्पन्न श्रमका उदाहरण] जैसे दशम [स्कन्ध] में—

रति-विहारके कारण थकी हुई उन [गोपियों] के [पसीनेसे तर हुए] मुखोंको [उनकी इस दशाको देखकर] दया करते हुए कृष्ण ने ['अच्युत' होनेके कारण स्वयंमें किसी प्रकारका विकार न होनेसे] शान्त हाथसे पोंछ दिया । ५०९ ।

६—अब मद [रूप व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण आगे देते हैं]—

विवेकका हरण कर लेनेवाला आनन्दातिरेक 'मद' कहलाता है । और वह १ मद्य-पानसे तथा २ मदन-विकारके अतिरेकसे उत्पन्न होनेसे दो प्रकारका होता है । उसमें गति, अंगों और वाणीमें स्खलन, आंखोंका घूमना और लालिमा आदि होती है ॥ १५ ॥

उनमेंसे मद्यपानसे उत्पन्न [मदका उदाहरण] जैसे 'ललितमाधव' में—

[हलधर बलराम मद्यके नशेमें कह रहे हैं कि] अरे राजा रूप चींटियो ! डरकर तुम किस बिलमें घुस गए हो ? कृष्ण नाराज हो जावेंगे, नहीं तो मैं सारे जगत् रूप अण्डेको ही पीस डालता । अरे शचीके गृहकुरंग [अर्थात् इन्द्र] तू क्यों हँस रहा है ? इस प्रकार गरजते

अथ वा प्राचां—

भभभ्रमति मेदिनी लललम्बते चन्द्रमाः
कृकृष्ण ! ववद द्रुतं हहहसन्ति किं वृष्णयः ।
शिशीधु मुमुमुञ्च मे पपपपानपात्रस्थितं—
मदस्खलित मालपन् हलधरः श्रियं वः क्रियात् ॥५११॥

उत्तमस्तु मदाच्छेते मध्यो हसति गायति ॥१६॥
कनिष्ठः क्रोशति स्वैरं परुषं वक्ति रोदिति ।
मदोऽपि त्रिविधः प्रोक्तस्तरुणादिप्रभेदतः ॥१७॥
अत्र नात्युपयोगित्वाद्विस्तार्य्यं न हि वर्णितः ।

अनङ्गविक्रियाभरजो यथा—

व्रजपतिसुतमग्रे प्रेक्ष्य भुग्नीभवद्भ्रू-
र्भ्रमति हसति रोदित्यास्यमन्तर्दधाति ।
प्रलपति मुहुरालीं वन्दते पश्य वृन्दे !
नवमदनमदान्धा हन्त गान्धर्विकेयम् ॥५१२॥

अथ गर्वः—

सौभाग्यरूपतारूण्यगुणसर्वोत्तमाश्रयैः ॥१८॥

हुए और मदके अतिशयके कारण जिनका सिर झुका जा रहा है इस प्रकारके हलधर बलराम आ रहे हैं। ५१०।

अथवा जैसे प्राचीनोंका [निम्न पद्य इस मदका उदाहरण है]—

इस पद्यमें 'भ्रमति' के पहले भ भ भ, 'लम्बते' के पहले ल ल ल आदि वर्ण जो दिए गए हैं वे मद्यके नशेमें चूर व्यक्तिके बोलनेके अनुकरणके रूपमें है। नशेमें चूर व्यक्ति इसी प्रकार हकलाता हुआ बोलता है।

[नशेके कारण] पृथिवी घूम रही [मालूम देती] है। चन्द्रमा नीचे लटकता [सा दिखलाई देता] है। हे कृष्ण ! जल्दी बतलाओ, क्या [मुझको देखकर] यादव लोग हँस रहे हैं। पान-पात्रमें मेरे लिए शराब छोड़ दो। इस प्रकार मदसे हकलाते हुए बात करने वाले हलधर बलराम तुम्हें लक्ष्मी प्रदान करें। ५११।

उत्तम प्रकृति [का पुरुष] मदसे सो जाता है, मध्यम प्रकृति हँसता तथा गाता है और अधम पुरुष शोक करता है, ऊट-पटाँग और अप्रिय भाषण करता है ॥ १६ ॥

तरुण [मध्यम और तीव्र] आदि भेदसे मद भी तीन प्रकारका कहा गया है। किन्तु यहाँ उसका अधिक उपयोग न होनेसे विस्तारपूर्वक उसको नहीं दिखलाया है ॥ १७ ॥

कामविकारके आधिक्यसे उत्पन्न [मदका उदाहरण] जैसे—

कृष्णजीको सामने देखकर हे वृन्दे ! देखो गन्धर्वप्रस्तासी [गान्धर्विका] यह, नवीन कामदेवके मदसे अन्धी होकर भौंहें टेढ़ी किए हुए घूम रही है [कभी] हँसती हैं [कभी] रोती है [कभी] मुख छिपा लेती है [कभी] बकती है और बार-बार सखीको प्रणाम करती है ॥५१२॥

७—अब 'गर्व' [रूप व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

अपने सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण और समस्त उत्तम वस्तुओंके आश्रय होने, तथा

इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व ईर्य्यते ।
तत्र सोल्लुण्ठवचनं लीलाऽनुत्तरदायिता ॥१६॥
स्वाङ्गेक्षा निन्हवोऽन्यस्य वचनाश्रवणादयः ।

तत्र सौभाग्येन यथा बिल्वमङ्गले—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण ! किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्य्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥५१३॥

रूपयौवनाभ्यां यथा—

यस्याः स्वभावमधुरां परिषेव्य मूर्त्ति-
धन्या बभूव नितरामपि यौवनश्रीः ।
सेयं त्वयि व्रजवधूशतभुक्तमुक्ते
दृक्पातमाचरतु कृष्ण ! कथं सखी मे ॥५१४॥

गुणेन यथा—

गुम्फन्तु गोपाः कुसुमैः सुगन्धिभि-
र्दामानि कामं धृतरामणीयकैः ।
निधास्यते किन्तु सतृष्णमग्रतः
कृष्णो मदीयां हृदि विस्मितः स्रजम् ॥५१५॥

सर्वोत्तमाश्रयेण यथा श्रीदशमे—

तथा न ते माधव ! तावकाः क्व चिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।

इष्ट-प्राप्ति आदिके कारण दूसरोंकी अवहेलना करना 'गर्व' कहलाता है ॥ १८ ॥

उसमें उलाहने पूर्वक बात करना, हाव-भाव दिखलाना, उत्तरदायित्वकी भावनाका न होना, अपने अंगोंको देखना, [अपने अभिप्राय या अंगोंका] छिपाना और दूसरेकी बातको न सुनना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ १६ ॥

उनमेंसे सौभाग्यसे [उत्पन्न गर्वका उदाहरण] जैसे बिल्वमंगलमें—

हे कृष्ण ! [मुझे अबल जानकर] जबरदस्ती हाथ छुड़ाकर भागे जा रहे हो इसमें क्या आश्चर्यकी बात है । किन्तु यदि मेरे हृदयसे निकलकर जाओ तो तुम्हारी बहादुरी समझूँ ।५१३।

रूप तथा यौवनसे [उत्पन्न गर्वका उदाहरण] जैसे—

जिसकी स्वभावतः मनोहारिणी मूर्तिका सेवन कर यौवनश्री अत्यन्त धन्य हुई, मेरी वह सखी [राधा], सैकड़ों ब्रज-वनिताओं द्वारा भोग कर छोड़े हुए हे कृष्ण ! तुम्हारी ओर दृष्टिपात कैसे कर सकती है । ५१४ ।

गुणसे [उत्पन्न गर्वका उदाहरण] जैसे—

गोप लोग सुन्दर-सुन्दर सुगन्धित फूलोंसे भले ही मालाएँ बनाएँ किन्तु हृदयमें प्रसन्न हुए कृष्ण सबसे पहले आदरपूर्वक मेरी ही मालाको धारण करेंगे । ५१५ ।

समस्त उत्तम पदार्थोंके आश्रयसे [उत्पन्न गर्वका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

हे माधव ! तुमसे प्रेम करनेवाले तुम्हारे भक्त कभी कहीं मार्गसे भ्रष्ट नहीं होते हैं ।

त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया-
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ! ॥५१६॥

इष्टलाभेन यथा—

बृन्दावनेन्द्र ! भवतः परमं प्रसाद-
मासाद्य नन्दितमतिर्मुहुरुद्धतोऽस्मि ।
आशंसते मुनिमनोरथवृत्तिमृग्यां—
वैकुण्ठनाथकरुणामपि नाद्य चेतः ॥५१७॥

अथ शङ्का—

स्वीयचौर्य्यापराधादेः परक्रौर्यादितस्तथा ॥२०॥
स्वानिष्टोत्प्रेक्षणं यत्तु सा शङ्केत्यभिधीयते ।
अत्रास्यशोषवैवर्ण्यदिक्प्रेक्षालीनताऽऽदयः ॥२१॥

तत्र चौर्य्याद्यथा—

सतर्णकं डिम्भकदम्बकं हरन् सदम्भमम्भोरुहसम्भवस्तदा ।
तिरोभविष्यन् हरितश्चलेक्षणैरष्टाभिरष्टौ हरितः समीक्षते ॥५१८॥

यथा वा—

स्यमन्तकं हन्त वमन्तमर्थं निन्हुत्य दूरं यदहं प्रयातः ।
अवद्यमद्यापि तदेव कर्म्म शर्म्माणि चित्ते मम निर्भिनत्ति ॥५१९॥

तुम्हारे द्वारा रक्षित होकर वे सदा विघ्नराज विनायकके सेनापतियों [अर्थात् प्रबल विघ्नों] के सिरपर निर्भय घूमते हैं [अर्थात् विघ्नोंकी चिन्ता नहीं करते हैं]। ५१६ ।

इष्टलाभसे [उत्पन्न गर्वका उदाहरण] जैसे—

हे वृन्दावनके स्वामिन् ! आपकी कृपाको प्राप्त कर प्रसन्नमति मैं फिर उद्धत हो गया हूँ । इसलिए आज मेरा चित्त मुनियोंके द्वारा भी मनोरथ मात्रसे खोजने योग्य वैकुण्ठनाथ करुणाको भी नहीं चाहता है । ५१७ ।

८—अब शंका [रूप व्यभिचारिभावका वर्णन करते हैं]—

अपने चौर्य अपराध तथा दूसरेकी क्रूरता आदिके कारण जो अपने अनिष्टकी सम्भावना है वह 'शंका' कहलाती हैं । इसमें मुखका सूख जाना, विवर्णता, इधर-उधर ताकना और छिपना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ २०-२१ ॥

उनमेंसे चौर्यके कारण [होनेवाली शंकाका उदाहरण] जैसे—

उस समय [तर्णक] बछड़ेके सहित सारे बच्चोंको चुराकर कृष्णकी दृष्टिसे बचने के लिए [अपने चारों मुखोंकी आंखोंको मिलाकर] आठों आंखोंसे ब्रह्मा आठों दिशाओंको देख रहे थे । ५१८ ।

अथवा जैसे—

[अर्थको प्रदान करनेवाले अथवा चोरी रूप] अर्थको [स्वयं ही] प्रकाशित करनेवाले स्यन्तक मणिको छिपाकर जो मैं दूर भाग आया मेरा वह निन्दित कार्य आज भी मेरे हृदय [मर्मस्थान] को भेद रहा [पीड़ित कर] रहा है । ५१९ ।

अपराधाद्यथा—

तदवधि मलिनोऽसि नन्दगोष्ठे यदवधि वृष्टिमचीकरः शचीश !
शृणु हितमभितः प्रपद्य कृष्णांघ्रियमविशङ्कमलंकुरु त्वमैन्द्रीम् ॥५२०॥

परक्रौर्य्येण यथा पद्यावल्यां—

प्रथयति न तथा ममार्त्तिमुच्चैः सहचरि ! बल्लवचन्द्रविप्रयोगः।
कटुभिरसुरमण्डलैः परीते दनुजपतेर्नगरे यथाऽस्य वासः ॥५२१॥

शङ्का तु प्रवरस्त्रीणां भीरुत्वाद्भयकृद्भवेत् ।

अथ त्रासः—

त्रासः क्षोभो हृदि तडिद्घोरसत्त्वोग्रनिस्वनैः ॥२२॥
पार्श्वस्थालम्बरोमाञ्चकम्पस्तम्भभ्रमादिकृत् ।

तत्र तडिता यथा—

वाढं निबिडया सद्यस्तडिता ताडितेक्षणः।
रक्ष कृष्णेति चुक्रोश कोऽपि गोपीस्तनन्धयः ॥५२२॥

घोरसत्त्वेन यथा—

अदूरमासेदुषि वल्लवाङ्गना स्वं पुङ्गवीकृत्य सुरारिपुङ्गवे ।
कृष्णभ्रमेणाशु तरङ्गदङ्गिका तमालमालिङ्ग्य बभूव निश्चला ॥५२३॥

अपराधके कारण [होनेवाली शंकाका उदाहरण] जैसे—

हे शचीश [इन्द्र] ! गोकुलमें नन्दके बाड़ेमें जो तुमने वृष्टि की, इतना ही तुम्हारा अपराध है। इसलिए अपने हितकी बात सुन, और पूर्णतः कृष्णकी शरणमें जाकर [अपने उस अपराधकी क्षमा माँगकर] तुम इन्द्र पदकी लक्ष्मीका यथेष्ट भोग करो। ५२०।

दूसरेकी क्रूरताके कारण [उत्पन्न शंकाका उदाहरण] जैसे—

हे सखि ! मुझे कृष्णचन्द्रका वियोग उतना कष्टदायक नहीं हो रहा जितना कि भयानक राक्षसोंसे भरे दानवराज [कंस] के नगर [मथुरा] में उनका निवास [उसके अनिष्टकी शंका मनमें उत्पन्न कर रहा है]। ५२१।

उत्तम [प्रकृतिकी] स्त्रियोंमें उनके भीरु होनेके कारण शंका भयको उत्पन्न करनेवाली होती है।

९—अब त्रास [नामक व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

बिजली, भयानक प्राणियोंके डरावने शब्द, आदिके द्वारा हृदयमें उत्पन्न घबराहट 'त्रास' कहलाता है। उसमें पासमें स्थितको पकड़ लेना, रोमांच, कम्प, स्तम्भ औरर चक्कर काटना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ २२ ॥

उनमेंसे विद्युतसे होनेवाले [त्रासका उदाहरण] जैसे—

अत्यन्त भयानक बिजली [की चमक] से जिसकी आँखें बन्द हो गई हैं इस प्रकारका कोई गोप, 'हे कृष्ण ! बचाओ' कहकर चिल्लाया। ५२२।

भयंकर प्राणीसे [उत्पन्न त्रासका उदाहरण] जैसे—

वृषभका रूप धारण कर दानवराजके पास आनेदर [त्रासके कारण] काँपती हुई

उग्रनिस्वनेन यथा—

आकर्ण्य कर्णपदवीविपदं यशोदा
विस्फूर्जितं दिशि दिशि प्रकटं वृकाणाम् ।
यामान्त्रिकामचतुरा चतुरः स्वपुत्रं—
सा नेत्रचत्वरचरं चिरमाचचार ॥५२४॥

गात्रोत्कम्पी मनःकम्पः सहसा त्रास उच्यते ॥२३॥
पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथग्भवेत् ।

अथावेगः—

चित्तस्य संभ्रमो यः स्यादावेगोऽयं स चाष्टधा ॥२४॥
प्रियाप्रियानलमरुद्वर्षोत्पातगजारितः ।
प्रियोत्थे पुलकः सान्त्वं चापलाभ्युद्गमादयः ॥२५॥
अप्रियोत्थे तु भूपातविक्रोशभ्रमणादयः ।
व्यत्यस्तगतिकम्पाक्षिमीलनास्त्रादयोऽग्निजे ॥२६॥

गोपवधू [पासमें खड़े हुए] तमालके वृक्षको कृष्ण समझकर उससे आलिंगन करके निश्चल हो गईं । ५२३ ।

भयानक शब्दसे [उत्पन्न त्रासका उदाहरण] जैसे—

चारों ओर कानोंको कष्ट देनेवाले भेड़ियोंके भयंकर शब्दोंको सुनकर अत्यन्त चतुरा यशोदाने [रात्रिके] चारों पहर तक अपने पुत्रको अपनी [नेत्रोंके चबूतरेपर विचरण करनेवाला बनाया अर्थात्] आँखोंके सामनेसे तनिक भी हटने नहीं दिया ।

अगली कारिकामें ग्रन्थकार भय और त्रासका भेद दिखलाते हैं ।

शरीरको कम्पित कर देनेवाला सहसा अकस्मात् उत्पन्न मानसिक क्षोभ 'त्रास' कहलाता है और पूर्वापर विचारके बाद उत्पन्न [गात्रकम्पी मनःक्षोभ] 'भय' होता है जो त्राससे भिन्न होता है ॥ २३ ॥

१०—अब आवेग [नामक व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

चित्तमेंजो घबराहटका होना है वह 'आवेग' कहलाता है और वह आठ प्रकारका होता है । १ प्रिय, या २ अप्रिय [के दर्शन या श्रवण] से, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ वर्षा, ६ उत्पात, ७ हाथी और ८ शत्रु [इन आठ कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण आठ प्रकारका आवेग होता है] ॥ २४ ॥

प्रिय [के दर्शन या श्रवण] से उत्पन्न [आवेग] में रोमांच, सान्त्वना, चपलता और [स्वागतके लिए] उठकर खड़ा हो जाना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ २५ ॥

अप्रिय [के दर्शन या श्रवण] से उत्पन्न [आवेग] में पृथिवीपर गिर पड़ना, चिल्लाना और चारों ओर घूमने लगना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ २६ ॥

अग्निसे उत्पन्न [आवेग] में अस्त-व्यस्त गति, कम्प, आँखोंका बन्द हो जाना और आँसू आ जाना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ २६ ॥

वातजेऽङ्गावृतिक्षिप्रगतिदृङ्मार्जनादयः ।
वृष्टिजोधावनच्छत्रगात्रसंकोचनादिकृत् ॥२७॥
उत्पाते मुखवैवर्ण्यविस्मयोत्कम्पिताऽऽदयः ।
गाजे पलायनोत्कम्पत्रासपृष्ठेक्षणादयः ॥२८॥
अरिजो वर्म्मशस्त्रादिग्रहापसरणादिकृत् ।

प्रियदर्शनजो यथा—

प्रेक्ष्य बृन्दावनात्पुत्रमायान्तं प्रस्नुतस्तनी ।
संकुला पुलकैरासीदाकुला गोकुलेश्वरी ॥५२६॥

प्रियश्रवणजो यथा श्रीदशमे—

श्रुत्वाऽच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।
तत्कथाऽऽक्षिप्तमनसो बभूवुर्ज्जातसंभ्रमाः ॥५२७॥

अप्रियदर्शनजो यथा—

किमिदं किमिदं किमेतदुच्चैरितिघोरध्वनिघूर्णिता लपन्ती ।
निशि वक्षसि वीक्ष्य पूतनायास्तनयं भ्राम्यति संभ्रमाद्यशोदा ॥५२८॥

वायुसे उत्पन्न [आवेग] में शरीरको ढकना, तेजीसे चलना, और आँखोंको पोंछना आदि [अनुभाव] होते हैं।

वृष्टिसे उत्पन्न [आवेग] में दौड़ना, छाता लेना और शरीरका संकोच आदि [अनुभाव होते हैं॥ २७॥

उत्पातसे उत्पन्न [आवेग] में मुखकी विवर्णता, आश्चर्य और कम्पन आदि [अनुभाव होते हैं।

हाथीसे उत्पन्न [आवेग] में भागना, काँपना, त्रास और [भागते समय बार-बार मुड़कर] पोछेकी ओर देखना आदि [अनुभाव] होते हैं॥ २८॥

शत्रुसे उत्पन्न आवेग कवच धारण, शस्त्रादिके ग्रहण और अपसरण आदिका जनक होता है।

प्रियदर्शनसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

वृन्दावनसे पुत्रको आता हुआ देखकर गोकुलेश्वरी [यशोदा] के स्तनोंसे दूध टपकने लगा और उसका शरीर रोमांचसे भर गया। ५२६।

प्रियके श्रवणसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

कृष्णके आनेकी बातको सुनकर, सदैव उनके दर्शनके लिए उत्सुक रहनेवाले और उनकी कथामें ही जिनका मन लगा रहता है वे [कृष्णके प्रेमी] सम्भ्रम युक्त हो गए।५२७।

अप्रियके दर्शनसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

रात्रिमें [स्वप्न देखते हुए] पुत्र [कृष्ण] की पूतनाको छातीपर देखकर यशोदा 'यह क्या है, यह क्या है, यह ऊँचा-ऊँचा क्या है' इस प्रकार आवाजमें चिल्लाती हुई यशोदा सम्भ्रमके कारण चक्कर काट रही है। ५२८।

अप्रियश्रवणजो यथा—

निशम्य पुत्रं त्रुटतोस्तटान्ते महीजयोर्मध्यगमूर्ध्वनेत्रा ।
आभीरराज्ञी हृदि संभ्रमेण विद्धा विधेयं न विदांचकार ॥५२६॥

अग्निजो यथा—

धीर्व्यग्राऽजनि नः समस्त सुहृदां त्वां प्राणरक्षामणि-
गव्या गौरवतः समीक्ष्य निबिडे तिष्ठन्तमन्तर्वणे ।
वन्हिः पश्य शिखण्डशेखरखरं मुञ्चन्नखण्डध्वनिं-
दीर्घाभिः सुरदीर्घिकाऽम्बुलहरीमर्चिभिराचामति ॥५३०॥

वातजो यथा—

पांशुप्रारब्धकेतौ बृहदटविकुटोन्माथिशौटीर्य्यपुञ्जे
भाण्डीरोद्दण्डशाखाभुजततिषु गते ताण्डवाचार्य्यचर्य्याम् ।
वातव्राते करीषङ्कषतरशिखरे शार्करे झात्करिष्णौ
क्षोण्यामप्रेक्ष्य पुत्रं व्रजपतिगृहिणी पश्य संबम्भ्रमीति ॥५३१॥

वर्षजो यथा श्रीदशमे—

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।
गोपा गोप्यश्च शीतार्त्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥५३२॥

अप्रियके श्रवणसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

[यमुनाके] किनारेपर गिरते हुए [यमलार्जुनके] दोनों वृक्षोंके बीचमें कृष्णको आया हुआ देखकर आभीरराज्ञी [यशोदा] की आँखें ऊपर चढ़ गईं और हृदयमें घबराहट हो जाने के कारण अब क्या करना चाहिए इसका निश्चय नहीं कर सकी [किंकर्तव्यविमूढ़ हो गईं] । ५२६ ।

अग्निसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

हे [शिखण्डशेखर] मोरमुकुटधारी ! इस आगको देखो, निरन्तर भयंकर शब्द करता हुआ लम्बी-लम्बी ज्वालाओंसे यह सुरदीर्घिका [बावड़ी] के जलकी लहरोंका पान कर रहा है । इसको देखकर हम तो घबड़ा गए और समस्त सुहृदोंके प्राणोंके रक्षामणिके समान बनके भीतर स्थित तुमको यह [गव्या अर्थात्] गो-समुदाय गौरवसे देखती हुई [तुम्हारे चारों ओर] इकट्ठा हो गया । ५३० ।

वायुसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

धूलिकी ध्वजा उड़ानेवाले, विस्तीर्ण वनके वृक्षोंको उखाड़ डालनेवाली, शक्तिके पुंज भाण्डीर वनकी ऊँची-ऊँची शाखा रूप भुजाओंके नचानेमें आचार्यत्वको प्राप्त, मिट्टीसे भरे हुए, झाँय-झाँय शब्द करते हुए प्रचण्ड आंत्रीके रूपमें उठे हुए वायुवेगके भीतर पुत्र [कृष्ण] को न देखकर व्रजपतिगृहिणी [यशोदा] व्याकुल होकर घूम रही है । ५३१ ।

वर्षासे उत्पन्न [आवेग का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

अत्यन्त धारावृष्टि और तीव्र वायुके कारण पशु कांपने लगे और शीतसे दुःखी होकर गोप तथा गोपियाँ कृष्णकी शरणमें आए। ५३२ ।

यथा वा—

समसुरुकरकाभिर्दन्तिशुण्डासपिण्डाः
प्रतिदिशमिह गोष्ठे वृष्टिधाराः पतन्ति ।
अजनिषत युवानोऽप्याकुलास्त्वं तु बालः
स्फुटमसि तदगारान्मा स्म भूर्निर्ययियासुः ॥५३३॥

उत्पातजो यथा—

क्षितिरतिविपुला टलत्यकस्मादुपरि घुरन्ति च हन्त घोरमुल्काः ।
मम शिशुरहिदूषितार्कपुत्रीतटमटतीत्यधुना किमत्र कुर्य्याम् ॥५३४॥

गाजो यथा—

अपसरापसर त्वरया गुरुर्मुदिरसुन्दर हे ! पुरतः करी ।
म्रदिमवीक्षणतस्तव नश्चलं हृदयमाविजते पुरयोषिताम् ॥५३५॥

गजेन दुष्टसत्त्वोऽन्योऽप्यश्वादिरुपलक्ष्यते ॥२६॥

चण्डांशोस्तुगान् सटाऽग्रनटनैराहत्य विद्रावयन्
द्रागन्धङ्करणः सुरेन्द्रसुदृशां गोष्ठोद्धुतैः पांशुभिः ।
प्रत्यासीदतु मत्पुरः सुररिपुर्गर्वान्धमर्वाकृति-
र्द्राघिष्ठे मुहुरत्र जाग्रति भुजे व्यग्राऽसि मातः ! कथम् ॥५३६॥

अरिजो यथा ललितमाधवे—

अथवा जैसे—

गोकुलमें चारों ओर बड़े-बड़ ओलोंके साथ हाथीकी सूँडके समान मोटी-मोटी वर्षा की धाराएँ गिर रही हैं जिससे नवयुवक भी घबड़ा गए हैं । तुम तो बिलकुल बालक हो इसलिए घरसे बाहर मत निकलो । ५३३ ।

उत्पातसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

यह विस्तीर्ण पृथिवी अकस्मात् हिल रही है, ऊपर आकाशमें भयंकर उल्काएँ घूम रही हैं और मेरा बालक [कृष्ण] सर्पसे युक्त यमुनाके किनारे घूम रहा है, अब मैं क्या करूँ । ५३४ ।

हाथीसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे—

हे आनन्ददायक सुन्दर [कृष्ण] ! हटो-हटो, सामने बड़ा हाथी आ रहा है । तुम्हारी कोमलताको देखकर नगर-निवासिनी हम स्त्रियोंका चित्त घबराता है । ५३५ ।

गज शब्दसे यहाँ अश्व आदि अन्य दुष्ट प्राणियोंका भी ग्रहण होता है ॥ २६ ॥

अपने अयालों [सटाओं] के हिलाने के द्वारा सूर्यके अश्वोंको [भी] मारकर भगा देने वाले, और गोकुल गोष्ठसे उड़ाई हुई धूलिसे देवराज इन्द्रकी स्त्रियोंको भी अन्धा कर देने वाले, अश्वकी आकृति वाले दानवराजको मेरे पास तक आने तो दो, मेरी इन लम्बी-लम्बी भुजाओंके विद्यमान रहते हैं मातः ! आप क्यों घबड़ाती हैं [मैं उस दानवराजको क्षण भरमें मारकर रख दूँगा] ।५३६।

शत्रुसे उत्पन्न [आवेगका उदाहरण] जैसे 'ललितमाधव' में—

स्थूलस्तालभुजोन्नतिर्गिरितटीवक्षाः क्व यक्षाधमः
क्वायं बालतमालकन्दलमृदुः कन्दर्पकान्तः शिशुः।
नास्त्यन्यः सहकारितापटुरिह प्राणी न जानीमहे
हा गोष्ठेश्वरि! कीदृगद्य तपसां पाकस्तवोन्मीलति ॥५३७॥

यथा वा तत्रैव—

सप्तिः सप्ती रथ इह रथः कुञ्जरः कुञ्जरो मे
तूणस्तूणो धनुरुत धनुर्भोः! कृपाणी कृपाणी।
का भीः का भीरयमयमहं हा त्वरध्वं त्वरध्वं-
राज्ञः पुत्री वत हृतहृता कामिना वल्लवेन ॥५३८॥

आवेगाभास एवायं पराश्रयतयाऽपि चेत्।
नायकोत्कर्षबोधाय तथाऽप्यत्र निर्दशितः ॥३०॥

अथोन्मादः—

उन्मादो हृद्भ्रमः प्रौढानन्दापद्विरहाधिजः।
अत्राट्टहासो नटनं संगीतं व्यर्थचेष्टितम् ॥३१॥
प्रलापधावनाक्रोशविपरीतक्रियाऽऽदयः।

तत्र प्रौढानन्दाद्यथा बिल्वमङ्गले—

अत्यन्त स्थूल, ताड़के समान लम्बी भुजाओं वाला, और पर्वतकी तटीके समान चौड़े वक्षःस्थल वाला वह दुष्ट यक्ष कहां, और कहां छोटेसे तमालके अंकुरके समान कोमल शरीरवाला यह सुन्दर बालक [कृष्ण] यहाँ इसके पास इस समय सहायता देने वाला कोई दूसरा प्राणी भी नहीं है, हे गोकुलेश्वरि! पता नहीं आज तुम्हारे किस प्रकारके तपका फल उदय हो रहा है।५३७।

अथवा जैसे वहीं [दूसरा उदाहरण]—

अरे! घोड़ा [लाओ] घोड़ा, अरे! रथ इधर रथ [लाओ] अरे! मेरा हाथी [लाओ] हाथी, तरकश [लाओ] तरकश, धनुष [दो] धनुष, अरे हाँ छुरी [लो] छुरी, अरे क्यों डरते हो क्यों डरते हो, यह लो मैं आ गया, जल्दी करो जल्दी, कामी गोप राजाकी पुत्रीका अपहरण करके लिए जा रहा है।५३८।

यह [नायकसे भिन्न] दूसरेमें आश्रित होनेसे यद्यपि आवेगाभास है फिर भी नायकके उत्कर्षके बोधनके लिए यहां दिखला दिया है ॥३०॥

११ अब उन्माद [नायक व्यभिचारिधवका निरूपण करते हैं]—

अत्यन्त आनन्द, विपत्ति अथवा मानसी व्यथाके कारण उत्पन्न हृदयका विक्षोभ 'उन्माद' कहलाता है। उसमें अट्टहास, नाचना-गाना, व्यर्थ चेष्टा, प्रलाप, भागना, चिल्लाना और विपरीत क्रिया आदि [अनुभाव] होते हैं ॥३१॥

उनमेंसे प्रौढ़ आनन्दसे [उत्पन्न उन्मादका उदाहरण] जैसे 'विल्वमंगल' में—

राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता मन्थानकं निदधती दधिरिक्तपात्रे ।
यस्याः स्तनस्तवकचञ्चललोचनालिर्देवोऽपि रुद्धहृदयो धवलं दुदोह ।।५३६।।

आपदो यथा—

पशूनपि कृताञ्जलिर्नमति मान्त्रिका इत्यलं-
तरूनपि चिकित्सका इति विषौषधं पृच्छति ।
ह्रदं भुजगभैरवं हरिहरि प्रविष्टे हरौ
व्रजेन्द्रगृहिणी मुहुर्भ्रमसयीमवस्थां गता ।।५४०।।

विरहाद्यथा श्रीदशमे—

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहताविचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ।।५४१।।

उन्मादः पृथगुक्तोऽयं व्याधिष्वन्तर्भवन्नपि ।।३२।।

यत्तत्र विप्रलम्भादौ वैचित्रीं कुरुते पराम् ।

अधिरूढे महाभावे मोहनत्वमुपागते ।।३३।।

अवस्थाऽन्तरमाप्तोऽसौ दिव्योन्माद इतीर्य्यते ।

अथापस्मारः—

कृष्णकी ओर मन लगा होनेके कारण दधिसे रहित खाली मटकेमें [वही बिलोने के लिए] रईको रखने वाली राधा, जगत्की रक्षा करें जिसके स्तन रूप पुष्प-गुच्छ [के देखने] में ! लगे चंचल नेत्रों वाले इसलिए और कुछ न समझने वाले [रुद्धहृदय] कृष्ण भी धवल [गायके बदले] धवल [नामक वृषभ] को दुहने लगे । [अर्थात् प्रौढ़ आनन्दमें राधा और कृष्ण दोनों उन्मत्त होकर असंगत कार्य कर रहे हैं] ।५३६।

आपत्तिसे [उत्पन्न उन्मादका उदाहरण] जैसे—

भुजंगके कारण भयंकर इस [हरिह्रद] कालीदहमें कृष्णके घुस जानेपर अत्यन्त उन्मादकी अवस्थाको प्राप्त होकर यशोदा पशुओंको भी [सर्पके विषको उतारने वाले] मान्त्रिक समझकर हाथ जोड़कर नमस्कार करती है और वृक्षोंको भी ये विष-चिकित्सक है ऐसा समझकर उनसे विषकी औषधि पूछ रही है ।५४०।

विरहसे [उत्पन्न उन्मादका उदाहरण] जैसे—

[विरहसे उन्मत्त हुई गोपियाँ] आकाशके समान सब भूतों [चर और अचर] में बाहर और भीतर व्याप्त, उस परम पुरुष [कृष्ण] को जोर-जोरसे गान कर रही हैं और उन्मत्तके समान उन्हींको खोजती हुई एक वनसे दूसरे वनमें घूम रही है ।५४१।

इस उन्मादका अन्तर्भाव यद्यपि व्याधियोंमें हो जाता है फिर उसको इसलिए अलग कहा गया है कि इसके कारण विप्रलम्भ आदिमें अत्यन्त चमत्कार उत्पन्न हो जाता है ।।३२।।

महाभाव [अर्थात् कृष्ण विषयक परम प्रेम] के उत्पन्न हो जानेपर और मोहनत्व को प्राप्त हो जानेपर दूसरी अवस्थाको प्राप्त यह [उन्माद] 'दिव्योन्माद' कहा जाता है ।।३३।।

१२ अब अपस्मार [व्यभिचार भावका लक्षणादि करते हैं]—

दुःखोत्थो वातवैषम्याद्युद्भूतश्चित्तविप्लवः ॥३४॥
अपस्मारोऽत्र पतनं धावनास्फोटनभ्रमाः।
कम्पः फेनस्रुतिर्बाहुक्षेपोऽथ क्रोशनादयः ॥३५॥

यथा—

फेनायते प्रतिपदं क्षिपते भुजोर्म्मि-
माघूर्णते लुठति कूजति लीयते च।
अम्बा तवाद्य विरहे चिरमम्बुराज-
वेलेव वृष्णितिलक! व्रजराजराज्ञी ॥५४२॥

यथा वा—

श्रुत्वा हन्त हतं त्वया यदुकुलोत्तंसात्र कंसासुरं-
दैत्यस्तस्य सुहृत्तमः परिणतिं घोरां गतः कामपि।
लालाफेनकडम्बचुम्बितमुखप्रान्तस्तरङ्गद्भुजो-
घूर्णन्नर्णवसीम्नि मण्डलतया भ्राम्यन्न विश्राम्यति ॥५४३॥

उन्मादवदिह व्याधिविशेषोऽप्येष वर्णितः।
परां भयानकाभासे यत्करोति चमत्कृतिम् ॥३६॥

अथ व्याधिः—

दोषोद्रेकवियोगाद्यैर्व्याधयो ये ज्वरादयः।
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ॥३७॥

दुःखके कारण तथा वात-वैषम्यके द्वारा उत्पन्न चित्तका विकार 'अपस्मार' कहलाता है। इसमें गिर पड़ना, दौड़ना, [शरीरका] फटने लगना, भ्रम, कम्प, फेन निकलना, हाथ पैर फेंकना और चिल्लाना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥३४-३५॥

जैसे—

हे यदुकुलभूषण [वृष्णितिलक]! आज तुम्हारे वियोग में व्रजराजकी रानी, तुम्हारी माता [यशोदा] समुद्रकी वेलाके समान फेन डाल रही है, अपनी भुजा रूप लहरियोंको चारों ओर फेंक रही है, चक्कर खा रही है, लोटती चिल्लाती और फिर मूर्छित हो जाती है [लीयते]।५४२।

अथवा जैसे—

हे यदुकुलभूषण! तुम्हारे द्वारा कंसासुरके मारे जानेका समाचार सुनकर उसके मित्र दैत्यकी कुछ अपूर्व भयंकर अवस्था हो गई। उसके मुखसे लार और फेनोंका समुदाय निकल रहा है, आँखें बन्द हुई जा रही हैं [घूर्णन्] और समुद्रकी मर्यादाके भीतर मण्डलाकार घूमता हुआ तनिक देरको भी रुकता नहीं है।५४३।

उन्माद के समान व्याधिविशेष होनेपर [अर्थात् व्याधिके अन्तर्गत होनेपर] भी इसको अलगसे कहा गया है। क्योंकि यह [अपस्मार] भयानकाभासमें विशेष प्रकारका चमत्कार उत्पन्न कर देता है ॥३६॥

१२ अब व्याधि [नामक व्यभिचारि भावका निरूपण करते हैं]—

[वात पित्त कफ रूप] दोषोंके उद्रेक तथा वियोगादिके कारण जो ज्वर आदि

अत्र स्तम्भश्लथाङ्गत्वश्वासोत्तापक्लमादयः ।

यथा—

तव चिरविरहेण प्राप्य पीडामिदानीं-
दधदुरुजड़िमानि ध्मापितान्यङ्गकानि ।
श्वसितपवनधाटीघट्टितघ्राणवाटं-
लुठति धरणिपृष्ठे गोष्ठवाटीकुटुम्बम् ॥५४४॥

अथ मोहः—

मोहो हृन्मूढता हर्षाद्विश्लेषाद्भयतस्तथा ॥३८॥
विषादादेश्च तत्र स्याद्देहस्य पतनं भुवि ।
शून्येन्द्रियत्वं भ्रमणं तथा निश्चेष्टतामयः ॥३९॥

तत्र हर्षाद्यथा श्रीदशमे—

इति स्म पृष्टः स च बादरायणस्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् ॥५४५॥

यथा वा—

निरुच्छ्वसितरीतयो विघटिताक्षिपक्ष्मक्रिया-
निरीहनिखिलेन्द्रियाः प्रतिनिवृत्तचिद्वृत्तयः ।

रोग होते हैं उनसे उत्पन्न होने वाले भावको यहाँ 'व्याधि' कहा जाता है। इसमें स्तम्भ, अंगोंका शैथिल्य श्वास, उत्ताप और क्लम आदि [अनुभाव] होते हैं ॥३७॥

जैसे—

तुम्हारे दीर्घकालीन वियोगके कारण आज गोकुलवासियोंका समुदाय अत्यन्त दुःखी होकर नितान्त जड़ीभूत तथा अत्यन्त सन्तप्त अंगोंको धारण करता हुआ, दीर्घ श्वासके [प्रबल] वायुके प्रहारसे [बलादाक्रमणं 'धाटी' इति क्षीर स्वामी] जिसका नासिका-मार्ग [वाटः पन्थाः । घ्राणवाटेन नासिकोच्यते] घट्टित हो रहा है इस प्रकारका [दुर्दशाग्रस्त] होकर जमीन पर लोट रहा है ।५४४।

१३ अब मोह [नामक व्यभिचारि भावका निरूपण करते हैं]—

हर्ष, विप्रयोग, भय तथा विषादादिके कारण हृदयकी मूढ़ता 'मोह' कहलाती है इसमें देहका पृथिवीपर गिरना, इन्द्रियोंकी शून्यता, चक्कर आना तथा निश्चेष्टता आदि [अनुभाव] होते हैं ॥३८-३९॥

उनमेंसे हर्षसे [उत्पन्न मोहका उदाहरण] जैसे—

इस प्रकार [विष्णु भगवान्‌के विषयमें] प्रश्न किए जानेपर बादरायणने अनन्त [विष्णु भगवान्] की स्मृति [उसके आनन्दसे] से समस्त इन्द्रियों [की शक्ति] का विलोप हो जानेके कारण बड़ी कठिनाईसे फिर बाह्य-दृष्टिको प्राप्त कर भागवत-प्रवरको उत्तर दिया ।५४५।

अथवा जैसे—

कुञ्जमण्डलमें कमल-नयन [कृष्ण] को एकान्तमें देखकर व्रजवासिनियाँ [गोपियाँ] [निर्गता उच्छ्वसितानां रीतयः प्रचारा याभ्यस्ता निरुच्छ्वसितरीतयः] श्वास-प्रश्वास-शून्य,

अवेदय कुरुमण्डले रहसि पुण्डरीकेक्षणं-
व्रजाम्बुजदृशोऽभजन् कनकशालभञ्जीश्रियम् ॥५४६॥

विश्लेषाद्यथा हंसदूते—

कदा चित्खेदाग्निं विघटयितुमन्तर्गतमसौ
सहालीभिर्लेभे तरलितमना यामुनतटीम् ।
चिरादस्याश्चित्तं परिचितकुटीरावकलना-
दवस्थास्तस्तार स्फुटमथ सुषुप्तेः प्रियसखी ॥५४७॥

भयाद्यथा—

मुकुन्दमाविष्कृतविश्वरूपंनिरूपयन्वानरवर्य्यकेतुः ।
करारविन्दात्पुरतः स्खलन्तं न गाण्डिवं खण्डितधीर्विवेद ॥५४८॥

विषादाद्यथा श्रीदशमे—

कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥५४६॥

अस्यान्यत्रात्मपर्य्यन्ते स्यात्सर्वत्रैव मूढता ।
कृष्णस्फूर्त्तिविशेषस्तु न कदाऽप्यत्र लीयते ॥४०॥

अथ मृतिः—

निर्निमेष, समस्त इन्द्रियोंके व्यापारसे शून्य, तथा चैतन्य वृत्ति रहित-सी होकर सोनेकी पुतली के समान शोभित हो रही थीं ।५४६।

वियोगसे [उत्पन्न मोहका उदाहरण] जैसे—हंसदूतमें—

किसी समय वह [राधा] मनकी आन्तरिक दुःखाग्निको शान्त करनेके लिए चंचलचित्त होकर सखियोंके साथ यमुना तटपर गई किन्तु वहाँ बहुत समयके बाद चिरपरिचित कुंजोंको देखकर, जो सुषुप्तिकी प्रिय सखीपर रूप [अर्थात् मोहावस्था] है उसने, इस [राधा] के चित्तको आच्छादित कर लिया [अर्थात् राधा कुंजोंको देखकर मूर्छित हो गई] ।५४७।

भयके कारण [उत्पन्न मोहका उदाहरण] जैसे—

विश्वरूपको प्रकट करने वाले कृष्णको देखकर विवेक-शून्य [खण्डितधी] अर्जुन, अपने हाथसे गिरते हुए गाण्डीवको भी न जान पाया [अर्थात् अर्जुनके हाथसे गाण्डीव गिर पड़ा परन्तु उसको पता नहीं चला] ।५४८।

विषादके कारण [उत्पन्न मोहका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

महान् बकासुरके द्वारा पकड़े गए कृष्णको देखकर बलराम आदि और सब बालक प्राणोंके अभावमें इन्द्रियोंके समान, चेतना-रहितसे हो गए ।५४६।

इस [कृष्णभक्त] को [न केवल अन्य वाह्य वस्तुओंके प्रति अपितु] आत्म पर्यन्त [अर्थात् अपनी सुध-बुध तक] मूढ़ता हो जाती है [अर्थात् अपनी सुध-बुध तक भूल जाता है] किन्तु कृष्णकी विशेष स्फूर्ति कभी लीन नहीं होती है । [कृष्णकी स्मृति सदैव बनी रहती है ॥४०॥

१४. अब मृतिः [रूप व्यभिचारिभावके लक्षण आदि करते हैं]—

विषादव्याधिसंत्राससंप्रहारक्लमादिभिः ।
प्राणत्यागो मृतिस्तस्यामव्यक्ताक्षरभाषणम् ।।४१।।
विवर्णगात्रताश्वासमान्द्यहिक्काऽऽदयः क्रियाः ।

यथा—

अनुल्लासश्वासा मुहुरसरलोत्तानितदृशो-
विवृण्वन्तः काये किमपि नववैवर्ण्यमभितः ।
हरेर्नामाव्यक्तीकृतमलघुहिक्कालहरिभिः
प्रजल्पन्तः प्राणान् जहति मथुरायां सुकृतिनः ।।५५०।।

यथा वा—

विरमदलघुकण्ठोद्घोषघुत्कारचक्रा
क्षणविघटिततोम्यद्दृष्टिखद्योतदीप्तिः ।
हरिमिहिरनिपीतप्राणगाढान्धकारा
क्षयमगमदकस्मात्पूतना कालरात्रिः ।।५५१।।

प्रायोऽत्र मरणात्पूर्वा चित्तवृत्तिर्मृतिर्मता ।।४२।।

विषाद, व्याधि, संत्रास, सम्प्रहार और क्लम आदिसे कारण प्राणोंका त्याग, 'मृति' [की अवस्था] कहलाती है। उसमें अव्यक्त शब्दोंमें भाषण, शरीरकी विवर्णता, श्वासकी मन्दता और हिचकी आदि क्रियाएँ [अनुभवरूपमें] होती हैं ।।४१।।

जैसे—

मन्द श्वासक्रिया वाले, टेढ़ी और ऊपर चढ़ी हुई आँखोंसे युक्त, शरीरमें चारों ओर नये प्रकारकी विवर्णताको धारण किये हुए, सौभाग्यशाली पुण्यात्मा, लम्बी हिचकियोंके साथ अस्पष्ट ध्वनिमें भगवान्‌के नामका उच्चारण करते हुए, अपने प्राणोंका त्याग करते हैं ।५५०।

अथवा जैसे—

इस श्लोकमें रूपकालंकार द्वारा पूतना राक्षसीकी मृत्युका वर्णन किया गया है। उसमें कृष्णके ऊपर सूर्यका, और पूतनाके ऊपर कालरात्रिका आरोप किया गया है। पूतनाके ऊपर कालरात्रिका आरोप होनेसे उसकी भयंकर कण्ठध्वनिको उल्लुओंके घूत्कारके रूपमें, उसकी आँखोंकी क्षणिक चमकको खद्योतदीप्तिके रूपमें, और उसके प्राणोंको गाढ अन्धकारके रूपमें, चित्रित करते हुए कविने कृष्णको सूर्य बनाया है। और उनके द्वारा कालरात्रिके नाशका वर्णन किया है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

जिसका भयंकर कण्ठध्वनि रूप घूत्कार चक्र [ऊलूकध्वनि-समुदाय] शान्त हो रहा है, चमकती हुई दृष्टि-रूप-खद्योत-दीप्ति तनिक देरके लिए भंग हो गई और कृष्ण-रूप सूर्यने जिसके प्राण-रूप गाढ अन्धकारका पान कर लिया है इस प्रकारकी पूतना-रूप कालरात्रि अकस्मात् नाशको प्राप्त हो गई ।५५१।

प्रायः यहाँ मरणसे पहली चित्तवृत्ति मृति कहलाती है। [यह प्रथम मत है जो अधिकतर माना जाता है]। कोई लोग यह कहते हैं कि इसमें 'मृति' अर्थात् प्राणत्याग

मृतिरत्रानुभावः स्यादिति केनचिदुच्यते ।
किन्तु नायकवीर्य्यार्थं शत्रौ मरणमुच्यते ॥४३॥

अथालस्यं—

सामर्थ्यस्यापि सद्भावे क्रियाऽनुन्मुखता हि या ।
तृप्तिश्रमादिसंभूता तदालस्यमुदीर्य्यते ॥४४॥
अत्राङ्गभङ्गो जृम्भा च क्रियाद्वेषोऽक्षिमर्द्दनम् ।
शय्याऽऽसनैकप्रियता तन्द्रानिद्राऽऽदयोऽपि च ॥४५॥

तत्र तृप्तेर्यथा—

विप्राणां नस्तथा तृप्तिरासीद्गोवर्द्धनोत्सवे ।
नाशीर्वादेऽपि गोपेन्द्र ! यथा स्यात्प्रभविष्णुता ॥५५२॥

श्रमाद्यथा—

सुष्ठु निःसहतनुः सुबलोऽभूत्प्रीतये मम विधाय नियुद्धम् ।
मोटयन्तमभितो निजमङ्गं नाह्वाय सहसाऽऽह्वयतामुम् ॥५५३॥

अनुभाव होता है । [अर्थात् वास्तविक मृत्युका वर्णन नहीं करना चाहिए ।] किन्तु [वास्तव में] नायकके उत्कर्षके लिए शत्रुके मरणका कथन किया जाता है ॥४२-४३॥

इसका अभिप्राय यह है कि व्यभिचारिभावोंमें जो मरणका वर्णन किया जाता है वह वास्तविक मरण-रूप नहीं है । क्योंकि नायकका मरण दिखलाना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं है । इसलिए मरणके रूपमें केवल मरणसे पहलेकी चित्तवृत्ति अर्थात् संकल्पित मरण या मरणकी इच्छाका ही वर्णन किया जाना उचित है । उससे अधिक नहीं, यह अधिकांश आचार्योंका मत है । दूसरा मत यह है कि इस 'मृति' या मरण संकल्प-रूप व्यभिचारिभावके अनुभाव रूपमें मृति अर्थात् प्राणत्याग तो नहीं, पर प्राणत्याग जैसी स्थिति अनुभाव रूपमें होती है । तीसरा मत यह है कि मृतिका सम्बन्ध यहाँ नायकसे न मानकर शत्रु या प्रतिनायकसे समझना चाहिए । जैसे यहाँ पूतनाकी मृत्युका वर्णन है । उससे नायक कृष्णके उत्कर्षकी सिद्धि होती है ।

१५. अब आलस्य [व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण आगे देते हैं]—

[काम करनेकी] सामर्थ्य होनेपर भी तृप्ति या थकावट आदिके कारण काममें प्रवृत्तिका न होना 'आलस्य' कहलाता है ॥४४॥

उसमें अँगड़ाई आना, जँभाई, कामसे द्वेष, आँखोंका मलना, केवल पलंगपर बैठे रहना, औंघाई आना और निद्रा आदि [अनुभाव] होते हैं ॥४५॥

उनमेंसे तृप्तिसे [उत्पन्न आलस्यका उदाहरण] जैसे—

गोबर्द्धनके उत्सवमें हम ब्राह्मणोंका पेट इतना भर गया था कि हे गोपेन्द्र ! हम आशीर्वाद देनेमें भी समर्थ नहीं हो सके ।५५२।

थकावटके कारण [होने वाले आलस्यका उदाहरण] जैसे—

कुश्ती लड़नेके बाद कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ हुआ सुबल, मुझे अत्यन्त प्रिय लग रहा था । इस कारण अपने शरीरको चारों ओर मोड़ते हुए उसको, सहसा उसको

अथ जाड्यम्—

जाड्यमप्रत्तिपत्तिः स्यादिष्टानिष्टश्रुतीक्षणैः ।
विरहाद्यैश्च तन्मोहात्पूर्वावस्था पराऽपि च ॥४६॥
अत्रानिमिषता तूष्णींभावविस्मरणादयः ।

तत्रेष्टश्रुत्या यथा श्रीदशमे—

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुन्नमितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
साम्बाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाऽश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥५५४॥

अनिष्टश्रुत्या यथा—

आकलय्य परिवर्त्तितगोत्रां केशवस्य गिरमर्पितशल्याम् ।
विद्धधीरधिकनिर्निमिषाक्षी लक्ष्मणा क्षणमवर्त्तत तूष्णीम् ॥५५५॥

इष्टेक्षणेन यथा तत्रैव—

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।
पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥५५६॥

अनिष्टेक्षणेन यथा तत्रैव—

दुबारा युद्धके लिए नहीं बुलाया ।५५३।

१६. अब जाड्य [व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण आगे देते हैं]—

इष्ट या अनिष्टके दर्शन अथवा श्रवणके कारण, और विरह आदिके कारण, विचारशून्यता [अप्रतिपत्ति] 'जाड्य' कहलाता है। वह मोहसे पहली अवस्था भी है और बादकी भी। इसमें पलक न लगना, मौन और विस्मृति आदि [अनुभाव] होते हैं ॥४६॥

उनमेंसे इष्टके श्रवणसे [उत्पन्न जाड्यका उदाहरण] जैसे—

कृष्णके मुखसे निकले हुए, बाँसुरीके गीतामृतका अपने कर्णपुटोंसे पान करते हुए [गावः अर्थात्] गौओंके बच्चे अपनी माताओंके साथ माताके स्तनोंसे टपकते हुए दूधको मुँह में लिए हुए, आँखोंमें आनन्दके आँसू लिए हुए, और [उस बेणु-ध्वनिके द्वारा] अपने हृदयके भीतर कृष्णके स्पर्शका [सा सुख] अनुभव करते हुए खड़े रह गए ।५५४।

अनिष्टके श्रवणसे उत्पन्न [जाड्यका उदाहरण] जैसे—

नामको बदलकर [अर्थात् किसी दूसरी स्त्रीके नामसे अपनेको] पुकारे जानेपर, शल्यके समान कष्टप्रद कृष्णकी वाणीको सुनकर, लक्ष्मणा नामक गोपी हृदयाहत होकर कुछ देरके लिए नितान्त निर्निमेष-नयन और मौन खड़ी रह गई ।५५५।

इष्टके दर्शनसे उत्पन्न [जाड्यका उदाहरण] जैसे—

देवाधिदेव कृष्णको घरपर लाकर श्रद्धालु और आनन्दसे परिपूरित राजा, पूजामें क्या करना चाहिए इसको भी भूल गया ।५५६।

अनिष्टके दर्शनसे [उत्पन्न जाड्यका उदाहरण] जैसे वहीं [दशम स्कन्धमें]—

यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च ।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥५५७॥

विरहेण यथा—

मुकुन्द ! विरहेण ते विधुरिताः सखायश्चिरा-
दलंकृतिभिरुज्झिता भुवि निविश्य तत्र स्थिताः ।
स्खलन्मलिनवाससः शबलरूक्षगात्रश्रियः
स्फुरन्ति खलदेवलद्विजगृहे सुरार्चा इव ॥५५८॥

अथ व्रीडा—

नवीनसंगमाकार्य्यस्तवावज्ञादिना कृता ॥४७॥
अधृष्टता भवेद् व्रीडा तत्र मौनं विचिन्तनम् ।
अवगुण्ठनभूलेखौ तथाऽधोमुखताऽऽदयः ॥४८॥

तत्र नवीनसंगमेन यथा पद्यावल्यां—

गोविन्दे स्वयमकरोः सरोजनेत्रे
प्रेमान्धा वरवपुरर्पणं सखि ! त्वम् ।
कार्प्पण्यं न कुरु दरावलोकदाने
विक्रीते करिणि किमङ्कुशे विवादः ॥५५९॥

अकार्य्येण यथा—

जब तक [कृष्णको लेकर जाने वाले] रथकी ध्वजा दिखलाई देती रही, और जब तक रथकी धूलि दिखलाई देती रही, तब तक जिनके हृदय [कृष्णके] पीछे-पीछे लगे जा रहे हैं इस प्रकारके गोकुलवासी चित्रलिखितसे खड़े रहे ।५५७।

विरहसे [उत्पन्न जाड्यका उदाहरण] जैसे—

हे कृष्ण ! तुम्हारे विरहसे सन्तप्त तुम्हारे मित्र बहुत समयसे अलंकारोंसे रहित, फटे हुए [या गिरे जाते हुए] मलिन वस्त्रोंका धारण किए हुए, मलसे दूषित एवं रूक्ष शरीर, और वहाँ पृथिवीपर पड़े हुए, दुष्ट पुजारीके ब्राह्मणके घरकी देवमूर्तियोंके समान प्रतीत होते हैं ।५५८।

१८. अब व्रीडा [व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

नवीन संगम, अनुचित कार्य, प्रशंसा अथवा तिरस्कार आदिके कारण उत्पन्न प्रगलभताका अभाव 'व्रीडा' कहलाता है । उसमें मौन, चिन्ता, मुखपर पर्दा डाल लेना, भूमि कुरेदना, और मुख नीचा कर लेना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥४७-४८॥

उनमेंसे नवीन संगमसे उत्पन्न [व्रीडाका उदाहरण] जैसे—

हे सखि ! कमलनयन कृष्णको तुमने स्वयं ही अपना सुन्दर शरीर अर्पण कर दिया है तो फिर उनकी ओर तनिक देखनेमें कृपणता मत करो । हाथीके बेच देनेपर फिर अंकुशको देनेमें विवाद क्यों किया जाए ? ।५५९।

अनुचित कार्यसे [उत्पन्न जाड्यका उदाहरण] जैसे—

त्वमवागिह मा शिरः कुथा वदनं च त्रपया शचीपते !।
नय कल्पतरुं न चेच्छचीं कथमग्रे मुखमीक्षयिष्यसि ॥५६०॥

स्तवेन यथा—

भूरिसाद्गुण्यभारेण स्तूयमानस्य शौरिणा ।
उद्धवस्य व्यरोचिष्ट नम्रीभूतं तदा शिरः ॥५६१॥

अवज्ञया यथा—

हरिवंशे सत्यादेवीवाक्यं—

वसन्तकुसुमैश्चित्रं सदा रैवतकं गिरिम् ।
प्रिया भूत्वाऽप्रिया भूता कथं द्रक्ष्यामि तं पुनः ॥५६२॥

अथावहित्था—

अवहित्थाऽऽकारगुप्तिर्भवेद्भावेन केनचित् ।
अत्राङ्गादेः पराभ्यूहस्थानस्य परिगूहनम् ॥४६॥

अन्यत्रेक्षा वृथाचेष्टा वाग्भङ्गीत्यादयाः क्रियाः ।

तथा चोक्तम्—

अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते ॥५०॥

तत्र जैह्म्येन यथा श्रीदशमे—

हे इन्द्र ! तुम लज्जाके कारण न अपना सिर [अवाक् अर्थात्] नीचा करो, और न मुखका [अवाक् अर्थात् वाणी-रहित] मौन करो, कल्पतरुको लेकर जाओ नहीं तो शचीका मुख कैसे देख पाओगे ? ।५६०।

स्तुति [उत्पन्न व्रीडाका उदाहरण] जैसे—

अत्यधिक सद्गुणोंके बाहुल्यके कारण कृष्णके द्वारा प्रशंसा किए जानेपर उद्धवका शिर उस समय [लज्जासे] नीचे झुक गया ।५६१।

अवज्ञासे [उत्पन्न व्रीडाका उदाहरण] जैसे—

हरिवंशपुराणमें सत्याभामा देवीका वाक्य—

[कृष्णकी प्रिया अर्थात्] पत्नी होकर भी अप्रिय बनी मैं, आज वसन्तके फूलोंसे सदैव सुशोभित रहनेवाले उस रैवतक पर्वतको दुबारा फिर कैसे देख सकूँगी ? ।५६२।

१६. अब अवहित्था [व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

किसी भावके कारण आकारका छिपाना 'अवहित्था' कहलाती है । इसमें दूसरेके द्वारा विशेष रूपसे समझे जानेवाले अपने अंगादिका छिपाना, दूसरी ओर देखना, व्यर्थ चेष्टा, और व्यर्थ बोलना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥४६॥

जैसे कि कहा है—

अनुभावोंके छिपानेके लिए किए जानेवाला व्यापार 'अवहित्था' भाव कहा जाता है ॥५०॥

उनमेंसे कुटिलताके कारण [उत्पन्न अवहित्थाका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं-सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥५६३॥

दाक्षिण्येन यथा—

सात्राजितीसदनसीमनि पारिजाते
नीते प्रणीतमहसा मधुसूदनेन।
द्राघीयसीमपि विदर्भभुवस्तदेर्ष्या-
सौशील्यतः किल न कोऽपि विदाम्बभूव ॥५६४॥

ह्रिया यथा प्रथमे—

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बुनेत्रयोर्विलज्जतीनां भृगुवर्य्य ! वैक्लवात् ॥५६५॥

जैह्म्यह्रीभ्यां यथा—

का वृषस्यति तं गोष्ठभुजङ्गं कुलपालिका।
दूति ! यत्र स्मृते मूर्तिर्भीत्या रोमाञ्चिता मम ॥५६६॥

सौजन्येन यथा—

गूढा गाम्भीर्य्यसम्पद्भिर्मनोगह्वरगर्भगा।
प्रौढाऽप्यस्या रतिः कृष्णे दुर्वितर्का परैरभूत् ॥५६७॥

कामको उद्दीप्त करनेवाले उन कृष्णको, हासयुक्त, मधुर दृष्टि, तथा भाव-भरे कटाक्षोंसे सत्कृत कर, स्पर्श द्वारा अपनी गोदमें लिए हुए उनके हाथ-पैरोंकी प्रशंसा करके [गोपियाँ अपने भावको छिपानेके लिए] कुछ नाराज होती हुई बोलीं।५६३।

दाक्षिण्य [औदार्य] के कारण [उत्पन्न अवहित्थाका उदाहरण] जैसे—

आनन्द प्रदान करनेवाले [प्रणीतमहसा] कृष्णके द्वारा पारिजात वृक्षको सत्राजित की पुत्री [अर्थात् सत्यभामा] के भवनकी सीमामें ले जानेपर उस समय [विदर्भभुवः अर्थात्] रुक्मिणीकी महती ईर्ष्याको उसकी सुशीलताके कारण कोई जान नहीं सका।५६४।

दोनों [अर्थात् जिह्मता तथा दाक्षिण्य] के द्वारा [उत्पन्न व्रीडाका उदाहरण] जैसे—

(हस्तिनापुर से वापिस लौटने पर कृष्ण की महिषियोंके दशाका वर्णन) हे शौनक, गम्भीरभाववाली उन कृष्णकी पटरानियोंने मनसे दृष्टिसे तथा पुत्रों द्वारा पतिका आलिंगन किया। लजावती उनके द्वारा अमंगलकी आशंकासे रोके गये भी आंसू विवलवतावश नेत्रों से ढुलक ही पड़े।

कुटिलता तथा लज्जासे [उत्पन्न व्रीडाका उदाहरण] जैसे—

हे दूति ! जिसकी याद आनेपर मेरा शरीर रोमांचित हो जाता है ऐसे उस गोकुलके भुजंगको कुलमर्यादाका पालन करनेवाली कौन स्त्री भोगके लिए चाहेगी ?।५६६।

सौजन्यसे [उत्पन्न व्रीडाका उदाहरण] जैसे—

अत्यन्त गम्भीरताके कारण अव्यक्त, किन्तु मनके भीतर विद्यमान, उसकी कृष्णके प्रति प्रबल रतिको समझना दूसरोंके लिए कठिन था।५६७।

गौरवेण यथा—

गोविन्दे सुबलमुखैः समं सुहृद्भिः
स्मेरास्यैः स्फुटमिह नर्म्म निर्म्मिमाणे।
आनम्रीकृतवदनः प्रमोदमुग्धो-
यत्नेन स्मितमथ संववार पत्री ॥५६८॥

हेतुः कश्चिद्भवेत् कश्चिद्गोप्यः कश्चन गोपनः।
इति भावत्रयस्यात्र विनियोगः समीक्ष्यते ॥५१॥
हेतुत्वं गोपनत्वं च गोप्यत्वं चात्र सम्भवेत्।
प्रायेण सर्वभावानामेकशोऽनेकशोऽपि च ॥५२॥

अथ स्मृतिः—

या स्यात् पूर्वानुभूतार्थप्रतीतिः सदृशेक्षया।
दृढाभ्यासादिना वाऽपि सा स्मृतिः परिकीर्त्तिता ॥५३॥
भवेदत्र शिरःकम्पो भ्रूविक्षेपादयोऽपि च।

तत्र सदृशेक्षया यथा—

विलोक्य श्याममम्भोदमम्भोरुहविलोचना।
स्मारं स्मारं मुकुन्द ! त्वां स्मारं विक्रममन्वभूत् ॥५६९॥

गौरवसे [उत्पन्न व्रीडाका उदाहरण] जैसे—

कृष्णके मुस्कराते हुए सुबल आदि मित्रोंके साथ, स्पष्ट रूपसे विनोद करते समय, मुग्ध और आनन्दसे सिर झुकाए हुए पत्री [नामक कृष्णका सेवक], अथवा अपनी मुस्कराहटको यत्नपूर्वक बड़ी कठिनाईसे रोक सका ।५६८।

इस आकार-गोपन रूप अवहित्थामें तीन तत्त्व काम करते हैं। १ हेतु अर्थात् उस आकार-गोपनका कारण, २ दूसरा गोप्य अर्थात् जिस भावका गोपन किया जा रहा है। और तीसरा गोपन अर्थात् जिसके द्वारा उस भावको छिपाया जा रहा है। इनमेंसे कभी एक भाव भी हेतु या गोप्य या गोपन रूप हो सकता है और कहीं अनेक भाव मिलकर भी हेतु या गोप्यया गोपनके रूपमें प्रयुक्त हो सकते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें दिखलाते हैं—

कोई भाव १ हेतु होता है, कोई गोप्य और कोई गोपन। इस प्रकार इस [अवहित्था] में [एक साथ] तीन भावोंका विनियोग होता है ॥५१॥

इसमें प्रायः सभी भावोंका अलग-अलग अथवा अनेकोंका मिलकर [दोनों तरहसे] हेतुत्व गोप्यत्व और गोपनत्व हो सकता है ॥५२॥

२०. अब स्मृति [रूप व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

समान वस्तुके देखने अथवा दृढ़ अभ्यास आदिके कारण जो पूर्वानुभूत अर्थकी प्रतीति होना है वह 'स्मृति' कहलाती है। इसमें सिर हिलाना और भ्रूविक्षेप आदि [अनुभाव] होते हैं ॥५३॥

उनमेंसे सदृश पदाथके दर्शनसे [उत्पन्न स्मृतिका उदाहरण] जैसे—

हे कृष्ण ! काले मेघोंको देखकर वह कमल-नयना [राधा] बार-बार तुम्हारा

दृढाभ्यासेन यथा—

प्रणिधानविधिमिदानीमकुर्वतोऽपि प्रमादतो हृदि मे ।
हरिपदपङ्कजयुगलं क्व चित् कदा चित् परिस्फुरति ॥५७०॥

अथ वितर्कः—

विमर्शात् संशयादेश्च वितर्कस्तूह उच्यते ॥५४॥
एष भ्रूक्षेपणशिरोऽङ्गुलिसञ्चालनादिकृत् ।

तत्र विमर्शाद्यथा विदग्धमाधवे—

न जानीषे मूर्ध्नश्च्युतमपि शिखण्डं यदखिलं
न कं वेपन्माल्यं कलयसि पुरस्तात्कृतमपि ।
तदुन्नीतं वृन्दावनकुहरलीलाकलभ हे !
स्फुटं राधानेत्रभ्रमरवरवीर्य्योन्नतिरियम् ॥५७१॥

संशयाद्यथा—

असौ किं तापिञ्छो न हि यदमलश्रीरिह गतिः
पयोदः कि वाऽयं न यदिह निरङ्को हिमकरः ।
जगन्मोहारम्भोद्धुरमधुरवंशीध्वनिरितो-
ध्रुवं मूर्द्धन्यद्रेर्विधुमुखि ! मुकुन्दो विहरति ॥५७२॥

स्मरण कर कामदेवके प्रहारोंका अनुभव करने लगी ।५६९।

दृढ़ अभ्याससे [उत्पन्न स्मृतिका उदाहरण] जैसे—

प्रमाद वश अब भगवान्‌का ध्यान न करनेपर भी मेरे हृदयमें कभी-कभी कहीं कृष्णके चरण-कमलोंका प्रकाश हो जाता है ।५७०।

२१. अब वितर्क [व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण आगे देते हैं]—

विमर्श [अर्थात् हेतुके परामर्श] और संशय आदिके कारण जो ऊह [अर्थात् तत्त्व-निर्णयके लिए किए जानेवाला विचार] वह 'वितर्क' कहलाता है । यह भ्रूक्षेप, सिर और अंगुलियोंके संचालन आदिको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥५४॥

उनमेंसे विमर्शसे [उत्पन्न वितर्कका उदाहरण] जैसे विदग्धमाधवमें—

वृन्दावनके कुहरोंमें विचरण करनेवाले अरे गजशिशो ! [अर्थात् कृष्ण, कलभः करिशावकः'] आपके सिरके ऊपरसे मोर-मुकुट बिल्कुल गिर पड़ा आपको पता भी नहीं चला, और जो माला आपके [पहनानेके लिए आपके] सामने लाई जाती है, काँपते हुए आप उसको भी नहीं देख पा रहे हैं । इससे मालूम पड़ता है कि राधाके नेत्र-रूप भ्रमरोंके पराक्रम का यह भाव है ।५७१।

संशयसे [उत्पन्न वितर्कका उदाहरण] जैसे—

यह [पहाड़के ऊपर सामने दीखनेवाला काला-काला] क्या तमालवृक्ष है ? नहीं, क्योंकि इसमें स्पष्ट रूपसे गति [दिखलाई देती है] है । तब क्या यह मेघ है ? नहीं, क्योंकि इसके साथ [राधाके मुख रूप] कलंक-रहित चन्द्रमा है । और जगत्‌को मोहित करनेवाला वंशीका शब्द इसमेंसे निकल रहा है । इसलिए हे चन्द्रमुखि ! निश्चय ही इस पर्वतपर [राधाके साथ] कृष्ण विहार कर रहे हैं ।५७२।

विनिर्णयान्त एवायं तर्क इत्यूचिरे परे ॥५५॥

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्ता भवेदिष्टानाप्त्यनिष्टाप्तिनिर्मितम् ।
श्वासाधोमुखभूलेखवैवर्ण्योन्निद्रता इह ॥५६॥
विलापोत्तापकृशताबाष्पदैन्यादयोऽपि च ।

तत्रेष्टानाप्त्या यथा श्रीदशमे—

कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्य-
द्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमसिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥५७३॥

अथ वा—

अरतिभिरतिक्रम्य क्षामा प्रदोषमदोषधीः
कथमपिं चिरादध्यासीना प्रघाणमघान्तक ! ।
विधुरितमुखी घूर्णत्यन्तः प्रसूस्तव चिन्तया
किमहह गृहं क्रीडालुब्ध ! त्वयाऽद्य विसस्मरे ॥५७४॥

अनिष्टाप्त्या यथा—

गृहिणि ! गहनयाऽन्तश्चिन्तयोन्निद्रनेत्रा
स्नपय न मुखपद्मं तप्तबाष्पप्लवेन ।

दूसरे लोग यह कहते हैं कि यह 'तर्क' विशेष रूपसे निर्णय पर्यन्त ही होता है ॥५५॥

२१. अब चिन्ता [व्यभिचारिभावका लक्षण आदि करते हैं]—

इष्टकी अप्राप्ति और अनिष्टकी प्राप्तिके कारण उत्पन्न, ध्यान, 'चिन्ता' कहलाता है। श्वास, मुख नीचे झुक जाना, जमीन कुरेदना, विवर्णता, नींद न आना। और विलाप, उत्ताप, कृशता, रोदन, आँसू, एवं दैन्य आदि भी इससे उत्पन्न होते हैं ॥५६॥

उनमेंसे इष्टकी अप्राप्तिसे [उत्पन्न चिन्ताका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

[कृष्ण रूप प्रियके द्वारा आशाभङ्ग कर देने पर गोपियाँ] शोकसे मुख नीचे किए हुए और श्वासके कारण जिनके अधरोष्ठ सूखे जा रहे हैं इस प्रकारकी पैरोंसे पृथिवी को कुरेदते हुए, एवं कज्जल-मिश्रित आँसुओंसे अपने स्तनोंके कुंकुमको धोती हुई अत्यन्त दुःखमें भरी हुई खड़ी थीं ।५७३।

अथवा जैसे—

हे अघनाशक ! [प्रदोषधी अर्थात्] सर्वत्र स्निग्ध स्वभाव वाली [तुम्हारी माता यशोदा] सायंकालको [तुम्हारे घर न पहुँचनेके कारण] दु खसे आक्रान्त दुर्बलसी, मलिनमुख, मनमें चिन्तासे व्याकुल, जैसे-तैसे [तुम्हारी प्रतीक्षामें. प्रघणपर अर्थात्] घरके सामनेके चबूतरेपर बैठी थी। अरे खेलके लोभी [कृष्ण] ! क्या तुम घरको भी भूल गए ? ।५७४।

अनिष्टकी प्राप्तिसे [उत्पन्न चिन्ताका उदाहरण] जैसे—

हे प्रिये [यशोदे] ! गहन आन्तरिक चिन्तासे युक्त, निद्राहीन नेत्रोंवाली, होकर

नृपपुरमनुविन्दन् गान्दिनेयेन सार्द्धं-
तव सुतमहमेव द्राक् परावर्त्तयामि ॥५७५॥

अथ मतिः—

शास्त्रादीनां विचारोत्थमर्थनिर्धारणं मतिः ॥५७॥

अत्र कर्त्तव्यकरणं संशयभ्रमयोश्छिदा ।

उपदेशश्च शिष्याणामूहापोहादयोऽपि च ॥५८॥

यथा पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये—

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि ।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान्विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते ॥५७६॥

यथा वा श्रीदशमे—

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव-
आत्माऽऽत्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग-
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन्कुतोऽन्ये ॥५७७॥

अथ धृतिः—

गरम-गरम आँसुओंसे अपने मुख-कमलको मत धोओ । मैं [गान्दिनेय अर्थात् गन्दिनीके पुत्र] अक्रूरजीके साथ राजधानी [अर्थात् मथुरा] जाकर स्वयं तुम्हारे पुत्र [कृष्ण] को लौटा लाऊँगा ।५७५।

२२. अब मति [व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण दिखलाते हैं]—

शास्त्र आदिके विचारसे उत्पन्न अर्थका निश्चय 'मति' कहलाता है ॥५७॥

इसमें कर्तव्यका अनुष्ठान, संशय तथा भ्रमका निवारण, शिष्योंको उपदेश तथा ऊहापोह आदि [अनुभाव] होते हैं ॥५८॥

जैसे पद्मपुराणके वैशाखमाहात्म्य में—

पुराण और आगम लोकको भ्रममें डालनेके लिए उन-उन [अन्य विविध] देवताओं को ही परम देवता भले ही कहते रहें किन्तु वास्तवमें तो समस्त आगमोंमें सिद्धान्त रूपसे एक ही विष्णु भगवान्का विचार किया गया है यह निश्चित होता है ।५७६।

अथवा जैसे दशम स्कन्धमें—

दण्डधारी मुनियोंके द्वारा जिनके प्रभावका वर्णन किया गया है इस प्रकारके [हे कृष्ण] आप, जगत्के आत्म-स्वरूप और [जगत्को] आत्मशक्ति प्रदान करनेवाले हैं, इसलिए आपकी टेढ़ी भौंहोंसे प्रेरित कालके वेगसे जिनका सुख [कल्याण] नष्ट हो जाता है उन ब्रह्मा और इन्द्रको भी छोड़कर मैंने आपको वरण किया है । अन्य [देवताओं] की तो बात ही क्या है ।५७७।

२३. अब धृति [व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण आगे देते हैं]—

धृतिः स्यात्पूर्णताज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः ।
अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् ॥५९॥

तत्र ज्ञानेन यथा भर्त्तृहरेः—

अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥५७८॥

दुःखाभावेन यथा—

गोष्ठं रमाकेलिगृहं चकास्ति गावश्च धावन्ति परःपरार्द्धाः ।
पुत्रस्तथा दीव्यति दिव्यकर्म्मा तृप्तिर्ममाभूद् गृहमेधिसौख्ये ॥५७९॥

उत्तमाप्त्या यथा—

हरिलीलासुधासिन्धोस्तटमप्यधितिष्ठतः ।
मनो मम चतुर्वर्गं तृणायापि न मन्यते ॥५८०॥

अथ हर्षः—

अभीष्टेक्षणलाभादिजाता चेतःप्रसन्नता ।
हर्षः स्यादिह रोमाञ्चं स्वेदोऽश्रु मुखफुल्लता ॥६०॥
आवेगोन्मादजडतास्तथा मोहादयोऽपि च ।

तत्राभीष्टेक्षणेन यथा विष्णुपुराणे—

ज्ञान, दुःखाभाव और उत्तम [वस्तुओं] की प्राप्तिसे उत्पन्न पूर्णता 'धृति' कहलाती है । यह अप्राप्त और अतीत तथा नष्ट अर्थोंके विषयमें का शोक न करनेकी शक्ति उत्पन्न करती है ॥५९॥

उनमेंसे ज्ञानसे [उत्पन्न धृतिका उदाहरण] जैसे भर्तृहरिका [निम्न श्लोक]—

हम भिक्षा करके खाते हैं । दिशा-रूप वस्त्रको ही धारण करते हैं और पृथिवीके ऊपर ही सोते हैं तो फिर हमें राजाओंका क्या करना है ।५७८।

दुःखाभावसे [उत्पन्न धृतिका उदाहरण] जैसे—

मेरी गौशाला, लक्ष्मीका क्रीडाभवन हो रही है । उसमें परार्द्धसे भी अधिक असंख्य गौएँ दौड़ रही है दिव्य कर्मोवाला पुत्र [घरमें] शोभित हो रहा है [इससे अधिक और क्या चाहिए] इसलिए गृहस्थके सुखमें मेरी पूर्ण तृप्ति हो गई है ।५७९।

उत्तमकी प्राप्तिसे [उत्पन्न धृतिका उदाहरण] जैसे—

कृष्णकी लीला रूप अमृतसागरके तटपर भी बैठे हुए मेरा मन [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्गको तृणके समान समझता है । [उस अमृतसागरमें प्रवेश करनेके बाद तो न जाने क्या अवस्था होगी ? ।५८०।

२३. अब हर्ष [व्यभिचारिभावका लक्षणादि करते हैं]—

अभीष्ट पदार्थके दर्शन और प्राप्ति आदिसे उत्पन्न चित्तकी प्रसन्नता 'हर्ष' कहलाती है । इसमें रोमांच, स्वेद, अश्रु, मुखका खिलना, आवेग, उन्माद, जड़ता, तथा मोह आदि [अनुभाव] होते हैं ॥६०॥

उनमेंसे अभीष्टके दर्शनसे [उत्पन्न हर्षका उदाहरण] जैसे विष्णु पुराणमें—

तौ दृष्ट्वा विकसद्वक्त्रसरोजः स महामतिः।
पुलकाञ्चितसर्वाङ्गस्तदाऽक्रूरोऽभवन्मुने !॥५८१॥

अभीष्टलाभेन यथा श्रीदशमे—

तत्रैकांऽसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह॥५८२॥

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेक्षाऽऽप्तिस्पृहाऽऽदिभिः॥६१॥
मुखशोषत्वराचिन्तानिश्वासास्थिरताऽऽदिकृत्।

तत्रेष्टेक्षास्पृहया यथा श्रीदशमे—

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गम्॥५८३॥

यथा वा—

प्रकटितनिजवासं स्निग्धवेणुप्रणादै-
र्द्रुतगति हरिमारात्प्राप्य कुञ्जे स्मिताक्षी।
श्रवणकुहरकण्डूं तन्वती नम्रवक्त्रा
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु॥५८४॥

हे मुने ! [कृष्ण और बलराम] दोनोंको देखकर महामति अक्रूरका मुख-कमल खिल उठा और सारे शरीरमें रोमांचसे व्याप्त हो गया।५८१।

अभीष्टकी प्राप्तिसे [उत्पन्न हर्षका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

उस समय [राधाने] अपने एक कन्धेपर रखे हुए, चन्दनसे लिप्त और कमलके समान सुगन्धित, कृष्णके बाहुको हर्षसे रोमांचित होकर चूम लिया।५८२।

२४. अब औत्सुक्य [रूप व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण देते हैं]—

इष्टके दर्शन, प्राप्ति अथवा स्पृहा [आकांक्षा] आदिके कारण उत्पन्न [कालाक्षमत्व अर्थात्] प्रतीक्षा करनेकी असमर्थता 'औत्सुक्य' कहलाता है। उससे मुखका सूख जाना, जल्दी, चिन्ता, निःश्वास और अस्थिरता आदि [अनुभाव] होते हैं॥६१॥

उनमेंसे इष्टके दर्शनकी आकांक्षासे [उत्पन्न औत्सुक्यका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

मनुष्योंके नेत्र-रूप पात्रोंके द्वारा पान करने योग्य [कृष्ण] के आनेका समाचार सुनकर औत्सुक्यके कारण जिनके केश, वस्त्र और दुपट्टे अस्त-व्यस्त हुए जा रहे हैं इस प्रकारकी हस्तिनापुरकी स्त्रियाँ घरके कामोंको छोड़कर यहाँ तक कि पलंगपरसे पतियोंको भी छोड़कर [कृष्णके दर्शनके लिए] तुरन्त राजमार्गपर पहुँच गईं।५८३।

अथवा जैसे—

मधुर बांसुरीके शब्दसे [कुंजके भीतर] अपनी उपस्थितिको सूचित करनेवाले कृष्णके पास, तेजीसे पहुँचकर मुस्कराती हुई, और सिर झुकाकर कानको खुजलाती हुई

इष्टाप्तिस्पृहया यथा—

नर्म्मकार्म्मणतया सखीगणे द्राघयत्यघहराग्रतः कथाम् ।
गुच्छकग्रहणकैतवादसौ गह्वरं द्रुतपदक्रमा ययौ ॥५८५॥

अथौग्र्यं—

अपराधदुरुक्त्यादिजातं चण्डत्वमुग्रता ॥६२॥
वधबन्धशिरःकम्पभर्त्सनोत्ताडनादिकृत् ।

तत्रापराधाद्यथा—

स्फुरति मयि भुजङ्गीगर्भविस्रंसिकीर्त्तौ
विरचयति मदीशे किल्बिषं कालियोऽपि ।
हुतभुजि बत कुर्य्यां जाठरे वौषडेनं-
सपदि दनुजहन्तुः किं तु रोषाद्बिभेमि ॥५८६॥

दुरुक्तितो यथा सहदेवोक्तिः—

प्रभवति विबुधानामग्रिमस्याग्रपूजां-
न हि दनुजरिपोर्यः प्रौढकीर्त्तिर्विसोढुम् ।
कटुतरयमदण्डोद्दण्डरोचिर्म्मयाऽसौ
शिरसि पृथुनि तस्य न्यस्यते सव्यपादः ॥५८७॥

राधा मुझे [भक्तको] कब अपनी सेवाका सौभाग्य प्रदान करेगी ।५८४।

इष्टकी प्राप्तिकी आकांक्षासे [उत्पन्न औत्सुक्यका उदाहरण] जैसे—

कृष्णके सामने सखीजनोंको [सुरतारम्भकी प्रवर्तक] नर्मकथामें लगा हुआ देखकर [सुरतके लिए उत्सुक होकर राधा] फूलोंके गुच्छेको लेनेके बहाने जल्दीसे भागकर गुफा या कुंजके भीतर चली गई ।५८५।

२५. अब उग्रता [व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

अपराध या [दुरुक्त अर्थात्] अपशब्दोंसे उत्पन्न भयंकरता 'उग्रता' कहलाती है। उससे बध, बन्ध, सिर हिलाना, फटकारना और मारना आदि [अनुभाव] उत्पन्न होते हैं ॥६२॥

उनमेंसे अपराधसे [उत्पन्न उग्रताका उदाहरण] जैसे—

भुजंगियोंके गर्भपातके लिए प्रसिद्ध मेरे रहते हुए भी यह तुच्छ कालिया नाग मेरे स्वामीका अपराध कर रहा है। मैं तो इसे जरा देरमें अपनी जठराग्निमें 'वौषट' कर दूं [अर्थात् शास्त्रीय विधिके अनुसार 'वौषट' कहकर अपनी जठराग्निमें उसकी आहुति दे दूं अर्थात् उसको मार डालूं] किन्तु राक्षसोंका नाश करनेवाले कृष्णके क्रोधसे डरता हूं। [कृष्ण जी इसलिए अप्रसन्न होंगे कि इन राक्षसोंका बध करनेका भार तो मेरे ऊपर है तुमने यह क्यों किया] ।५८६।

[दुष्टा उक्तिः दुरुक्तिः अर्थात्] अपशब्दोंके कारण [उत्पन्न उग्रताका उदाहरण] जैसे—सहदेवकी उक्ति—

जो [शिशुपाल] विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ, दनुजारि [कृष्ण] की [यज्ञमेंकी जानेवाली] अग्रपूजाको सहन नहीं कर सकता है उस [शिशुपाल] के [अभिमानसे भरे] भारी सिरके ऊपर भयंकर यमदण्डके समान मेरा यह बांया पैर अभी पड़ता है ।५८७।

यथा वा श्रीबलदेवस्योक्तिः—

रताः किल नृपासने क्षितिपलक्षभुक्तोज्झिते
खलाः कुरुकुलाधमाः प्रभुमजाऽण्डकोटिस्वमी ।
हहा बत विडम्बना शिवशिवात्र नः शृण्वतां-
हठादिह कटाक्षयन्त्यखिलवन्द्यमप्यच्युतम् ॥५८८॥

अथामर्षः—

अधिक्षेपापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता ॥६३॥
तत्र स्वेदः शिरःकम्पो विवर्णत्वं विचिन्तनम् ।
उपायान्वेषणाक्रोशवैमुख्योत्ताडनादयः ॥६४॥

तत्राधिक्षेपाद्यथा विदग्धमाधवे—

निर्धौतानामखिलधरणीमाधुरीणां धुरीणा
कल्याणी मे निवसति वधूः पश्य पार्श्वे नवोढा ।
अन्तर्गोष्ठे चटुल ! नटयन्नत्र नेत्रत्रिभागं-
निःशङ्कस्त्वं भ्रमसि भविता नाकुलत्वं कुतो मे ॥५८९॥

अपमानाद्यथा पद्मोक्तिः—

कदम्बवनतस्कर ! द्रुतमपेहि किं चाटुभि-
र्जने भवति मद्विधे परिभवो हि नातः परः ।

अथवा जैसे श्री बलदेवकी [निम्नांकित] उक्ति—

लाखों राजाओं द्वारा भोग कर छोड़ दिए जानेवाले [अर्थात् उनके उच्छिष्ट रूप] इस राज-सिंहासनमें रत [अर्थात् अपने इस जूठे राज-सिंहासनपर अभिमान करनेवाले] ये दुष्ट और नीच कौरवगण, कोटि-कोटि प्राणियोंके स्वामी, और अखिल विश्वके वन्दनीय, कृष्णकी हमारे सामने निन्दा कर रहे हैं ? शिव शिव हाय यह कैसी विडम्बना [हमारे लिए अपमानकी बात] है ।५८८।

२६. अब अमर्ष [व्यभिचारिभावके लक्षण उदाहरण देते हैं]—

अधिक्षेप और अपमान आदिसे उत्पन्न असहिष्णुता 'अमर्ष' कहलाती है ॥६३॥

उसमें पसीना आना, सिर काँपना, विवर्णता, विशेष प्रकारकी चिन्ता, [अपमानका बदला लेनेके लिए] उपायोंका ढूंढ़ना, चिल्लाना, [अपने करनेवालेकी ओरसे] मुंह फेर लेना और [उसको] मारना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥६५॥

उनमेंसे अधिक्षेपसे [उत्पन्न अमर्षका उदाहरण] जैसे 'विदग्धमाधव' में—

देख सारी पृथिवीकी [निर्धौतानां धुली हुई अर्थात्] उज्ज्वलतम [माधुरी अर्थात् मधुर स्त्रियोंमें [धुरीण अर्थात्] अग्रगण्य मेरी कल्याणी और नवोढ़ा मेरी वधू मेरे पास रहती है, और तू मेरे घरके भीतर आँखें मटकाता हुआ निशंक होकर घूम रहा है [अर्थात् मेरी नवोढ़ा स्त्रीके ऊपर अपने डोरे डालनेका यत्न कर रहा है] तो मुझे व्याकुलता क्यों नहीं होगी ।५८९।

अपमानसे [उत्पन्न अमर्षका उदाहरण] जैसे पद्मा [नामक गोपी] की उक्ति—

अरे कदम्बनमें घूमनेवाले तस्कर [अर्थात् कृष्ण] ! जल्दीसे यहाँसे भाग जा, खुशामद करना व्यर्थ है । क्योंकि मेरे जैसे व्यक्तिके लिए इससे बढ़कर और अपमान क्या हो

त्वया व्रजमृगीदृशां सदसि हन्त चन्द्रावली
वराऽपि यदयोग्यया स्फुटमदूषि ताराऽऽख्यया ॥५६०॥

आदिशब्दाद्वञ्चनादपि यथा श्रीदशमे—

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव! योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥५६१॥

अथासूया—

द्वेषः परोदयेऽसूया स्यात्सौभाग्यगुणादिभिः।
तत्रेर्ष्याऽनादराक्षेपा दोषारोपो गुणेष्वपि ॥६५॥
अपवृत्तिस्तिरोवीक्षा भ्रुवो भङ्गुरताऽऽदयः।

तत्रान्यसौभाग्येन यथा पद्यावल्यां—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कृष्णस्वहस्तलिखिता नवमञ्जरीति।
अन्याऽपि किं न सखि! भाजनमीदृशीनां-
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥५६२॥

सकता है कि तुमने व्रज-बालाओंकी सभामें [मेरी सखी] सुन्दरी चन्द्रावलीको [गोत्रस्खलनके कारण] तारावली [राधाका दूसरा नाम है] इस नामसे [बुलाकर] अपमानित [दूषित] किया है।५६०।

आदि शब्दसे [गृहीत] वंचनासे [उत्पन्न अमर्षका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

हे गीतगतिज्ञ! हम तुम्हारे गान से मोहित होकर अपने पति, पुत्र, बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर तुम्हारे पास आई हैं। किन्तु हे कपटी, तुम्हारे सिवा अन्य कौन व्यक्ति होगा जो कि रात्रि में इस प्रकार वन में आई स्त्रियों का परित्याग कर दे? ।५६१।

२७. अब असूया [नामक व्यभिचारिभावके लक्षणादि देते हैं]—

सौभाग्य तथा गुण आदिके कारण होनेवाले दूसरोंके उदयमें द्वेष करना, 'असूया' कहलाती है। इसमें ईर्ष्या, अनादर, आक्षेप, गुणोंमें दोषारोपण, [अपवृत्ति], दुर्व्यवहार, टेढ़ी नजरसे देखना और भौंहोंका टेढ़ा होना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥६५॥

उनमेंसे अन्यके सौभाग्यसे [उत्पन्न असूयाका उदाहरण] जैसे 'पद्यावली' में—

हे सखि! इस बातका अभिमान मत करो कि तुम्हारे कपोल पर स्वयं कृष्णके हाथसे बनाई नई नवमंजरी शोभित हो रही है। [कृष्णने तुम्हारे कपोलोंपर यह नवमंजरी बना दी है इससे शायद तुम यह समझने लगी होगी कि कृष्ण तुमको ही प्रेम करते हैं। पर यह बात ठीक नहीं है।] अन्य [गोपी] भी इस प्रकारकी मंजरियोंका पात्र हो सकती हैं यदि [मंजरी बनानेका प्रयत्न करते समय कृष्णके भीतर सात्त्विक भावके रूपमें उदित हुआ] वैरी कम्प विघ्न बनकर न आ जावे। [अर्थात् अन्योंके कपोलका स्पर्श करते ही कृष्णके भीतर कम्प-रूप सात्त्विकभावका उदय हो जानेसे इस प्रकारकी मंजरी नहीं बन पाती है] ।५६२।

इसका भावार्थ यह निकला कि कृष्ण दूसरोंको तुमसे भी अधिक प्यार करते हैं क्योंकि उनके पास जाते ही उनके भीतर सात्त्विकभावका उदय हो जाता है। तुम्हारे पास आनेपर

यथा वा श्रीदशमे—

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥५६३॥

गुणेन यथा—

स्वयं पराजयं प्राप्तान् कृष्णपक्षान् विजित्य नः ।
बलिष्ठा बलपक्षाश्चेद् दुर्बलाः के ? ततः क्षितौ ॥५६४॥

अथ चापलं—

रागद्वेषादिभिश्चित्तलाघवं चापलं भवेत् ॥६६॥
तत्राविचारपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ।

तत्र रागेण यथा श्रीदशमे—

श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।
निर्मथ्य चैद्यमगधेशबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्य्यशुल्काम् ॥ ५६५ ॥

द्वेषेण यथा—

वंशी पूरेण कालिन्द्याः सिन्धुं विन्दतु वाहिता ।
गुरोरपि पुरो नीवीं या भ्रंशयति सुभ्रुवाम् ॥ ५६६ ॥

नहीं । इसीलिए तुम्हारे कपोलोंपर यह मंजरी दिखलाई दे रही है । इससे अपने सौभाग्यपर गर्व मत करो यह इसका अभिप्राय है ।

अथवा जैसे दशम स्कन्धमें—

उसके ये [उचक रखे गये] ऊँचे पदचिह्न हमें इसलिए व्यथित करते हैं कि वह अकेली ही [कृष्णको] गोपियोंसे छीनकर एकान्तमें कृष्णके अधरका भोग करती है ।५६३।

गुणसे [उत्पन्न असूयाका उदाहरण] जैसे—

स्वयं ही अपनी पराजय मान लेनेवाले कृष्णके पक्षके हम लोगोंको [क्रीडामें] जीत कर यदि बलरामके पक्षवाले अपनेको बलिष्ठ समझें तो फिर दुर्बल कौन कहलावेगा ।५६४।

२८. अब चपलता [व्यभिचारिभावका लक्षणादि देते हैं]—

राग-द्वेष आदिके कारण चित्तमें आया हुआ हलकापन [क्षुद्रता] 'चपलता' कहलाती है । उसमें अविचारशीलता, कठोरता और स्वच्छन्दाचरण आदि [अनुभाव] होते हैं ।।६६।।

उनमेंसे रागसे [उत्पन्न चपलताका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

कल होनेवाले हे अजित विवाहके समय तुम सेनाओंके साथ गुप्तरूपसे विदर्भ पहुँचकर और मगधराज शिशुपालकी सेनाओंका नाश करके पराक्रम रूप मूल्य [से प्राप्त होने] वाली मुझको [अपहरण कर] राक्षसविवाहकी विधिसे [अपने साथ] विवाह लाना ।५६५।

द्वेषसे [उत्पन्न चपलताका उदाहरण] जैसे—

जो [कृष्णकी वंशी, माता-पिता आदि] गुरुजनके सामने भी सुन्दरियोंकी नीवी [लहँगेके नाड़े] को खुलवा देती है वह वंशी [मेरे द्वारा] यमुनाकी धारामें बहाई जाकर समुद्र में पहुँच जाय । [तो ठीक रहे] ।५६६।

अथ निद्रा—

चिन्तालस्यनिसर्गक्लमादिभिश्चित्तमीलनं निद्रा ॥६७॥

तत्राङ्गभङ्गजृम्भाजाड्यश्वासाक्षिमीलनानि स्युः ।

लोहितायति मार्त्तण्डे वेणुध्वनिमश्रृण्वती ।
चिन्तयाऽऽक्रान्तहृदया निदद्रौ नन्दगेहनी ॥५९७॥

आलस्येन यथा—

दामोदरस्य बन्धन-
कर्म्मभिरतिनिःसहाङ्गलतिकेयम् ।
दरघूर्णितोत्तमाङ्गा
कृताङ्गभङ्गा व्रजेश्वरी स्फुरति ॥ ५९८ ॥

निसर्गेण यथा—

अघहर ! तव वीर्य्यप्रोषिताशेषचिन्ताः
परिहृतगृहवास्तुद्वारबन्धानुबन्धाः ।
निजनिजमिह रात्रौ प्राङ्गणं शोभयन्तः
सुखमविचलदङ्गाः शेरते पश्य गोपाः ॥ ५९९ ॥

क्लमेन यथा—

संक्रान्तधातुचित्रा सुरतान्ते सा नितान्ततान्ताऽद्य ।
वक्षसि निद्रिमाङ्गी हरेर्विशाखा ययौ निद्राम् ॥ ६०० ॥

---

२९. निद्रा [रूप व्यभिचारिभावके लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार हैं]—

चिन्ता, आलस्य, स्वभाव अथवा श्रम आदिके कारण चित्तका मिलन अर्थात् बाह्य वृत्तियोंका अभाव 'निद्रा' कहलाता है । उसमें शरीर टूटना, जँभाई आना, जड़ता, श्वास और आँखोंका बन्द हो जाना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥६७॥

उनमेंसे चिन्तासे [उत्पन्न निद्राका उदाहरण] जैसे—

सूर्यके अस्तोन्मुख हो जानेपर भी [कृष्णके आनेकी सूचिका] वंशीकी ध्वनिको न सुननेके कारण चिन्तासे आकुल होकर नन्दकी गेहिनी [यशोदा] को नींद आ गई ।५९७।

आलस्यसे [उत्पन्न निद्राका उदाहरण] जैसे—

कृष्णको बाँधनेके कामके कारण अत्यन्त थकी हुई और जिसका सिर तनिक चकरा रहा है इस प्रकारकी व्रजेश्वरी [यशोदा निद्राके पूर्व] अँगड़ाई लेती हुई दिखलाई दे रही हैं ।५९८।

स्वभावसे [उत्पन्न निद्राका उदाहरण] जैसे—

हे अघहर [कृष्ण] ! देखो तुम्हारे पराक्रमके कारण समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होकर घर-बार, बन्धु-बान्धव आदिकी ओरसे निश्चिन्त ये गोप, अपने-अपने घरके आँगनोंकी शोभा बढ़ाते हुए रात्रिमें, निश्चल पड़े हुए कैसे सुखपूर्वक सो रहे हैं ।५९९।

क्लमके कारण [उत्पन्न निद्राका उदाहरण] जैसे—

आज सुरतके अन्तमें अत्यन्त थकी हुई विशाखा [संक्रान्तधातुचित्रा] जिससे धातु लिखित "पत्र विशेषक" कृष्ण के संक्रान्त हो रहे हैं । स्वर्ण मूर्तिके समान कृष्णके वक्षःस्थलपर लेटी हुई निद्राको प्राप्त हो गई ।६००।

युक्ताऽस्य स्फूर्त्तिमात्रेण निर्विशेषेण केन चित् ॥ ६८ ॥
हृन्मीलनात्पुरोऽवस्था निद्रा भक्तेषु कथ्यते ।

अथ सुप्तिः—

सुप्तिर्निद्राविभावा स्यान्नानाऽर्थानुभवात्मिका ॥ ६९ ॥
इन्द्रियोपरतिश्वासनेत्रसंमीलनादिकृत् ।

यथा—

कामं तामरसाक्ष ! केलिविततिः प्रादुष्कृता शैशवी
दर्पः सर्पपतेस्तदस्य तरसा निर्धूयतामद्धुरः ।
इत्युत्स्वप्नगिरा चिराद्यदुसभां विस्मापयन् स्मेरयन्
निश्वासेन दरोत्तरङ्गदुदरं निद्राङ्गतो लाङ्गली ॥ ६०१ ॥

अथ बोधः—

अविद्यामोहनिद्रादिध्वंसाद् बोधः प्रबुद्धता ॥ ७० ॥

तत्राविद्याध्वंसतो यथा—

'अभावप्रत्ययालम्बनं वृत्तिर्निद्रा' इस योगसूत्रके अनुसार निद्रा, तमःप्रधान वृत्ति है। सत्त्व-प्रधान भक्तिमें उसका उपयोग कैसे होगा। यह शंका उत्पन्न हो सकती है। उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली कारिका लिखी है। उसका भाव यह है कि उत्तम भक्तोंके भीतर इस प्रकारकी प्राकृत निद्रा नहीं होती है अपितु कृष्णके ध्यानमात्रसे भगवत्समाधिरूपा निद्रा होती है। इसी बातको अगली कारिकामें इस प्रकार कहते हैं—

इन [कृष्ण] की निर्विशेष अपूर्व स्फूर्तिमात्र [चिन्तनमात्र] से उत्पन्न हृदयके मीलन [अर्थात् वाह्य वृत्तियोंके अभाव] से पहलेकी अवस्था भक्तोंमें निद्रा कहलाती है और वह उचित ही है ॥६८॥

३०. सुप्ति [व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण निम्न प्रकार हैं]—

निद्राके कारण उत्पन्न नाना अर्थोंके अनुभव रूप [निद्राकी ही विशेषावस्था] 'स्वप्न' कहलाती है। इसमें वह वाह्येन्द्रियोंकी [अपने विषयोंसे] उपरति, श्वास और आँखोंका बन्द हो जाना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥६९॥

जैसे—

[हलधर बलराम स्वप्नमें कृष्णसे कह रहे हैं] हे कमलनयन ! तुमने बच्चोंकेसे खेल तो बहुत दिखलाए किन्तु अब इस नागराज [कालियनाग] के गर्वको शीघ्र दूर करो। इस प्रकार स्वप्नमें बड़बड़ाते हुए, बड़ी देर तक यादवोंकी सभाको आश्चर्यमें डालकर हँसाते हुए, और [डरके कारण] लम्बी श्वासोंके कारण जिनका पेट कुछ अधिक हिल रहा है इस प्रकारके बलराम बहुत देर बाद सो गए।६०१।

३१. बोध [व्यभिचारिभावके लक्षणोदाहरण आगे देते हैं]—

अविद्या, मोह और निद्रा आदिका नाश होनेपर उत्पन्न होनेवाली प्रबुद्धता 'बोध' कहलाती है ॥७०॥

उनमेंसे अविद्याके नाशसे उत्पन्न [विबोधका उदाहरण] जैसे—

अविद्याध्वंसतो बोधो विद्योदयपुरःसरः ।
अशेषक्लेशविश्रान्तिस्वरूपावगमादिकृत् ।। ७१ ।।

यथा—

विन्दन् विद्यादीपिकां स्वस्वरूपं बुद्ध्वा सद्यः सत्यविज्ञानरूपम् ।
निष्प्रत्यूहस्तत्परं ब्रह्म मूर्त्तं सान्द्रानन्दाकारमन्वेषयामि ॥ ६०२ ॥

मोहध्वंसतः—

बोधो मोहक्षयाच्छब्दगन्धस्पर्शरसैर्हरेः ।
दृगुन्मीलनरोमाञ्चाधरोत्थानादिकृद्भवेत् ।। ७२ ।।

तत्र शब्देन यथा—

प्रथमपदर्शनरूढसुखावली--
कवलितेन्द्रियवृत्तिरभूदियम् ।
अघभिदः किल नाम्न्युदिते श्रुतौ
ललितयोदमिमीलदिहाक्षिणी ॥ ६०३ ॥

गन्धेन यथा—

अचिरमघहरेण त्यागतः स्रस्तगात्री
वनभुवि शबलाङ्गी शान्तनिश्वासवृत्तिः ।
प्रसरति वनमालासौरभे पश्य राधा
पुलकिततनुरेषा पांशुपुञ्जादुदस्थात् ॥६०४॥

ज्ञानके उत्पन्न होनेसे अविद्याका ध्वंस-रूप विबोध [अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि] समस्त क्लेशोंका नाश करनेवाला और अपने स्वरूप [अर्थात् आत्मज्ञान] आदिका करानेवाला होता है ।।७१।।

जैसे—

ज्ञानरूप दीपिकाको प्राप्त कर, सत्य और विज्ञान रूप अपने स्वरूपको पहचानकर समस्त विघ्नोंसे रहित, मैं अब परमानन्दरूप, आकारधारी ब्रह्म [अर्थात् श्रीकृष्ण] का अन्वेषण कर रहा हूँ ।६०२।

मोहके नाशसे [उत्पन्न बोधका उदाहरण] जैसे—

मोहके नाशसे उत्पन्न होनेवाला बोध, कृष्णके शब्द, गन्ध, स्पर्श और रस आदिसे आँखोंके खोलने, रोमांच, अधर फड़कने आदिका करानेवाला होता है ।।७२।।

उनमेंसे शब्दसे [होनेवाला विबोधका उदाहरण] जैसे—

यह गोपी पहले [कृष्णके] दर्शनसे उत्पन्न सुखातिरेकके कारण इन्द्रियव्यापारसे शून्य हो गई । फिर कृष्णका नाम कानमें पड़नेपर इस सुन्दरीने (अथवा ललिता नामक गोपी ने) अपनी आँखें [कृष्णके दर्शनके लिए] खोल दीं ।६०३।

गन्धसे [विबोधका उदाहरण] जैसे—

[कभी परिहासमें] अभी कृष्णके छोड़ [कर छिप जाने] जानेके कारण स्रस्तगात्री भूमिपर [लोटनेके कारण] धूसरांगी, तथा श्वास-व्यापारसे शून्य-सी हो [हो गई थी] किन्तु

स्पर्शेन यथा—

असौ पाणिस्पर्शो मधुरमसृणः कस्य विजयी
विशीर्यन्त्याः सौरीपुलिनवनमालोक्य मम यः ।
दुरन्तामुद्धूय प्रसभमभितो वैशसमयीं-
द्रुतं मूर्च्छादन्तः सखि ! सुखमयीं पल्लवयति ॥६०५॥

रसेन यथा—

अन्तर्हिते त्वयि बलानुज ! रासकेलौ
स्रस्ताङ्गयष्टिरजनिष्ट सखी विसंज्ञा ।
ताम्बूलचर्वितमवाप्य तवाम्बुजाक्षी
न्यस्तं मया मुखपुटे पुलकोज्ज्वलाऽऽसीत् ॥६०६॥

निद्राध्वंसतः—

बोधो निद्राक्षयात्स्वप्ननिद्रापूर्त्तिस्वनादिभिः ।
तत्राक्षिमर्द्दनं शय्यामोक्षोऽङ्गवलनादयः ॥७३॥

तत्र स्वप्नेन यथा—

इयं ते हासश्रीर्विरमतु विमुञ्चाञ्चलमिदं-
न यावद् वृद्धायै स्फुटमभिदधे त्वच्चटुलताम् ।
इति स्वप्ने जल्पन्त्यचिरमवबुद्धा गुरुमसौ
पुरो दृष्ट्वा गौरी नमितमुखबिम्बा मुहूरभूत् ॥६०७॥

[कृष्णकी] वनमालाके सुगन्धके पहुँचने पर [कृष्णको समीप आता जानकर] पुलकितांगी होकर धूलमेंसे उठ बैठी ।६०४।

स्पर्शसे [उत्पन्न विबोधका उदाहरण] जैसे—

हे सखि ! यह किसका मधुर कोमल सर्वोत्कर्षशाली कर-स्पर्श है जो यमुनापुलिनको देखकर गिरती हुई मेरी [राधा] दुरन्त एवं दुःखात्मक मूर्च्छाको हटाकर दुबारा सुखमयी मूर्च्छाको उत्पन्न कर रहा है ।६०५।

रससे [उत्पन्न विबोधका उदाहरण] जैसे—

हे बलानुज [श्री कृष्ण] ! रासक्रीड़ाके समय तुम्हारे छिप जानेपर सखी [राधा] की अंगलतिका शिथिल हो गई और वह मूर्च्छित हो गई । किन्तु तुम्हारे चबाए पानको लाकर अब मैंने उसके मुखमें रखा तो वह कमलनेत्रा पुलिकित हो उठी ।६०६।

निद्राके नाशसे [उत्पन्न विबोधका उदाहरण] जैसे—

स्वप्न, नींद पूरी हो जाने, अथवा शब्द आदिको सुननेसे होनेवाला निद्राका समाप्ति 'बोध' कहलाता है । उसके होनेपर आंखोंका मलना, शय्याका त्याग और अँगड़ाई लेना आदि [अनुभाव] होते हैं ।।७३।।

उनमें स्वप्नसे [उत्पन्ना निद्रानाश रूप विबोधका उदाहरण] जैसे—

अपना यह हँसना बन्द करो और मेरा आँचल छोड़ दो नहीं तो वृद्धा [माताजी] से तुम्हारी शरारत स्पष्ट रूपसे कह दूँगी, स्वप्नमें इस प्रकार कहती हुई गौरी तुरन्त जग गई और सामने गुरु [माता या पिता] को देखकर उसका मुख [बिलकुल नीचे झुक गया ।६०७।

निद्रापूर्त्त्या यथा—

दूती चागात्तदागारं जजागार च राधिका ।
तूर्णं पुण्यवतीनां हि तनोति फलमुद्यमः ॥६०८॥

स्वनेन यथा—

दूराद्विद्रावयन्निद्रा मरालीर्गोपसुभ्रुवाम् ।
सारङ्गरङ्गदं रेजे वेणुवारिदगर्जितम् ॥६०९॥

इति भावास्त्रयस्त्रिंशत्कथिता व्यभिचारिणः ।
श्रेष्ठमध्यकनिष्ठेषु वर्णनीया यथोचितम् ॥७४॥
मात्सर्य्योद्वेगदम्भेर्ष्या विवेको निर्णयस्तथा ।
क्लैब्यं क्षमा न कुतुकमुत्कण्ठा विनयोऽपि च ॥७५॥
संशयो धाष्टर्य्यमित्याद्या भावा ये स्युः परेऽपि च ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक्त्वेन दर्शिताः ॥७६॥

तथा हि—

असूयायां तु मात्सर्य्यं त्रासेऽप्युद्वेग एव तु ।
दम्भस्तथाऽवहित्थायामीर्ष्याऽमर्षे मतावुभौ ॥७७॥

नींद पूरी हो जानेसे [उत्पन्न विबोधका उदाहरण] जैसे—

[कृष्णकी भेजी हुई] दूती जैसे ही उसके घर पहुँची वैसे ही राधा जग गई । पुण्यवतियोंका उद्यम अविलम्ब फल प्रदान करनेवाला होता है ।६०८।

शब्दके द्वारा [होनेवाले निद्राभंग रूप विबोधका उदाहरण] जैसे—

गोप-सुन्दरियोंकी निद्रारूप मरालियों [हंसिनियों] को दूर भगाता हुआ, वंशी-रूप मेघका गर्जन [उन गोपियोंके] मनो-मयूरको नचाने लगा ।६०९।

वर्षा ऋतुमें हंस तालावोंको छोड़कर मानसरोवरको चले जाते हैं और मयूर नाचने लगते हैं इसलिए यहाँ निद्रा-मरालियोंका विद्रावण और मन-मयूरोंके नर्तनका वेणुध्वनिरूप वारिदसे उत्पन्न होनेका वर्णन कविने किया है ।

उत्तररामचरितमें भवभूतिने भी इसी भावको निम्न प्रकार वर्णन किया है—

"अपरिस्फुट निक्वाणे कुत्स्येऽपि त्वमीदृशी ।
स्तनयित्नो र्मयूरी व चकितोत्कण्ठितं स्थिता ॥"

ये ३३ भाव व्यभिचारिभाव कहलाते हैं । उत्तम, मध्यम और अधम पात्रोंमें उनका यथोचित रूपसे वर्णन करना चाहिए ।।७४।।

१ मात्सर्य, २ उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लीवता, क्षमा, आश्चर्य, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धृष्टता आदि जो और भी भाव होते हैं वे सब इनके भीतर ही अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिए [यहाँ] अलगसे नहीं दिखलाए गए हैं ।।७५-७६।।

जैसे कि—

असूयामें मात्सर्यका [अन्तर्भाव हो जाता है], त्रासमें उद्वेगका, अवहित्थामें दम्भका,

विवेको निर्णयश्चेमौ दैन्ये क्लैब्यं क्षमा धृतौ ।
औत्सुक्ये कुतुकोत्कण्ठे लज्जायां विनयस्तथा ।।७८।।
संशयोऽन्तर्भवेत्तर्के तथा धार्ष्ट्यं च चापले ।
एषां संचारिभावानां मध्ये कश्चन कस्य चित् ।।७९।।
विभावश्चानुभावश्च भवेदेव परस्परम् ।
निर्वेदे तु यथेर्ष्याया भवेदत्र विभावता ।।८०।।
असूयायां पुनस्तस्या व्यक्तमुक्ताऽनुभावता ।
औत्सुक्यं प्रति चिन्तायाः कथिताऽत्रानुभावता ।।८१।।
निद्रां प्रति विभावत्वमेवं ज्ञेयाः परेऽप्यमी ।
एषां च सात्त्विकानां च तथा नानाक्रियाततेः ।।८२।।
कार्य्यकारणभावस्तु ज्ञेयः प्रायेण लोकतः ।
निन्दायास्तु विभावत्वं वैवर्ण्यामर्षयोर्मतम् ।।८३।।

ईर्ष्या अमर्षमें [अन्तर्भूत हो जाती है] । [इस श्लोकके 'मतावुभौ' पदका सम्बन्ध अगली कारिकामें लगता है] ।।७७।।

['मतावुभौ' पद पिछली कारिकासे इस कारिकामें आते हैं] विवेक और निर्णय दोनों मतिमें, क्लैब्य दैन्यमें, क्षमा धृतिके भीतर, आश्चर्य तथा उत्कण्ठा दोनों औत्सुक्यके भीतर, और विनय लज्जाके अन्तर्गत आ जाते हैं ।।७८।।

संशयका तर्कमें अन्तर्भाव हो जाता है । और धृष्टताका चपलतामें अन्तर्भाव हो जाता है ।।७९।।

व्यभिचारिभावोंकी परस्पर विभावता—

इन संचारिभावों [व्यभिचारिभावों] मेंसे कोई [व्यभिचारिभाव] किसी दूसरे [व्यभिचारिभाव] का परस्पर विभाव और अनुभाव हो सकता है ।।८०।।

जैसे इनमेंसे ईर्ष्या निर्वेदका विभाव [कारण] होती है । और असूयामें उस [ईर्ष्या] की निश्चित रूपसे अनुभावता होती है । [अर्थात् ईर्ष्या, निर्वेदका कारण और असूयाका कार्य होती है] ।।८१।।

औत्सुक्यके प्रति चिन्ताको यहाँ अनुभाव कहा गया है और निद्राके प्रति उस [चिन्ता] को विभाव कहा गया है । [अर्थात् चिन्ता निद्राका कारण तथा औत्सुक्यका कार्य होती है । इसी प्रकार और [व्यभिचारिभावों] में भी [एक-दूसरेकी विभावता और अनुभावता] समझ लेनी चाहिए ।।८१।।

इन [व्यभिचारिभावों] का, सात्त्विकभावोंका, और अनेक प्रकारके क्रियासन्तानका कार्य-कारण भाव प्रायः लोक-व्यवहारसे ज्ञात होता है ।।८२।।

निन्दा, विवर्णता तथा अमर्षका विभाव [अर्थात् कारण] होती है । और असूयाके प्रति उस [निन्दा] की अनुभावता कही गई है । [अर्थात् निन्दा विवर्णता तथा अमर्षका

असूयायां पुनस्तस्याः कथितैवानुभावता ।
प्रहारस्य विभावत्वं संमोहप्रलयौ प्रति ॥८४॥
औग्रयं प्रत्यनुभावत्वमेवं ज्ञेयः परेऽपि च ।
त्रासनिद्राश्रमालस्यमदभिद्बोधवर्जिनाम् ॥८५॥
संचारिणामिह क्वापि भवेद्रत्यनुभावता ॥८६॥
साक्षाद्रतेर्न सम्बन्धः षड्भिस्त्रासादिभिः सह ।
स्यात्परम्परया किन्तु लीलाऽनुगुणताकृते ॥८७॥
वितर्कमतिनिर्वेदधृतीनां स्मृतिहर्षयोः ।
बोधभिद्दैन्यसुप्तीनां क्वचिद्रातिविभावता ॥८८॥
परतन्त्राः स्वतन्त्राश्चेत्युक्ताः संचारिणो द्विधा ।

तत्र परतन्त्राः—

वरावरतया प्रोक्ताः परतन्त्रा अपि द्विधा ॥८९॥

कारण होती है और असूयाका कार्य होती है] ॥८३॥

प्रहार, सम्मोह तथा मूर्च्छा [प्रलय] के प्रति विभाव [अर्थात् कारण] होता है । और उग्रताके प्रति अनुभाव [अर्थात् कार्य] होता है । इसी प्रकार अन्य [व्यभिचारिभाव तथा सात्त्विक भावोंमें कार्य-कारणभाव] समझ लेना चाहिए ॥८४॥

त्रास, निद्रा, श्रम, आलस्य, मदपानसे उत्पन्न मद, और बोध [इन ६] व्यभिचारि-भावोंको छोड़कर [शेष २७] संचारिभाव कहीं-कहीं रतिके अनुभाव [साक्षात् कार्य] होते हैं ॥८५-८६॥

[कृष्णविषयक] रतिसे त्रास आदि ६ का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु लीला की अनुकूलतमके सम्पादनके लिए परम्परया सम्बन्ध हो सकता है ॥८७॥

इसका अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण साक्षात् रूपसे तो त्रास, श्रम, आलस्य, आदिका नाश करनेवाले हैं इसलिए कृष्णके प्रति अनुराग रखनेवाले भक्तोंमें त्रास आदि छहोंकी साक्षात उत्पत्ति नहीं होती है । किन्तु कभी-कभी लीला दिखलानेके लिए कृष्णसे त्रासादिकी उत्पत्ति भी दिखलाई जाती है । उस त्रासादिके प्रति श्रीकृष्ण साक्षात् रूपसे कारण नहीं होते हैं । वे विरोधी सामग्री सहित कृष्णसे परम्परित रूपमें ही उत्पन्न होते हैं ।

१ वितर्क, २ मति, ३ निर्वेद, ४ धृति, ५ स्मृति, ६ हर्ष, ७ [अविद्याक्षयसे उत्पन्न] बोध. ८ दैन्य, ९ स्वप्न [ये नौ] कभी रतिके विभाव [कारण] होते हैं ॥८८॥

संचारिभाव [अर्थात् व्यभिचारिभाव] १ स्वतन्त्र और २ परतन्त्र भेदसे दो प्रकारके कहे गए हैं ।

उनमेंसे परतन्त्र—

परतन्त्र [व्यभिचारिभाव] भी उत्तम तथा अधम [वर तथा अवर] भेदसे दो प्रकारके कहेगए हैं ॥८९॥

तत्र वरः—

साक्षाद् व्यवहितश्चेति वरोऽप्येष द्विधोदितः ।

तत्र साक्षात्—

मुख्यामेव रतिं पुष्णन् साक्षादित्यभिधीयते ॥९०॥

तनूरुहाली च तनुश्च नृत्यं तनोति मे नाम निशम्य यस्य ।
अपश्यतो माथुरमण्डलं तद् व्यर्थेन किं हन्त दृशोर्द्वयेन ॥६१०॥

साक्षादेष निर्वेदः,

अथ व्यवहितः—

पुष्णाति यो रतिं गौणीं स तु व्यवहितो मतः ।

यथा—

धिगस्तु मे भुजद्वन्द्वं भीमस्य परिघोपमम् ।
माधवाक्षेपिणं दुष्टं यत् पिनष्टि न चेदिपम् ॥६११॥

निर्वेदः क्रोधवश्यत्वादयं व्यवहितो रतेः ॥९१॥

अथावरः—

रसद्वयस्याप्यङ्गत्वमगच्छन्नवरो मतः ॥

उनमेंसे वर [अर्थात् श्रेष्ठ व्यभिचारिभाव भी]—

वर [अर्थात् श्रेष्ठ व्यभिचारिभाव] भी साक्षात् तथा व्यवहित भेदसे दो प्रकारके कहे गए हैं।

उनमेंसे साक्षात् [श्रेष्ठ परतन्त्र व्यभिचारिभाव]—

मुख्य रतिको उत्पन्न करनेवाले [वर परतन्त्र व्यभिचारिभाव] साक्षात् कहलाते हैं ॥९०॥

जैसे—

जिसके नामको सुनकर मेरा शरीर और रोम-रोम नाचने लगता है उस मथुरा-मण्डलको न देखनेवाले मेरे इन दोनों नेत्रोंका होना हाय व्यर्थ ही है।६१०।

यह साक्षात् निर्वेद [का उदाहरण] है।

अब व्यवहित [परतन्त्र भावका लक्षण करते हैं]—

जो भाव गौणी रतिको पुष्ट करता है वह व्यवहित [परतन्त्र भाव] कहलाता है।

जैसे—

मुझ भीमके, परिघके समान [लम्बे तथा मोटे] इन बाहुओंको धिक्कार है जो कृष्ण के शत्रु इस दुष्ट शिशुपालको पीस नहीं डालते हैं।६११।

यह निर्वेद क्रोधके अन्तर्गत होनेसे रतिसे व्यवहित ['व्यहित परतन्त्र भाव' का उदाहरण] है ॥९१॥

अब अवर [परतन्त्रभावका लक्षण करते हैं]—

[मुख्य और गौण] दोनों प्रकारकी रति [रस] का जो अंग न बन सके वह अवर [व्यभिचारीभाव] कहलाता है।

यथा—

लेलिह्यमानं वदनैर्ज्वलद्भिर्जगन्ति दंष्ट्रास्फुरदुत्तमाङ्गैः ।
अवेक्ष्य कृष्णं धृतविश्वरूपं नस्वं विशुष्यन् स्मरति स्म जिष्णुः ॥६१२॥

घोरक्रियाऽऽद्यनुभवादाच्छाद्य सहजां रतिम् ॥६२॥
दुर्वाराऽऽविरभूद्भीतिर्मोहोऽयं भीवशस्ततः ॥

अथ स्वतन्त्राः—

सदैव पारतन्त्र्येऽपि क्व चिदेषां स्वतन्त्रता ॥६३॥
भूपालसेवकस्येव प्रवृत्तस्य करग्रहे ।
भावज्ञै रतिशून्यश्च रत्यनुस्पर्शनस्तथा ॥६४॥
रतिगन्धिश्च ते त्रेधा स्वतन्त्राः परिकीर्त्तिताः ।

तत्र रतिशून्यः—

जनेषु रतिशून्येषु रतिशून्यो भवेदसौ ॥६५॥

यथा श्रीदशमे—

धिग्जन्म नस्त्रिवृद्यत्तद् धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोऽक्षजे ॥६१३॥

जैसे—

दाढ़ों की कान्ति देदीप्यमान शिरोभाग वाले प्रज्वलित मुखोंसे सारे जगत्को चाटे जाने वाले, विश्वरूप-धारी कृष्णको देखकर सूखा जाते हुए अर्जुनको अपनी सुध-बुध भी भूल गयी ।६१२।

[इस उदाहरणमें] भयंकर क्रियाके अनुभवके कारण सहज रतिका भी आच्छादन करके महान् भय उत्पन्न हो गया है इसलिए यह मोह भयके कारण है [यह मुख्य तथा गौणी दोनों प्रकारकी रतिका अंग न होनेसे अवर व्यभिचारिभाव है] ।६२।

अब स्वतन्त्र [व्यभिचारिभावोंका वर्णन करते हैं]—

सदैव परतन्त्र होनेपर भी कहीं-कहीं विवाहमें प्रवृत्त [करग्रह पाणिग्रहण अथवा कर उगाहने] में प्रवृत्त राज-सेवकके समान इन [व्यभिचारिभावों] की स्वतन्त्रता भी होती है] ।६३।

भावोंके पण्डित उन स्वतन्त्र [व्यभिचारिभावों] को १ रतिशून्य, २ रत्यनुस्पर्शी तथा ३ रति-गन्धी भेदसे तीन प्रकारके मानते हैं ।६४।

उनमेंसे रतिशून्य [स्वतन्त्रव्यभिचारिभावका लक्षण आगे देते हैं]—

रतिसे शून्य मनुष्योंमें [होने वाला] यह व्यभिचारिभाव रतिशून्य कहलाता है ।६५।

जैसे दशम स्कन्धमें—

हम जो कृष्णसे विमुख हैं उनके जन्मको तीनों प्रकारके व्रतोंको, विद्वता, कुल, क्रियाओंमें निपुणता सबको धिक्कार है ।६१३।

अत्र स्वतन्त्रो निर्वेदो रत्यनुस्पर्शनः,

य: स्वतो रतिगन्धेन विहीनोऽपि प्रसङ्गतः ।
पश्चाद्रतिं स्पृशेदेष रत्यनुस्पर्शनो मतः ।।६६।।

यथा—

गरिष्ठारिष्टटङ्कारैर्विधुरा बधिरायिता ।
हा कृष्ण ! पाहि पाहीति चुक्रोशाभीरबालिका ॥६१४॥

अत्र त्रासः,

अथ रतिगन्धिः—

यः स्वान्तन्त्र्येऽपि तद्गन्धं रतिगन्धिर्व्यनक्तिः सः ।।

यथा—

पीतांशुकं परिचिनोमि धृतं त्वयाऽङ्गे
सङ्गोपनाय न हि नप्त्रि ! विधेहि यत्नम् ।
इत्यार्य्यया निगदिता नमितोत्तमाङ्गा
राधाऽवगुण्ठितमुखी तरसा तदाऽसीत् ॥६१५॥

अत्र लज्जा—

इसमें [रतिशून्यजनमें होने वाला यह] निर्वेद [रतिशून्य] स्वतन्त्र'निर्वेद है । रत्यनुस्पर्शी [स्वतन्त्र व्यभिचारिभावका लक्षण और उदाहरण करते हैं]—

जो स्वतः रतिके सम्पर्कसे रहित होनेपर भी बादको रतिका स्पर्श करे [रतिसे सम्बद्ध हो जाय] वह रत्यनुस्पर्शी [स्वतन्त्र व्यभिचारिभाव] कहलाता है ।६६।

जैसे—

अरिष्टासुरके भयंकर [टंकारों] गर्जनसे बहरीसी और दुःखी अहीर कन्या हे कृष्ण बचाओ, हे कृष्ण बचाओ ऐसा कहकर चिल्लाने लगी ।६१४।

इसमें त्रास [प्रारम्भमें रतिगन्धसे रहित होनेपर भी अन्तमें रक्षाकी प्रार्थना करते समय कृष्णबिषयक रतिसे सम्बद्ध हो जाता है इसलिए यह रत्यनुस्पर्शी स्वतन्त्र व्यभिचारिभावका उदाहरण है] ।

अब रतिगन्धी [स्वतन्त्र व्यभिचारिभावका निरूपण करते हैं]—

जो [व्यभिचारिभाव] स्वतन्त्र होनेपर भी [कृष्ण विषयक] रतिके गन्ध [स्वल्प सम्पर्क] को व्यक्त करता है वह रतिगन्धी [स्वतन्त्र व्यभिचारिभाव] कहलाता है ।

जैसे—

हे नातिन । तुमने जो पीताम्बर शरीर पर धारण कर रखा है उसे मैं पहचानती हूँ [कि वह कृष्णका पीताम्बर है] इसलिए उसको छिपानेका यत्न मत करो । आर्या [नानी के] के द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर राधाने [लज्जाके कारण] सिर झुकाकर मुँहपर घूंघट डाल लिया ।६१५।

इसमें लज्जा [स्वतन्त्र व्यभिचारिभाव होनेपर भी कृष्ण-विषयक रतिके गन्धको व्यक्त कर रहा है अतः रतिगन्धी स्वतन्त्र व्यभिचारिभावका यह उदाहरण है) ।

आभासः पुनरेतेषामस्थाने वृत्तितो भवेत् ।।६७।।

प्रातिकूल्यमनौचित्यमस्थानत्वं द्विधोदितम् ।

तत्र प्रातिकूल्यं—

विपक्षे वृत्तिरेतेषां प्रातिकूल्यमितीर्य्यते ।।६८।।

यथा—

गोपोऽप्यशिक्षितरणोऽपि तमश्वदैत्यं-
हन्ति स्म हन्त मम जीवितनिर्विशेषम् ।
क्रीडाविनिर्जितसुराधिपतेरलं मे
दुर्जीवितेन हतकंसनराधिपस्य ।।६१६।।

अत्र निर्वेदस्याभासः ।

यथा वा—

डुण्डुभो जलचरः स कालियो-गोष्ठभूभृदपि लोष्टसोदरः ।
तत्र कर्म्म किमिवाद्भुतं जने येन मूर्ख ! जगदीशतेर्य्यते ।।६१७।।

अत्रासूयायाः,

व्यभिचारिभावाभास—

इन [व्यभिचारिभावों] के अस्थानमें प्रयोग करनेसे आभासरूपता [व्यभिचारिभावाभासता] हो जाती है ।६७।

[आभासत्वका प्रयोजक] अस्थानत्व १ प्रातिकूल्य रूप और २ अनौचित्य रूप दो प्रकारका होता है ।

उनमेंसे प्रातिकूल्य रूप [अस्थानत्वका लक्षण निम्न प्रकार है]—

[विपक्ष अर्थात्] विरोधीके भीतर [अर्थात् जिसमें उस प्रकारके भावकी सम्भावना न हो उसके भीतर] होना प्रातिकूल्य कहलाता है ।६८।

जैसे—

युद्धविद्याको न जाननेवाले इस [दरिद्र] ग्वालाने मेरे प्राणोंके तुल्य प्रिय उस अश्व दैत्यको मार डाला तो फिर अनायास ही इन्द्रको भी जीत लेनेवाले मुझ राजा कंसका जीना ही व्यर्थ है ।६१६।

इसमें [कंसके भीतर निर्वेदकी सम्भावना न होनेपर भी उसके निर्वेदका वर्णन पाया जाता है । इसलिए इसमें प्रातिकूल्य रूप अस्थानता होनेके कारण यह] निर्वेदाभास [का उदाहरण] है ।

अथवा जैसे—

अरे मूर्ख [अक्रूर] ! कालिय-नाग भी जिस [कृष्ण] के लिए जलमें रहनेवाला [डुण्डुभ अर्थात्] निर्विष-सर्प है और गोवर्धन पर्वत भी ढेलेके समान है उस आदमीकेलिए कौनसा कार्य आश्चर्यजनक हो सकता कि जिसके कारण आप उसकी जगदीशताका बखानकर रहे हो ।६१७।

इसमें असूया [कंस रूप विरोधी पात्रमें पाई जाती है इसलिए प्रातिकूल्य रूप व्यभिचारिभावाभासका उदाहरण है] ।

अथानौचित्यं—

असत्यत्वमयोग्यत्वमनौचित्यं द्विधा भवेत।

अप्राणिनि भवेदाद्यं तिर्य्यगादिषु चान्तिमम् ॥९९॥

तत्राप्राणिनि यथा—

छाया न यस्य सकृदप्युपसेविताऽभूत्
कृष्णेन हन्त मम तस्य धिगस्तु जन्म।
मा त्वं कदम्ब! विधुरो भव कालियाहिं-
मृद्नन् करिष्यति हरिश्चरितार्थतां ते ॥६१८॥

अत्र निर्वेदस्य,

तिरश्चि यथा—

अधिरोहतु कः पक्षी कक्षामपरो ममाद्य मेध्यस्य।
हित्वाऽपि तार्क्ष्यपक्षं भजते पक्षं हरिर्यस्य ॥६१९॥

अत्र गर्वस्य,

वहमानेष्वपि सदा ज्ञानविज्ञानमाधुरीम्।

कदम्बादिषु सामान्यदृष्ट्याऽऽभासत्वमुच्यते ॥१००॥

अब अनौचित्य [रूप अस्थानताका लक्षण करते हैं]—

अनौचित्य भी १ असत्यत्व [कल्पितत्व या आरोपित] रूप तथा २ अयोग्यत्व रूप दो प्रकारका होता है। इनमेंसे प्रथम [अर्थात् असत्य रूप या आरोपित रूप अनौचित्य] प्राणियोंसे भिन्नमें [व्यभिचारिभावोंका वर्णन होनेपर] होता है और अन्तिम [अर्थात् अयोग्यत्व रूप अनौचित्य] पशु-पक्षी आदिमें [व्यभिचारिभावोंके पाए जानेपर] होता है।९९।

उनमेंसे अप्राणीमें—

जिसकी छायाको कृष्णने एक बार भी सेवन नहीं किया उस मेरे जन्मको धिक्कार है [यह कदम्बका कोई वृक्ष कह रहा है। उसको समझाते हुए कवि कहता है] हे कदम्ब! तुम दुःखी मत हो कालिय-मर्दनके समय कृष्ण [तुम्हारा उपयोग करके] तुमको कृतार्थ करेंगे।६१८।

तिर्यक [पशु-पक्षी] में [होनेवाले व्यभिचार्याभासका उदाहरण] जैसे—

आज दूसरा कौन पक्षी मुझ परम पवित्र [मोर पक्षी] की बराबरी कर सकता है कि गरुड़के [पक्ष अर्थात्] प्रेमको छोड़कर कृष्ण जिस [मोर] के पंखोंको धारण करते हैं।६१९।

इसमें गर्वके [पक्षीमें वर्णित होनेसे यह व्यभिचार्याभासका उदाहरण है]। सदा ज्ञान और विज्ञानकी माधुरीको धारण करनेवाले कदम्ब आदिमें भी सामान्य दृष्टिसे [व्यभिचारिभावोंका] आभासत्व माना जाता है।१००।

यों तो कदम्ब वृक्ष अप्राणी-वर्गमें आता है किन्तु कृष्णका विशेष प्रिय होनेसे कृष्ण-भक्त उसमें पूज्यताबुद्धि के कारण ज्ञान-विज्ञान माधुरीका सम्पर्क मानते हैं। ज्ञानका अर्थ स्वजातीयोचित किंचित् ज्ञान है। और विज्ञान उस ज्ञानसे किंचिद्विशिष्ट ज्ञानको कहते हैं। किन्तु कदम्बादिमें मनुष्यके समान ज्ञान-विज्ञान नहीं रहते हैं इसलिए उनमें भी सामान्य-

भावानां क्वचिदुत्पत्तिसन्धिशाबल्यशान्तयः ।
दशाश्चतस्र एतासामुत्पत्तिस्त्विह सम्भवः ।।१०१।।

यथा—

मण्डले किमपि चण्डमरीचेर्लोहितायति निशम्य यशोदा ।
वैष्णवीं ध्वनिधुरामविदूरे प्रस्नवस्तिमितकञ्चुलिकाऽऽसीत् ।।६२०।।
अत्रहर्षोत्पत्तिः

यथा वा—

त्वयि रहसि मिलन्त्यां सम्भ्रमन्यासभुग्नाऽ-
प्युषसि सखि ! तवाली मेखला पश्य भाति ।
इति विवृतरहस्ये माधवे कुञ्चितभ्रू-
दृशमानृजु किरन्ती राधिका वः पुनातु ।।६२१।।

अत्रासूयोत्पत्तिः,

अथ सन्धिः—

सरूपयोर्भिन्नयोर्वा सन्धिः स्याद्भावयोर्युतिः ।

तत्र सरूपयोः सन्धिः—

दृष्ट्या अर्थात् निर्विशेष ज्ञान होनेसे व्यभिचार्याभासत्व माना जाता है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

भवादयादि चार-दशाएँ—

[व्यभिचारी] भावोंकी भी कहीं उत्पत्ति सन्धि, शबलता [और शान्ति] रूप चार अवस्थाएँ पाई जाती हैं । उनमेंसे पहले उत्पत्ति दशाको कहते हैं ।१०१।

जैसे—

सूर्यमण्डलके कुछ आरक्त होनेपर [अर्थात् सूर्यास्तका समय होनेपर बनसे लौटते हुए कृष्णकी बांसुरीके शब्दको पास आते हुए सुनकर यशोदाकी कंचुकी बहते हुए दूधसे गीली हो गई ।६२०।

इसमें हर्षकी उत्पत्ति [वर्णित है । इसलिए यह भावोदयकी अवस्थाका उदाहरण है] । अथवा जैसे—

हे सखि ! [राधिके रातको] एकान्तमें मिलन के समय [सम्भोगके बाद] जल्दीमें पहनने कारण टेढ़ी पहनी हुई तुम्हारी तगड़ी भी इस समय सवेरे देखो कैसी शोभा दे रही है । इस प्रकार कृष्ण द्वारा रहस्यके प्रकट कर दिए जानेपर कृष्णके ऊपर [क्रोध] टेढ़ी भौंहोंवाली दृष्टि डालती हुई राधिका तुम्हारा कल्याण करें ।६२१।

इसमें असूयाकी उत्पत्ति [रूप भावोदयका उदाहरण है] ।

अब सन्धि [अर्थात् भावसन्धिका लक्षण करते हैं]—

समान रूपवाले, अथवा भिन्न रूपवाले दो भावोंका मिश्रण सन्धि [भावसन्धि कहलाता है ।

उनमेंसे समान रूप दो भावोंकी सन्धिका [लक्षण] जैसे—

सन्धिः सरूपयोस्तत्राभिन्नहेतूत्थयोर्मतः ।।१०२।।

यथा—

राक्षसीं निशि निशाम्य निशान्ते गोकुलेशगृहिणी पतिताङ्गीम् ।
तत्कुचोपरि सुतं च हसन्तं हन्त निश्चलतनुःक्षणमासीत् ।।६२२।।

अत्रानिष्टेष्टसंवीक्षाकृतयोर्जाड्ययोर्युतिः,

अथ भिन्नयोः—

भिन्नयोर्हेतुनैकेन भिन्नेनाप्युपजातयोः ।

तत्रैकहेतुजयोर्यथा—

दुर्वारचापलोऽयं धावन्नन्तर्बहिश्च गोष्ठस्य ।
शिशुरकुतश्चिद्भीतिर्धिनोति हृदयं दुनोति च मे ।।६२३।।

अत्र हर्षशङ्कयोः,

भिन्नहेतुजयोर्यथा—

विलसन्तमवेद्य देवकी सुतमुत्फुल्लविलोचनं पुरः ।
प्रबलामपि मल्लमण्डलीं हिममुष्णं च जलं दृशोर्दधे ।।६२४।।

अभिन्न हेतुसे उत्पन्न होनेवाले दो समान रूप भावोंका सन्धि [सरूपसन्धि भाव-सन्धिका एक भेद होता है] ।१०२।

जैसे—

[निशान्ते अर्थात्] घरके भीतर, पड़ी हुई [पूतना] राक्षसीको और उसके स्तनोंके ऊपर हँसते हुए पुत्र [कृष्ण] को [निशाम्य अर्थात्] देखकर गोकुलेश गृहिणी [यशोदा] निश्चलदेह रह गई ।६२२।

इसमें अनिष्ट [पूतना रक्षसी] तथा इष्ट [कृष्ण द्वारा उसके वध] के देखनेसे उत्पन्न दोनों प्रकारके जाड्यरूप समान [व्यभिचारिभावों] का सन्धि है।

अब दो भिन्न [व्यभिचारिभावोंके सन्धिका वर्णन करते हैं]—

एक ही हेतुसे अथवा दो भिन्न हेतुओंसे उत्पन्न दो [व्यभिचारिभावों] का सन्धि-[भाव सन्धिका दूसरा भेद होता है]।

उनमेंसे एक हेतुसे उत्पन्न दो [व्यभिचारिभावों] का [सन्धिका उदाहरण] जैसे—

किसीसे भी न डरनेवाला और अत्यन्त चंचल या लड़का घरके बाहर और भीतर भागता हुआ मेरे हृदयको आनन्दित भी करता है और दुःखाता भी है ।६२३।

इसमें [एक ही कृष्ण रूप हेतुसे उत्पन्न] हर्ष तथा शंका रूप दो [व्यभिचारिभावों] का। [सन्धि दिखलाया गया है]।

दो भिन्न हेतुओंसे उत्पन्न होनेवाले दो [व्यभिचारिभावों] के [सन्धिका उदाहरण] जैसे—

खिले हुए नेत्रोवाले पुत्रको सामने खेलते देखकर और [दूसरी ओर] प्रबल पहलवानोंके समूहको सामने देखकर देवकीकी आँखोंमें ठण्डे और गरम आँसू [एक साथ] निकलने लगे ।६२४।

अत्र हर्षविषादयोः सन्धिः,

एकेन जायमानानामनेकेन च हेतुना ॥१०३॥

बहूनामपि भावानां सन्धिः स्फुटमवेक्ष्यते ।

तत्रैकहेतुजानां यथा—

निरुद्धा कालिन्दीतटभुवि मुकुन्देन बलिना
हठादन्तःस्मेरां तरलतरतारोज्ज्वलकलाम् ।
अभिव्यक्तावज्ञामरुणकुटिलापाङ्गसुषमां-
दृशं न्यस्यन्त्यस्मिन् जयति वृषभानोःकुलमणिः ॥६२५॥

अत्र हर्षौत्सुक्यगर्वामर्षासूयानां सन्धिः,

अनेकहेतुजानां यथा—

हृदि धृतहरिहारा वीक्ष्य राधा सवित्रीं-
निकटभुवि तथाऽग्रे तर्कभाक् स्मेरपद्माम् ।
हरिमपि दरदूरे स्वामिनं तत्र चासीन्
महसि विनतवक्रप्रस्फुरन्म्लानवक्त्रा ॥६२६॥

अत्र लज्जामर्षहर्षविषादानां सन्धिः,

इसमें [कृष्ण तथा मल्लमण्डली रूप दो भिन्न कारणों से उत्पन्न होनेवाले] हर्ष तथा विषाद रूप दो भावोंका [सन्धि दिखलाया है] ।

एक हेतुसे अथवा अनेक हेतुओंसे उत्पन्न बहुतसे [अर्थात् दो से अधिक] भावोंका मिश्रण सन्धि भी स्पष्ट रूपसे पाया जाता है ॥१०३॥

उनमेंसे एक हेतुसे उत्पन्न [बहुतसे भावोंका सन्धि का उदाहरण] जैसे—

यमुनाके किनारे बलवान् कृष्णके द्वारा [जबरदस्ती रोकी गई] इसलिए १ भीतरसे मुस्कराती हुई [हर्षव्यंजक], २ चंचल तारोंसे उज्ज्वल कलावाली [औत्सुक्य-व्यंजक], ३ अवज्ञाको व्यक्त करनेवाली [गर्व-व्यंजक], ४ लाल-लाल [अमर्ष-व्यंजक] और ५ टेढ़ी भौंहोंसे मनोहर लगनेवाली [असूया-व्यंजक], दृष्टि इस [कृष्ण] के ऊपर डालती हुई वृषभानुकी कुलमणि [राधा] सर्वोत्कर्षशालिनी है ।६२५।

इसमें १ हर्ष, २ औत्सुक्य, ३ गर्व, ४ अमर्ष, ५ असूया [एक हेतुसे उत्पन्न होनेवाले अनेक भावोंका] सन्धि है ।

अनेक हेतुओंसे उत्पन्न [अनेक व्यभिचारिभावोंके सन्धिका उदाहरण] जैसे—

छातीके ऊपर कृष्णके हारको पहने हुई राधाके मुखकी कान्ति, १ माताको, सामने पासमें ही हँसती हुई, २ पद्मा [सहेली] को, ३ और थोड़ी दूरपर सामने कृष्णको तथा ४ कुछ दूरपर [अपने] पतिको देखकर [१ मातासे लज्जाके कारण] मनु की हुई, [२ पद्मापर क्रोधके कारण] तिरछी, [३ कृष्णके दर्शनसे हर्षके कारण] खिली हुई तथा [पतिके दर्शनसे विषादयुक्त होनेसे] मलिन हो गई ।६२६।

इसमें क्रमशः १ लज्जा, २ अमर्ष, ३ हर्ष और ४ विषादका सन्धि है [ये चारों व्यभिचारिभाव भिन्न कारणोंसे उत्पन्न हुए हैं । इसलिए यह अनेक हेतुओंसे उत्पन्न अनेक भावोंके सन्धिका उदाहरण है] ।

अथ शावल्यं—

शबलत्वं तु भावानां सम्मर्द्दः स्यात्परस्परम् ।।१०४।।

यथा—

शक्तः किं नाम कर्त्तुं स शिशुरहह मे मित्रपक्षानधाक्षी--
दातिष्ठेयं तमेव द्रुतमथ शरणं कुर्व्यु रेतन्न वीराः ।
आं दिव्या मल्लगोष्ठी विहरति स करेणोद्धाराद्रिवर्य्यं--
कुर्य्यामद्यैव गत्वा व्रजभुवि कदनं हा ततः कम्पते धीः ।।६२७।।

अत्र गर्वविषाददैन्यमतिस्मृतिशङ्कामर्षत्रासानां शाबल्यम्,

यथा वा—

अब शबलता [भावशबलताका निरूपण करते हैं]—

बहुतसे भावोंका परस्पर सम्मर्द [अर्थात् पूर्ववर्ती एक भावका उपमर्दन करके दूसरे भावका उदय] शबलत्व कहलाता है ।।१०४।।

और जगह सामान्य रूपसे दो भावोंका एक साथ संयोग भावसन्धि तथा दोसे अधिक भावोंका संयोग भाव-शबलता कहलाता है । किन्तु वहाँ ग्रन्थकारने दोसे अधिक भावोंका योग होनेपर भी भावसन्धिके उदाहरण दिए हैं । इसलिए भावसन्धि तथा भाव-शबलताका भेद करनेके लिए विशेष कारण देखना होगा । और वह विशेष भेदक हेतु यही है कि भावसन्धिमें दो या दोसे अधिक तुल्यबल भावोंकी साथ-साथ प्रतीति होती है । किन्तु भाव-शबलतामें दोसे अधिक भावोंकी उपमर्द्य-उपमर्दकभावसे प्रतीति होती है । अर्थात् पहले भावको दबाकर ही दूसरा भाव उत्पन्न होता है । इसी बातको यहाँ ग्रन्थकारने 'सम्मर्द' शब्दसे कहा है ।

जैसे —

१. यह लड़का मेरा क्या कर सकता है [यह प्रथम गर्वका भाव कंसके मनमें आता है । फिर उसको दबाकर] २. अरे इसीने तो मेरे मित्रको नष्ट कर डाला [यह दूसरा विषाद का भाव उदित होता है । उसके बाद उसको भी दबाकर] ३. तो फिर जल्दीसे उसीकी शरण स्वीकार कर लूँ [यह तीसरा दैन्य रूप भाव उदित होता है । फिर उसको भी दबाकर] ४. किन्तु वीर लोग [शत्रुकी शरणमें जाना रूपसे] ऐसा कार्य नहीं करते हैं [यह चौथा मति रूप भाव उदय होता है फिर उसको भी दबाकर] ५. अरे हाँ मेरे पास तो यह पहलवानोंकी पलटन घूम रही है [मुझे इससे डरनेकी क्या आवश्यकता है यह पाँचवाँ स्मृति-रूप भाव उदय होता है । फिर उसको भी दबाकर] उसने तो गिरिराज गोवर्धनको हाथपर उठा लिया था [इसके सामने मेरे पहलवानोंकी क्या चलनी है यह छठा शंका-रूप भाव पैदा होता है । फिर उसको भी दबाकर] ७. अच्छा तो मैं स्वयं जाकर आज ही ब्रजभूमिका नाश कर डालूँ [यह सातवाँ अमर्षका भाव उदित होता है । फिर उसको भी दबाकर] ८. हाय उससे तो मन काँपता है [यह आठवाँ त्रासका भाव उदय होता है] ।६२७।

[इस प्रकार] इसमें १ गर्व, २ विषाद, ३ दैन्य, ४ मति, ५ स्मृति, ६ शंका, ७ अमर्ष और ८ त्रास [इन आठ भावोंका सम्मर्द होनेसे भावों] की शबलता पाई जाती है ।

अथवा जैसे—

धिग्दीर्घे नयने ममास्तु मथुरा याभ्यां न सा प्रेक्ष्यते
विद्येयं मम किंकरीकृतनृपा कालस्तु सर्वङ्कषः ।
लक्ष्मीकेलिगृहं गृहं मम हहा नित्यं तनुः क्षीयते
सद्मन्येव हरिं भजेय हृदयं वृन्दाटवी कर्षति ॥६२८॥
अत्र निर्वेदगर्वशङ्काधृतिविषादमत्यौत्सुक्यानां शाबल्यम्,

अथ शान्तिः—

अत्यारूढस्य भावस्य विलयः शान्तिरुच्यते ।

यथा—

विधुरितवदना विदूनभास--
स्तमघहरं गहने गवेषयन्तः ।
मृदुकलमुरलीं निशम्य शैले
व्रजशिशवः पुलकोज्ज्वला बभूवुः ॥६२९॥

अत्र विषादशान्तिः,

---

१. मेरे इन बड़े-बड़े नेत्रोंको धिक्कार है जिन्होंने मथुराका दर्शन नहीं किया। [यह निर्वेदका भाव आता है। फिर उसको दबाकर], कुछ हर्ज नहीं नेत्रोंसे मथुरा न देखी तो न सही किन्तु उनके द्वारा उपार्जित] २. राजाओंको भी अपना सेवक बना लेनेवाली विद्या तो है [यह गर्वका दूसरा भाव उदित होता है। किन्तु उसको भी दबाकर भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया तो यह विद्या तो बचा नहीं सकेगी क्योंकि] ३. काल तो सबको नष्ट कर देनेवाला है [यह तीसरा शंका-रूप भाव उदय होता है। फिर उसको भी दबाकर] ४. मेरे घर तो सदा लक्ष्मीका क्रीड़ागार रहता है [यह चौथा धृति-रूप भाव उत्पन्न होता है। किन्तु उसको भी दबाकर] ५. हाय मेरा शरीर तो प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है [यह पाँचवाँ विषाद-रूप भाव उदय होता है। फिर उसको भी दबाकर] ६. तो फिर घरमें ही रहकर भगवान्‌का भजन करूँ [यह छठा मति-रूप भाव होता है। फिर उसको भी दबाकर] ७. अरे मनको तो वृन्दावन, हठात् अपनी ओर खींच रहा है [यह सातवाँ औत्सुक्य-रूप भाव उदित होता है]।६२८।

[इस प्रकार] इस उदाहरणमें १ निर्वेद, २ गर्व, ३ शंका, ४ धृति, ५ विषाद, ६ मति और ७ औत्सुक्य [इन ७ भावोंका सम्मर्द होनेसे] शबलता है।

४ अब भावशान्ति [रूप चौथी दशाका निरूपण करते हैं]—

अत्यन्त प्रबलताको प्राप्त हुए भावका विलीन हो जाना भावशान्ति कहलाता है।

जैसे—

उन अघनाशक [श्रीकृष्ण] को बनमें खोजते-खोजते खिन्न वदन तथा लम्बी श्वास भरनेवाले व्रज-बालक पहाड़के ऊपर मधुर मनोहर मुरली-ध्वनिको सुनकर आनन्दसे नाच उठे [पुलकोज्ज्वला बभूवुः]।६२९।

इसमें [अत्यन्त प्रौढ़ताको प्राप्त हुए] विषादकी शान्ति है [अतः यह भावशान्तिका उदाहरण है]।

उपसंहार—

शब्दार्थरसवैचित्री वाचि का चन नास्ति मे ॥१०५॥
यथा कथं चिदेवोक्तं भावोदाहरणं परम् ।
त्रयस्त्रिंशदिमेऽष्टौ च वक्ष्यन्ते स्थायिनश्च ये ॥१०६॥
मुख्यभावाभिधास्त्वेकचत्वारिंशदमी स्मृताः ।
शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः ॥१०७॥
भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः ।
क्व चित्स्वाभाविको भावः कश्चिदागन्तुकः क्व चित् ॥१०८॥
यस्तु स्वाभाविको भावः स व्याप्यान्तर्बहिः स्थितः ।
मञ्जिष्ठाऽऽद्ये यथा द्रव्ये रागस्तन्मय ईक्ष्यते ॥१०९॥
अत्र स्यान्नाममात्रेण विभावस्य विभावता ।
एतेन सहजेनैव भावेनानुगता रतिः ॥११०॥
एकरूपाऽपि या भक्ते विविधा प्रतिभात्यसौ ।
आगन्तुकस्तु यो भावः पटादौ रक्तिमेव सः ॥१११॥

यद्यपि मेरी [ग्रन्थकारकी] वाणीमें शब्द अर्थ तथा रसका कोई चमत्कार नहीं है फिर भी जैसे-तैसे मैंने भावोंके ये उदाहरण [स्वनिर्मित श्लोकों द्वारा] दिखला दिए हैं ॥१०५॥

ये तैंतीस [व्यभिचारिभाव] और आगे जो आठ स्थायिभाव कहे जाएँगे ये सब मिलकर इकतालीस ४१ मुख्य भाव नामसे कहे जाते हैं । [मुख्य पदसे यहाँ सात्त्विक भावोंका व्यवच्छेद किया गया है । अर्थात् सात्त्विकभाव मुख्य भावोंमें नहीं आते हैं ॥१०६॥

भावलक्षण—

विभावों [अर्थात् कारणों] से उत्पन्न, शरीर एवं इन्द्रिय वर्गके विकारोंको उत्पन्न करनेवाली चित्तवृत्ति 'भाव' कहलाती हैं ॥१०७॥

कोई भाव स्वाभाविक भाव होता है और कोई कहीं आगुन्तकभाव होता है ॥१०८॥

जो स्वाभाविक भाव होता है वह भीतर-बाहर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित होता है । जैसे मंजिष्टा आदि [लाल रंगके औषधि रूप] द्रव्यमें वह [स्वाभाविक] राग उसमें सर्वत्र व्याप्त [तन्मयता दिखलाई देता है] ॥१०९॥

इस [स्वाभाविक भाव] के प्रति विभावोंकी विभावता नाममात्रकी ही होती है । इस सहज [स्वाभाविक] भावसे युक्त रति एक रूप होनेपर भी भक्तके भीतर तीन प्रकारकी प्रतीति होती है ॥११०॥

आगन्तुकभावका लक्षण—

आगन्तुक जो भाव होता है वह पटादिकी लालिमाके समान [आगन्तुक] होता है । यह [आगन्तुक भाव अपने] उन-उन [विशेष] कारणोंसे ही उत्पन्न होता है और उनसे ही वृद्धिको प्राप्त होता है ॥१११॥

तैस्तैर्विभावैरेवायं धीयते दीप्यतेऽपि च ।
विभावनादिवैशिष्ट्याद्भक्तानां भेदतस्तथा ॥११२॥
प्रायेण सर्वभावानां वैशिष्ट्यमुपजायते ।
विविधानां तु भक्तानां वैशिष्ट्याद्विविधं मनः ॥११३॥
मनोऽनुसाराद्भावानां तारतम्यं किलोदये ।
चित्ते गरिष्ठे गम्भीरे महिष्ठे कर्कशादिके ॥११४॥
सम्यगुन्मीलिताश्चामी न लक्ष्यन्ते स्फुटं जनैः ।
चित्ते लघिष्ठे चोत्ताने क्षोदिष्ठे कोमलादिके ॥११५॥
मनागुन्मीलिताश्चामी लक्ष्यन्ते बहिरुल्वणाः ।
गरिष्ठं स्वर्णपिण्डाभं लघिष्ठं तूलपिण्डवत् ॥११६॥
चित्तयुग्मेऽत्र विज्ञेया भावस्य पवनोपमा ।
गम्भीरं सिन्धुवच्चित्तमुत्तानं पल्वलादिवत् ॥११७॥

विभावादिकी विशेषताओंके कारण तथा भक्तोंके भेदके कारण प्रायः सब भावोंमें [भेद] विशेषता उत्पन्न हो जाती है ॥११२॥

विविध प्रकारके भक्तोंके भेदके कारण उनके मन भिन्न-भिन्न स्थितिवाले होते हैं। और मनोंके अनुसार भावोंके उदयमें निश्चय तारतम्य [भेद] हो जाता है ॥११३॥

गरिष्ठ [अर्थात् स्वर्णादिके समान कठोर] और [समुद्रके समान] गम्भीर, [नगरके समान मंहिष्ठ [महान्] तथा कर्कश आदि रूप चित्तमें उदित होनेपर भी लोग इनको भली प्रकार नहीं देख पाते हैं ॥११४॥

[लघिष्ठ अर्थात् रुईके समान], हलके [उत्तान अर्थात् तलैयाके समान] उथले, क्षोदिष्ट अर्थात् कुटीरके समान] क्षुद्र और कोमल आदि चित्तमें तनिक-सा भी उदय होनेपर ये भाव बाहर-बाहर बड़े प्रबल रूपमें दिखलाई देते हैं ॥११५॥

मंहिष्ठ आदि शब्दोंकी व्याख्या—

स्वर्ण पिण्डके समान कठोर 'गरिष्ठ' कहलाता है। रुईके पिण्डके समान हलका लघिष्ठ कहलाता है। इन दोनों चित्तमें भावको पवनके समान समझना चाहिए ॥११६॥

अर्थात् जैसे स्वर्ण-पिण्डपर वायुके वेगका अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है किन्तु रुईका पिण्ड तनिकसी हवामें उड़ा-उड़ा फिरता है इसी प्रकार गरिष्ठ चित्तमें भाव प्रबल रूपमें होने पर भी दिखलाई नहीं देते हैं किन्तु लघिष्ठ हलके चित्तमें भली प्रकारसे उदित न होनेपर भी उनका विशेष प्रभाव दिखलाई देता है।

समुद्रके समान [अगाध] गम्भीर, और तलैया पोखर आदिके समान [उथला चित्त] उत्तान कहलाता है। इन दोनों चित्तोंमें भावको कड़े पर्वत-शिखरके समान समझना चाहिए ॥११७॥

अर्थात् जैसे समुद्रके भीतर बड़े-बड़े पर्वत-शिखर विद्यमान होनेपर भी दिखलाई नहीं

चित्तद्वयेऽत्र भावस्य महाद्रिशिखरोपमा ।
पत्तनाभं महिष्ठं स्यात् क्षोदिष्ठं तु कुटीरवत् ॥११८॥
चित्तयुग्मेऽत्र भावस्य दीपेनेभेन वोपमा ।
कर्कशं त्रिविधं प्रोक्तं बज्रं स्वर्णं तथा जतु ॥११९॥
चित्तत्रयेऽत्र भावस्य ज्ञेया वैश्वानरोपमा ।
अत्यन्तकठिनं वज्रमकुतश्चनमार्द्दवम् ॥१२०॥
ईदृशं तापसादीनां चित्तं तावदवेक्ष्यते ।
स्वर्णं द्रवति भावाग्नेस्तपेनातिगरीयसा ॥१२१॥
जतु द्रवत्वमायाति तापलेशेन सर्वतः ।
कोमलं च त्रिधैवोक्तं मदनं नवगीतकम् ॥१२२॥
अमृतं चेति भावोऽत्र प्रायः सूर्य्यातपायते ।
द्रबेदत्राद्ययुगलमातपेन यथायथम् ॥१२३॥

देते हैं इसी प्रकार गम्भीर चित्तमें प्रबल रूपमें विद्यमान भाव भी बाहर प्रकाशित नहीं होते हैं और पोखरमें साधारण-सा पत्थर भी चमकने लगता है इसी प्रकार उथले उत्तान चित्तमें हलका-सा भाव भी बड़े रूपमें बाहर प्रतीत होने लगता है ।

नगरके समान [विस्तृत चित्त] मंहिष्ठ महान् तथा कुटीरके समान चित्त क्षोदिष्ठ अर्थात् क्षुद्र कहलाता है । इन दोनों प्रकारके चित्तोंमें भावकी उपमा दीपसे अथवा हाथीसे की जा सकती है ॥११८॥

अर्थात् जैसे नगरमें हाथी या दीपक रहते हुए भी नगरके अति विस्तारके कारण दिखलाई नहीं देते हैं किन्तु कुटीरमें उसके छोटे होनेके कारण तुरन्त दिखलाई दे जाते हैं । इसी प्रकार महान् अवस्थावाले मंहिष्ठ चित्तमें भाव विद्यमान होनेपर भी जल्दी दिखलाई नहीं देते हैं किन्तु क्षुद्र अवस्थावाले क्षोदिष्ठ चित्तमें तुरन्त दिखलाई देने लगते हैं ।

कर्कश [चित्त] तीन प्रकारका कहा गया है । १. हीरेके समान, २. स्वर्णके समान और ३ लाखके समान । इन तीनों प्रकारके चित्तमें भावको अग्निके समान समझना चाहिए ।११९।

वज्र [हीरा] अत्यन्त कठोर होता है और उसमें किसी प्रकार भी पिघलाया नहीं जा सकता है । इस प्रकारका तापस आदिका चित्त प्रायः पाया जाता है ॥१२०॥

स्वर्ण अग्निके उग्र तापसे पिघल जाता है [इसी प्रकार स्वर्ण समान कर्कश चित्त] अत्यन्त तीव्र भाव रूप अग्निसे पिघल जाता है । और [जतु] लाख [के सदृश चित्त] थोड़ेसे भी तापसे बिलकुल पिघल जाता है ॥१२१॥

कोमल चित्त १. मोम, २. मक्खन तथा अमृतके समान तीन प्रकारका माना जाता है । इन तीनों प्रकारके कोमल चित्तोंमें भावकी उपमा सूर्यसे दी जा सकती है ॥१२२॥

इनमेंसे पहले दो [अर्थात् मोमके समान तथा नवनीतके समान कोमल चित्त भाव रूप] आतपसे पिघल जाते हैं । किन्तु अमृतके समान कोमल चित्त स्वभावसे ही सदा द्रवीभूत

द्रवीभूतं स्वभावेन सर्वदैवामृतं भवेत् ।
गोबिन्दप्रेष्ठवर्य्याणां चित्तं स्यादमृतं किल ॥१२४॥
कृष्णभक्तविशेषस्य गरिष्ठत्वादिभिर्गुणैः ।
समवेतं सदाऽमीभिर्द्वित्रैरपि मनो भवेत् ॥१२५॥
किन्तु सुष्ठु महिष्ठत्वं भावो बाढमुपागतः ।
सर्वप्रकारमेवेदं चित्तं विक्षोभयत्यलम् ॥१२६॥

यथा—
दानकेलिकौमुद्यां—

गभीरोऽप्यश्रान्तं दुरधिगमपारोऽपि नितरां-
महार्घ्या मर्य्यादां दधदपि हरेरास्पदमपि ।
सतां स्तोमः प्रेमण्युदयति समग्रे स्थगयितुं—
विकारं न स्फारं जलनिधिरिवेन्दौ प्रभवति ॥६३०॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य
निरूपणे व्यभिचारिलहरी ॥४॥

रहता है ॥१२३॥

कृष्णके उत्तम उपासकों [भक्तों] का चित्त अमृतके समान [स्वभावि द्रवीभूत] होता है ॥१२४॥

कृष्णके विशेष भक्तोंका चित्त इन गरिष्ठता आदि दो-तीन गुणोंसे सदा युक्त रहता है ॥१२५॥

किन्तु यह उत्तम महनीय भाव प्रबलताको प्राप्त होनेपर चित्तको सब प्रकारसे अत्यन्त विक्षुब्ध कर देता है [जिससे कि उस भावको छिपाना असम्भव हो जाता है] ॥१२६॥

जैसे दानकेलिकौमुदीमें—

नितान्त गम्भीर और जिसका पार न पाया जा सके इस प्रकारका दुरधिगम होनेपर भी अत्यन्त उत्कृष्ट मर्यादाका पालन करनेवाला तथा भगद्भक्तिमें लगा हुआ होनेपर भी सज्जनोंका समुदाय, पूर्ण रूपसे भगवत्-प्रेमके उदय होनेपर भाव-विकारको रोकनेमें उसी प्रकार असमर्थ हो जाता है जिस प्रकार चन्द्रमाके उदय होनेपर समुद्र [अपने बिकारको नहीं रोक पाता है] ।६३०।

भक्तिरसामृतसिन्धुके दक्षिणविभावमें भक्तिरसके सामान्य निरूपणके प्रसंगमें
चौथी व्यभिचारिभावलहरी समाप्त हुई ।

पञ्चमी स्थायि भाव लहरी

अथ स्थायी—

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन् ।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते ॥१॥
स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः ।
मुख्या गौणी च सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीत्तिता ॥२॥

तत्र मुख्या—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्त्तिता ।
मुख्याऽपि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्यते ॥३॥

तत्र स्वार्था—

अविरुद्धैः स्फुटं भावैः पुष्णात्यात्मानमेव या ।
विरुद्धैर्दुःशकग्लानिः सा स्वार्था कथिता रतिः ॥४॥

अथ परार्था—

अविरुद्धं विरुद्धं च सङ्कुचन्ती स्वयं रतिः ।
या भावमनुगृह्णाति सा परार्था निगद्यते ॥५॥

पञ्चमी स्थायिभाव लहरी

सामान्य भक्ति निरूपण पर दक्षिणविभागे में

अथ स्थायि [भावोंके लक्षण आदि करते हैं]—

जो भाव अविरुद्ध और विरुद्ध [समस्त] भावोंको अपने वशमें करके उत्तम राजाके समान शोभित होता है वह 'स्थायिभाव' कहलाता है ॥१॥

यहाँ [भक्तिशास्त्रमें] श्रीकृष्ण-विषयक रति ही 'स्थायिभाव' कहा जाता है । और रसके जाननेवाले विद्वानोंने उसको मुख्या तथा गौणीभेदसे दो प्रकारका बतलाया है ॥२॥

उनमें मुख्या [रतिका लक्षण]—

शुद्ध सत्त्वविशेष रूप [अर्थात् प्रेम रूप] भक्ति मुख्य रति कहलाती है । मुख्या रति भी स्वार्था तथा परार्था भेदसे दो प्रकारकी कही जाती है ॥३॥

उनमेंसे स्वार्था [मुख्य रतिका लक्षण]—

जो अविरुद्ध स्पष्ट भावोंसे अपनेको ही पुष्ट करती है और विरुद्ध भावोंके द्वारा जिसका अभिभव करना कठिन होता है वह 'स्वार्था रति' कहलाती है ॥४॥

अब परार्था [रतिका लक्षण कहते हैं]—

जो रति स्वयं संकोचको प्राप्त होकर अविरोधी अथवा विरोधी दूसरे भावको पुष्ट करती है [अनुगृह्णाति] वह 'परार्था रति' कहलाती है ॥५॥

शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ ।
स्वपरार्थैव सा मुख्या पुनः पञ्चविधा भवेत् ।।६।।
वैशिष्ट्यं पात्रवैशिष्ट्याद्रतिरेषोपगच्छति ।
यथाऽर्कः प्रतिबिम्बात्मा स्फटिकादिषु वस्तुषु ।।७।।

तत्र शुद्धा—

सामान्याऽसौ तथा स्वच्छा शान्तिश्चेत्यादिमा त्रिधा ।
एषाऽङ्गकम्पतानेत्रमीलनोन्मीलनादिकृत् ।।८।।

तत्र सामान्या—

कञ्चिद्विशेषमप्राप्ता साधारणजनस्य या ।
बालिकादेश्च कृष्णे स्यात् सामान्या सा रतिर्मता ।।९।।

यथा—

अस्मिन् मथुरावीथ्यामुदयति मधुरे विरोचने पुरतः ।
कथय सखे ! म्रदिमानं मानससदनं किमेति मम ।।६३१।।

यथा वा—

त्रिवर्षा बालिका सेयं वर्षीयसि ! समद्यताम् ।
या पुरः कृष्णमालोक्य हुङ्कुर्वत्यभिधावति ।।६३२।।

---

१. शुद्धा, २. प्रीति, ३. सख्य, ४. वात्सल्य तथा ५. प्रियता भेदसे मुख्या [स्वपरार्था स्वं स्वरूपं परार्थं यस्याः सा स्वपरार्था अर्थात्] परार्था रति पाँच प्रकारकी होती है ।।६।।

यह [मुख्या परार्था] रति पात्रों [भक्तों] के वैशिष्ट्यके कारण अनेक भेदोंको प्राप्त होती है जैसे स्फटिक [जल-तैल] आदि [विभिन्न] वस्तुओंमें सूर्यका प्रतिबिम्ब भिन्न प्रकार का हो जाता है ।।७।।

उनमेंसे शुद्धा [मुख्या परार्था रतिका लक्षण]—

उनमेंसे आदिमा [अर्थात् शुद्धा रति भी १. सामान्या, २. स्वच्छा तथा ३. शान्ति रूपा भेदसे तीन प्रकारकी होती है । और वह अंगोंमें कम्पन, नेत्रोंके निमीलन, उन्मीलन आदिको उत्पन्न करनेवाली होती है ।।८।।

उनमेंसे सामान्या [परार्था] शुद्धाका अवान्तर भेद सामान्य भक्तिका लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

किसी भी प्रकारकी [अर्थात् सब प्रकारकी] विशेषतासे रहित साधारण पुरुषोंकी अथवा बालिका आदिकी कृष्णके प्रति जो रति है वह सामान्य [परार्था शुद्धा] रति कहलाती है ।।९।।

मथुराकी गलीमें इस सुन्दर [विरोचन अर्थात्] चन्द्रमा रूप कृष्णके उदय होने [अर्थात् दिखलाई देने] पर हे सखि ! अत्यन्त मानका गृह मेरा मन क्यों द्रवित हुआ जाता है ।६३१।

अथवा जैसे—

हे वृद्धे ! यह तीन वर्षकी बालिका भी सामने कृष्णको देखकर [उल्लसित होकर] हुंकार करती हुई [उनके पास जानेके लिए] उनकी ओर दौड़ रही है ।६३२।

स्वच्छा—

तत्तत्साधनतो नानाविधभक्तप्रसङ्गतः ।
साधकानां तु वैविध्यं यान्ती स्वच्छा रतिर्मता ॥१०॥
यदा यादृशि भक्ते स्यादासक्तिस्तादृशं तदा ।
रूपं स्फटिकवद्धत्ते स्वच्छाऽसौ तेन कीर्त्तिता ॥११॥

यथा—

क चित्प्रभुरिति स्तुवन् क चन मित्रमित्युद्धसन्
क चित्तनय इत्यवन् क चन कान्त इत्युल्लसन् ।
क्व चिन्मनसि भावयन् परम एष आत्मेत्यसा—
वभूद्विविधसेवया विविधवृत्तिरार्य्यो द्विजः ॥६३३॥

अनाचान्तधियां तत्तद्भावनिष्ठा सुखार्णवे ।
आर्य्याणामतिशुद्धानां प्रायः स्वच्छा रतिर्भवेत् ॥१२॥

अथ शान्तिः—

मानसे निर्विकल्पत्वं शम इत्यभिधीयते ।

तथा चोक्तं—

विहाय विषयौन्मुख्यं निजानन्दस्थितिर्यतः ॥१३॥

[परार्था शुद्धा रतिके दूसरे भेद] स्वच्छा [रतिका लक्षण]—

नानाविध भक्तोंके सम्बन्धसे उस प्रकारके साधनोंके द्वारा विविधताको प्राप्त साधकों की रति 'स्वच्छा रति' कहलाती है ॥१०॥

जिस समय जिस प्रकारके भक्तोंके हृदयमें जैसी आसक्ति हो उस समय रति स्वच्छ स्फटिकके समान उसी प्रकारका रूप धारणकर लेती है इसीलिए 'स्वच्छारति' कहलाती है ॥११॥

जैसे—

कभी प्रभु मानकर स्तुति करते हुए, कभी मित्र मानकर हँसी करते हुए, कभी पुत्र मानकर रक्षा करते हुए, कभी कान्त मानकर आह्लादित होते हुए, और कभी यह परमात्मा है ऐसा मानकर मनमें ध्यान करते हुए [कृष्णके विषयमें] विविध प्रकारकी सेवा करते हुए आर्य द्विज विविध प्रकारकी वृत्तिवाले बन गए ।६३३।

उस-उस प्रकारके किसी एक भावके आस्वादन-रूप सुखार्णवमें ही निमग्न न होनेवाले आर्यजनोंकी रति प्रायः [विविध रूपमें भगवान्‌का चिन्तन करनेके कारण] स्वच्छा रति ही होती है ॥१२॥

अब शान्ति [अर्थात् परार्था शुद्धा रतिके तीसरे भेद शान्ति रतिका लक्षण करते हैं]—

मनके भीतर निर्विकल्पता [अर्थात् किसी प्रकारके विषयके चिन्तनका अभाव] शम कहलाता है ।

जैसा कि कहा है—

जिसके कारण विषयोन्मुखताको त्यागकर आत्माकी स्व-स्वरूपभूत आनन्दमें तन्मयता

आत्मनः कथ्यते सोऽत्र स्वभावः शम इत्यसौ ।
प्रायः शमप्रधानानां ममतागन्धवर्जिता ।।१४।।
परमात्मतया कृष्णे जाता शान्ती रतिर्मता ।

यथा—

देवर्षिवीणया गीते हरिलीलामहोत्सवे ।
सनकस्य तनौ कम्पो ब्रह्मानुभविनोऽप्यभूत् ।।६३४।।

यथा वा—

हरिवल्लभसेवया समन्तादपवर्गानुभवं किलावधीर्य्य ।
घनसुन्दरमात्मनोऽप्यभीष्टं परमं ब्रह्मदिदृक्षते मनो मे ।।६३५।।

अग्रतो वक्ष्यमाणैस्तु स्वादैः प्रीत्यादिसंश्रयैः ।।१५।।
रतेरस्या असम्पर्कादियं शुद्धेति भण्यते ।
अथ भेदत्रयी हृद्या रतेः प्रीत्यादिरीर्य्यते ।।१६।।
गाढानकूलतोत्पन्ना ममन्वेन सदाश्रिता ।
कृष्णभक्तेष्वनुग्राह्यसखिपूज्येष्वनुक्रमात् ।।१७।।

[स्थिति] होती है उस स्वभावको 'शम' कहा जाता है ।।१३।।

शमप्रधान भक्तोंमें ममताके गन्धसे रहित कृष्णके प्रति परमात्म रूपसे उत्पन्न रति शान्ति रति कहलाती है ।।१४।।

जैसे—

देवर्षि [नारद] की वीणा द्वारा कृष्णकी [लीलामृतका अर्थात्] सुन्दर लीलाओंका गान होनेपर ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले सनकके शरीरमें भी कम्प [सात्त्विकभाव] हो गया ।६३४।

अथवा जैसे—

[हरेर्वल्लभा हरिवल्लभाः] कृष्णके भक्तोंकी सेवा द्वारा [प्राप्त होनेवाले] अपवर्ग सुख को तिरस्कृत करके, अब मेरा मन आनन्दघन और अपने आत्मासे भी अधिक प्रिय, परब्रह्म [स्वरूप कृष्ण] का साक्षात्कार करना चाहता है ।६३५।

आगे कहे जानेवाले प्रीति आदि [रतिभेदों] में रहनेवाले स्वादोंके साथ इस रतिका सम्पर्क न होनेके कारण ही [१. सामान्या, २. स्वच्छा तथा ३. शान्ति इन प्रकारके भेदवाली] इस रतिको शुद्ध रति कहा जाता है ।।१५।।

[शुद्ध रतिके निरूपणके बाद] अब रतिके प्रीत्यादि [अर्थात् १. प्रीति २. सख्य तथा ३ वात्सल्य] इन तीन मनोहर भेदोंका वर्णन करते हैं ।।१६।।

कृष्णके १. अनुग्राह्य, २. सखा तथा ३. पूज्य भक्तोंमें अत्यन्त अनुकूलताके कारण उत्पन्न एवं सदा ममतासे युक्त रति, क्रमसे [अनुग्राह्यकी कृष्ण-विषयक रति प्रीति नामसे, २. सखाओंकी कृष्ण-विषयक रति सख्य नामसे तथा पूज्योंकी कृष्ण-विषयक रति वात्सल्य नामसे] कही जाती है ।।१७।।

त्रिविधेषु त्रयी प्रीतिः सख्यं वत्सलतेत्यसौ ।
अत्र नेत्रादिफुल्लत्वजृम्भणोद्घूर्णनादयः ॥१८॥
केवला सङ्कुला चेति द्विविधेयं रतित्रयी ।

तत्र केवला—

रत्यन्तरस्य गन्धेन वर्जिता केवला भवेत् ॥१९॥
व्रजानुगे रसालादौ श्रीदामादौ वयस्यके ।
गुरौ च व्रजनाथादौ क्रमेणैव स्फुरत्यसौ ॥२०॥

अथ सङ्कुला—

एषां द्वयोस्त्रयाणां वा सन्निपातस्तु सङ्कुला ॥२१॥
उद्धवादौ च भीमादौ मुखराऽऽदौ क्रमेण सा ।
यस्याधिक्यं भवेद्यत्र स तेन व्यपदिश्यते ॥२२॥

तत्र प्रीतिः—

इन [अनुग्राह्य, २. सखा तथा ३. पूज्य] तीनोंमें [कृष्ण विषयक] तीन प्रकारकी रति क्रमशः १ प्रीति, २ सख्य, तथा ३ वत्सलता [नामोंसे] कही जाती है। इन तीनों प्रकारकी रतियोंमें नेत्रोंका विकास, जम्भाई तथा [उद्घूर्णन] चक्कर खाना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥१८॥

यह तीनों प्रकारकी [अर्थात् प्रीति सख्य तथा वत्सलता रूप] रति फिर १. केवला तथा २. संकुला भेदसे दो प्रकारकी [कुल छः प्रकारकी] हो जाती है।

उनमेंसे केवला [अर्थात् प्रीति सख्य तथा वात्सल्य रूप तीन प्रकारकी केवला रतिका लक्षण]—निम्न प्रकार किया गया है]—

किसी अन्य प्रकारकी रतिके सम्पर्कसे रहित रति, केवला रति कहलाती है ॥१९॥

व्रजमें होनेवाले रसाल आदिमें [कृष्णके प्रति केवला प्रीति] २ श्रीदामा आदि मित्रोंमें [कृष्णके प्रति केवल सख्या रूपा रति] तथा ३ व्रजनाथ अर्थात् नन्द आदि गुरुजनोंमें [कृष्ण के प्रति केवल वात्सल्यरूपा रति] क्रमशः स्फुरित होती है ॥२०॥

अब [प्रीति, सख्य तथा वात्सल्य रूप तीनों प्रकारकी] संकुला [भक्तिका निरूपण करते हैं]—

वह [परार्था रतिके प्रीति सख्य तथा वात्सल्य रूप] इन तीनोंमेंसे दो अथवा तीनका मिश्रण हो जानेपर संकुला रति कहलाती है ॥२१॥

उद्धव आदिमें [संकुला प्रीति रूप रति] भीम आदिमें [संकुला सख्य रूप रति] तथा मुखरा [नाम्नी नन्दके यहाँ रहनेवाली वृद्धा धात्री] में [कृष्णके प्रति संकुला वात्सल्य नामक रति] क्रमसे यह [तीनों प्रकारकी संकुला रति] होती है। किन्तु उनमेंसे जिसका आधिक्य होता है उस नामसे [प्रीति, सख्य अथवा वात्सल्य रूपसे] कही जाती है ॥२२॥

उनमेंसे प्रीति [का निरूपण करते हैं]—

स्वस्माद्भवन्ति येऽन्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः ।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रतिरितीरिता ॥२३॥
तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ ।

यथा मुकुन्दमालायां—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥६३६॥

अथ सख्यं—

ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां मताः ॥२४॥
साम्याद्विश्रम्भरूपैषां रतिः सख्यमिहोच्यते ।
परीहासप्रहासादिकारिणीयमयन्त्रणा ॥२५॥

यथा—

मां पुष्पितारण्यदिदृक्षया गतं—
निमेषविश्लेषविदीर्णमानसाः ।
ते संस्पृशन्तः पुलकाञ्चितश्रियो—
दूरादहंपूर्विकयाऽद्य रेभिरे ॥६३७॥

यथा वा—

श्रीदामदोर्विलसितेन कृतोऽसि कामं—
दामोदर ! त्वमिह दर्पधुरादरिद्रः ।

जो अपनी अपेक्षा छोटे हैं वे कृष्णके अनुग्राह्य माने जाते हैं । उनकी कृष्णके प्रति आराध्यत्व रूप जो रति है वह 'प्रीति' कहलाती है । वह कृष्णमें आसक्तिको उत्पन्न करने वाली तथा अन्य सबके प्रति प्रीतिका नाश करनेवाली होती है ॥२३॥

जैसे 'मुकुन्दमाला' में—

मुझे चाहे स्वर्गमें रहना हो अथवा पृथिवीपर, अथवा नरकमें भी भले ही रहना पड़े किन्तु हे नरकान्तक [नरकासुरके मारनेवाले कृष्ण] ! शरत्कालीन कमलोंके समान सुन्दर आपके चरणोंका ध्यान मरते समय तक भी करता रहूँगा ।६३६।

अब सख्य [रूपा रतिका निरूपण करते हैं]—

जो कृष्णके बराबरके हैं वे उनके सखा माने जाते हैं ॥२४॥

बराबरीके कारण इनकी विश्रम्भात्मक रति 'सख्य' कहलाती है । और यह अनियन्त्रित रूपसे मजाक तथा अट्टहास आदिको उत्पन्न करनेवाली होती है ॥२५॥

जैसे—

मेरे पुष्पित वनको देखनेके लिए चले जानेपर तनिक देरके वियोगसे दुःखित मनवाले उन मित्रोंने [वापस आनेपर] रोमांचित शरीर होकर दूरसे ही अहमहमिकापूर्वक आज मुझे स्पर्श करते हुए आलिंगन किया ।६३७।

अथवा जैसे—

हे दामोदर ! यद्यपि श्रीदामा [कृष्णके मित्र] के बाहुओंके विलासने तुम्हारे अभिमान

सद्यस्त्वया तदपि कत्थनमेव कृत्वा
देव्यै ह्रिये त्रयमदायि जलाञ्जलीनाम् ॥६३८॥

अथ वात्सल्यं—

गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इति विश्रुताः ।
अनुग्रहमयी तेषां रतिर्वात्सल्यमुच्यते ॥२६॥

इदं लालनभव्याशीश्चिबुकस्पर्शनादिकृत् ।

यथा—

अग्रासि यन्निरभिसन्धिविरोधभाजः
कंसस्य किंकरगणैर्गिरितोऽप्युदग्रैः ।
गास्तत्र रक्षितुमसौ गहने मृदुर्मे
बालः प्रयात्यविरतं बत किं करोमि ॥६३९॥

यथा वा—

सुतमङ्गुलिभिः स्नुतस्तनी
चिबुकाग्रे दधती दयाऽऽर्द्रधीः ।
समलालयदालयात्पुरः
स्थितिभाजं व्रजराजगेहिनी ॥६४०॥

को नष्ट कर दिया है फिर भी [श्रीदामासे हार जानेपर भी] तुरन्त ही अपनी डींग हांककर तुमने आज लज्जादेवीको तीन जलांजलिया दे डालीं ।६३८।

देवी राजाकी पटरानी कहलाती है । तुम राजा हो लज्जा तुम्हारी देवी अर्थात् पटरानी है । उसको तुमने तीन जलांजलियाँ दे डालीं । जलांजलि मरनेके बाद दी जाती है । इसका अर्थ यह हुआ कि तुमने लज्जाको बिल्कुल नष्टकर दिया । तुम बिल्कुल निर्लज्ज हो गए ।

अब वात्सल्य [रूप तीसरे भेदका निरूपण करते हैं]—

जो कृष्णके गुरु [माता-पिता आदि] हैं वे इनके पूज्य माने जाते हैं । उनकी [कृष्णके प्रति] अनुग्रहमयी रति 'वात्सल्य' नामसे कही जाती है ॥२६॥

यह प्यार, शुभाकांक्षा और ठोढ़ीका स्पर्श आदि करानेवाली होती है ।

जैसे—

जिसको निष्कारण विरोध करनेवाले पर्वतसे भी ऊँचे-ऊँचे कंसके सेवकोंने अपने अधीन कर लिया है उस जंगलमें गौओंको रखानेके लिए मेरा यह कोमल बालक बराबर जाता रहता है [मना करनेपर भी मानता नहीं है] हाय मैं क्या करूँ ।६३९।

अथवा जैसे—

जिसके स्तनोंमेंसे दूध निकल रहा है इस प्रकारकी व्रजराजगेहिनी [अर्थात् माता यशोदा] ने घरके बाहर खड़े हुए पुत्रको प्रेमसे द्रवित होकर अँगुलियोंसे ठोड़ीको छूते हुए प्यार किया ।६४०।

इस लहरीकी छठी कारिकामें परार्था रतिके पाँच भेद किए थे । उनमेंसे पहले ८-१५ कारिकाओं तक शुद्धा रतिका निरूपण किया उसके बाद १६-२६ कारिका तक १ प्रीति, २

अथ प्रियता—

मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्चा सम्भोगस्यादिकारणम् ॥२७॥
मधुरापरपर्य्याया प्रियताऽऽख्योदिता रतिः ।
अस्यां कटाक्षभ्रूक्षेपप्रियवाणीस्मितादयः ॥२८॥

यथा गोविन्दविलासे—

चिरमुत्कण्ठितमनसो राधामुरवैरिणोः कोऽपि ।
निभृतनिरीक्षणजन्मा प्रत्याशापल्लवो जयति ॥६४१॥

यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि ।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते काऽपि कस्य चित् ॥२९॥

इति मुख्या ।

सख्य तथा ३ वात्सल्य रूप तीन भेदोंका निरूपण किया । इस प्रकार यहाँ तक परार्था रतिके पाँच भेदोंमेंसे चार भेदोंका निरूपण किया जा चुका है । अब पांचवाँ भेद 'प्रियता' शेष रह जाता है । अतः अब उसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

अब प्रियता [रूप परार्था रतिके पंचम भेदका निरूपण करते हैं]—

कृष्ण और राधाके परस्पर सम्भोगका प्रवर्तक [आदि करण] रति 'प्रियता रति' कहलाती है इसका दूसरा नाम 'मधुरा रति' भी कहा जाता है ॥२७॥

इसमें कटाक्ष करना, भौंहें चलाना, प्रिय भाषण और मुस्कराना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥२८॥

जैसे 'गोविन्दविलास' में—

बहुत समयसे [सम्भोगार्थं] उत्कण्ठित राधा और कृष्णके छिपकर परस्पर देखनेके द्वारा [दोनोंके मनमें एक दूसरेकी ओरसे] उत्पन्न [स्वीकृति सूचक] प्रत्याशाका अंकुर सर्वोत्कर्षशाली है ।६४१।

किसीको कभी अपने संस्कारोंके कारण यह मधुर स्वादमयी रति उत्तरोत्तर विशेष आस्वादमयी भी प्रतीत होती है ॥२९॥

इस लहरीके आरम्भमें रतिके मुख्या तथा गौणी दो भेद किए थे । इनमें मुख्या रतिके फिर १ स्वार्था तथा २ परार्था दो भेद किए । इसके बाद स्वार्था रतिका और कोई भेद न करके परार्था रतिके १ शुद्धा, २ प्रीति, ३ सख्य, ४ वात्सल्य तथा ५ प्रियता रूप पाँच भेद किए गए थे । इन पाँचों भेदोंका यहाँ तक वर्णन हो गया । इस वर्णनका सार यह निकला कि परार्था रतिके इन पाँचों भेदोंका आधार पात्रोंके ऊपर आश्रित है । सामान्य जनोंकी कृष्ण के प्रति जो रति है वह प्रायः 'शुद्धा' रतिके अन्तर्गत होती है । २ छ अनुग्राह्य अर्थात् छोटों की कृष्णके प्रति जो रति है वह 'प्रीति' कहलाती है । बराबरवालोंकी कृष्णके प्रति रति 'सख्य' तथा बड़ोंकी रति 'वात्सल्य' कहलाती है । राधा तथा कृष्णकी परस्पर रति 'प्रियता' कहलाती है । ये सब मुख्य रतिके भेद यहाँ तक हो गए । इसका उपसंहार करके अब आगे गौणी रति का निरूपण प्रारम्भ करेंगे ।

यह मुख्या रति समाप्त हुई ।

अथ गौणी—

विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते ।
संकुचन्त्या स्वयं रत्या स गौणी रतिरुच्यते ।।३०।।
हासो विस्मय उत्साहः शोकः क्रोधो भयं तथा ।
जुगुप्सा चेत्यसौ भावविशेषः सप्तधोदितः ।।३१।।
अपि कृष्णविभावत्वमाद्यषट्कस्य सम्भवेत् ।
स्याद्देहादिविभावत्वं सप्तम्यास्तु रतेर्वशात् ।।३२।।
हासादावत्र भिन्नोऽपि शुद्धसत्त्वविशेषतः ।
परार्थाया रतेर्योगाद्रतिशब्दः प्रयुज्यते ।।३३।।
हासोत्तरा रतिर्या स्यात्सा हासरतिरुच्यते ।
एवं विस्मयरत्याद्या विज्ञेया रतयश्च षट् ।।३४।।
कंचित्कालं क्वचिद्भक्ते हासाद्याः स्थायितामभी ।
रत्या चारुकृता यान्ति तल्लीलाऽऽद्यनुसारतः ।।३५।।

अब गौणी [रतिका निरूपण प्रारम्भ करते हैं]—

विभावके उत्कर्षके द्वारा [विशेष उत्कर्षशाली] किसी भाव विशेषको जब स्वयं संकुचित होती हुई [स्वयं संकोचको प्राप्त] रति पुष्ट करती है तब 'गौणी रति' कहलाती है।३०।

[स्वयं संकोचको प्राप्त रतिके द्वारा पुष्टिको प्राप्त] १ हास, २ विस्मय, ३ उत्साह, ४ शोक, ५ क्रोध, ६ भय तथा ७ जुगुप्सा ये सात प्रकारके भावविशेष होते हैं [जो गौणी रतिके प्रयोजक होते हैं]।३१।

इनमेंसे पहले छः [अर्थात् हास, विस्मय, उत्साह, शोक क्रोध तथा भय] में कृष्ण भी विभाव [अर्थात् जनक कारण] हो सकते हैं [और अन्य कारण या विभाव भी हो सकते हैं] किन्तु सातवीं [जुगुप्सा] रतिके द्वारा केवल देहादि विभाव हो सकते हैं [उस जुगुप्सा रतिमें कृष्ण विभाव नहीं हो सकते हैं]।३२]

[इस लहरी की तीसरी कारिकामें मुख्या रतिको 'शुद्धसत्वविशेषात्मा' कहा था। उस] शुद्धसत्वविशेषसे भिन्न होनेपर भी इन हास आदिमें परार्था रतिका सम्बन्ध होनेसे रति शब्दका प्रयोग किया जाता है [अर्थात् मुख्य रति-रूप न होनेपर रति स्वयं संकुचित होकर हासादिको पुष्ट करती है इसलिए परार्था रतिके योगसे हासादिको हास-रति आदि शब्दोंसे कहा जाता है]।३३।

जो हास-प्रधान रति होती है उसको 'हास-रति' नामसे कहा जाता है। इस प्रकार विस्मयरति आदि छः प्रकारकी रतियां भी [विस्मयादि प्रधान रति होनेके कारण उस-उस नामसे व्यवहृत [समझनी चाहिए]।३४]

ये हासादि [सातों] किसी विशेष भक्तमें रतिके द्वारा सौन्दर्यातिशयको प्राप्त होकर उस-उस समयकी लीलादिके अनुसार कुछ कालके लिए स्थायित्वको प्राप्त हो जाते हैं

तस्मादनियताधाराः सप्त सामयिका इमे ।
सहजा अपि लीयन्ते बलिष्ठेन तिरस्कृताः ॥३६॥
काऽप्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारात् स्वस्वरूपतः ।
रतिरात्यन्तिकस्थायी भावो भक्तजनेऽखिले ॥३७॥
स्युरेतस्या विनाभावाद्भावाः सर्वे निरर्थकाः ।
विपक्षादिषु यान्तोऽपि क्रोधाद्या स्थायितां सदा ॥३८॥
लभन्ते रतिशून्यत्वान्न भक्तिरसयोग्यताम् ।
अविरुद्धैरपि स्पृष्टा भावैः संचारिणोऽखिलाः ॥३९॥
निर्वेदाद्या विलीयन्ते नार्हन्ति स्थायितां ततः ।
इत्यतो मतिगर्वादिभावानां घटते न हि ॥४०॥
स्थायिता कैश्चिदिष्टाऽपि प्रमाणं तत्र तद्विदः ।
सप्त हासादयस्त्वेते तैस्तैर्नीताः सुपुष्टताम् ॥४१॥

[इसलिए इनको स्थायिभाव भी माना जाता है] ।३५।

जिस प्रकार मुख्या रतिके परार्था रति रूप द्वितीय भेदके १ शुद्ध, २ प्रीति, ३ सख्य, ४ वात्सल्य तथा ५ प्रियता रूप पाँचों भेदोंमें १ साधारणजन २ अनुग्राह्य अर्थात् कृष्णसे छोटे, ३ बराबरवाले, ४ कृष्णके गुरुजन तथा ५ राधा आदि विशेष आधार नियत थे इस प्रकार इस गौणी रतिके हास-रति आदि भेदोंमें कोई आधार नियत नहीं है । इसलिए—

किसी निश्चित आधारसे रहित ये सातों सामयिक [अस्थायी] भाव सहज [अर्थात् स्वाभाविक भाव] होनेपर भी [दूसरे समय किसी दूसरे] बलवान भावसे तिरस्कृत होकर लीन हो जाते हैं ।३६]

किन्तु उस अपने [सातों] आधारोंमें अपने स्वरूपसे सदा सर्वत्र विद्यमान [क्वाप्य-व्यभिचरन्ती] रति 'आत्यन्तिक स्थायिभाव' है और वह सब भक्तोंमें सदा रहता है ।३७।

विपक्ष [अर्थात् शत्रु अथवा भक्तोंसे भिन्न व्यक्तियों] में स्थायिभावत्व को प्राप्त होनेपर भी [भक्तिशास्त्रमें] इस रतिके बिना [हासादि शेष] सारे भाव व्यर्थ हो जाते हैं ।३८।

इसलिए रति-शून्य होनेके कारण अविरुद्ध भावोंसे संवलित होकर सारे व्यभिचारि-भाव मिलकर भी भक्तिरसकी योग्यताको प्राप्त नहीं कर पाते हैं ।३९।

निर्वेदादि [व्यभिचारिभाव] नष्ट हो जाते हैं इसलिए भी उनको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है । इसीलिए [कुछ लोगोंने मति गर्वादिकी जो स्थायिभावता मानी है वह] मति गर्व आदि भावोंकी भी स्थायिता [अर्थात् स्थायिभावता] नहीं बनती है ।४०।

इसीलिए [अर्थात् नष्ट हो जाने, विलीन हो जानेके कारण] कुछ लोगों द्वारा स्वीकृत होनेपर भी मति गर्व आदि का स्थायिभावत्व नहीं बनता है । इस विषयमें रसशास्त्र विशेषज्ञ विद्वान् लोग ही प्रमाण है ।४०।

भक्तेषु स्थायितां यान्तो रुचिमेभ्यो वितन्वते ।

तथा चोक्तं—

अष्टानामेव भावानां संस्काराधायिता मता ॥४२॥
तत्तिरस्कृतसंस्काराः परे न स्थायितोचिताः ।

तत्र हासरतिः—

चेतोविकासो हासः स्याद्वाग्वेषेहादिवैकृतात् ॥४३॥
स दृग्विकासनासौष्ठकपोलस्पन्दनादिकृत् ।
कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थःस्वयं सङ्कुचदात्मना ॥४४॥
रत्याऽनुगृह्यमाणोऽयं हासो हासरतिर्भवेत् ।

यथा—

मया दृगपि नार्पिता सुमुखि ! दध्नि तुभ्यं शपे
सखी तव निरर्गला तदपि मे मुखं जिघ्रति ।
प्रशाधि तदिमां मुधा छलितसाधुमित्यच्युते
वदत्यजनि दूतिका हसितरोधने न क्षमा ॥६४२॥

लोकोत्तरार्थवीक्षाऽऽदेर्विस्मयश्चित्तविस्तृतिः ॥४५॥

ये हासादि सातों उन-उन कारणोंसे पुष्ट होकर भक्तोंमें स्थायिभाव बन जाते हैं और उनमें [कृष्णके प्रति] प्रेमको बढ़ाते हैं ।४१।

जैसा कि कहा है—

[एक मुख्य रति और गौण रति रूप हासादि सात] ये आठ भाव ही [भक्तोंके हृदयमें] संस्कारका आधान करनेवाले होते हैं [इसलिए स्थायिभाव कहलाते हैं]। इनके द्वारा अन्य भावोंके संस्कारोंका तिरस्कार हो जानेके कारण अन्य भावोंका स्थायिभाव मानना उचित नहीं है [न स्थायितोचिता । स्थायिभाव मानने योग्य नहीं है] ।४२।

उनमेंसे हास्यरति [का वर्णन करते हैं]—

वाणी तथा देहादिकी विकृतिसे उत्पन्न चित्तके विकासको 'हास' कहा जाता है । वह नेत्रोंका विकास, नाक, गाल तथा ओष्ठादिकमें स्पन्दनको उत्पन्न करनेवला होता है ।४३।

कृष्ण-सम्बन्धी चेष्टाओंसे उत्पन्न और स्वयं संकोचको प्राप्त रतिके द्वारा पुष्ट किया जाने वाला हास 'हास-रति' कहलाता है ।४४।

जैसे—

हे सुमुखि ! तुम्हारी कसम, मैंने तो तुम्हारा दही देखा भी नहीं, तुम्हारी यह निरर्गला सखी यों ही मेरा मुँह सूँघ रही है । [मानो तुम्हारा दही मैंने ही खा लिया हो] [छलितसाधुं अर्थात्] भले आदमी पर व्यर्थ दोष लगानेवाली इसका मना करो, इस प्रकार कृष्णके कहनेपर दूती अपनी हंसीको रोकनेमें असमर्थ हो गई ।६४२।

लोकोत्तर अर्थके देखने आदिसे उत्पन्न चित्तका विस्तार 'विस्मय' कहलाता है । इसमें आँखोंका फट जाना, साधुवाद और रोमांच आदि [अनुभाव] होते हैं ।४५।

अत्र स्युर्नेत्रविस्तारसाधूक्तिपुलकादयः ।
पूर्वोक्तरीत्या निष्पन्नः स विस्मयरतिर्भवेत् ॥४६॥

यथा—

गवां गोपालानामपि शिशुगणः पीतवसनो-
लसच्छ्रीवत्साङ्कः पृथुभुजचतुष्कैर्धृतरुचिः ।
कृतस्तोत्रारम्भः सविधिभिरजाण्डालिभिरलं—
परब्रह्मोल्लासान्वहति किमिदं हन्त किमिदम् ॥६४३॥

अथोत्साहरतिः—

स्थेयसी साधुभिः श्लाघ्यफले युद्धादिकर्म्मणि ।
सत्वरः मानसासक्तिरुत्साह इति कीर्त्यते ॥४७॥

हासरतिमें प्रसंगमें ४४वीं कारिकामें कही हुई] पूर्वोक्त रीतिसे उत्पन्न वह विस्मय रति कहलाता है। पूर्वोक्त रीतिका अभिप्राय यह है कि कृष्ण-सम्बन्धी चेष्टाओंसे उत्पन्न और स्वयं संकोचको प्राप्त रतिके द्वारा अनुगृहीत विस्मय 'विस्मय-रति' कहलाता है।४६।

जैसे—

गौओं [के बच्चे] तथा पीताम्बर धारण किये हुए, श्रीवत्ससे शोभित [भृगुके पाद-प्रहारसे कृष्णकी छातीपर जो चिह्न बन गया था वह 'श्रीवत्स' नामसे कहा जाता है। यह अंगुष्ठमात्र परिमाणका, सफेद तथा काले बालोंका एक दक्षिणावर्त भौरीवाला चिह्न है]। लम्बे-लम्बे चार हाथोंसे शोभायमान, गोपालोंके शिशुगण [अर्थात् कृष्णका रूप धारण किये हुए गोपालबालोंको साक्षात् कृष्ण मानकर जब] जब सविधिभिः अर्थात् [कृष्णके अनेक रूपोंके समान ही बहुतसे] ब्रह्माओंके साथ अज अर्थात् शिव और अण्ड अर्थात् प्रजापतिकी पंक्ति [अर्थात् ब्रह्मा, शिव तथा प्रजापतिके अनेक रूपोंके द्वारा जिस [गोपालबालों तथा गौओंके समूह] की स्तुति आरम्भ की गई है इस प्रकारका गौओंका गण तथा गोपालोंको बालकोंका समुदाय, परब्रह्मके दर्शनके समान आनन्द प्रदान कर रहा है। देखो, अरे देखो, यह क्या अद्भुत दृश्य है।६४३।

यह विस्मयरतिका उदाहरण है। एक ओर बालगोपाल पीताम्बर धारण किये हुए, श्रीवत्ससे अंकित और चतुर्भुज मूर्तिमें कृष्ण रूप धारण किए गौओंके साथ खड़े हैं। मानों साक्षात् कृष्ण खड़े हैं। और वह भी एक कृष्ण नहीं किन्तु शिशुगण सैकड़ों कृष्ण गौओंको चराते हुए खड़े हों। दूसरी ओर उनको साक्षात् कृष्ण मानकर ब्रह्मा, विष्णु और प्रजापतियोंके वैसे ही सैकड़ों स्वरूप उनकी स्तुतिकर रहे हैं। यह कैसा सुन्दर दृश्य है। इस दृश्यको देखकर देखनेवालोंको ब्रह्म-साक्षत्कारका-सा आनन्द आ रहा है। और वह अद्भुत आश्चर्यजनक है। इसी दृश्यको देखकर 'विस्मय-विमुग्ध' देखो यह क्या है, और जल्दी देखो यह क्या है यह कहा गया है। यह इस श्लोकका भाव है। इसलिए यह 'विस्मय-रति' का उदाहरण है।

३ उत्साहरति—

उत्तमफलवाले युद्धादि कार्योंमें दृढ़ता एवं शीघ्रतासे युक्त मनकी आसक्तिको विद्वान् लोग [साधुभिः] उत्साह इस नामसे कहते हैं।४७।

कालानवेक्षणं तत्र धैर्यत्यागोद्यमादयः ।
सिद्धः पूर्वोक्तविधिनाऽसावुत्साहरतिर्भवेत् ।।४८।।

यथा—

कालिन्दीतटभुवि पत्रशृङ्गवंशी-निक्काणैरिह मुखरीकृताम्वरायाम् ।
विस्फूर्जन्नघदमनेन योद्धुकामः श्रीदामा परिकरामुद्भटं बबन्ध ॥६४४॥

अथ शोकरतिः—

शोकस्त्विष्ट वियोगाद्यैश्चित्तक्लेशभरः स्मृतः ।
विलापपातनिश्वासमुखशोषभ्रमादिकृत् ।।४६।।
पूर्वोक्तविधिनैवायं सिद्धः शोकरतिर्भवेत् ।

यथा श्रीदशमे—

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्योभृशमनुरक्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांशुवर्षवेगे ॥६४५॥

यथा वा—

अवलोक्य फणीन्द्रयन्त्रितं तनयं प्राणसहस्रवल्लभम् ।
हृदयं न विदीर्य्यति द्विधा धिगिमां मर्त्त्यतनोः कठोरताम् ॥६४६॥

जिसमें कालकी प्रतीक्षा न करना, धैर्य-हीन हो जाना आदि [अनुभाव] होते हैं। [हास रतिके प्रसंगमें ४४वीं कारिकामें कहे हुए] पूर्वोक्त विधिसे सिद्ध [अर्थात् कृष्ण सम्बन्धिनी चेष्टाओंसे उत्पन्न तथा स्वयं संकोचको प्राप्त होनेवाली रतिके द्वारा पुष्ट किया हुआ यह उत्साह ही] 'उत्साह-रति' कहलाता है।४८।

जैसे—

शृंगकी बनी हलकी वंशी [पत्रशृंगवंशी] के ध्वनिसे जिसका आकाश गूंज रहा है इस प्रकारकी यमुनातटकी भूमिपर कृष्णके साथ लड़नेके लिए उद्यत, गर्जते हुए श्रीदामाने जोरसे अपनी कमर कस ली।६४४।

४—शोकरति—

इष्ट के वियोग आदिसे उत्पन्न चित्तका क्लेशाधिक्य 'शोक' कहलाता है। यह विलाप पतन, निःश्वास और मुखशोष आदिको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ४६ ॥

[हासरतिके प्रसंगमें ४४वीं कारिकामें कहे हुए] पूर्वोक्त विधिसे सिद्ध [अर्थात् कृष्ण सम्बन्धिनी चेष्टाओंसे उत्पन्न तथा स्वयं संकोचको प्राप्त हुई रतिके द्वारा पुष्ट किया हुआ यह शोक ही] 'शोकरति' कहलाता है।

जैसे दशम स्कन्धमें—

आँधीमें [बालक कृष्णके] रोनेकी आवाज सुनकर अत्यन्त अनुरागयुक्त और आँखोंमें आंसू भरे हुए गोपियां धूल और वर्षासे भरी आँधीका वेग शान्त होनेपर भी नन्दपुत्र [कृष्ण] को न देखकर रोने लगीं। ६४५।

अथवा जैसे—

सहस्रों प्राणोंसे भी अधिक प्रिय अपने पुत्र [कृष्ण] को सर्पराज [कालिय नाग] के

अथ क्रोधरतिः—

प्रातिकूल्यादिभिश्चित्तज्वलनं क्रोध इर्य्यते ॥५०॥
पारुष्यभ्रुकुटीनेत्रलौहित्यादिविकारकृत् ।
एवं पूर्वोक्तवत्सिद्धं विदुः क्रोधरतिं बुधाः ॥५१॥
द्विधाऽसौ कृष्णतद्वैरिविभावत्वेन कीर्त्तिता ।

तत्र कृष्णविभावा यथा—

कण्ठसीमनि हरेर्द्युतिभाजं राधिकामणिसरं परिचित्य ।
तं चिरेण जटिला विकटभ्रूभङ्गभीमतरदृष्टि ददर्श ॥६४७॥

तद्वैरिविभावा यथा—

अथ कंससहोदरोग्रदावे हरिमभ्युद्यति तीव्रहेतिभाजि ।
रभसादलिकाम्बरे प्रलम्बद्विषतोऽभूद् भ्रुकुटीपयोदलेखा ॥६४८॥

अथ भयरतिः—

भयं चित्तातिचाञ्चल्यं मन्तुघोरेक्षणादिभिः ॥५२॥

द्वारा जकड़ा हुआ देखकर मेरा हृदय दो टकड़े नहीं हो रहा है, मानव-शरीरकी इस कठोरता को धिक्कार है । ६४६ ।

५—क्रोधरति—

प्रतिकूलता आदिके कारण चित्तका प्रज्ज्वलित हो उठना 'क्रोध' कहलाता है । यह पुरुषता, भ्रुकुटि और नेत्रोंमें लालिमा आदिको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ५० ॥

[हासरतिके प्रसंगमें ४४वीं कारिकामें कहे हुए] पूर्वोक्त विधिसे सिद्ध [अर्थात् कृष्ण-सम्बन्धिनी चेष्टाओंसे उत्पन्न तथा स्वयं संकोचको प्राप्त होती हुई रतिकेद्वारा पुष्ट किया गया यह क्रोधही 'क्रोधरति' कहलाता है । और यह १ कृष्ण विभावक [अर्थात् जिसमें स्वयं कृष्ण आलम्बन विभाव हैं, अर्थात् कृष्णको देखकर उत्पन्न] और दूसरा कृष्ण-वैरियोंके विभाववाला [अर्थात् कृष्ण-वैरियोंको देखकर उत्पन्न होनेवाला इस प्रकारसे] दो तरहका होता है ॥५१॥

उनमेंसे कृष्णविभावक [क्रोधरतिका उदाहरण] जैसे—

कृष्णके गलेमें चमकते हुए राधिकाके मणिमय हारको पहचानकर [अपनेको कृष्णकी श्वश्रू माननेवाली 'श्वश्रुम्मन्या'] 'जटिला' विकट भ्रुकुटिसे युक्त भयंकर दृष्टिसे बड़ी देरतक उसको देखती रही ।६४७।

कृष्णवैरिविभावक [क्रोधरतिका उदाहरण] जैसे—

तेज हथियार लिये हुए, और कृष्णपर प्रहार करनेकेलिए उद्यत, कंसके सहोदर उग्रदावको देखकर प्रलम्बासुरका वध करनेवाले, बलरामके मस्तक रूप आकाशमें [अलिकाम्बरे] भ्रुकुटि रूप मेघकी रेखा तुरंत ही निकल आई । ६४८ ।

६—भयरति—

[अपने] अपराध अथवा भयंकर पदार्थके देखने आदिसे उत्पन्न, चित्तकी चंचलताका अतिरेक 'भय' कहलाता है । यह अपने छिपाने, हृदयका शोष, भागने और भ्रमण, चक्कर खाने आदिका जनक है ॥ ५२ ॥

आत्मगोपनहृच्छोषविद्रवभ्रमणादिकृत् ।
निष्पन्नं पूर्ववदिदं बुधाभयरतिं विदुः ॥५३॥
एषाऽपि क्रोधरतिवद् द्विविधा कथिता बुधैः ।

तत्र कृष्णविभावा यथा—

याचितः पटिमभिः स्यमन्तकं शौरिणा सदसि गान्धिनीसुतः ।
वस्त्रगूढमणिरेष मूढधीस्तत्र शुष्यदधरः क्लमं ययौ ॥६४६॥

दुष्टविभावा यथा—

भैरवं रुवति हन्त गोकुलद्वारि वारिदनिभे वृषासुरे ।
पुत्रगुप्तिधृतयत्नवैभवा कम्प्रमूर्तिरभवद् व्रजेश्वरी ॥६५०॥

अथ जुगुप्सारतिः—

जुगुप्सास्यादहृद्यानुभवाच्चित्तनिमीलनम् ॥५४॥
तत्र निष्ठीवनं वक्त्रकूणनं कुत्सनादयः ।
रतेरनुग्रहाज्जाता सा जुगुप्सारतिर्मता ॥५५॥

यथा—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे
नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत् ।

[हासरतिके प्रसंगमें ४४वीं कारिकामें कहे हुए] पूर्वोक्त विधिसे सिद्ध [अर्थात् कृष्ण सम्बन्धिनी चेष्टाओंसे उत्पन्न तथा स्वयं संकोचको प्राप्त हुई रतिसे पुष्ट किया गया] यह भय ही 'भयरति' कहलाता है। क्रोधरतिके समान यह भी [१ कृष्णविभावक और २ कृष्णवैरि-विभावक भेदसे] दो प्रकारका होता है ॥ ५३ ॥

उनमेंसे कृष्णविभाववाली [भयरतिका उदाहरण] जैसे—

सभामें कृष्णके द्वारा चतुराईसे स्यमन्तक मणिके माँगनेपर अक्रूरजी, जिनके कि वस्त्रमें मणि बँधी हुई थी घबड़ागए। उनके होंठ सूख गए और पसीना निकल आया [क्लमं ययौ]।६४६।

दुष्ट विभावोंसे उत्पन्न [दूसरे प्रकारकी भयरतिका उदाहरण] जैसे—

गोकुलके द्वारपर मेघके समान भयंकर रूपसे वृषासुरके गर्जनको सुनकर पुत्रकी रक्षाका सारा यत्न करने पर भी व्रजेश्वरी [यशोदा भयके कारण] कम्पनकी मूर्ति बन गई।६५०।

७—जुगुप्सारति—

अरुचिकर वस्तुके अनुभव [देखने या सुनने आदि] से उत्पन्न चित्तका निमीलन 'जुगुप्सा' कहलाता है। उसमें थूकना, मुंह सिकोड़ना और निन्दा करना आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ ५४ ॥

[हासरतिके प्रसंगमें ४४वीं कारिकामें कहे हुए विधिसे] रतिके अनुग्रहसे उत्पन्न अर्थात् स्वयं संकोचको प्राप्त होती हुई रतिके द्वारा पुष्ट किया गया] वह [जुगुप्सा] 'जुगुप्सा-रति' कहलाता है ॥ ५५ ॥

जैसे—

अब तक मेरा चित्त नव-नव रसके धाम कृष्णके चरणकमलोंमें रमण करनेके लिए

तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्य्यमाणे
भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च ॥६५१॥

रतित्वात्प्रथमैकैव सप्त हासादयस्तथा ।
इत्यष्टौ स्थायिनो यावद्रसावस्थां न संश्रिताः ॥५६॥
चेत्स्वतन्त्रास्त्रयस्त्रिंशद्भवेयुर्व्यभिचारिणः ।
इहाष्टौ सात्त्विकाश्चैते भावाख्यास्तानसंख्यकाः ॥५७॥
कृष्णान्वयाद् गुणातीतप्रौढानन्दमया अपि ।
भान्त्यमी त्रिगुणोत्पन्नसुखदुःखमया इव ॥५८॥
तत्र स्फुरन्ति ह्रीबोधोत्साहाद्याः सात्त्विका इव ।
तथा राजसवद्गर्वहर्षसुप्तिहासादयः ॥५९॥
विषाददीनतामोहशोकाद्यास्तामसा इव ।
प्रायः सुखमयाः शीता उष्णा दुःखमया इह ॥६०॥
चित्रेयं परमानन्दसान्द्राऽप्युष्णा रतिर्मता ।
शीतैर्भावैर्बलिष्ठैस्तु पुष्टा शीतायते ह्यसौ ॥६१॥

उअत रहा तब तक नारी संगमका स्मरण रहते ही [घृणाके कारण] मुखमें विकार उत्पन्न हो जाता था और थूक आने लगता था । ६५१ ।

रति रूप होनेसे एक रति ही [प्रथमा अर्थात् सब स्थायिभावोंमें] मुख्य है । तथा हासादि सात, जब तक रसावस्थाको प्राप्त नहीं होते हैं तब तक इस प्रकार कुल मिलाकर आठ 'स्थायिभाव' कहलाते हैं । [रसावस्थाको प्राप्त हो जानेपर तो ये स्थायिभाव न कहलाकर रस नामसे ही कहे जाते हैं यह 'यावत् रसावस्थां न संश्रिताः' इस कारिकांशका भाव है] ॥५६॥

यदि स्वतन्त्र हों [अर्थात् यदि स्थायिभावके अंग बनकर रसरूपता तक न पहुँचे] तो ३३ व्यभिचारिभाव कहलाते हैं । इनके साथ आठ सात्त्विक भाव [तथा आठ स्थायिभाव] को मिलाकर [३३+८+८=४९ तानसंख्यकाः अर्थात्] उनचास भाव कहलाते हैं ॥५७॥

कृष्णके साथ सम्बद्ध होनेके कारण त्रिगुणोंसे परे प्रौढ़ानन्द रूप होते हुए भी, त्रिगुणात्मक पदार्थोंसे उत्पन्न होनेके कारण ये सब सुख-दुःखमय [अर्थात् उभयात्मक] से प्रतीत होते हैं ॥ ५८ ॥

इन [४९ भावों] में से लज्जा, विबोध, उत्साह आदि [भाव सत्त्वप्रधान होनेसे] सात्त्विकभावसे प्रतीत होते हैं । और गर्व, हर्ष, स्वप्न तथा हासादि [भाव, रजप्रधान होनेसे] राजसभाव-जैसे प्रतीत होते हैं ॥ ५९ ॥

विषाद, दीनता, मोह और शोकादिभाव [तमः प्रधान होनेसे] तामस-जैसे प्रतीत होते हैं। इनमेंसे सुख-प्रधान भाव प्रायः शीत, तथा दुःख-प्रधान भाव प्रायः उष्ण भाव कहलाते हैं ॥६०॥

किन्तु यह विचित्र बात है कि परमानन्दमयी होने पर भी रति [स्वभावतः शीत भाव न होकर] उष्णभाव मानी जाती है । किन्तु बलवान् शीतभावोंसे पुष्ट होकर वह शीत

उष्णैस्तु रतिरत्युष्णा तापयन्तीव भासते ।
विप्रलम्भे ततो दुःखभराभासकृदुच्यते ॥६२॥
रतिर्द्विधाऽपि कृष्णाद्यैः श्रुतैरवगतैः स्मृतैः ।
तैर्विभावादितां यद्भिस्तद्भक्तेषु रसो भवेत् ॥६३॥
यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभिः ।
संयोजन विशेषेण रसालाख्यो रसो भवेत् ॥६४॥
तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवाद्भुतः ।
प्रौढानन्द चमत्कारो भक्तैः कोऽप्यनुरस्यते ॥६५॥
न रत्यादिविभावाद्यैरेकीभावमयोऽपि सन् ।
ज्ञप्ततत्तद्विशेषश्च तत्तद्भेदतो भवेत् ॥६६॥

तथा चोक्तं—

"प्रतीययानाः प्रथमं विभावाद्यास्तु भागशः ।
गच्छन्तो रसरूपत्वं मिलिता यान्त्यखण्डताम् ॥६५२॥
यथा मरिचखण्डादेरेकीभावेऽपि पानके ।
उद्भासः कस्य चित्क्वापि विभावादेस्तथा रसः ।" इति ॥ ६५३ ॥

रूप बन जाती है ॥ ६१ ॥

वही रति उष्ण भावोंके सम्पर्कसे अत्यधिक उष्ण होकर जलाती हुई-सी प्रतीत होने लगती है । इसीलिए विप्रलम्भमें दुःखका भार अतिशय-सा आभासित होने लगता है [वास्तव में वह दुःखभार रूप न होकर दुःखभाराभास मात्र होता है] ॥ ६२ ॥

[मुख्या और गौणी] दोनों ही प्रकारकी रति [अभिनयादिमें] कृष्ण आदिके श्रवण, दर्शन और स्मरणसे उनके विभावादि रूपताको प्राप्त होनेसे उनके भक्तोंके भीतर रस रूप हो जाती है ॥ ६३ ॥

जैसे दधि आदि द्रव्य, शक्कर और मिर्च आदिके मिश्रणमें 'रसाल' नामक आस्वाद रस बन जाता है इसी प्रकार [अभिनयादिमें] साक्षात् कृष्णानुभवके कारण भक्तोंको कुछ अपूर्व प्रौढ़ आनन्दका चमत्कार रसरूपमें अनुभव होता है ॥ ६४-६५ ॥

वह रत्यादिके विभावोंके द्वारा एकरूपमें होते हुए भी ज्ञाताओंकी उन-उन विशेषताओं के कारण अनेक प्रकारके भेदवाला हो जाता है ॥ ६६ ॥

जैसा कि कहा भी है—

पहिले अलग-अलग प्रतीत होनेवाले विभावादि, रसरूपताको प्राप्त होते समय मिलकर एकरूपता [अखण्डता] को प्राप्त हो जाते हैं । ६५२ ।

जैसे पनेमें मिर्च शकर आदिका एकीभाव हो जानेपर भी कभी कहीं किसीकी विशेष रूपसे प्रतीति होती है इसी प्रकार विभावादिमें भी [कभी कहीं किसीकी विशेष रूपसे प्रतीति होती है । ६५३ ।

रते कारणभूता ये कृष्णकृष्णप्रियादयः ।
स्तम्भाद्याः कार्य्यभूताश्च निर्वेदाद्याः सहायकाः ॥६७॥
हित्वा कारणकार्य्यादिशब्दवाच्यत्वमत्र ते ।
रसोद्बोधे विभावादिव्यपदेश्यत्वमाप्नुयुः ॥६८॥
रतेस्तु तत्तदास्वादविशेषायातियोग्यताम् ।
विभावयन्ति कुर्वन्तीत्युक्ता धीरैर्विभावकाः ॥६९॥
तां चानुभावयन्त्यन्तस्तन्वन्त्यास्वादनिर्भराम् ।
इत्युक्ता अनुभावास्ते कटाक्षाद्याः ससात्त्विकाः ॥७०॥
संचारयन्ति वैचित्रीं नयन्ते तां तथाविधाम् ।
ये निर्वेदादयो भावास्ते तु सञ्चारिणो मताः ॥७१॥
एतेषां तु तथाभावे भगवत्काव्यनाट्ययोः ।

[लोकमें] रतिके कारणभूत जो कृष्ण अथवा कृष्णके प्रिय आदि हैं, स्तम्भ आदि जो [रतिके] कार्यभूत, तथा निर्वेदादि जो [रतिके] सहायक होते हैं वे— ॥ ६७ ॥

यहाँ रसोद्बोधके प्रसंगमें [या नाट्यमें] कारण, कार्य और सहकारी शब्द-वाच्यताको छोड़कर वे विभाव [अनुभाव तथा संचारिभाव] आदि शब्दोंसे व्यपदेश्य हो जाते हैं। [अर्थात् लोकमें जिनको रतिका कारण कहा जाता है वे रसोद्बोधके प्रसंगमें विभाव कहलाते हैं। इसी प्रकार रतिके कार्य अनुभाव तथा सहकारीभूत निर्वेदादिको संचारिभाव या व्यभिचारिभाव कहा जाता है] ।६८।

विभावलक्षण—

रति [स्थायिभाव] की उस-उस प्रकारके आस्वाद-विशेषकी योग्यताको उत्पन्न करते हैं इसलिए रतिके लौकिक कारणोंको काव्य नाट्यमें [विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां कुर्वन्ति इति-विभावाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] विद्वान् लोग उनको 'विभाव' [इस नामसे] कहते हैं ।६९।

अनुभाव लक्षण—

पिछली कारिकामें 'विभाव' पदकी व्युत्पत्ति दिखलाते हुए उसका अन्वर्थ लक्षण किया था। इसी प्रकार अगली कारिकामें 'अनुभाव' पदकी व्युत्पत्ति दिखलाते हुए उसका अन्वर्थ लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

जो उस [रति] का अनुभव कराते हैं अर्थात् उसके आस्वादातिशयको हृदयके भीतर व्याप्त कराते हैं वे [अनुभावयन्ति इति अनुभावाः इस व्युत्पत्तिके अनुसार] सात्त्विकभावों सहित कटाक्षादि 'अनुभाव' कहलाते हैं ।७०।

संचारिभावका लक्षण—

उस प्रकारकी [अर्थात् आस्वाद-योग्य एवं अन्तःकरणमें अनुभूत होनेवाली] उस रति को जो संचारित करते हैं अर्थात् विचित्रताको प्राप्त कराते हैं वे निर्वेदादिभाव [संचारयन्ति इति संचारिणः इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'संचारिभाव' कहलाते हैं ।७१।

सेवामाहुः परं हेतुं के चित्तत्पक्षरागिणः ॥७२॥
किन्तु तत्र सुदुस्तर्कमाधुर्य्याद्भुतसंपदः ।
रतेरस्याः प्रभावोऽयं भवेत्कारणमुत्तमम् ॥७३॥
महाशक्तिविलासात्मा भावोऽचिन्त्यस्वरूपभाक् ।
रत्याख्य इत्ययं युक्तो न हि तर्केण बाधितुम् ॥७४॥
भारताद्युक्तिरेषाहि प्राक्तनैरप्युदाहृता ।

यथोक्तमुद्यमपर्वणि—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणमि"ति ॥६५४॥

विभावत्वादिका कारण—

ऊपरकी तीन कारिकाओंमें विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावके लक्षण किए थे। इनमें क्रमशः विभावन, अनुभावन तथा संचारण रूप व्यापार होता है। इस व्यापारका कारण क्या है इस विषयमें दो मत हैं कुछ लोग भगवत्सेवाको इस प्रकारके व्यापारका कारण मानते हैं अर्थात् जो लोग भगवत्सेवा-परायण होते हैं उन्हींके भीतर इस प्रकारके विभावनादि व्यापारोंके द्वारा रत्यादि रस-रूपताको प्राप्त होते हैं। दूसरे मतमें अद्भुत माधुर्यादि-सम्पत्ति से युक्त रतिका ही यह प्रभाव है कि जो विभावनादि व्यापार द्वारा रसास्वादके रूपमें परिणत हो जाती है। रति रस रूपमें क्यों परिणत हो जाती है यह तर्कका विषय नहीं है। अनुभव का विषय है। इस प्रकार के दुस्तर्क्य विषयोंमें तर्ककी योजना नहीं करनी चाहिए। इसी बातको आगे तीन कारिकाओंमें कहते हैं—

इन [विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावों] के [तथाभावे अर्थात्] विभावनादि-व्यापारमें भगवत्सम्बन्धी काव्य तथा नाट्योंमें भगवत्सेवाके पक्षपाती कुछ लोग सेवाको ही मुख्य कारण मानते हैं।७२।

किन्तु [हमारे अर्थात् ग्रन्थकारके मतमें] दुस्तर्क्य एवं माधुर्यादिकी अद्भुत सम्पत्ति से युक्त इस रतिका यह दुस्तर्क्य प्रभाव ही इस [विभावनादि-व्यापारका] का सर्वोत्तम कारण हो सकता है।७३।

इसीलिए महाशक्तिके विलास-रूप, तथा अचिन्त्य स्वरूपभाक् इस रतिरूप भावका तर्कके द्वारा बाध नहीं किया जा सकता है। [वह अपनी शक्ति एवं प्रभावसे ही विभावनादि-व्यापारों द्वारा रसरूपताको प्राप्त हो जाता है]।७४।

इसीलिए प्राचीन लोगोंने महाभारत आदिकी यह [आगे कही जानेवाली निम्नांकित] युक्ति [इस प्रकारके विषयोंमें योजित करनेके लिए] कही है कि—

"जो भाव अचिन्त्य हैं उनके विषयमें तर्क नहीं करना चाहिए। और जो सामान्य प्राकृतिक नियमोंसे परे है उसको 'अचिन्त्य-भाव' कहते हैं [उन अचिन्त्य-भावोंके विषयमें तर्क करनेसे कोई लाभ नहीं होता है। इसलिए उनके विषयमें तर्क नहीं करना चाहिए]।" ।६५४।

विभावताऽऽदीनानीय कृष्णादीन्मञ्जुला रतिः ॥७५॥
एतैरेव तथाभूतैः स्वं संबर्द्धयति स्फुटम् ।
यथास्वैरेव सलिलैः परिपूर्य्य बलाहकान् ॥७६॥

रत्नालयो भवत्येभिर्वृष्टैस्तैरेव वारिधिः ।
नवे रत्यङ्कुरे जाते हरिभक्तस्य कस्य चित् ॥७७॥

विभावत्वादिहेतुत्वं किञ्चित्तत्काव्यनाट्ययोः ।
हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसास्वादः सतां भवेत् ॥७८॥

मंजुल रति कृष्णादिको अपना विभाव बनाकर [तथाभूतैः अर्थात्] विभावनादि-व्यापार को प्राप्त इन [विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावों] के ही द्वारा अपने-आपको परिपुष्ट करती है यह बात [निम्नांकित उदाहरणसे भी] स्पष्ट है ।७५।

जिस प्रकार समुद्र अपने ही पानीसे मेघोंको परिपूर्ण करता है फिर उन्हींके द्वारा बरसाए गए जलसे 'वारिधि' बनता है [अर्थात् अपने प्रभावसे फिर अपनेको पूर्ण करता है इसी प्रकार रति अपने ही प्रभावसे विभावादिमें व्यापारको उत्पन्न करती है, उनको विभावादिके योग्य बनाती है फिर उन्हींके द्वारा सम्पुष्ट होकर वह रसरूपताको प्राप्त होती है । यह कैसे हो जाता है या उसमें अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं होता है यह एक अचिन्त्य, अप्रतर्क्य बात है । उसमें तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं है । उसे, रतिको अद्भुत प्रभाव ही मानना चाहिए] ।७६।

काव्य नाट्यकी उपयोगिता—

पिछली कारिकाओंमें यह प्रतिपादन किया था कि रतिका यह अचिन्त्य प्रभाव है कि वह कृष्णादिको मधुर विभाव बनाकर और उनके द्वारा स्वयंको परिपुष्ट बनाकर रस-रूपताको प्राप्त हो जाती है । इस पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब रतिमें स्वयं ही रस-रूपताको प्राप्त हो जानेकी सामर्थ्य है तब रसास्वादके लिए काव्य या नाटक आदिकी क्या आवश्यकता है । उनके बिना भी रसास्वाद हो सकता है । इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकार अगली कारिकाओंमें देते हैं । उसका भाव यह है कि किन्हीं-किन्हीं भक्तोंमें जिस समय रति का नवीन अंकुर उत्पन्न होता है उस समय भगवत्सम्बन्धी नाटकोंका दर्शनादि उनकी रति के परिपोषणमें कुछ उपयोगी होता है । जिनकी रति परिपक्व हो जाती है उनके लिए काव्य-नाटकादिकी विशेष उपयोगिता नहीं रहती है उन्हें सामान्य रूपसे भगवच्चर्चामें भी अलौकिक रसास्वाद होने लगता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें कहते हैं—

किसी भगवद्भक्तमें नवीन रत्यंकुरके उत्पन्न होनेपर भगवत्सम्बन्धी काव्य तथा नाट्य में कुछ थोड़ी-सी विभावनादिके प्रति हेतुता रहती है [कुछ लोगोंमें नवीन रत्यंकुरके परि-पोषणके लिए कुछ अंशमें काव्य नाटक आदि उपयोगी होते हैं] किन्तु [सतां अर्थात्] प्रौढ़, सिद्ध भक्तोंमें तो तनिक-सी भगवच्चर्चासे ही अलौकिक रसास्वाद होने लगता है [उनके लिए काव्य नाट्यादिकी विशेष उपयोगिता नहीं है] ॥ ७७-७८ ॥

रतेरेव प्रभावोऽयं हेतुस्तेषां तथाकृतौ ।
माधुर्य्याद्याश्रयत्वेन कृष्णादींस्तनुते रतिः ॥७९॥

तथाऽनुभूयमानास्ते विस्तीर्णां कुर्वते रतिम् ।
अतस्तस्य विभादिचतुष्कस्य रतेरपि ॥८०॥

अत्र साहायकं व्यक्तं मिथोऽजस्रमवेक्ष्यते ।
किन्त्वेतस्याः प्रभावोऽपि वैरूप्ये सति कुञ्चति ॥८१॥

वैरूप्यं तु विभावादेरनौचित्यमुदीर्य्यते ।
अलौकिक्या प्रकृत्येयं सुदुरूहा रसस्थितिः ॥८२॥

यत्र साधारणतया भावाः साधु स्फुरन्त्यमी ।
एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः ॥८३॥

साधारण्यं तदेवोक्तं भावनां पूर्वसूरिभिः ।

उनके [अर्थात् कारणादिके 'तथाकृतौ' अर्थात्] विभावादित्वको प्राप्त करानेमें यह रतिका ही [अद्भुत] प्रभाव कारण होता है। क्योंकि रति ही कृष्णादिको माधुर्यादिका आश्रय बनाती है ॥ ७९ ॥

और उस प्रकार [अर्थात् विभावादि रूपसे] अनुभूत होकर वे [विभावादि] रतिका विस्तार [एवं परिपोषण] करते हैं। इसलिए [विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा सात्विकभाव इन] विभावादि चारोंका तथा [पांचवीं] रतिका भी इस विषयमें निरन्तर परस्पर सहायकत्व अपेक्षित है। [अर्थात् रसास्वादमें विभावादि सभी परस्पर एक-दूसरेके सहायक होते हैं] ॥ ८० ॥

रतिकी शक्तिकुण्ठन—

किन्तु [वैरूप्ये सति अर्थात्] विपरीत परिस्थितियोंमें इस रतिका [अचिन्त्य] प्रभाव भी कुण्ठित हो जाता है। [इस प्रसंगमें] विभावादिका अनौचित्य ही वैरूप्य कहा जाता है। [अर्थात् अनुचित विभावादिके उपस्थित होनेपर रतिकी शक्ति या प्रभाव कुण्ठित हो जाता है और वह रसास्वादका जनक नहीं होता है] ॥ ८१ ॥

रसकी अलौकिकता—

जहाँ [काव्य नाटकादिमें] ये भाव साधारण रूपसे प्रतीत होते हैं वहाँ यह रसकी स्थिति, अपनी अलौकिक प्रकृतिके कारण, अत्यन्त दुरूह होती है ॥ ८२ ॥

विभावादिका साधारणीकरण—

जहाँ [काव्य नाटकमें] ये भाव साधारण [अर्थात् समस्त सामाजिकोंमें समान] रूपसे प्रतीत होते हैं वहाँ इनका अपनेसे अथवा दूसरेके साथ सम्बन्ध निर्णयका न होना है उसीको [भरतादि] पूर्व विद्वानोंने 'साधारण' नामसे कहा है ॥ ८३ ॥

तदुक्तं श्रीभरतेन—

"शक्तिरस्ति विभावादेः काऽपि साधारणीकृतौ ॥८४॥
प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते ।
दुःखादयः स्फुरन्तोऽपि जातु स्वीयतया हृदि ॥८५॥
प्रौढानन्दचमत्कारचर्वणामेव तन्वते ।
पराश्रयतयाप्येते जातु भान्तः सुखादयः ॥८६॥

जैसाकि भरत मुनिने कहा है—

विभावादिके भीतर साधारणीकरणकी कोई अपूर्व शक्ति रहती है जिसके कारण प्रमाता अर्थात् सामाजिक अपने-आपको उस [विभावादि रूप राम आदि] से अभिन्न समझने लगता है ॥ ८४ ॥

रसकी सुखस्वरूपता—

लोकमें जिनको दुःखका कारण कहा जाता है और जिस अनुभूतिको दुःखात्मक अनुभूति माना जाता है। काव्य तथा नाटकादिमें उन दोनोंकी स्थिति बदल जाती है। उसमें दुःखका नाम नहीं रहता है। सब-कुछ सुखात्मक है। जिनको दुःखजनक कहा जाता है वे भी काव्य-नाटकमें विभावनादि-व्यापारके कारण सुखजनक ही बन जाते हैं और जिस अनुभूतिको दुःख कहा जाता है वह भी काव्य-नाटचके विभावनादि व्यापारके कारण सुखरूपमें परिवर्तित हो जाती है। काव्य-नाटचमें स्वगत दुःखानुभूति भी सुखात्मक है और परगत दुःखकी अनुभूति भी सुखात्मक ही होती है। वह एक ऐसा अद्भुत क्षेत्र है जिसकी सीमामें दुःखात्मक भावना को प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है। रसास्वादकी सीमापर एक ऐसी अलौकिक व्यवस्था भगवान्ने की हुई है कि जिससे सारे दुःखात्मक भाव सुख रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें कहते हैं—

[लौकिक स्थितिमें] स्वसम्बद्ध रूपमें अपने हृदयके भीतर प्रतीत होनेवाले दुःखादि भी [काव्य नाटकमें अलौकिक विभावादि व्यापारके कारण] प्रबल आनन्दात्मक रसास्वादको ही उत्पन्न करते है। [अर्थात् लौकिक रूपमें जिनको स्वगत दुःख कहा जाता है वह भी काव्य नाटकमें प्रौढ़ आनन्द रूप ही होता है। दुःखात्मक नहीं होता है] ॥ ८५ ॥

रसकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति—

पिछली कारिकामें रसकी सुखरूपताका प्रतिपादन किया था। अगली कारिकामें ग्रन्थकार उसकी साक्षात्कारात्मकता अथवा अपरोक्षरूपताका प्रतिपादन करते हैं। सामान्य रूपसे अपने भीतर इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्षात्मक अनुभूतिको ही अपरोक्ष अथवा साक्षात्कारात्मक अनुभूति कहा जाता है। इसलिए अपने भीतर रहनेवाले स्वगत सुख-दुःखका ही साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। उन्हींको अपरोक्ष प्रतीति कहा जा सकता है। दूसरोंमें रहनेवाले सुख-दुःखका साक्षात्कार या अपरोक्षानुभव दूसरे किसी व्यक्तिको नहीं हो सकता है। किन्तु काव्य-नाटक आदिमें होनेवाले अलौकिक विभावनादि व्यापारके कारण दूसरोंमें रहनेवाले सुख-दुःखका भी सामाजिकको साक्षात्कारात्मक अपरोक्ष अनुभव होता है। इस बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार लिखते हैं—

[लोकमें] ये सुखादि भले ही पराश्रित रूपसे प्रतीत होते रहें किन्तु [काव्य नाटकमें

हृदये परकानन्दसंदोहमुपचिन्तवते ।
सद्भावश्चेद्विभावादेः किञ्चिन्मात्रस्य जायते ॥८७॥
सद्यश्चतुष्टयाक्षेपात्पूर्णतैवोपपद्यते ।
रतिः स्थिताऽनुकार्य्येषु लौकिकत्वादिहेतुभिः ॥८८॥
रसः स्यान्नेति नाट्याज्ञा यदाहुर्युक्तमेव तत् ।
अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता ॥८९॥

विभावनादि व्यापारके कारण] सामाजिकके हृदयमें वे [साक्षात्कारात्मक] परमानन्द सन्दोह को उत्पन्न करनेवाले ही होते हैं ॥ ८६ ॥

अनुपस्थित विभावादिका आक्षेप—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतसूत्रके अनुसार ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि रस-निष्पत्तिकेलिए विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव इन तीनों की उपस्थिति आवश्यक होती है। इन तीनोंके सहयोगसे ही रत्यादि स्थायिभाव रसरूपको प्राप्त होते हैं। किन्तु काव्य-नाटक आदिमें कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि इनमेंसे किसी एककी, या दोकी अनुपस्थिति होनेपर भी रसास्वाद होता है। ऐसे अवसरों पर रसास्वादके उपपादनके लिए यह सिद्धान्त माना गया है कि इस प्रकारके स्थलोंपर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावमेंसे जिन एक या दोका वर्णन उपस्थित होता है वे शेष एक या दोका आक्षेप करा लेते हैं। इस प्रकार तीनोंकी उपस्थिति हो जानेसे रस-निष्पत्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ती है। इस बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार कहते हैं—

यदि विभावादिमेंसे किसी एकका सद्भाव [विद्यमानता] होता है तो तुरन्त ही। शेष तीनोंका आक्षेप करा लेनेसे [रससामिग्रीकी] पूर्णता बन जाती है ॥ ८७ ॥

लौकिकी रति रस नहीं होती—

स्त्री-पुरुषादि विषयक सामान्य लौकिकी रतिसे रसकी उत्पति नहीं होती है। केवल काव्य नाटिकादिमें ही रसकी अनुभूति होती है। लौकिकी रति तो रसके बजाय लज्जा, घृणा आदिको उत्पन्न करनेवाली होती है। काव्य नाटकादिमें साधारणीकरण तथा विभावनादि व्यापारके द्वारा वही रति अपने व्यक्ति-विशेषसे सम्बद्ध स्वरूपको छोड़कर सामाजिक मात्रामें व्याप्त अलौकिक स्वरूपको प्राप्त हो जाती है। इसी अलौकिक स्वरूपके कारण वह रसास्वादन स्वरूप बन जाती है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें कहते हैं—

अनुकार्य [सीता-राम आदि]में स्थित रति लौकिकत्वादि कारणोंसे रसरूपताको प्राप्त नहीं होती है यह बात जो नाट्य[तथा काव्य] के मर्मज्ञ लोग कहते हैं वह उचित ही है ॥८८॥

कृष्णरतिकी विशेषता—

किन्तु यह कृष्ण-विषयक अलौकिक रति समस्त आश्चर्योंसे की बड़ा आश्चर्य है क्योंकि वह कृष्णका संयोग होनेपर कृष्णके भक्तोंके भीतर [अत्यन्त आल्हादप्रद] रसविशेष को प्राप्त होती हुई भी—

वियोगकी दशामें अद्भुत आनन्दके विकारको [विवर्त] धारण करती हुई भी वृद्धि

योगे रसविशेषत्वं गच्छन्त्येव हरिप्रिये ।
वियोगे त्वद्भुतानन्दविवर्त्तत्वं दधत्यपि ॥६०॥
तनोत्येषा प्रगाढार्त्तिभराभासत्वमूर्जिता ।
तत्रापि बल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः ॥६१॥
सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते ।
यत्सुखौघलवागस्त्यः पिबत्येव स्वतेजसा ॥६२॥
रमेशमाधुरीसाक्षात्कारानन्दाब्धिमप्यलम् ।

को प्राप्त होकर [ऊर्जिता] अत्यन्त तीव्र दुःखाभासको प्रकाशित करती है ॥ ८६-६० ॥

कृष्णरतिके भी दो भेद—

किञ्च—

कृष्णभक्तिको ग्रन्थकारने सर्वोत्तम रति माना है। किन्तु कृष्णके भी उन्होंने दो रूप निर्धारित किए हैं। कृष्णके व्रजवासकालका जीवन, भक्तजनोंके लिए मुख्य रूपसे भजनीय, आकर्षक तथा प्रिय है। महाभारत और द्वारकाके कृष्णका जीवन उनके लिए उतना आकर्षक नहीं है। व्रजवासी कृष्णके साथ सम्बन्ध रखनेवाली रतिसे जो अपूर्व अद्भुत आनन्दकी प्राप्ति होती है वही परमानन्दस्वरूप तथा आनन्दानुभूतिकी चरमावधि है। इस आनन्दके सामने लक्ष्मीपति कृष्ण या रुक्मिणी-वल्लभ कृष्ण या महाभारतके कृष्णका कोई मूल्य नहीं है। इन दोनोंकी तुलना करते हुए ग्रन्थकारने व्रजवासी कृष्ण-विषयक रतिके तनिकसे लव-स्पर्श-मात्रको अगस्त्यमुनिसे उपमा दी है। और रमेश अर्थात् लक्ष्मीपति कृष्ण अथवा कृष्णके अन्य स्वरूपोंसे उत्पन्न आनन्दकी उपमा समुद्रसे दी है। जैसे अगस्त्यमुनिने तनिक-सी देरमें समुद्रका पान करके उसको सुखा डाला था इसी प्रकार व्रजवासी कृष्ण-विषयक रतिसे उत्पन्न अद्भुत आनन्दका तनिक-सा संस्पर्श कृष्णके अन्य स्वरूपोंसे उत्पन्न आनन्दको सुखा देता है, भुला देता है। यह कृष्णभक्तोंका सिद्धान्त है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

उसमें की बल्लवाधीश [अर्थात् गोपेश्वर नन्दजी] के आनन्द देनेवाले [अर्थात् व्रज-वासी बालकृष्ण] विषयक रति, प्रबल आनन्दानुभवकी चरमावधि मानी जाती है ॥ ६१ ॥

जिसके सुखलवका अगस्त्य [अर्थात् अगस्त्यमुनिके सदृश जिसका सुख तनिकसा स्पर्श रमेश [अर्थात् लक्ष्मीपति] की माधुरीके साक्षात्कारसे उत्पन्न आनन्द-सागरको भी अपने तेज से पान करनेमें [भुला देनेमें] समर्थ है ॥ ६२ ॥

इसमें 'रमेश' पद उपलक्षण रूप है। उससे कृष्णके रुक्मिणीपति, द्वारिकाधीश तथा महाभारतादिवाले सभी स्वरूपोंका ग्रहण होता है।

रसका स्वप्रकाशत्व तथा अखण्डत्व—

साहित्यशास्त्रमें सर्वत्र ही रसको स्वप्रकाश और अखंड माना गया है। इसका कारण यह है कि रसकी अनुभूति आत्मानन्दकी अनुभूति है। आत्मा ब्रह्म-स्वरूप है। और ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। उस परमानन्द-स्वरूप ब्रह्मकी अनुभूतिसे अभिन्न होनेके कारण रसानुभूति

परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादेरस्य वस्तुतः ॥६३॥
रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्धचति ।
पूर्वमुक्ताद् द्विधा भेदान्मुख्यगौणतया रतेः ॥६४॥
भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा ।
पञ्चधाऽपि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदितः ॥६५॥
सप्तधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसोऽष्टधा ।

स्वप्रकाश भी है और अखंड भी। घट-पटापि सांसारिक पदार्थ स्वप्रकाश नहीं परप्रकाश्य, चिदाभास्य हैं। चैतन्य आत्मा जब उनको ग्रहण करती है तभी उनका प्रकाश अर्थात् ज्ञान होता है। बुद्धिवृत्ति द्वारा चैतन्य आत्माके साथ सम्बन्ध हुए बिना सांसारिक पदार्थोंका प्रकाश या ज्ञान नहीं होता है। इसलिए वे सब स्वप्रकाश नहीं परप्रकाश्य या चिदाभास्य कहलाते हैं। आत्मा या ब्रह्मका ग्रहण या ज्ञान करनेवाली कोई दूसरा आत्मा या ब्रह्म नहीं है। वह स्वयं ही अपना ग्रहण करता है इसलिए वह स्वप्रकाश-स्वरूप है। स्वप्रकाश-स्वरूप ब्रह्म, अपनेको भी प्रकाशित करता है और घट-पटादि अन्य सांसारिक पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। इस बातको उपनिषदादिमें सूर्यके दृष्टान्तसे स्पष्ट किया गया है। सूर्य जैसे अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करता है और संसारके अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश-स्वरूप ब्रह्म अपनेको भी प्रकाशित करता है और अन्य सबको भी प्रकाशित करता है। इसलिए ब्रह्म स्वप्रकाश-स्वरूप है। इसी प्रकार ब्रह्म अखंड भी है। उसके खण्ड नहीं किए जा सकते हैं। वह वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार सजातीय विजातीय स्वगत भेदसे शून्य है। इसलिए ब्रह्म स्वप्रकाश, अखण्ड तथा आनन्द-स्वरूप है। रसानुभूति आत्मानन्द या ब्रह्मानन्दकी अनुभूति स्वरूप ही है। इसलिए वह भी परमानन्द स्वरूप अखण्ड तथा स्वप्रकाश है। इसी बात को ग्रन्थकार अगली कारिकामें कहते हैं—

यह रति वास्तवमें [ब्रह्मस्वाद रूप] परमानन्दसे अभिन्न है [परमानन्द-तादात्म्य रूप] है इसलिए रसका स्वप्रकाशत्व तथा अखण्डत्व सिद्ध होता है॥ ६३॥

भक्तिरसके दो भेद—

इस लहरीके प्रारम्भमें दूसरी कारिकामें रतिके मुख्यरति तथा गौणरति दो भेद बतलाए थे। उसी आधारपर भक्तिरसके भी मुख्यभक्तिरस तथा गौणभक्तिरस ये दो भेद हो जाते हैं। इसी लहरी की छठी कारिकामें मुख्या रतिके पाँच भेद और ३१वीं कारिकामें भाव के सात भेद कहे थे। इसीके अनुसार आगे ग्रन्थकार मुख्य भक्तिरसके पाँच भेदों तथा गौण भक्तिरसके सात भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

पहले [द्वितीय कारिकामें] कहे हुए रतिके मुख्य तथा गौण भेदोंके कारण यह भक्ति रस भी मुख्य तथा गौण दो प्रकारका होता है॥ ६४॥

[पहले छठी कारिकामें, और अगली ९६वीं कारिकामें कहे हुए मुख्या] रतिके पांचों भेदोंके एक होनेसे मुख्या रतिको एक माना गया है [उसके पाँच अवान्तर भेद प्रसंगतः ही दिखला दिए हैं। वस्तुतः उन सबको मिलाकर मुख्यरति एकरूप ही होती हैं]। और [हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्सरसके भेदसे] गौण भक्तिरस सात प्रकारका

तत्र मुख्यः—

मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः ॥९६॥
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः ।

अथ गौणः—

हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि ॥९७॥
भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा ।
एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते ॥९८॥

होता है । इस प्रकार [कुल मिलाकर] भक्तिरस आठ प्रकारका हो जाता है ।

मुख्य भक्तिरस—

उनमेंसे मुख्य [भक्तिरस]—

१ शान्त, २ प्रीति, ३ प्रेयान्, ४ वत्सल तथा ५ मधुर भेदसे पाँच प्रकारका समझना चाहिए । इनमें पूर्व-पूर्व [प्रकारका भक्तिरस उत्तर-उत्तरवाले भक्तिरसकी अपेक्षा] कनिष्ठ होता है ॥ ९६ ॥

मुख्यरतिके भी इसी प्रकारके पाँच भेद इस लहरीके आरम्भमें किए गए थे और उनके लक्षणादि भी वहाँ दिखलाए गए थे । यहाँ उस मुख्यरतिसे उत्पन्न मुख्यभक्तिरसके पाँच भेद दिखलाए गए हैं । यहाँ इनका केवल नाममात्रसे कथन उद्देश्यमात्र कर दिया है । इनके लक्षणादिका विवेचन अगले 'पश्चिम विभाग'में किया जायगा । अगले 'पश्चिम विभाग' में पाँच लहरियाँ हैं । उनमें एक-एक लहरीमें मुख्यरतिके एक-एक भेदका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । इसलिए इस समय मुख्यभक्तिरसके भेदोंके नाममात्र गिना दिए हैं ।

गौण भक्तिरसके सात भेद—

अब गौण [भक्तिरसके भेद कहते हैं]—

१ हास्य, २ अद्भुत, ३ वीर, ४ करुण, ५ रौद्र, ६ भयानक तथा ७ बीभत्सको मिलाकर गौण [भक्तिरस] सात प्रकारका कहा गया है ॥ ९७ ॥

इस प्रकार [मुख्य तथा गौण] दोनों प्रकारके भेदों [के मिलाने] से भक्तिरस [पाँच और सात भेद मिलकर] बारह प्रकारका होता है । किन्तु पुराणादिमें [गौण भक्तिरसके हास्यादि पाँचों भेदोंको रस न मानकर भावोंमें अन्तर्भूत कर लिए जानेके कारण भक्तिरस मुख्यतया पाँच ही प्रकारका पाया जाता है ॥ ९८ ॥

भक्तिरसके वर्ण तथा देवता—

साहित्यशास्त्रमें रसोंके वर्ण तथा देवताओंका भी वर्णन किया गया है । भरतमुनिने नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायमें शृंगारादि आठ रसोंके वर्ण तथा देवताओंका वर्णन निम्न प्रकार किया है ।

अथ वर्णाः—

श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥ ४२ ॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ४३ ॥

वस्तुतस्तु पुराणादौ पञ्चधैव विलोक्यते ।
श्वेतश्चित्रोऽरुणः शोणः श्यामः पाण्डुरपिङ्गलौ ॥६६॥

अथ दैवतानि—

श्रृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्रादिदैवत्यः करुणो यमदैवतः ॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्याद्द्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥

प्रकृत ग्रन्थकार अपने भक्तिरसके विवेचनको साहित्यशास्त्रके रस-विवेचनके अनुरूप ही चला रहे हैं । इसलिए साहित्यशास्त्रके समान उन्होंने अपने इस बारह प्रकारके भक्तिरसके वर्ण तथा देवताओंका भी वर्णन निम्न प्रकार किया है—

१ [शान्त भक्तिरस] श्वेत [वर्णका], २ [प्रीति रूप मुख्य भक्तिरस] चितकबरा, ३ [प्रेयान् रूप मुख्य भक्तिरस] अरुण, [हलका लाल] वर्णका, ४ [वात्सल्य रूप मुख्य भक्तिरस] शोण [अर्थात् गहरे लाल रंगका], ५ [मधुर रूप मुख्य भक्तिरस] श्यामवर्णका भक्ति ही साहित्यशास्त्रके श्रृङ्गाररसके स्थानपर है । इसलिए भरतमुनि वर्णित श्रृङ्गाररस के श्यामवर्णके समान यहाँ मधुरभक्तिको श्यामवर्णका कहा है । यहां तक मुख्य भक्तिरसके पाँचों भेदोंके वर्णोंका निरूपण हो गया । अब आगे गौण भक्तिरसके सात भेदोंके वर्णोंका निरूपण भरतमुनिके अनुसार करते हैं। हास्य रूप गौण भक्तिरस] ६ श्वेतवर्णका ७ [अद्भुत रूप गौण भक्तिरस] पीले रंगका, ८ [वीर रूप गौण भक्तिरस] गौरवर्णका, ९ [करुण रूप मुख्य भक्तिरस] मटैले रंगका [भरतमुनिने इसी वर्णको कपोत वर्ण कहा है], १० [रौद्र रूप गौण भक्तिरस] रक्तवर्णका, ११ [भयानक रूप गौण भक्तिरस] काले वर्णका तथा १२ [बीभत्स रूप गौण भक्तिरस] नील वर्णका, इस प्रकार ये [भक्तिरसके बारह भेद] क्रमशः [श्वेत आदि वर्णके] होते हैं ॥ ६६ ॥

भक्तिरसके भेदोंके देवता—

ऊपरकी कारिकामें भक्तिरसके बारह भेदोंके वर्णोंका का वर्णन किया गया है । अगली कारिकामें उन्हीं बारहों भेदोंके देवताओंका वर्णन करते हैं । वर्णोंके निरूपणके समान देवताओंका यह निरूपण भी मुख्यतः भरतमुनिके दैवत-निरूपणके अनुसार किया गया है । अन्तर इतना है कि भरतमुनिने आठ रसों और शान्तको मिलाकर नौ रसोंके वर्ण तथा देवताओंका वर्णन किया है । यहाँ उसके स्थान पर बारह प्रकारके भक्तिरसोंके वर्ण तथा देवताओंका वर्णन किया है । इन बारहमेंसे जिन सातको यहाँ गौण भक्तिरस कहा गया है वे साहित्यशास्त्रमें स्वतन्त्र रस हैं । साहित्यशास्त्रके शेष शान्त तथा श्रृंगार इन दो भेदोंको ग्रन्थकारने मुख्यभक्तिके शान्त तथा मधुर भक्तिके अन्तर्गत कर लिया है । शान्तका तो नामतः ग्रहण मुख्यभक्तिमें किया है किन्तु श्रृंगारका नामतः ग्रहण नहीं किया है । मधुरभक्ति ही वस्तुतः साहित्यशास्त्रका श्रृंगाररस है । इन सबके देवताओंका वर्णन अगली कारिकामें निम्न प्रकार करते हैं—

गौरो धूम्रस्तथा रक्तः कालो नीलः क्रमादमी ।
कपिलो माधवोपेन्द्रौ नृसिंहो नन्दनन्दनः ॥१००॥
बलः कूर्म्मस्तथा कल्की राघवो भार्गवः किरिः ।
बुद्ध इत्येषु कथिताः क्रमाद् द्वादश देवताः ॥१०१॥

---

१ [शान्तके देवता] कपिल, २ [प्रीतिके देवता] माधव, ३ [प्रेयान्के देवता] उपेन्द्र ४ [वात्सल्यके देवता] नृसिंह, ५ [मधुरभक्तिरसके देवता] नन्द-नन्दन [कृष्ण हैं। भरतमुनिने शृङ्गारका देवता विष्णुको माना है। इन्होंने शृङ्गार-स्थानीय मधुरभक्तिका देवता नन्द-नन्दन कृष्णको माना है], ६ [हास्यका देवता] बल, ७ [अद्भुतका देवता] कूर्म, ८ [वीरका अधिष्ठातृ देवता] कल्की, ९ [करुणका देवता] राघव, १० [रौद्रका देवता] भार्गव, ११ [भयानकका देवता] किरिः और १२ [बीभत्स रसका देवता] बुद्ध ये क्रमशः [भक्तिरसके बारहों भेदोंके] देवता कहे गए हैं ॥ १००-१०१ ॥

ग्रन्थकारने रसोंके वर्ण-निरूपणमें भरतमुनिका पूर्णतया अनुकरण किया है किन्तु देवताओंके निरूपणमें बिलकुल स्वतन्त्ररूपसे काम लिया है। इस विषयमें उन्होंने विष्णुके अवतारोंको ही प्रमुखता दी है। विष्णुके दशावतारोंमेंसे मत्स्यावतारको छोड़कर शेष नौ अवतारोंका समावेश इसके भीतर हो गया है। बारह प्रकारके भक्तिरसभेदोंके लिए अलग-अलग बारह अधिष्ठातृ देवता होने चाहिए थे। दशावतारोंमेंसे मत्स्यावतारको हटा देने पर नौ शेष रह जाते हैं। शेष तीनकी पूर्ति ग्रन्थकारने कपिल, माधव तथा उपेन्द्रके नामोंको सम्मिलित करके की है।

एक विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन—

रस-देवताओंका यह जो निरूपण यहाँ ग्रन्थकारने किया है वह साहित्यशास्त्रमें प्रतिपादित रस-देवताओंसे भिन्न है, यह बात हमने अभी ऊपर दिखलाई है। और उसके कारण का भी प्रतिपादन किया है। किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण एक और परिवर्तन इस निरूपणमें पाया जाता है और वह शान्तरसके देवताके विषयमें है। साहित्यशास्त्रमें शान्त-रसका देवता बुद्धको माना गया है और बीभत्सरसका देवता महाकालको माना गया है। प्रकृत ग्रन्थकारने शान्तरसका देवता कपिलको और बीभत्सरसका देतता बुद्धको माना है। इस परिवर्तनका एक विशेष कारण है। और विष्णुके सब अवतारोंका यहाँ रस-देवताओंकी सूचीमें समावेश होनेपर भी मत्स्यावतारके इसमें सम्मिलित न होनेका स्पष्टीकरण भी उसी कारणके द्वारा होता हैं। 'दुर्गमसंगमनीकार'ने इस स्थलपर एक पंक्तिमें लिखा है—'मीन-स्थाने वा बुद्धाः पठनीयः, तच्चेष्टाया अरोचकत्वात्, मीनस्य तु सच्चिदानन्दविग्रहत्वात्।" इस पंक्तिके द्वारा इस परिवर्तनका रहस्य खुल जाता है। बुद्धके नामको शांतरससे हटाकर यहाँ जो बीभत्सरसके साथ जोड़ा गया है उसका कारण बीभत्सकी चेष्टाओंका अरोचक होना है। सामान्य रूपसे विष्णुके सब अवतारोंका रस-देवताके रूपमें प्रतिपादन कर देनेपर मत्स्यावतारका सम्बन्ध बीभत्सरसके साथ होना चाहिए था। किन्तु 'तच्चेष्टाया अरोचक-त्वात्' उस बीभत्सरसकी चेष्टाओंमें अरोचकता, घृणा, जुगुप्सा होनेके कारण और 'मीनस्य च सच्चिदानन्दरूप विग्रहत्वात्' सच्चिदानन्द रूप होनेसे मत्स्यावतारका सम्बन्ध बीभत्सके

साथ जोड़ना ग्रन्थकारने उचित नहीं समझा। इसलिए घृणित चेष्टाओंके साथ जिसका सम्बन्ध किया जा सके ऐसे एक देवताको ढूँढ़कर लानेकी आवश्यकता पड़ी। इस दृष्टिसे बुद्धका सम्बन्ध यहाँ जोड़ा गया है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। जब बुद्धको शान्तरससे हटाकर बीभत्सरसके साथ जोड़ना था तो मीनको शान्तरसके साथ जोड़ा जा सकता था। किन्तु मीन की चेष्टाएँ शान्तरसके अनुरूप न होनेसे उसको वहाँ नहीं जोड़ा गया है। अपितु शान्तरसके अनुकूल चेष्टावाले कपिलका सम्बन्ध शान्तरसके साथ किया गया है। यह इस परिवर्तनका विशेष कारण है। यह परिवर्तन विशेष महत्वपूर्ण इसलिए हो जाता है कि उसमें बुद्धके प्रति एक विशेष प्रकारकी संकीर्ण मनोभावनासे काम लिया गया है। बुद्ध शान्तिकी प्रतिमूर्ति शान्तिके अवतार हैं। इसीलिए साहित्यशास्त्रमें उनको शान्तरसका देवता माना गया है। यहाँ उस शांतरसमूर्ति महात्माका बीभत्सरसके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा गया है वह वस्तुस्थिति के अनुरूप न होकर उनके प्रति घृणाका व्यंजक होनेके कारण अशोभनीय है।

परन्तु यह परिवर्तन सम्भवतः भक्तिरसामृतसिन्धुकार रूपगोस्वामीने नहीं अपितु टीकाकार दुर्गमसंगमिनी-टीकाके प्रणेता जीवगोस्वामीने किया है। दुर्गमसंगमिनीकी यह पंक्ति ही इस बातको सिद्ध कर रही है। पंक्तिके 'मीनस्थाने वा बुद्धः पठनीयः' ये शब्द यह सूचित करते हैं कि मूल भक्तिरसामृतसिन्धुमें बीभत्सरसके देवताके रूपमें मीनको रखा गया था। पर दुर्गमसंगमिनीकारको यह बात जँची नहीं इसलिए उन्होंने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि यहाँ मीनके स्थान पर बुद्धका नाम रखना चाहिए। इस परिवर्तनका कारण भी उन्होंने तच्चेष्टाया अरोचकत्वात् मीनस्य च सच्चिदानन्दविग्रहत्वात्' इन शब्दोंमें दिखला दिया। इस पंक्तिसे टीकाकारने जो सुझाव प्रस्तुत किया वह यदि टीकामें ही रहता तो भी उतनी हानि नहीं थी, उसे टीकाकारका सुझाव माना जा सकता था उसका प्रभाव मूलग्रन्थकारके ऊपर नहीं पड़ता। परन्तु यहाँ इस सुझावके अनुसार मूलग्रन्थके पाठमें भी परिवर्तन कर दिया है, जिसके कारण मुद्रित संस्करणोंमें मूलग्रन्थमें यही परिवर्तित पाठ पाया जाता है। यह ठीक नहीं हुआ है। टीकाकारने अपने इस कार्यके द्वारा अपनी संकीर्ण भावनाका प्रदर्शन तो किया ही किन्तु और भी कई असंगतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। 'जीवो जीवस्य भोजनम्' को सिद्ध करनेवाला 'मात्स्य-न्याय' अपनी अरोचकता एवं जुगुप्सितताके लिए समाजमें प्रसिद्ध ही है। उसके कारण बीभत्सरसके साथ मीनका सम्बन्ध सर्वथा संगत होता। पर उसको वहाँ से हटा दिया गया एक यह असंगति हुई। फिर जब विष्णुके अन्य सारे अवतारोंका सम्बन्ध रस-देवताओंके रूपमें किया गया है तब यह अकेला मत्स्यावतार ही क्यों छूट गया यह दूसरी असंगति हुई। तीसरी असंगति यह है कि जो बुद्ध भगवान् शान्तरसकी प्रतिमूर्तिके रूपमें विश्व-विख्यात हैं उनका सम्बन्ध बीभत्सरसकी अरोचक चेष्टाके साथ कैसे जोड़ दिया गया है। चौथी अनुपपत्ति यह है कि मीनको विष्णुका अवतार होनेके कारण जब 'सच्चिदानन्द-विग्रह' माना गया है तब उन्हीं विष्णुके दशावतारोंमें परिगणित बुद्धको 'सच्चिदानन्द-विग्रह' न मानकर 'बीभत्स-विग्रह' क्यों माना गया है। ये सब असंगतियाँ टीकाकारके इस कार्यके अनौचित्यको सिद्ध करती हैं।

मुख्य भक्तिरसके पंचविध आस्वादनका कारण—

ऊपर जो मुख्य भक्तिरसके पाँच भेद किए हैं वे भक्तिरसके एक होते हुए भी उसका

पूर्त्ते विकासविस्तारविक्षेपक्षोभतस्तथा ।
सर्वभक्तिरसास्वादः पञ्चधा परिकीर्त्तितः ॥१०२॥
पूर्त्तिः शान्ते विकासस्तु प्रीतादिष्वपि पञ्चसु ।
वीरेऽद्भुते च विस्तारो विक्षेपः करुणोग्रयोः ॥१०३॥

पंचविध आस्वाद होनेके कारण किए हैं। यह पंचविध आस्वाद चित्तकी पाँच प्रकारका विशेष अवस्थाओंके कारण होता है। इस बात को ग्रन्थकार अगली तीन कारिकाओंमें दिखलाते हैं—

[चित्तकी] १ पूर्ति, २ विकास, ३ विस्तार, ४ विक्षेप, तथा ५ विक्षोभ [रूप पाँच प्रकारकी अवस्थाओं] के कारण [मुख्य तथा गौणको मिलाकर] सब भक्तिरसोंका आस्वादन पाँच प्रकारका माना जाता है ॥ १०२ ॥

किस-किस अवस्थामें किन-किन रसोंका आस्वादन होता है इस बात को अगली दो कारिकाओंमें दिखलाते हैं—

१ शान्तमें पूर्ति, २ प्रीति आदि पाँचमें [अर्थात् प्रीति, प्रेयान्, वात्सल्य, मधुर तथा हास्य इन पाँचोंमें] विकास, ३ वीर तथा अद्भुतमें विस्तार, करुण तथा रौद्रमें विक्षेप तथा ५ भयानक एवं बीभत्समें क्षोभ [रूप चित्तावस्था] विद्वानोंने मानी है ॥ १०३ ॥

चित्तकी इन पाँच प्रकारकी अवस्थाओंका वर्णन भी ग्रन्थकारने साहित्यशास्त्रकी मान्यताके आधारपर किया है। किन्तु उसमें थोड़ा-सा अन्तर यह है कि साहित्यशास्त्रमें चित्त की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं और यहाँ पाँच अव थाएँ। दशरूपककारने इस विषयका निरूपण करते हुए लिखा है—

विकास-विस्तार-क्षोभ-विक्षोभैः स चतुर्विधः ।
शृङ्गार-वीर-बीभत्स-रौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्या-द्भुत-भयोत्कर्ष करुणानां त एव हि ।

दशरूपककारने शान्तरसको नाटकोपयोगी रस नहीं माना है। इसलिए चित्तकी अवस्थाओंका शान्तरसास्वादसे सम्बद्ध तृप्ति या पूर्ति रूप अवस्थाका वर्णन उन्होंने नहीं किया है। भक्तिरसका तो आरम्भ ही शान्तरससे होता है। इसलिए प्रकृत ग्रन्थकारने शान्तरसास्वादके अनुरूप चित्तकी पूर्ति या तृप्ति नामक पंचमी अवस्थाका भी वर्णन किया है।

करुणादिकी सुखरूपताका उपपादन—

करुण, भयानक, बीभत्स आदि रसोंको उत्पादन करनेवाली विभावादि सामग्री लोकमें दुःखजनक ही होती है। और उससे लोकमें लौकिक दुःख ही उत्पन्न होता है किन्तु काव्य तथा नाट्यमें विभावनादि अलौकिक व्यापारके कारण उस दुःखात्मक सामग्रीसे भी सुखात्मक रूपमें ही करुणादि रसोंकी उत्पत्ति होती है। इस बातका उपपादन ग्रन्थकार अगली तीन कारिकाओंमें करते हैं। इन कारिकाओंमें अज्ञ, ग्राम्य और प्राज्ञ ये तीन शब्द आए हैं। ये सामान्य विशेषण होते हुए भी यहाँ भक्तिरसके साधकोंके विशेष भेदके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। भक्ति-सिद्धान्तमें भक्तोंके पाँच भेद माने गए हैं। (१) भाव्य भक्त, (२) भावक भक्त

भयानकेऽथ बीभत्से क्षोभो धीरैरुदाहृतः ।
अखण्डसुखरूपत्वेऽप्येषामस्ति क्व चित् क्व चित् ॥१०४॥
रसे सुगहनास्वादविशेषः कोऽप्यनुत्तमः ।
प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः सपदि दुःखवत् ॥१०५॥
करुणाद्या रसाः प्राज्ञैः प्रौढानन्दमया मताः ।
अलौकिकविभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया ॥१०६॥
सदुक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यात्सुव्यक्तमिति स्थितिः ।

तथा च नाट्यादौ—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ॥१०७॥
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।
सर्वत्र करुणाख्यस्य रसस्यैवोपपादनात् ॥१०८॥

---

(३) प्राज्ञ भक्त, (४) अभक्त भक्त और (५) ग्राम्य भक्त। इनमें मुख्य रूपसे भक्तोंके दो भेद हैं—एक भाव्य भक्त तथा दूसरे भावक भक्त। कृष्णकी लीलाओंमें उनके साथी 'लीला-परिकर' रूप भाव्यभक्त कहलाते हैं। उन लीलाओंको देखनेवाले शेष भावकभक्त कहलाते हैं। इन भावकभक्तोंके फिर तीन विभाग हो जाते हैं—(१) अज्ञ, (२) ग्राम्य तथा (३) प्राज्ञ। इनमेंसे अज्ञ तथा ग्राम्य दोनों निम्न कोटिके भक्त हैं। प्राज्ञ उत्तम कोटिके भक्त होते हैं। इन्हींके लिए साहित्यशास्त्रमें 'सहृदय' शब्दका प्रयोग किया जाता है। इन्हींको वास्तविक रसास्वाद होता है। अज्ञ तथा ग्राम्य भक्तोंको करुणादिकी सामग्री दुःखजनक प्रतीत होती है किन्तु प्राज्ञ भक्त उससे उत्पन्न करुणादि रसोंका भी सुखात्मक रूपमें ही आस्वादन करता है। इसी बातको ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

इन रसोंके अखण्ड सुखरूप होनेपर भी कहीं-कहीं [अर्थात् अज्ञ तथा ग्राम्य भक्तोंमें] [अनुत्तमः अर्थात्] निम्नकोटिका [सुगहनास्वाद अर्थात्] दुःखात्मक आस्वाद भी होता है ॥ १०४ ॥

अज्ञ तथा ग्राम्य भक्तोंको आपाततः दुःखात्मक रूपसे प्रतीत होनेपर भी प्राज्ञ [अर्थात् उत्कृष्ट भक्तों अथवा सहृदयों] उनको अत्यन्त आनन्दमय ही मानते हैं ॥ १०५ ॥

[काव्य नाटक आदिमें स्वतः परमानन्दमयी] रतिके प्रभावसे अलौकिक विभावत्वको प्राप्त कराए गए उन [करुणादि रसोंके साधनों] से तथा [सदुक्त्या अर्थात्] सहृदयोंके वचन [अथवा सद्रचना] से स्पष्टतः सुखकी ही प्राप्ति होती है यह [स्थिति अर्थात् सर्वसम्मत] सिद्धान्त है ॥ १०६ ॥

जैसाकि नाट्यादिके विषयमें [कहा गया है]—

"करुणादि रसोंमें भी जो परम सुख ही उत्पन्न होता है इस विषयमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है" ॥ १०७ ॥

"अन्यथा [अर्थात् यदि करुणादि रसको आनन्द रूप न माना जाय तो, रामायणमें] सर्वत्र करुणारसका ही उपपादन होनेसे रामायण आदि [जैसे सुन्दर-काव्य] भी दुःखजनक ही

भवेद्रामायणादीनामन्यथा दुःखहेतुता ।
तथात्वे रामपादाऽब्जप्रेमकल्लोलवारिधिः ॥१०६॥
प्रीत्या रामायणं नित्यं हनुमान् शृणुयात्कथम् ।

अपि च—

संचारी स्यात्समोना वा कृष्णरत्याः सुहृद्रतिः ॥११०॥
अधिका पुष्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्यते ।
फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः शुष्कज्ञानाश्च हैतुकाः ॥१११॥

न हो जाएँगे" ॥ १०८ ॥

"और ऐसा होनेपर [अर्थात् रामायणको दुःखजनक काव्य माननेपर] रामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें प्रेमरूप कल्लोलोंसे पूर्ण वारिधिके समान हनुमान् प्रतिदिन प्रेमपूर्वक रामायण का श्रवण कैसे करते" ॥ १०६ ॥

कृष्णसे भिन्न सुहृदादि विषयक भाव है—

अगली कारिकामें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि भगवद्भक्तोंमें परस्पर एक-दूसरेके प्रति भी प्रेम या रति पाई जाती है। इस प्रकारकी रतिको 'भाव' ही कहना चाहिए रस नहीं। योगदर्शनमें 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' सूत्रमें वीतराग पुरुषोंका चिन्तन भी मनके निग्रहके उपायोंमें गिनाया है। अर्थात् एक साधक दूसरे साधकका चिन्तन कर सकता है। इससे उनके परस्पर सम्बन्धका जो प्रदर्शन किया है उसी प्रकार यहाँ भगवद्भक्तोंकी पारस्परिक रतिका उल्लेख किया गया है। किन्तु इस प्रकारकी रति भक्तिरस नहीं कहा जाता है। वह यदि कृष्णके प्रेमके तुल्य हो तो 'भाव' कहलाता है और अधिक हो तो भावोल्लास कहलाता है। इस बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें लिखते हैं—

यदि सुहृद्के प्रति रति [कृष्णरतिके] बराबर हो या उससे कम हो तो वह संचारि-भाव कहलाती है। और यदि वह [सुहृद्रति] अधिक परिपोषको प्राप्त हो जाय तो भावोल्लास नामसे कही जाती है ॥ ११०॥

तार्किक तथा मीमांसक भक्तिके अधिकारी नहीं—

अगली दो कारिकाओंमें ग्रन्थकार यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि वैराग्य तथा शुष्क ज्ञानका अवलम्बन करनेवाले वेदान्ती कोरे तार्किक और विशेष रूपसे कर्मकाण्डी मीमांसक ये सब भक्तिरसका आस्वादन करनेमें असमर्थ हैं। उसके अधिकारी नहीं हैं। उनसे भक्तिरस की इसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार चोरादिसे किसी बहुमूल्य महानिधिकी रक्षा की जाती है।

[भक्तिसे रहित होनेके कारण] १ व्यर्थके वैराग्यका अभिमान करनेवाले, २ [भक्ति-शून्य होनेके कारण] शुष्क ज्ञानवाले [अर्थात् ज्ञानमार्गके अनुयायी अद्वैतवादी वेदान्ती] ३ कोरे तर्कका अवलम्बन करनेवाले तार्किक, तथा ४ विशेष रूपसे [कर्मकाण्डका अवलम्बन करनेवाले] मीमांसक ये सब भक्तिके आस्वादनके अयोग्य हैं। [इनको भक्तिरसका आस्वादन नहीं हो सकता है] ॥ १११ ॥

मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वादबहिर्मुखाः ।
इत्येष भक्तिरसिकैश्चोरादिव महानिधिः ॥११२॥

जरन्मीमांसकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा ।
सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः ॥११३॥

तत्पदाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवात्र रस्यते ।
व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कृतिभारभूः ॥११४॥

हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः ।
भावनायाः पदं यस्तु बुधेनानन्यबुद्धिना ॥११५॥

भाव्यते गाढसंस्कारैश्चित्ते भावः स कथ्यते ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-
निरूपणे स्थायिभावलहरी ॥ ५ ॥

इनमें भी मीमांसक सबसे निकृष्ट कोटिका है। इस बातको अगली कारिकामें कहते हैं—

इसलिए भक्तिके रसिकोंको अपनी इस [भक्तिरस रूप] महानिधिको जरन्मीमांसकसे इसी प्रकार बचाना चाहिए जैसे चोरसे [महानिधिको बचाया जाता है] ॥ ११२ ॥

जो भक्त नहीं हैं उनके लिए यह भक्तिरस सर्वथा दुरूह है। [अभक्तजन इस भक्तिरस के महत्त्वको समझ ही नहीं सकते हैं]। उन [भगवान्] के चरण-कमल ही जिनका सर्वस्व हैं केवल उन्हीं भक्तोंको इसका रसास्वादन होता है ॥ ११३ ॥

भाव तथा रसका भेद—

यहाँ तक भक्तिरसका निरूपण कर दिया। अब इस दक्षिण विभागके अन्तमें 'भाव' तथा 'रस'का भेद दो कारिकाओंमें दिखलाते हैं। भावका सम्बन्ध भावनासे है। भावना चित्तका व्यापार है। इसलिए 'भाव'का सम्बन्ध भी चित्तसे है। अर्थात् 'भाव' चित्तकी अवस्था विशेष या चित्तवृत्ति रूप है। रस उस चित्तवृत्तिसे परे आत्मानन्दानुभूतिकी अवस्था है। यह भाव तथा रसका भेद है। इसीको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें दिखलाते हैं—

भावनाके मार्गका अतिक्रमण करके सत्त्वसे उज्ज्वल हृदयमें [हृदय शब्द यहाँ लक्षणा से आत्मवाचक लेना चाहिए] जो प्रगाढ आनन्दका [चमत्कृतिभारभूः] आस्वादन है उसको रस कहा जाता है ॥ ११४ ॥

और अन्य बुद्धिसे भावना [ध्यान] की वस्तुको गाढ़-संस्कारों द्वारा जो मनमें चिन्तन किया जाता है [भाव्यते चित्ते] उसको 'भाव' कहा जाता है ॥ ११५ ॥

भाव और रसका यह भेद लगभग उसी प्रकारका है जैसा योगमें ध्यान तथा समाधि का भेद है। ध्यान योग अंग है तथा समाधि अंगी है। इसी प्रकार यहाँ भाव अंग है और रस अंगी या प्रधान है।

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।
तुष्यतु सनातनात्मा दक्षिणभागे सुधाऽम्बुनिधेः ॥११६॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ भक्तिरससामान्यनिरूपणनामा
दक्षिणो विभागः ॥

'भक्तिरसामृतसिन्धु'के भक्तिसामान्यनिरूपणपरक दक्षिणविभागमें
पञ्चमी स्थायिभाव-लहरी समाप्त हुई ।

अब ग्रन्थका दक्षिण विभाग समाप्त होता है। विभागके अन्तमें राम तथा कृष्ण दोनों को भगवद् रूप मानकर उनकी वन्दना करते हुए दक्षिण-विभागकी समाप्तिका उपसंहारात्मक श्लोक लिखते हैं—

गोपाल [अर्थात् कृष्ण] के रूपको धारण करते हुए भी रघुनाथ रूपको प्रकट करने वाले सनातन-स्वरूप [भगवान् तथा गुरुदेव] इस भक्तिरसामृतसिन्धुके दक्षिणविभाग [की समाप्ति] पर प्रसन्न हों ॥ ११६ ॥

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिरस-सामान्य निरूपण नामक
दक्षिण विभाग समाप्त हुआ ।

अथ पश्चिमो विभागः

अथ पश्चिमो विभागः

प्रथमा शान्तरस लहरी

धृतमुग्धरूपमारो भागवतार्पितपृथुप्रेमा ।
स मयि सनातन मूर्तिस्तनोतु पुरुषोत्तमस्तुष्टिम् ।।१।।
रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तृतीये पश्चिमाभिधे ।
मुख्यो भक्तिरसः पञ्चविधः शान्तादिरीर्य्यते ।।२।।
अतोऽत्र पाञ्चविध्येन लहर्य्यः पञ्चकीर्तिताः ।
अथामी पञ्च लक्ष्यन्ते रसाः शान्तादयः क्रमात् ।।३।।

पश्चम विभागे

प्रथमा शान्तरस लहरी

विगत दक्षिण विभागमें भक्तिरसका सामान्य निरूपण करते हुए मुख्य भक्तिरसके पाँच भेद तथा गौण भक्तिरसके सात भेद किये गए थे। वहाँ उनका उद्देश्यमात्र अर्थात् नामों का उल्लेखमात्र किया गया था। उनके लक्षणादिका विवेचन नहीं हुआ था। यह कार्य अभी होनेको शेष है। ग्रन्थके अवशिष्ट पश्चिम तथा उत्तर दोनों विभागोंमें ग्रन्थकार क्रमशः इन्हीं का विवेचन करेंगे। इस पश्चिम विभागमें वे पहले मुख्य भक्तिरसके पाँचों भेदोंका निरूपण करेंगे। इन पाँचों भेदोंके निरूपण के लिए उन्होंने इस विभागमें पाँच लहरियाँ बनाई हैं। प्रत्येक लहरी में मुख्य भक्तिरसके एक-एक भेदका निरूपण किया जायगा। इस प्रथम लहरीमें प्रथम भेद शान्त-भक्तिरसका विवेचन आरम्भ करते हैं।

विगत दोनों विभागोंकी तरह इस विभागके आरम्भमें भी श्लिष्ट श्लोक द्वारा मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थकार अपने आराध्य कृष्ण तथा अपने गुरु सनातनदेवको स्मरण करते हैं।

अत्यन्त मनोहर रूपको धारण करनेवाले तथा भगवद्भक्तोंसे अत्यन्त प्रेम करनेवाले [सनातनदेवके पक्षमें भागवतपुराणसे अत्यन्त प्रेम करनेवाले] सनातन-मूर्ति पुरुषोत्तम [कृष्ण तथा गुरुदेव] मेरे हृदयके भीतर [शान्तरसके स्थायी भाव रूप] तुष्टिको उत्पन्न करें ।।१।।

"भक्तिरसामृतसिन्धु" के पश्चिम विभाग नामक तृतीय विभागमें शान्तादि रूप पाँच प्रकारके मुख्य भक्तिरसका वर्णन किया जायगा ।।२।।

इसलिए मुख्य भक्तिरसके पाँच भेद होनेके कारण पाँच लहरियाँ रखी गई हैं। जिनमें क्रमशः शान्तादि पाँच प्रकारके भक्तिरसोंका लक्षणादि किए जाएँगे ।।३।।

तत्र शान्तभक्ति रसः—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः ।
स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ।।४।।
प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम् ।
किन्त्वात्मसौख्यमघनङ्घ त्वीशमयं सुखम् ।।५।।
तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता ।
दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलादेर्न तथा मता ।।६।।

तत्रालम्बना—

चतुर्भु जश्च शान्ताश्च तस्मिन्नालम्बना मताः ।

तत्र चतुर्भु जः—

श्यामाकृतिः स्फुरति चारुचतुर्भु जोऽय-
मानन्दराशिरखिलात्मतरङ्गसिन्धुः ।
यस्मिन् गते नयनयोः पथि निर्जिहीते
प्रत्यक् पदात्परमहंसमुनेर्मनोऽपि ।।६५५।।

उनमेंसे [पहले] शान्तरस [अर्थात् शान्त भक्तिरसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं]—

आगे कहे जानेवाले विभावादिके द्वारा शान्ति रूप स्थायिभाव शमवानोंके आस्वादका विषय होकर शान्तभक्तिरस नामसे कहलाता है ।।४।।

इस शान्तरसमें योगियोंको प्रायः [स्वसुखसजातीय अर्थात्] आत्मसाक्षात्कारात्मक निर्विशेष ब्रह्मास्वादसहोदर सुख प्राप्त होता है । किन्तु [विशेषता यह होती है कि] आत्म-साक्षात्कारका सुख घनत्वहीन होता है और भगवत्साक्षत्कारमय [ईशमयं सुखम् अर्थात्] भगवत्साक्षात्कारमय सुख घनत्वमय होता है ।।५।।

इस श्लोकमें 'प्रायः' शब्दका ग्रहण इसलिए किया गया है कि स्वसुखसजातीय अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मानन्दस्वरूप सुखमें उसके निर्विशेष-विषयक होनेसे गुणादिका भान नहीं होता है । और इस भगवत्साक्षात्करात्मक 'ईशमयं सुखम्' में सच्चिदानन्द-विग्रहादिरूप गुणोंकी भी स्फूर्ति होती है। इस भेदको दिखलानेके लिए 'प्रायः' पदका ग्रहण किया गया है। यह दुर्गमसंगमिनीकारका मत है । इसीको उन्होंने 'प्राय इति गुणानामपि स्फूर्तेः' इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया है ।

उसमें भी भगवत्स्वरूपका अनुभव ही [सुखानुभूतिके] आधिक्यका कारण होता है । उनकी मनोज्ञ लीलादि तथा दासादिके समान बुद्धि [सुखातिशयकी जनक] नहीं होती है ।।६।।

उस [शान्तभक्तिरसके] आलम्बनविभाव [कहते हैं]—

चतुर्भु ज [कृष्ण] तथा शान्त [शान्तभक्तिरस वाले भगवद्भक्त] इसमें आलम्बन-विभाव होते हैं ।

उनमें चतुर्भु ज [के आलम्बन-विभावताका उदाहरण जैसे]—

यह देखो श्यामलमूर्ति आनन्दराशि और समस्त आत्मारूप तरंगोंके सिन्धु [अर्थात्

सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग आत्मारामशिखामणिः ॥७॥
परमात्मा परं ब्रह्म समो दान्तः शुचिर्वशी ।
सदा स्वरूपसम्प्राप्तो हतारिगतिदायकः ॥८॥
विभुरित्यादिगुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः ।

अथ शान्ताः—

शान्ताः स्युः कृष्णतत्प्रेष्ठ कारुण्येन रतिं गताः ॥६॥
आत्मारामास्तदीयाध्वबद्धश्रद्धाश्च तापसाः ।

तत्रात्मारामाः—

आत्मारामास्तु सनकसनन्दनमुखा मताः ॥१०॥
प्राधान्यात्सनकादीनां रूपं भक्तिश्च कथ्यते ।

तत्र रूपम्—

समस्त आत्माएँ जिस सिन्धु रूप भगवान् की तरंगोंके सदृश है] सुन्दर चतुर्भुज कृष्ण दिख-लाई दे रहे हैं । जिनको देखते ही मुनियोंका मन भी [पत्यक्पदात् अर्थात्] निर्विशेष ब्रह्मानु-सन्धानसे हट जाता है [और उन चतुर्भुज कृष्णके सौन्दर्य-दर्शनमें ही लीन हो जाता है] ।

चतुर्भुज रूपको शान्तभक्तिका आलम्बन-विभाव माननेके विषयमें दुर्गमसंगमिनीकार ने यह टिप्पणी की है कि यद्यपि मर्त्यलीलामें उपयोगी होनेके कारण द्विभुजरूप भी अधिक उपयोगी तथा मुख्य आलम्बन विभाव होना चाहिए था किन्तु द्विभुज रूप लोग सर्वजन-साधारण होनेसे कृष्ण भगवान्को पहचान नहीं पाते है इसलिए चतुर्भुज रूपको यहाँ विशेष रूपसे आलम्बन-विभाव माना है ।

इस [शान्तभक्तिरस] में [निम्नांकित गुणोंसे युक्त कृष्ण आलम्बन-विभाव होते हैं यह 'अस्मिन्नालम्बनो हरिः' इसके साथ अन्वय होगा । आगे उन विश्लेषणोंको गिनाते हैं] सच्चिदानन्दघन, आत्मामें रमण करने वालों [अर्थात् ब्रह्मध्यानियों] के शिखामणि परमात्मा और परब्रह्मस्वरूप, [सम अर्थात्] सदा एकरस दान्त, शुद्ध, जितेंद्रिय सदा स्वरूपको प्राप्त, मारे हुए शत्रुओंको भी सुगति प्रदान करनेवाले और विभुत्व आदि गुणोंसे युक्त [हरिः] कृष्ण आलम्बन-विभाव होते हैं ॥७-८॥

अब शान्त [आलम्बन विभावोंको कहते हैं]—

कृष्ण अथवा उनके प्रियोंके द्वारा की कृपासे जिनमें [कृष्णके प्रति] रति उत्पन्न हुई है इस प्रकारके [आत्मारामाः अर्थात् ब्रह्मध्यानी, तथा उन [कृष्ण] के मार्गमें श्रद्धावान् तापस [ये दोनों] शान्त [आलम्बन-विभाव कहलाते] हैं ॥ ६ ॥

उनमेंसे आत्माराम [ब्रह्मध्यानी आलम्बन-विभावका उदाहरण जैसे]—

सनक सनन्दन इत्यादि [मुनि] आत्माराम [ब्रह्मध्यानीके उदाहरण] हैं । [और भी मुनि गण इस आत्मारामकी कोटिमें आ सकते हैं किन्तु] प्रधानताके कारण सनकादिके स्वरूप तक तथा भक्तिका निरूपण किया जाता है ॥ १० ॥

उनमें [पहले सनक-सनन्दनके] रूप [को कहते हैं]—

ते पञ्चषाब्दबालाभास्त्वार स्तेज सोज्वलाः ।
गौराङ्गा वातवसनाः प्रायेण सहचारिणः ॥६५६॥

तत्र च भक्तिः—

समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां—
गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत्सुखम् ।
न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युतेर्मु कुन्द
सुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः ॥६५७॥

अथ तापसाः—

मुक्ति भक्त्यैव निर्विघ्नेत्यात्तयुक्तविरक्तताः ॥११॥
अनुज्झितमुमुक्षा ये भजन्ते ते तु तापसाः ।

यथा—

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति—
र्वसानः कौपीनं रचित फल कन्दाशनरुचिः ।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिः क्षणमिवविनेष्यामि रजनीः ॥६५८॥

पाँच-छः वर्षकी आयुके बालकोंके समान, अत्यन्त तेजस्वी, गौर वर्ण [वातवसनाः अर्थात्] नंगे रहने वाले और प्रायः साथ-साथ रहने वाले वे [सनक-सनन्दन आदि] चार [मुनि] हैं ।

उनकी भक्तिका [का उदाहरण जैसे]—

[समस्तगुणवर्जिते अर्थात्] निर्गुण-स्वरूप और [करणतः प्रतीचीनतां गते अर्थात्] इन्द्रियागोचर [किमपि वस्तुनि अर्थात्] किसी नगण्य वस्तु [अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार] में तब तक ही सुख प्रतीत होता था जब तक कि हे मुकुन्द नव-तमालके समान नील कान्तिवाले आपका यह अद्भुत तथा नितान्त सुखमय यह साक्षात्कार नहीं हुआ था ।

इसमें सनक सनन्दन आदि आत्माराम अर्थात् अवध्यानियोंकी कृष्णके प्रति रतिका प्रदर्शन कराया गया है । यह शान्तके आलम्बनका प्रथम भेद आत्मारामाका उदाहरण हुआ । अब आगे शान्तके वित्तीय आलम्बन-विभाव तापसका वर्णन करते हैं ।

अब तापस [का लक्षण करते हैं]—

भक्तिके द्वारा ही निर्विघ्न रूपसे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है इसलिए उचित रूपसे वैराग्यका धारण किये हुए और मुमुक्षत्व [मोक्षेच्छा] का परित्याग किए बिना भी जो [कृष्णकी] उपासना करते हैं वे 'तापस' [भक्त कहलाते] हैं ॥ ११ ॥

जैसे [तापस भक्तोंकी कृष्णभक्तिका उदाहरण]—

कब [मेरा वह सौभाग्य-दिवस होगा जबकि मैं गोवर्धन] पर्वतकी तलहटीमें किसी विशाल वृक्षके नीचे रहता हुआ, कौपीन धारण किये हुए और कन्द-मूल फलोंका आहार करके हृदयमें बार-बार कृष्ण नामक चिदानन्द ज्योतिका ध्यान करते हुए रात्रियोंको क्षणके समान व्यतीत कर लिया करूंगा । ६५८ ।

भक्तात्मारामकरुणाप्रपञ्चेनैव तापसाः ॥१२॥
शान्त्याख्यभावचन्द्रस्य हृदाकाशे कलां श्रिताः ।

अथोद्दीपनाः—

श्रुतिर्महोपनिषदां विविक्तस्थानसेवनम् ॥१३॥
अन्तर्वृत्तिविशेषोऽस्य स्फूर्त्तिस्तत्त्वविवेचनम् ।
विद्याशक्तिप्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम् ॥१४॥
ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्मसत्रादयस्तथा ।
एष्वसाधारणाः प्रोक्ता बुधैरुद्दीपना अमी ॥१५॥

तत्र महोपनिषच्छ्रुतिर्यथा—

अक्लेशाः कमलभुवः प्रविश्य गोष्ठीं
कुर्वन्तः श्रुतिशिरसां श्रुतिं श्रुतज्ञाः ।
उत्तुङ्गं यदुपुरसङ्गमाय रङ्गं
योगीन्द्राः पुलकभृतो नवाप्यवापुः ॥६६०॥

ब्रह्मध्यानी [आत्माराम] और तापस [दोनों प्रकारके] भक्त [भगवान्‌की] नाना प्रकारकी कृपयाके द्वारा ही अपने हृदय शान्ति-रूप भावात्मक चन्द्रकी कलाको प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

अब [शान्तभक्तिरसके] उद्दीपनविभाव [कहते हैं]—

१ महत्वशालिनी उपनिषदोंका श्रवण, २ एकान्त स्थानका सेवन, ३ अन्तर्मुखी वृत्ति विशेष, ४ इस [कृष्ण रूप] की स्फूर्ति, ५ तत्वका विवेचन, ६ विद्याकी प्रधानता, ७ शक्तिकी प्रधानता, ८ विश्वरूपका दर्शन, ९ ज्ञानी भक्तोंके साथसम्पर्क, और १० ब्रह्मसत्र आदि [अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्चा आदि] इनमें [अर्थात् आत्माराम ब्रह्मध्यानी तथा तापस भक्तों] में असाधारण रूपसे उद्दीपन विभाव विद्वानोंके द्वारा बतलाये गए हैं ॥ १३-१५ ॥

उनमेंसे महोपनिषद्‌के श्रवणका [का उदाहरण] जैसे—

[अविद्या निरमता-राग-द्वेष-अभिवेशा क्लेशा' इस योगसूत्रके अनुसार परिगणित अविद्या आदि रूप] क्लेशोंसे रहित, वेदोंके ज्ञाता, योगिराज ब्रह्मज्ञानियोंका सभामें जाकर महत्त्वपूर्ण उपनिषदोंका श्रवण करते हुए रोमांच-युक्त होकर [श्रृंगार या मधुरभक्तिकी दश-दशाओंमेंसे एक अत्युन्नत सर्वोपरि विद्यमान [यदुपुर अर्थात्] विष्णुलोककी प्राप्तिके लिए [श्रृंगाररस या मधुर भक्तिरसमें कही हुई दस दशाओंमेंसे मृत्युको छोड़ स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, विवर्णता, स्वरभंग वेपथु अश्रु आदि] नौओं दशाओंको प्राप्त हो गए ॥६६०॥

पिछली १३-१५ कारिकाओंमें केवल आत्माराम [अर्थात् ब्रह्मध्यानी] तथा तापस इन दो प्रकारके भक्तोंके असाधारण उद्दीपन विभावोंका वर्णन किया गया था। उनमेंसे तत्व-विवेचन, विद्याशक्तिप्रधानत्व तथा विश्वरूप प्रदर्शन ये तीन तापसभक्तोंसे सम्बन्ध रखनेवाले उद्दीपन विभाव हैं। शेष सात तापस तथा आत्माराम दोनों प्रकारके भक्तोंसे सम्बद्ध उद्दीपन विभाव हैं। 'विद्याशक्तिप्रधानत्व' पदमें विद्याशक्तिसे ईश्वरानका ग्रहण करना चाहिए

पादाब्जतुलसीगन्धः शङ्खनादो मुरद्विषः ।
पुण्यशैलः शुभारण्यं सिद्धक्षेत्रं स्वरापगा ॥१६॥
विषयादिक्षयिष्णुत्वं कालस्याखिलहारिता ।
इत्याद्युद्दीपनाः साधारणास्त्वेषां किलाश्रितैः ॥१७॥

तत्र पादाब्जतुलसीगन्धो यथा तृतीये—
तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रततुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ।
अथानुभावाः—

नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वमवधूतविचेष्टितम् ।
युगमात्रेक्षितगतिर्ज्ञानमुद्राप्रदर्शनम् ॥१८॥
हरेर्द्विष्यपि न द्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि ।
सिद्धतायास्तथा जीवन्मुक्तेश्च बहुमानिता ॥१९॥

ऐसा दुर्गमसंगमनीकारका अभिप्राय है । ब्रह्मसत्रका अर्थ 'अन्योन्यसमविद्यानामुपनिषद्विचारः' किया है ।

अब अगली १६-१७ दो कारिकाओंमें केवल आत्माराम तथा तापस भक्तोंके ही नहीं अपितु भक्तमात्रके साधारण उद्दीपन-विभावोंका वर्णन करते हैं ।

[पादाब्जतुलसीगन्धः अर्थात्] चरणामृतसे निकलता हुआ तुलसीका गन्ध कृष्णके [पूजनमें प्रयुक्त] शंखकी ध्वनि, पुण्य-पर्वत [गोवर्धन] पुण्यारण्य [वृन्दावन] सिद्धक्षेत्र देवनदी गंगा [या यमुना]

विषयादिकी क्षणभंगुरता, कालका सर्वसंहारकत्व, इत्यादि [आश्रितैः सह अर्थात्] दासोंके सहित इन [सब प्रकारके भक्तों] के साधारण उद्दीपन विभाव हैं ॥ १६-१७ ॥

इनमेंसे पादाब्जतुलसीगन्ध, शंखनाद तथा स्वरापगा ये तीनों आत्माराम तथा तापस दोनोंके उद्दीपन विभाव हैं । शेष तापसोंके और दासोंके साधारण उद्दीपन विभाव हैं ।

उनमेंसे चरणामृतके तुलसीगन्ध [का उदाहरण] जैसे तृतीय स्कन्धमें—

उन कमलनयन [कृष्ण] के चरण-कमलके किंजल्क [रेशे] से मिश्रित तुलसीके मकरन्दकी वायुके [स्वविवरेण अर्थात्] नासिका द्वारा भीतर पहुँचने पर [अक्षरजुषां अर्थात्] ब्रह्मका ध्यान करनेवालेके मन तथा शरीरमें क्षोभ उत्पन्न कर दिया ।

अब [शान्तभक्तिरसके] अनुभाव [कहते हैं]—

१ नाकके अग्रभाग पर नेत्र जमाये रहना, २ [अवधूतों अर्थात्] त्यागियोंके समान व्यापार करना, ३ [युगमात्रप्रेक्षितगतिः में युगका अर्थ हलका दण्ड 'युगं हलाद्यंग तत् चतुर्हस्त प्रमाणं लक्ष्यते अर्थात्] चार-पाँच हाथकी दूरी तक देखते हुए [अर्थात् नीची दृष्टि कारण बहुत दूर तक न देखते हुए] चलना, ज्ञानकी सी मुद्राका प्रदर्शन [तर्जनी तथा अंगुष्ठका मिलाना, ज्ञानमुद्रा मानी जाती है], ५ कृष्णके शत्रुओं [अर्थात् नास्तिकों] से भी द्वेष न करना, ६ और [कृष्णके] प्रियोंमें भी अधिक भक्तिका न रखना, ७ सिद्धता तथा

नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहंकारिता तथा ।
मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणाः क्रियाः ॥२०॥

तत्र नासाग्रनयनत्वं यथा—

नासिकाऽग्रदृगयं पुरो मुनिः स्पन्दवन्धुशिरा विराजते ।
चित्तकन्दरतटीमलाकुलामस्य नूनमवगाहते हरिः ॥६६२॥

जृम्भाऽङ्गमोटनं भक्तेरुपदेशो हरेर्नतिः ।
स्तवादयश्च दासाद्यैः शीताः साधारणा क्रियाः ।

तत्र जृम्भा यथा—

हृदयाम्बरे ध्रुवन्ते भावाम्बरमणिरुदेति योगीन्द्र ! ।
यदिदं वदनाम्भोजं जृम्भामवलम्बते भवतः ॥६६३॥

अथ सात्त्विकाः—

रोमाञ्चस्वेदकम्पाद्याः सात्त्विकाः प्रलयं विना ।

तत्र रोमाञ्चो यथा—

जीवन्मुक्तिके प्रति अधिक आदरका होगा, ८ उदासीनता, ९ किसीके प्रति ममताका न रखना, १० अहंकारका अभाव, ११ तथा मौन आदि शीत क्रियाएँ [शान्तभक्तिरसके] असाधारण विशेष अनुभाव हैं ॥ १८-२० ॥

उनमेंसे नासाग्रनयनत्व [का उदाहरण] जैसे—

ये मुनि नाकके अगले भागपर दृष्टि जमाए और निश्चल सिर किये हुए बैठे हैं [इससे प्रतीत होता है कि इनके] स्थिर चित्तकी कन्दरामें निश्चय ही कृष्ण विहार कर रहे हैं । ६६२ ।

१७-२० तीन कारिकाओंमें आत्माराम तथा तापस इन दोनों प्रकारके भक्तोंकी असाधारण अर्थात् विशेष रूपसे इन दो से ही सम्बन्ध रखनेवाली शीतक्रिया रूप अनुभावोंका वर्णन किया था । अगली २१वीं कारिकामें दासादि बुद्धि रखने वाले अन्य भक्तोंके साथ होने वाली साधारण शीतक्रिया रूप अनुभावोंका वर्णन करते हैं ।

१ जम्भाई आना, २ अँगड़ाई लेना, ३ भक्तिका उपदेश, ४ कृष्णको नमस्कार करना, और ५ [कृष्णकी] स्तुति आदि करना ये [आत्माराम तथा तापस भक्तोंकी] दासादिके साथ साधारण शीतक्रिया [शीतानुभाव] हैं ॥ २१ ॥

उनमेंसे जम्भाई [का उदाहरण] जैसे—

हे योगीन्द्र, तुम्हारे हृदयाकाशमें निश्चयही [कृष्णके प्रति रति रूप] भावका [अम्बर मणि अर्थात्] सूर्य उदय हो रहा है क्योंकि आपका यह मुखकमल जम्भाई ले रहा है ।६६३।

अब [शान्तभक्तिरसके अनुरूप] सात्त्विक [भावोंको कहते हैं]—

[प्रलय अर्थात्] मूर्च्छाको छोड़कर रोमांच, स्वेद, कम्प आदि [शान्तभक्तिरसके] सात्त्विकभाव होते हैं ।

उनमेंसे रोमांच [रूप सात्त्विकभावका उदाहरण] जैसे—

पाञ्चजन्यजनितो ध्वनिरन्तः क्षोभयन् सपदि विद्धसमाधिः ।
योगिनां गिरिगुहानिलयानां पुद्गले पुलकपालिमनैषीत् ॥६६४॥

एषां निरभिमानानां शरीरादिषु योगिनाम् ॥२२॥
सात्त्विकास्तु ज्वलन्त्येव न तु दीप्ता भवन्त्यमी ।

अथ सञ्चारिणः—

सञ्चारिणोऽत्र निर्वेदो धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः ॥२३॥
विषादोत्सुकताऽऽवेगवितर्काद्याः प्रकीर्त्तिताः ।

तत्र निर्वेदो यथा—

अस्मिन् सुखघनमूर्त्तौ परमात्मनि वृष्णिपत्तने स्फुरति ।
आत्मारामतया मे वृथा गतो बत चिरं कालः ॥६६५॥

अथ स्थायी—

अत्र शान्तिरतिः स्थायी समा सान्द्रा तु सा द्विधा ॥२४॥

तत्राद्या—

समाधौ योगिनस्तस्मिन्नसम्प्रज्ञातनामनि ।
लीलया मयि लब्धेऽस्य बभूवोत्कम्पिनी तनुः ॥६६६॥

पांचजन्य शंखसे उत्पन्न ध्वनिने पर्वत-कन्दराओंके भीतर रहनेवाले योगियोंके अन्तः-करणको क्षुब्ध कर तथा उनकी समाधिको भंग कर उनके शरीरमें [आनन्दसे उत्पन्न] रोमांच [रूप सात्त्विकभाव] को उत्पन्न कर दिया । ६६४ ।

शरीरादिमें अभिमान न रखनेवाले इन योगियोंमें सात्त्विकभाव तो प्रकट होते हैं किन्तु वे प्रदीप्त [उष्ण सात्त्विकभाव] नहीं होते हैं । [अपितु शीत सात्त्विकभाव होते हैं] ॥ २२ ॥

अब [शान्तभक्तिरसके] संचारिभाव [कहते हैं]—

इस [शान्तभक्तिरस] में निर्वेद, धृति, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, वितर्क आदि संचारिभाव माने जाते हैं ॥ २३ ॥

उनमेंसे निर्वेद [का उदाहरण] जैसे—

[वृष्णिपत्तने अर्थात्] द्वारिकामें परमानन्दस्वरूप इस [कृष्ण रूप] परमात्माके विद्यमान रहते [उनको छोड़कर व्यर्थ ही] ब्रह्मका ध्यान करनेके कारण मेरा बहुत-सा समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया । ६६५ ।

अब [शान्तभक्तिरसके] स्थायिभाव [को कहते हैं]—

इस [शान्तभक्तिरस] में 'शान्ति' स्थायिभाव होती है । और वह १ समा २ सान्द्रा दो प्रकारकी होती है ॥ २४ ॥

उनमेंसे पहली [अर्थात् समा शान्तिका उदाहरण जैसे]—

उस योगीको असम्प्रज्ञात समाधिमें अनायास मेरा दर्शन हो जानेपर उसका शरीर [आनन्दसे] कांपने लगा । [अर्थात् उसके भीतर कम्प-रूप सात्त्विकभावका उदय हो आया है] । ६६६ ।

सान्द्रा यथा—

सर्वाविद्याध्वंसतो यः समन्तादाविर्भूतो निर्विकल्पे समाधौ।
जाते साक्षाद्यादवेन्द्रे स विन्दन् मय्यानन्दः सान्द्रतां कोटिधाऽऽसीत् ॥६६७॥

शान्तो द्विधैष पारोक्ष्यसाक्षात्कारविभेदतः ।

तत्र पारोक्ष्यं यथा—

प्रयास्यति महत्तपः सफलतां किमष्टाङ्गिका-
मुनीश्वर ! पुरातनी परमयोगचर्य्याऽप्यसौ ।
नराकृतिवराम्बुदद्युतिधरं परं ब्रह्म मे
विलोचनचमत्कृतिं कथय किन्तु निर्मास्यति ॥६६८॥

यथा वा—

क्षेत्रे कुरोः किमपि सूर्यकरोपरागे सान्द्रं महः पथि विलोचनयोर्यदासीत् ।
तन्नीरदद्युतिजयि स्मरदुत्सुकं मे न प्रत्यगात्मनि मनो गमते पुरेव ॥६६९॥

साक्षात्कारो यथा—

परमात्मतयाऽतिमेदुराद् बत साक्षात्करणप्रमोदतः ।
भगवन्नधिकं प्रयोजनं कतरद् ब्रह्मविदोऽपि विद्यते ॥६७०॥

सान्द्रा [शान्ति रूप स्थायिभावका उदाहरण जैसे]—

सारी अविद्याका नाश हो जानेसे निर्विकल्पक समाधिमें जो [आनन्द] उत्पन्न हुआ था वह यादवेन्द्र [कृष्ण] का साक्षात्कार होनेपर [आनन्द] मेरे भीतर सान्द्रताको प्राप्त कर करोड़ों गुना हो गया । ६६७ ।

यह शान्तभक्तिरस १ परोक्षात्मक तथा २ साक्षात्कारात्मक होनेसे दो प्रकारका होता है ।

उनमेंसे परोक्ष [शान्तभक्तिरसका उदाहरण] जैसे—

हे मुनीश्वर यह बताइए कि क्या पुराना [अर्थात् बहुत दिन तक किया हुआ अथवा पूर्वजन्मका] अष्टांग योगका अभ्यास रूप महत्तप क्या सफलताको प्राप्त हो सकेगा । और क्या वह मनुष्यके रूपमें मेघ-कान्तिको धारण करनेवाले परब्रह्म [अर्थात् कृष्ण] को क्या मेरे नेत्रों को चमत्कृत करनेवाला बना सकेगा [अर्थात् क्या चिर-काल तक किया हुआ योगाभ्यास मुझे कृष्णका दर्शन कराके चमत्कृत कर सकेगा] । ६६८ ।

अथवा जैसे—

कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके अवसरपर जिस सघन ज्योति [कृष्ण] का दर्शन किया था, मेघकी कान्तिको भी पराजित करनेवाली उस ज्योतिको स्मरण होनेसे अब मेरा मन पहलेके समान ब्रह्मके ध्यानमें नहीं लगता है । ६६९ ।

साक्षात्कारात्मक [शान्तभक्तिरसका उदाहरण] जैसे—

हे भगवन् यह बतलाइए कि [परमात्मतया अर्थात्] ब्रह्मसे भी [अतिमेदुरात् अर्थात्] अत्यन्त उत्कृष्ट आपके साक्षात्कारके आनन्दसे अधिक ब्रह्मज्ञानीके लिए भी और अधिक क्या प्रयोजन हो सकता है । ६७० ।

यथा वा—

हृष्टः कम्बुपतिस्वनैर्भुवि लुठच्चीराञ्चलः सञ्चल-
न्मूर्धा रुद्धदृगश्रुभिः पुलकितो द्रागेप लीनव्रतः ।
अक्ष्णोरञ्जनमञ्जनत्विपि परब्रह्मन्यवाप्ते मुदा
मुद्राभिः प्रकटीकरोत्यवमतिं योगी स्वरूपस्थितौ ॥६७१॥

भवेत्कदा चित्कुत्रापि नन्दसूनोः कृपाभरः ॥२५॥
प्रथमं ज्ञाननिष्ठोऽपि सोऽत्रैव रतिमुद्वहेत् ।

यथा विल्वमङ्गलस्तवे—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥३७२॥

तत्कारुण्यश्लथीभूतज्ञानसंस्कारसन्ततिः ॥२६॥

एष भक्तिरसानन्दनिपुणः स्याद्यथा शुकः ।
शमस्य निर्विकारत्वान्नाट्यज्ञैर्नैष मन्यते ॥२७॥

अथवा जैसे—

अंजनके समान श्याम कान्तिवाले परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाने पर [अम्बुपतिस्वनैः अर्थात् कृष्णके] शंखकी ध्वनिको सुनकर प्रसन्न हुआ योगी [ब्रह्मचिन्तनके] व्रतको छोड़कर आनन्दसे हृष्ट परिपूर्ण, जिसका वस्त्र नीचे गिरा जा रहा है, सिर काँप रहा है, आँखोंसे आँसू बह रहे हैं और तुरन्त ही रोमांचित होकर [अर्थात् अनेक सात्त्विकभावोंसे युक्त होकर] चेष्टाओं द्वारा [योगमार्ग द्वारा प्राप्त] स्वरूप-स्थितिमें तिरस्कारको सूचित कर रहा है । ६७१ ।

कभी-कभी किसीके ऊपर जब कृष्णकी अत्यधिक कृपा हो जाती है तो पहले ज्ञानमार्ग में लगा हुआ भी [साधक कृष्णकी कृपाको प्राप्त करके] इसी [कृष्णभक्ति] में आनन्दका अनुभव करने लगता है ॥ २५ ॥

जैसे बिल्वमंगलमें—

अद्वैतमार्गके अनुयायियोंके द्वारा [उपास्याः अर्थात्] अत्यन्त आदरणीय माने जाने वाले और आत्मसाक्षात्कारके आनन्दके शिखरपर आसीन हमको भी गोपवधुओंके जार किसी दुष्टने जबरदस्ती अपना दास बना लिया है । ६७२ ।

उन [कृष्ण] की कृपासे ज्ञान-संस्कारोंके शिथिल हो जानेसे यह [भक्त] शुकके समान भक्तिरसके आनन्द में निमग्न हो जाता है ॥ २६ ॥

शान्तके निर्विकार होनेसे [अर्थात् शान्तरसकी स्थितिमें किसी प्रकार व्यापारादिके सम्भव न होनेसे उसका अभिनय भी न हो सकनेके कारण धनंजय आदि] नाट्याचार्य इस [शान्तरस] को नहीं मानते हैं । किन्तु यहाँ [अर्थात् भक्ति सिद्धान्तमें] शान्ति नामसे रति [का एक भेदको] कोई विरोध नहीं होता है ॥ २७ ॥

शान्त्याख्याया रतेरत्र स्वीकारान्न विरुध्यते ।
शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति श्रीभगवद्वचः ।।२८।।
तन्निष्ठा दुर्घटा बुद्धेरेतां शान्तिरतिं विना ।

केवलशान्तोऽपि श्रीविष्णुधर्मोत्तरे यथा—

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः ।।२९।।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ।
सर्वथैवमहङ्कारहितत्वं व्रजन्ति चेत् ।।३०।।
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति धर्मवीरादयस्तदा ।
धृतिस्थायिनमेके तु निर्वेदस्थायिनं परे ।।३१।।
शान्तमेव रसम्पूर्वे प्रोचुरेकमनेकधा ।
निर्वेदो विषये स्थायी तत्त्वज्ञानोद्भवः स चेत् ।।३२।।
इष्टानिष्टयोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्य्यसौ ।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
पञ्चकनिरूपणे शान्तभक्तिरसलहरी ।। १ ।।

इस विषयमें अर्थात् शान्तरसके माननेके विषयमें प्रमाण भी दिखलाते हैं—

'भगवन्निष्ठता-बुद्धि' का नाम शम है ऐसा भगवान्‌ने कहा है । इस शान्तिरतिके बिना बुद्धि तन्निष्ठ [अर्थात् भगवन्निमग्न] हो ही नहीं सकती है [इसलिए शान्तरतिका मानना आवश्यक है] ।। २८ ।।

[शान्तरसकी सिद्धिके लिए दूसरा प्रमाण भी देते हैं कि] विष्णुधर्मोत्तरमें केवल शान्तरसका भी वर्णन [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

जहां न सुख है न दु:ख, न द्वेष है और न मत्सर है और सब प्राणियोंके प्रति सम-बुद्धि होती है वह शान्तरस कहलाता है ।। २९ ।।

धर्मवीरादि रस यदि सर्वथा अहंकार-शून्य हों तो उनका भी अन्तर्भाव इस [शान्त-रस] में ही हो जाता है ।। ३० ।।

पूर्वाचार्योंमें किसीने धृतिको स्थायिभाव मानकर और किसीने निर्वेदको स्थायिभाव मानकर एक ही शान्तरसको अनेक प्रकारसे कहा है ।। ३१ ।।

विषयोंके प्रति निर्वेद [अर्थात् वैराग्य] यदि वह तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न हो तो वह [शान्त-रसका] स्थायिभाव होता है । और यदि इष्टकी अप्राप्ति तथा अनिष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न हुआ हो तो वह [निर्वेद या वैराग्य स्थायिभाव न होकर] व्यभिचारिभाव होता है ।। ३२ ।।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के पांच प्रकारके मुख्य भक्तिरसका
निरूपण करने वाले पश्चिमविभागमें
शान्तभक्तिलहरी समाप्त हुई ।

अथ द्वितीया प्रीतिभक्तिरस लहरी

श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः ।
रङ्गप्रसङ्गे सप्रेमभक्तिकाख्यः प्रकीर्त्तितः ॥१॥
रतिस्थायितया नामकौमुदीकृद्भिरप्यसौ ।
शान्तत्वेनायमेवाद्धा सुदेवाद्यैश्च वर्णितः ॥२॥
आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम् ।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतभक्तिरसो मतः ॥३॥
अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा ।
भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि ॥४॥

तत्र सम्भ्रमप्रीतिः

दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिः सम्भ्रमोत्तरा ।
पूर्ववत् पुष्यमाणोऽयं सम्भ्रमप्रीत उच्यते ॥५॥

तत्रालम्बनाः—

हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह ।

तत्र हरिः—

अथ द्वितीया प्रीतिभक्तिरस लहरी

प्रीतिभक्तिरस का लक्षण—

श्रीधरस्वामीने रसके प्रसंगमें इसीको स्पष्ट रूपसे सप्रेमभक्ति नामक रसराज कहा है। और "नामकौमुदी" के निर्माता सुदेवादिने इसीको रति-स्थायिभाववाला शान्तरस कहा है ॥२॥

अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तोंके हृदयमें आस्वादन योग्यताको प्राप्त हुई प्रीति ही 'प्रीतिभक्तिरस' कहलाती है ॥३॥

[अनुग्राह्य अर्थात्] भक्तके दस रूप अथवा लालन करने योग्य होनेके कारण यह [प्रीतिभक्तिरस] भी दो प्रकारका होता है। और सम्भ्रमप्रीति [भयमिश्रित-प्रीति] तथा गौरवप्रीति [गौरवमिश्रित प्रीति] भेद से भी यह दो प्रकारका होता है ॥४॥

उनमेंसे सम्भ्रमप्रीति [का लक्षण जैसे]—

अपनेको दास मानने वालों [दासाभिमानी भक्तों] कृष्णके विषयमें सम्भ्रमोत्तरा [भयमिश्रित] प्रीति होती है। यह [विभावादिके द्वारा] पूर्ववत् पुष्ट होनेपर सम्भ्रमप्रीतिरस कहलाता है ॥५॥

उसके आलम्बन [विभाव कहते हैं]—

इस [प्रीतिभक्तिरस] में १ कृष्ण तथा २ उनके दास [ये दो] आलम्बन-विभाव होते हैं।

उनमेंसे कृष्ण [रूप आलम्बन-विभावके भी दो रूप होते हैं]—

आलम्बनोऽस्मिन् द्विभुजः कृष्णो गोकुलवासिषु ॥६॥
अन्यत्र द्विभुजः क्वापि कुत्राप्येष चतुर्भुजः ।

तत्र व्रजे यथा—

नवाम्बुधरबन्धुरः करयुगेन वक्त्राम्बुजे-
निधाय मुरलीं स्फुरन् पुरटनिन्दिपट्टाम्बरः ।
शिखण्डकृतशेखरः शिखरिणस्तटे पर्य्यटन्
प्रभुर्दिवि दिवौकसो भुवि धिनोति नः किङ्करान् ॥६७३॥

अन्यत्र द्विभुजो यथा—

प्रभुरयमनिशं पिशङ्गवासाः करयुगभागसिकम्बुरम्बुदाभः ।
नवघन इव चञ्चलापिनद्धो रविशशिमण्डलमण्डितश्चकास्ति ॥६७४॥

चतुर्भुजो यथा ललितमाधवे—

चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयः कौमोदकीचक्रयोः
सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यश्चतुर्भिर्भुजैः ।
दिव्यालङ्करणेन सङ्कटतनुः सङ्गी विहङ्गेशितु-
र्मां व्यस्मारयदेप कंसविजयी वैकुण्ठगोष्ठीश्रियम् ॥६७५॥

ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूपः कृपाऽम्बुधिः ॥७॥
अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः ।
अवतारावलीबीजं सदात्मारामहृद्गुणः ॥८॥

गोकुलवासियोंके लिए दो भुजावाले कृष्ण आलम्बन-विभाव होते हैं । और अन्यत्र [अर्थात् गोकुलवासियोंको छोड़कर अन्य लोगोंके प्रति] कहीं द्विभुज रूप और कहीं चतुर्भुज रूप [कृष्ण आलम्बन-विभाव होते हैं ॥६॥

उनमेंसे व्रजमें [अर्थात् गोकुलमें द्विभुज कृष्ण रूप आलम्बनका उदाहरण] जैसे—

नवीन मेघके समान सुन्दर, सुवर्णको भी लज्जित करनेवाले पीताम्बरको धारण किये हुए, तथा मोरमुकुटधारी अपने दोनों हाथोंसे मुरलीको मुखमें लगाकर पर्वतके किनारे घूमते सुन्दर प्रभु स्वर्गमें देवोंको और यहाँ पृथिवीपर हम सेवकोंको आह्लादित करते हैं ॥६७३॥

गोकुलसे अन्यत्र द्विभुज [आलम्बन-विभावका उदाहरण] जैसे—

पीले वस्त्रवाला हाथों में तलवार तथा शंख लिये हुए मेघके समान कान्तियुक्त यह प्रभु बिजलीसे युक्त एवं सूर्य-चन्द्रमण्डलयुक्त नवीन मेघके समान सुशोभित हो रहा है।६७४।

देदीप्यमान कौस्तुभमणि की चाँदनी से युक्त कौमोदकी (गदा), चक्र तथा कमलोंकी मित्रता से उज्वलित चार हाथों से युक्त दिव्य आभूषणों से भूषित शरीरवाले, पक्षिराज गरुडके संगी कंसविजयी इस कृष्ण ने वैकुण्ठगोष्ठीकी शोभा को मुझे भुला दिया।६७५।

ब्रह्माण्डके करोड़ों लोक जिसके एक रोमकूपमें आ जाते हैं इस प्रकारके, कृपासागर, अचिन्त्य महाशक्तिसे युक्त, [अणिमा महिमा आदि] समस्त सिद्धियोंसे सेवित, अनेक अवतारों के बीजभूत, सदा आत्मामें रमण करनेवालोंके हृदयका अलंकृत करनेवाला,

[ईश्वर अर्थात्] सर्वशक्तिमान्, परमाराध्य, सर्वज्ञ, सुदृढ़ व्रत वाले, समृद्धिमान्, क्षमा-

ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुदृढ़व्रतः ।
समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः ॥९॥
दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभङ्करः ।
प्रतापी धार्मिकः शास्त्रचक्षुर्भक्तसुहृत्तमः ॥१०॥
वदान्यस्तेजसा युक्तः कृतज्ञः कीर्त्तिसंश्रयः ।
वरीयान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिर्गुणैः ॥११॥
युतश्चतुर्विधेष्वेष दासेष्वालम्बनो हरि ।

अथ दासाः—

दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः ॥१२॥
विश्वस्ताः प्रभुताज्ञानविनम्रितधियश्च ते ।

यथा—

प्रभुरयमखिलैर्गुणैर्गरीयानिह तुलनामपरः प्रयाति नास्य ।
इति परिणतनिर्णयेन नम्रान् हितचरितान् हरिसेवकान् भजध्वम् ॥६७८॥

चतुर्द्धाऽमी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः ॥१३॥

तत्राधिकृताः—

ब्रह्मशङ्करशक्राद्याः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः ।
रूपं प्रसिद्धमेवैषां तेन भक्तिरुदीर्य्यते ॥१४॥

शील, शरणागतरक्षक,

दक्षिण [अर्थात् सब भक्तों पर समभाव रखनेवाले] सत्यभाषी, चतुर, सबके कल्याणकारी, प्रतापी, धार्मिक, शास्त्र ही जिनके नेत्र-स्वरूप हैं इस प्रकारके और भक्तोंके परम मित्र;

दानशील, तेजस्वी, कृतज्ञ, कीर्तिशाली, श्रेष्ठ, बलवान्, प्रेमसे वशीभूत होनेवाले, इत्यादि गुणोंसे युक्त कृष्ण [आगे कहे जानेवाले] चारों प्रकारके दासमें [दासोंके भी प्रीतिभक्तिरसमें] आलम्बन-विभाव होते हैं ॥७-११॥

अब दासों [के लक्षण] को कहते हैं—

उन [कृष्ण] के आश्रित, आज्ञाकारी, विश्वस्त और [कृष्णकी] प्रभुताके ज्ञानके कारण विनम्रबुद्धिवाले होते हैं ॥१२॥

जैसे—

यह प्रभु सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त होनेके कारण महान् हैं। इनकी बराबरी कोई दूसरा नहीं कर सकता है। इस प्रकारके परिपक्व निश्चय करनेवाले विनम्र तथा हिताचरण करने वाले कृष्णके सेवकोंका सेवन करो।

ये सेवक अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुगामी चार प्रकारके होते हैं ॥१३॥

उनमेंसे अधिकृत [सेवकोंका लक्षण]—

ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदिको विद्वान् लोग [कृष्णका] अधिकृत सेवक कहते हैं। इनका स्वरूप प्रसिद्ध ही है [इसलिए उसको न कहकर केवल] भक्तिका कथन कहते हैं ॥१४॥

यथा—

का पर्य्येत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ-
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन् कः क्षितौ वासवोऽयम्।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं-
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत् ।।६७६।।

ते शरण्या ज्ञानिचराः सेवानिष्ठास्त्रिधा श्रिताः ।

यथा—

के चिद्भीताः शरणमभितः संश्रयन्ते भवन्तं-
विज्ञातार्थास्त्वदनुभवतः प्रास्य के चिन्मुमुक्षाम्।
श्रावं श्रावं तव नवनवां माधुरीं साधुवृन्दाद्
वृन्दाऽरण्योत्सव ! किल वयं देव ! सेवेमहि त्वाम् ।।६८०।।

तत्र शरण्याः—

शरण्याः कालियजरासन्धबद्धनृपादयः ।।१५।।

यथा—

अपि गहनागसि नागे प्रभुवर ! मय्यद्भुताऽद्य ते करुणा ।
भक्तैरपि दुर्ल्लभया यदहं पदमुद्रयोज्ज्वलितः ।।६८१।।

जैसे—

यह कौन [कृष्णकी] प्रदक्षिणा कर रही है, [यह प्रश्न है। इसका उत्तर करते हैं] यह पार्वती हैं। कृष्णको देखकर यह कौन काँप रहा है [इस प्रश्नका उत्तर देते हैं] यह शिव है। यह कौन उनकी स्तुति कर रहा है [इसका उत्तर देते हैं कि] यह ब्रह्मा है। यह पृथिवी पर लोटता हुआ कौन [कृष्णको साष्टांग] प्रणाम कर रहा है [इसका उत्तर देते हैं कि] यह इन्द्र है। यह [कृष्ण या विष्णुके भयके कारण] स्तब्ध हुआ कौन कृष्णके अनुजोंके द्वारा उपहासका पात्र बन रहा है [इसका उत्तर करते हैं] यह मेरे पूर्वज [सूर्य] है। इस प्रकार कालिन्दी [यमुना] ने जाम्बवतीको [जालरन्ध्रात् अर्थात् गवाक्ष] से देवताओंका परिचय कराया।

वे [आश्रित भक्त] १ शरणागत, २ पुराने ज्ञानमार्गी तथा ३ सेवानिष्ठ तीन प्रकार के होते हैं ।।

जैसे—

कोई लोग भयभीत होनेपर पूर्णतया आपकी शरणकी प्रार्थना करते हैं। [वे शरण्य भक्त कहलाते हैं]। और कोई तत्त्वज्ञानी [अर्थात् ज्ञानमार्गके अनुयायी] आपको देखकर मोक्षेच्छाका परित्याग करके आपके पास आते हैं [वे ज्ञानिचर आश्रित भक्त कहलाते हैं] किन्तु हे वृन्दावनके उत्सव रूप, हे देव हम तो साधु-जनोंसे आपकी माधुरीका बार-बार श्रवण कर आपकी सेवा करते हैं।

इनमेंसे 'शरण्य' [आश्रितोंका वर्णन]—

कालिय-नाग और जरासन्धके द्वारा बद्ध किये गए राजा आपद 'शरण्य' हैं ।।१५।।

जैसे—

हे नाथ महान् अपराध करनेवाले और [तिर्यक् योनिके] मुझ नागके ऊपर भी आज

यथा वाऽपराधभञ्जने—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
जाता तेषां मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः ।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते ! साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये ॥६८२॥

अथ ज्ञानिचराः—

ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः ।
शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः ॥१६॥

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

अहो महात्मन् ! बहुदोषदुष्टोऽप्येकेन भात्येष भवो गुणेन ।
सत्सङ्गमाख्येन सुखावहेन कृताऽद्य नो येन कृशा मुमुक्षा ॥६८३॥

यथा वा पद्यावल्यां—

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं-
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्रमात्मा ।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो-
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा ॥६८४॥

अथ सेवानिष्ठाः—

मूलतो भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः ।
चन्द्रध्वजो हरिहयो बहुलाश्वस्तथा नृपः ॥१७॥

आपने अद्भुत कृपा की है कि जो भक्तोंके लिए भी दुर्लभ पदमुद्रासे मुझको अलंकृत किया है ।

अथवा जैसे अपराधभंजनमें—

काम आदि [अन्य देवताओं] के कितने आदेश कितने प्रकारोंसे पालन नहीं किए [अर्थात् अन्य देवताओंकी अनेक प्रकारकी आज्ञाओंका नाना प्रकारसे पालन करता रहा] किन्तु उनको मेरे ऊपर कभी दया नहीं आई, न [मुझे उनकी व्यर्थकी आज्ञाओंके पालनमें] लज्जा आई [अर्थात् मैं भी निर्लज्जोंकी तरह सदा उनकी आज्ञा पालनमें ही लगा रहा किन्तु] शान्ति प्राप्त नहीं हुई । किन्तु हे यदुपत्, अब मुझे समझ आई है इसलिए अब मैं उन सबको छोड़कर अभय प्रदान करनेवाले आपकी शरणमें आया हूँ । इसलिए मुझे अपनी सेवामें नियुक्त कीजिए ।

अब पूर्वकालीन ज्ञानमार्गी [आश्रित भक्तोंको कहते हैं]—

जो मोक्षेच्छाको छोड़कर कृष्णके ही आश्रयमें आ जाते हैं वे शौनक आदि को विद्वानों में 'ज्ञानिचर' [आश्रित भक्त] कहा है ।

जैसे हरिभक्तिसुधोदयमें—

हे महात्मन् अनेक दोषोंसे युक्त होनेपर भी सुख प्रदान करनेवाले सत्संग नामक केवल एक गुणसे ही यह संसार अच्छा लगता है जिसने आज हमारी मोक्षेच्छाको भी दुर्लभ बना दिया । [अर्थात् भक्तजनोंके सत्संगके सामने मोक्षकी इच्छा भी फीकी हो जाती है]।

अब सेवानिष्ठ [आश्रित भक्तोंको कहते हैं]—

जो आरम्भसे ही भक्तिमें लगे हुए हैं वे 'सेवानिष्ठ' [आश्रित भक्त कहलाते] हैं ।

इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुण्डरीकादयश्च ते।

यथा—

आत्मारामानपि गमयति त्वद्गुणो गानगोष्ठीं-
शून्योद्याने नयति विहगानप्यलं भिक्षुचर्य्याम्।
इत्युत्कर्षं कमपि सचमत्कारमाकर्ण्य चित्रं-
सेवायां ते स्फुटमघहर! श्रद्धया गर्द्धितोऽस्मि ॥६८५॥

अथ पारिषदाः—

उद्धवो दारुको जैत्रः श्रुतदेवश्च शत्रुजित् ॥१८॥
नन्दोपनन्दभद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने।
नियुक्ता सन्त्यमी मन्त्रसारथ्यादिषु कर्मसु ॥१९॥
तथाऽपि क्वाप्यवसरे परिचर्य्यां च कुर्वते।
कौरवेषु तथा भीष्मपरीक्षिद्‌बिदुरादयः ॥२०॥

तेषां रूपं यथा—

चन्द्रध्वज, हरिहय तथा बहुलाश्वादि तथा इक्ष्वाकु-राजा श्रुतदेव एवं पुण्डरीक आदि वे [उस प्रकारके सेवानिष्ठ आश्रित भक्त] हैं ॥१७॥

जैसे—

हे अघनाशन आपके गुण आत्मामें रमण करनेवाले [ज्ञानियोंका] को भी [हठात् खींचकर आपकी] कीर्तन-गोष्ठियोंमें ले जाता है और [फलादिसे] शून्य उद्यानमें भी [यदि वहाँ कृष्णका कीर्तन हो रहा हो तो] पक्षियोंको भी [आपके गुणोंके श्रवणकी इच्छासे] भिक्षुक बा [कर भेज] देते हैं [आपके गुण यह कर्तृ पद है।] आपके इस प्रकारके अपूर्व उत्कर्ष को आश्चर्यके साथ देखकर हे अघहर, मैं श्रद्धा-पूर्वक आपकी सेवाके लिए उत्सुक हो उठा हूँ।

इसी लहरीकी १३वीं कारिकामें १ अधिकृत, २ आश्रित, ३ पारिषद और ४ अनुग चार प्रकारके दास भक्तोंको उल्लेख किया था। उनमेंसे अधिकृत तथा आश्रित दो प्रकारके दासोंका वर्णन हो गया। अब आगे पारिषद रूप तृतीय प्रकारके दास भक्तोंका वर्णन करते हैं।

अब पारिषदोंको कहते हैं—

१ उद्धव, २ दारुक, ३ जैत्र, ४ श्रुतदेव, ५ शत्रुजित, ६ नन्द, ७ उपनन्द तथा ८ भद्र आदि [यदेपत्तन अर्थात्] द्वारिकामें [कृष्णके] पारिषद हैं ॥१८॥

ये यद्यपि [सामान्यतया कृष्णके] परामर्शदाता तथा सारथि आदिके कामोंपर नियुक्त हैं किन्तु कभी-कभी अवसर पड़नेपर सेवा भी करते हैं [इसलिए पारिषद दास कोटिमें भी गिने जाते हैं ॥१९॥

और कौरवोंमें भीष्म, परीक्षित, विदुर आदि [कृष्णके पारिषद कहलाते हैं ॥२०॥

उनका रूप, जैसे—

सरसाः सरसीरुहाक्षवेषास्त्रिदिवेशावलिजैत्रकान्तिलेशाः ।
यदुवीरसभासदः सदाऽमी प्रचुरालङ्करणोज्ज्वला जयन्ति ॥६८६॥

भक्तिर्यथा—

शंसन् धूर्जटिनिर्जयादिविरुदं वाष्पावरुद्धान्तरं-
शङ्कापङ्कलवं मदादगणयन् कालाग्निरुद्रादपि ।
त्वय्येवार्पितबुद्धिरुद्धवमुखस्त्वत्पार्षदानां गणो-
द्वारि द्वारवतीपुरस्य पुरतः सेवोत्सुकस्तिष्ठति ॥६८७॥

एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमविक्लवः ।

तस्य रूपं यथा—

कालिन्दीमधुरत्विषं मधुपतेर्माल्येन निर्माल्यतां-
लब्धेनाञ्चितमम्बरेण च लसद्गोरोचकारोचिषा ।
द्वन्द्वेनार्गलसुन्दरेण भुजयोः भ्राजिष्णुमब्जेक्षणं-
मुख्यं पारिषदेषु भक्तिलहरीरुद्धं भजाम्युद्धवम् ॥६८८॥

भक्तिर्यथा—

मूर्द्धन्याहुकशासनं प्रणयते ब्रह्मेशयोः शासिता
सिन्धुं प्रार्थयते भुवं तनुतरां ब्रह्माण्डकोटीश्वरः ।
मन्त्रं पृच्छति मामपेशलधियं विज्ञानवारां निधि-
र्विक्रीडत्यसकृद्विचित्रचरितः सोऽयं प्रभुर्मादृशाम् ॥६८६॥

सरस-हृदयवाले कमलनेत्र कृष्णके समान वेष धारण करनेवाले, देव सभाको भी जीत लेनेवाले कान्तिलेशसे युक्त ये यदुवीर [कृष्ण] की सभाके सभासद सदैव प्रचुर अलंकारों से शोभायमान होकर सर्वोत्कर्षशाली होते हैं ।

[उनकी] भक्ति [का उदाहरण] जैसे—

केवल आपमें ही अपनी बुद्धि-मनको लगाये हुए उद्धव आदि पारिषदोंका समुदाय [आपके] शिव-विजय आदिके चरित्रका वर्णन करते हुए [आनन्दातिरेकके सूचक] आँसुओंसे परिपूर्ण नेत्रोंवाला और [आपके भक्त होनेके बलपर] अभिमानवश कालाग्नि [कहलानेवाले अत्यन्त भयानक] रुद्रसे तनिक भी भयभीत न होता हुआ द्वारिका नगरीके द्वारपर आपकी सेवाके लिए उत्सुक खड़ा हुआ है ।

इन [सारे पारिषदों] मेंसे प्रेम-विभोर श्रीमान् उद्धव सबसे अग्रगण्य हैं । उनका रूप जैसे—

कालिन्दीके समान मधुर कान्तिवाले [निर्माल्यतां लब्धेन मधुपतेर्माल्येन अर्थात्] कृष्णके ऊपरसे उतारी हुई [बासी] कृष्णकी मालाको पहने हुए, गोरोचनाके समान कान्ति-वाले पीताम्बरको धारण किये हुए, अर्गलाके समान [लम्बे और स्थूल] दोनों भुजाओंसे सुशोभित कमलके समान नेत्रोंवाले तथा [कृष्णके सारे] पारिषदोंमें सर्वप्रमुख प्रेमकी तरंगोंसे परिपूर्ण उद्धवका मैं ध्यान करता हूँ ।

[उन पारिषदोंकी] भक्ति [का उदाहरण] जैसे—

जो स्वयं ब्रह्मा तथा शिवके भी शासक हैं वे [अपने सेवा] आहुककी आज्ञाको भी

अथानुगाः—

सर्वदा परिचर्य्यासु प्रभोरासक्तचेतसः ॥२१॥
पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्चेत्युदिता अनुगा द्विधा ।

तत्र पुरस्थाः—

सुचन्द्रो मण्डनः स्तम्बः सुतम्बाद्याः पुरानुगाः ॥२२॥
एषां पार्षदवत्प्रायो रूपालंकरणादयः ।

सेवा यथा—

उपरिकनकदण्डं मण्डनो विस्तृणीते
धुवति किल सुचन्द्रश्चामरं चन्द्रचारुम् ।
उपहरति सुतम्बः सुष्ठु ताम्बूलबीटीं-
विदधति परिचर्य्यां साधवो माधवस्य ॥६६०॥

अथ व्रजस्थाः—

रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः ॥२३॥
रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः ।
आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो बकुलस्तथा ॥२४॥
रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मता ।

शिरोधार्य कर रहे हैं । करोड़ों ब्रह्माण्डोंके स्वामी होकर भी समुद्रसे तनिक-सी भूमि माँगते हैं और मुझ जैसे साधारण बुद्धिवालेसे भी सलाह लेते हैं । इस प्रकारके विचित्र चरित्रवाले मुझ जैसोंके प्रभु यह नाना प्रकारका खेल ही करते हैं ।

अब [१३वीं कारिकामें कहे हुए चार प्रकारके दासोंमेंसे चौथे] अनुचरोंको कहते हैं—

जो सदैव प्रभुकी सेवामें मन लगाये रहते हैं वे अनुचर कहलाते हैं । और वे १ पुरस्थ [अर्थात् राजधानीमें रहनेवाले] तथा २ ब्रजमें रहनेवाले दो प्रकारके [अनुचर] हैं ॥२१॥

उनमेंसे पुरस्थ [राजधानीमें रहनेवाले अनुचरोंको बतलाते हैं]—

१ सुचन्द्र, २ मण्डन, ३ स्तम्ब, ४ सुतम्ब आदि पुरस्थ अनुचर हैं । इनके रूप तथा अलंकारादि प्रायः पारिषदोंके समान होते हैं ॥२२॥

[उनकी] सेवा [का उदाहरण] जैसे—

मण्डन [नामक अनुचर कृष्णके ऊपर अर्थात्] पासमें सोनेका राजदण्ड लिए [खड़ा] सुचन्द्र [नामक दूसरा अनुचर] चन्द्रमाके समान [धवलवर्ण] चमरको हिला रहा है । सुतम्ब [नामका तीसरा अनुचर] सुन्दरताके साथ पानका बीड़ा देता है । इस प्रकार ये सब उत्तम सेवक कृष्णकी [नाना प्रकारकी] सेवा कर रहे हैं ।

अब व्रजस्थ [अनुचरोंको कहते हैं]—

१ रक्तक, २ पत्रक, ३ पत्री, ४ मधुकण्ठ, ५ मधुव्रत, ६ रसाल, ७ सुविलास, ८ प्रेमकन्द, ९ मरन्दक, १० आनन्द, ११ चन्द्रहास, १२ पयोद, १३ बकुल, १४ रसद तथा १५ शारद आदि व्रजस्थ अनुचर कहलाते हैं ॥२३-२४॥

एषां रूपं यथा—

मणिमयवरमण्डनोज्ज्वलाङ्गान् पुरटजवामधुलिट्पटीरभासः ।
निजवपुरनुरूपदिव्यवस्त्रान् व्रजपतिनन्दनकिङ्करान्नमामि ॥६६१॥

सेवा यथा—

द्रुतं कुरु परिष्कृतं बकुल ! पीतपट्टांशुकं-
वरैरगुरुभिर्जलं रचय वासितं वारिद ! ।
रसाल ! परिकल्पयोरगलतादलैर्वीटिकाः
परागपटली गवां दिशमरुन्ध पौरन्दरीम् ॥६६२॥

व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः ॥२५॥

अस्य रूपं यथा—

रम्यपिङ्गपटमङ्गरोचिषा खर्वितोरुशतपर्विकारुचिम् ।
सुष्ठु गोष्ठयुवराजसेविनं रक्तकण्ठमनुयामि रक्तकम् ॥६६३॥

भक्तिर्यथा—

गिरिवरभृति भर्तृदारकेऽस्मिन् व्रजयुवराजतया गते प्रसिद्धिम् ।
शृणु रसद ! सदा पदाभिसेवापटिमरता रतिरुत्तमा ममास्तु ॥६६४॥

धुर्य्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा पारिषदादिकः ।

उनका रूप जैसे—

मणिमय सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत शरीरवाले [इसलिए पुरट अर्थात्] सुवर्ण, गुड़हल तथा भ्रमर तथा चन्दनके समान [पीली, लाल, काली तथा सफ़ेद रंगकी मणियोंकी] कान्तिसे युक्त तथा अपने-अपने शरीरके अनुरूप दिव्य वस्त्रोंको धारण किए हुए व्रजपति-नन्दन [कृष्ण] के सेवकोंको मैं नमस्कार करता हूँ ।

पावक [उनकी] सेवा [का उदाहरण] जैसे—

हे बकुल पीले पट-वस्त्रको जल्दी परिष्कृत करो । ठीक करो । हे वारिद तुम [नहाने के लिए] शीघ्र ही उत्तम अगरसे जलको सुवासित करो । हे रसाल, तुम पानके बीड़े तैयार करो । हे पराग, तुम गौओंके समूहको पूर्व दिशाकी ओर राको या ले चलो ।

व्रजस्थ अनुचरोंमें रक्तक [नामका अनुचर] सबसे मुख्य माना जाता है ॥२५॥

इसका रूप [बतलाते हैं]—

सुन्दर पीताम्बरधारी, अपनी अंगोंकी [श्यामल] कान्तिसे [शतपर्विका अर्थात्] दूर्वा-दलकी कान्तिको लज्जित करनेवाले, रागविद्यामें निपुण कण्ठसे युक्त तथा गोकुलके युवराज [श्रीकृष्ण] की भली प्रकारसे सेवा करनेवाले रक्तक [नामक प्रधान अनुचर] का मैं अनुगमन करता हूँ ।

उनकी भक्ति [का उदाहरण] जैसे—

हे रसद सुनो [मैं यह चाहता हूँ कि] गिरिराजको उठानेवाले और व्रजके युवराजके रूपमें प्रसिद्ध इन स्वामिपुत्रकी चरणोंकी सेवामें प्रवण उत्तम भक्ति मुझको प्राप्त हो ।

[पारिषद जिनके आदिमें हैं वे पारिषादादि अर्थात्] पारिषद तथा अनुग [ये दो दास भेद] १ धुर्य, २ धीर तथा ३ वीर भेदसे [फिर] तीन प्रकारके होते हैं ।

तत्र धुर्य्यः—

कृष्णेऽस्य प्रेयसीवर्गे दासादौ च यथायथम् ।।२६।।
यः प्रीतिं तनुते रक्तः स धुर्य्य इति कीर्त्त्यते ।

यथा—

देवः सेव्यतया यथा स्फुरति मे देव्यस्तथाऽस्य प्रियाः
सर्वः प्राणसमानतां प्रचिनुते तद्भक्तिभाजां गणः ।
स्मृत्वा साहसिकं बिभेमि तदहं भक्ताभिमानोन्नतं-
प्रीतिं तत्प्रणते खरेऽप्यविदधद्यः स्वास्थ्यमालम्बते ।।६६५।।

अथ धीरः

आश्रित्य प्रेयसीमस्य नातिसेवापरोऽपि यः ।।२७।।
तस्य प्रसादपात्रं स्यान्मुख्यं धीरः स उच्यते ।

यथा—

कमपि पृथगनुच्चैर्नाचरामि प्रयत्नं-
यदुकुलकमलार्क ! त्वत्प्रसादश्रियेऽपि ।
समजनि ननु देव्याः पारिजातार्चितायाः
परिजनलिखनान्तःपातिनी मे यदाख्या ।।६६६।।

उनमेंसे धुर्य [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो भक्त [रक्तः] कृष्णके प्रति, उनके प्रेयसीवर्ग और उनके दासादिके प्रति वास्तविक प्रेम रखता है वह 'धुर्य' कहलाता है ।।२६।।

जैसे—

देव [कृष्ण] जिस प्रकार मुझे सेव्य प्रतीत होते हैं इसी प्रकार उनकी प्रिय देवियाँ भी [सेवाके योग्य प्रतीत होती हैं] और उनके प्रति भक्ति रखनेवाले सभीका समुदाय अपने प्राणोंके समान प्रतीत होता है । इसलिए भक्त होनेके अभिमानसे गर्वित उस साहसिकका स्मरण करके मुझे भय लगता है जो उन कृष्ण] के प्रति प्रणत गर्दभके साथ भी प्रेम न रखकर भी स्वस्थ रहता है ।

धीर [पारिषद तथा अनुगका लक्षण करते हैं]—

विशेष सेवा-परायण न होनेपर भी इन [कृष्ण] की प्रेयसी वर्गका आश्रय लेकर जो [कृष्णकी] कृपाका पात्र बनता है वह मुख्य रूपसे 'धीर' [पारिषद या अनुग कहलाता है] ।।२७।।

जैसे—

हे यदुकुल कमल यद्यपि मैं आपकी कृपाकी प्राप्तिके लिए भी अलगसे तनिक-सा प्रयत्न नहीं करता हूँ क्योंकि पारिजातसे अर्चित [अर्थात् जिनके लिए आपने पारिजात वृक्ष लाकर उनके महलमें लगाया है उन आपकी प्रियतमा सत्यभामा] के सेवकोंकी सूचीमें मेरा नाम आ गया है इसलिए अब मैं आपकी कृपाकी प्राप्तिके लिए भी अलगसे तनिक भी प्रयत्न नहीं करता हूँ ।

अथ वीरः—

कृपां तस्य समाश्रित्य प्रौढां नान्यमपेक्षते ॥२८॥
अतुलां यो वहन् कृष्णे प्रीतिं वीरः स उच्यते ।

यथा—

प्रलम्बरिपुरीश्वरो भवतु का क्षतिस्तेन मे
कुमारमकरध्वजादपि न किंचिदास्ते फलम् ।
किमन्यदहमुद्धतः प्रभुकृपाकटाक्षश्रिया
प्रियापरिषदग्रिमां न गणयामि भामामपि ॥६६७॥

चतुर्थे च—

जगज्जनन्यां जगदीश ! वैशसं—
स्यादेव यत् कर्म्मणि नः समीहितम् ।
करोपि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव विष्णेऽभिरतस्य किं तया ॥६६८॥

एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेष्वाश्रितादिषु ॥२९॥
नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधका अपि कीर्त्तिताः ।

अब वीर [पारिषद तथा अनुगका लक्षण करते हैं]—

जो उन [कृष्ण] की [प्रौढ़ अर्थात्] विशेष कृपाको प्राप्त करके अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है और कृष्णके प्रति अतुल भक्तिको धारण करता है वह 'वीर' [पारिषद या अनुग] कहलाता है ॥ २८ ॥

जैसे—

[प्रलम्बरिपु अर्थात्] बलराम भले ही ईश्वर हों पर उनसे मुझे क्या मतलब और न अनिरुद्धसे मुझे लाभ है । और अधिक क्या कहूँ, प्रभु [कृष्ण] के कृपा कटाक्षको प्राप्त मैं उनकी प्रेयसी-वर्गमें अग्रगण्या सत्यभामाको भी कुछ नहीं गिनता हूँ ।

वास्तवमें तो इन सबके प्रति ही सेवकका अनुराग है किन्तु यह केवल बाह्यरूपसे अभिमान प्रकट कर रहा है ।६६७।

और चतुर्थ स्कन्धमें भी [इसका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

हे जगदीश जब दीनवत्सल आप अपने घर बैठे हुए हमारे [फल्गु अर्थात्] निस्सार [समीहित] इच्छाको भी [उरु करोषि अर्थात् पूर्ण कर देते हो तो फिर जगज्जननीके प्रति अत्याचार ही होगा । क्योंकि फिर उनसे किसीको क्या मतलब रहेगा । उनको फिर कौन पूछेगा ।६६८।

[१३वीं कारिकामें कहे हुए अधिकृत आश्रित पारिषद तथा अनुग रूप चार प्रकारके दासोंमेंसे प्रथम अधिकृत दासको छोड़कर शेष] आश्रित आदि इन तीन प्रकारके दासोंमें १ नित्यसिद्ध, २ सिद्ध, तथा ३ साधक [ये तीन भेद] भी कहे जाते हैं ॥ २९ ॥

अथोद्दीपना—

अनुग्रहस्य संप्राप्तिस्तस्याङ्घ्रिरजसां तथा ॥३०॥
भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसंगतिः ।
इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणामताः ॥३१॥

तत्रानुग्रहसंप्राप्तिर्यथा—

कृष्णस्य पश्यत कृपां कृपाद्याः ! कृपणे मयि ।
ध्येयोऽसौ निधने हन्त दृशोरध्वानमभ्यगात् ॥६९९॥

मुरलीशृङ्गयोः स्वानः स्मितपूर्वावलोकनम् ।
गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्मपदाङ्कनवनीरदाः ॥३२॥
तदङ्गसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः ।

तत्र मुरलीस्वनो यथा विदग्धमाधवे—

सोत्कण्ठं मुरलीकलापरिमलानाकर्ण्य घूर्णत्तनो-
रेतस्याक्षिसहस्रतः सुरपतेरश्रूणि सस्नुर्भुवि ।
चित्रं वारिधरान् विनाऽपि तरसा यैरद्य धारामयै-
र्दूरात्पश्यत देवमातृकमभूद् वृन्दाटवीमण्डलम् ॥७००॥

अथानुभावा

सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः ॥३३॥

अब [प्रीति भक्तिरसके] उद्दीपन [विभाव] कहते हैं—

१ अनुग्रहकी सम्प्राप्ति, २ उनकी चरणधूलिकी प्राप्ति, ३ उनके जूठे भात आदिकी प्राप्ति तथा उनके भक्तोंकी संगति इत्यादि इनमें विशेष [रूपसे उद्दीपन] विभाव माने जाते हैं ॥ ३०-३१ ॥

उनमेंसे अनुग्रह प्राप्तिका [उदाहरण] जैसे—

हे कृपाचार्य आदि आप लोग कृष्णकी कृपाको देखो कि जो मुझ दीन [कृपण भीष्म] के प्रति मृत्युके समय ध्यान करने योग्य [कृष्ण स्वयं] दर्शन देने आए हैं ।६९९।

मुरली और शृङ्गकी ध्वनि, मुस्कराते हुए देखना, गुणोंके उत्कर्षका श्रवण, पद्म चरण-चिन्ह, नवीन मेघ और उनके अंगोंका सौरभ आदि सबके साथ साधारण [उद्दीपन-विभाव] माने जाते हैं ॥ ३२ ॥

उनमेंसे मुरली-ध्वनि [रूप उद्दीपन विभावका उदाहरण] जैसे विदग्धमाधवमें—

मुरली [वादनकी] कलाके परिमल [रूप ध्वनि] को उत्सुकतापूर्वक सुनकर [आनन्दातिरेकसे जिसका] जिसका शरीर घूमने लगा है इस प्रकारके इन सुरपति इन्द्रके सहस्रों नेत्रों से पृथिवी पर आँसू गिरने लगे जिससे कि देखो यह कितने आश्चर्यकी बात है कि बादलोंके बिना भी धारा रूपसे गिर तनिकसी देरमें वृन्दावनको वृष्टिजलसे आप्लावित कर दिया [देवमातृकमभूत् वृन्दाटवीमण्डलम्] ।७००।

अब [प्रीतिभक्तिरसके] अनुभावोंको कहते हैं—

ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने ।
तन्निष्ठताऽऽद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रिया ॥३४॥

तत्र स्वनियोगस्य सर्वत आधिक्यं यथा—

अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तुङ्गयन्तं प्रेमानन्दं दारुको नाभ्यनन्दन् ।
कंसारातेर्वीजने येन साक्षाद्क्षोदीयानन्तरायो व्यधायि ॥७०१॥

उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथाऽस्य सुहृदादरः ।
विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते ॥३५॥

तत्र नृत्यं यथा श्रीदशमे—

श्रुतिदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहान् जनको यथा ।
नत्वा मुनींश्च संहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त्त ह ॥७०२॥

यथा वा—

त्वं कलासु विमुखोऽपि नर्त्तनं-
प्रेमनाम्यगुरुणाऽसि पाठितः ।

[कृष्णके प्रति] अपने कर्तव्योंका सर्वत अधिकाधिक रूपसे ग्रहण करना, और उनके भक्तोंके प्रति ईर्ष्यालवसे रहित मैत्री तथा सर्वात्मना तन्निष्ठता प्रतिनिष्ठता] आदि इन आश्रितादि दासों] में असाधारण [क्रियाः अर्थात्] अनुभाव होते हैं ॥ ३४ ॥

उनमेंसे अपने कर्तव्यका सर्वतः आधिक्य [से पालनका उदाहरण] जैसे—

दारुक [नामक कृष्णके सेवकने] अंगोंसे स्तम्भरूप [सात्त्विक] भावको बढ़ानेवाले प्रेमानन्दको पसन्द नहीं किया क्योंकि उसने कृष्णके ऊपर पंखा करनेके उसके कार्यमें बड़ा विघ्न उपस्थित कर दिया ।७०१।

प्रेमानन्द दो प्रकारसे विशेषताको उत्पन्न करता है—एक तो शरीरमें स्तम्भादि सात्त्विक भावोंके रूपमें और दूसरे भक्तके हृदतमें भगवान्‌के प्रति आनुकूल्यकी अधिकाधिक इच्छाके उत्पादन रूपमें । इनमेंसे दासोंको आनुकूल्येच्छा वाला प्रेमानन्द ही अधिक रुचिकर होता है । स्तम्भादि सात्त्विकभावोंका जनक प्रेमानन्द नहीं । इसीलिए यहाँ अंगस्तम्भारम्भक प्रेमानन्दके पसन्द न करनेकी बात कही गई है ।

पहले [दक्षिणविभागकी द्वितीय लहरीमें] जो उद्भास्वर [अनुभाव] कहे थे वे तथा इनके [कृष्णके] मित्रोंके प्रति आदर एवं वैराग्यादि जो शीत अनुभाव कहे हैं वे साधारण अनुभाव होते हैं ॥ ३५ ॥

उनमेंसे [दक्षिणविभाग द्वितीय लहरी कारिका २ में कहे हुए] नृत्य [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

जनकके समान श्रुतदेव कृष्णको अपने घर आये हुए कृष्णको तथा मुनियोंको नमस्कार करके [उनके आगमनके आनन्दातिरेकके कारण] अपने कपड़ोंको हिलाते हुए नाचने लगे ।७०२।

अथवा जैसे—

कलाओंमें विमुख होनेपर भी [आज] जो विचित्र प्रकारकी गति-विधिसे [चारणों

यद्विचित्रगतिचर्य्ययाऽञ्चित-
श्चित्रयस्यहह चारणानपि ॥७०३॥

अथ सात्त्विकः—

स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादित्रितये मताः ।

यथा—

गोकुलेन्द्रगुणगानरसेन स्तम्भमद्भुतमसौ भजमानः ।
पश्य भक्तिरसमण्डपमूलस्तम्भतां वहति वैष्णववर्य्यः ॥७०४॥

श्रीदशमे—

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं-
बिभ्रन् मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।
उवाच ह्यानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप ! गद्गदाक्षरम् ॥७०५॥

अथ व्यभिचारिणः—

हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता ॥३६॥

दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शङ्का मतिरौत्सुक्यचापले ।

वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादावहित्थिकाः ॥३७॥

अर्थात्] नर्तकोंको भी [चित्रयसि अर्थात्] आश्चर्यमें डाल रहे हो सो प्रतीत होता है कि प्रेम-रूप नाट्यगुरुने ही तुमको नाचना सिखला दिया है ।७०३।

अब [प्रीतिभक्तिरसके अनुरूप] सात्त्विकभावोंको कहते हैं—

प्रीति आदि तीनमें [अर्थात् शान्त तथा मधुरभक्तिको छोड़कर द०-५-९६ में कहे हुए पांच भेदोंमेंसे प्रथम शान्ति तथा अन्तिम मधुरको छोड़कर बीचके प्रीति, प्रेम तथा वत्सल इन तीनोंमें स्तम्भादि सारे सात्त्विक भाव होते हैं।

जैसे—

देखो यह वैष्णववर्य गोकुलेन्द्रके गुणगानके रसा, अर्थात् आनन्दके कारण अद्भुत स्तम्भभावको प्राप्त होकर भक्तिरसके मण्डपके मूलस्तम्भके जैसा प्रतीत हो रहा है । ७०४ ।

दशमस्कन्धमें [भी इसका उदाहरण है]—

हे राजन् वह [इन्द्रसेन अर्थात्] बलि भगवान्‌के चरण-कमलोंको ग्रहण किये हुए प्रेम-विभोर होकर अश्रुपूर्ण तथा आनन्दाश्रुसे पूर्ण रोमांचित होकर गद्‌गद वाणी हा-हा कह रहा था ।७०५।

अब [प्रीतिभक्तिरसके योग्य] व्यभिचारिभाव [कहते हैं]—

इसमें १ हर्ष, २ गर्व, ३ धृति, ४ निर्वेद, ५ विषाद, ६ दैन्य, ७ चिन्ता, ८ स्मृति, ९ शंका, १० मति, ११ औत्सुक्य, १२ चपलता, १३ वितर्क, १४ आवेग, १५ लज्जा, १६ जाड्य, १७ मोह, १८ उन्माद, १९ अवहित्था,

बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः ।
इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत् ॥३८॥

योगे त्रयः स्युर्धृत्याद्या अयोगे तु क्लमादयः ।
उभयत्र परे शेषा निर्वेदाद्याः सतां मताः ॥३९॥

तत्र हर्षो यथा प्रथमे—

प्रीत्योत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥७०६॥

यथा वा—

हरिमनलोक्य पुरो भवि पतितो दण्डप्रणामशतकामः ।
प्रमदविमुग्धो नृपतिः पुनरुत्थानं विसस्मार ॥७०७॥

क्लमो यथा स्कन्दे—

अशोषयन्मनस्तस्य म्लापयन्मुखपङ्कजम् ।
आधिस्त्वद्विरहे देव ! ग्रीष्मे सर इवांशुमान् ॥७०८॥

---

२० बोध, २१ स्वप्न, २२ क्लम, २३ मरण ये व्यभिचारिभाव होते हैं । अन्य मदादि [आठ अदादि [आठ व्यभिचारिभाव] इसके अधिक पोषक नहीं होते हैं ॥३८॥

योगमें हर्षादि तीन [अर्थात् हर्ष, गर्व तथा धृति] और वियोगमें क्लमादि तीन [अर्थात् क्लम व्याधि मृति] विशेष रूपसे होते हैं । शेष निर्वेदादि दोनों जगह [अर्थात् योग और वियोग दोनों अवस्थाओंमें व्यभिचारिभाव] होते हैं ॥ ४० ॥

इसमें पूर्व संस्करणोंमें 'धृत्याद्याः' पाठ पाया जाता है । वह अशुद्ध प्रतीत होता है । उसके स्थान पर 'हर्षाद्याः' पाठ ठीक प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि इन तीनको योगमें विशेष रूपसे उपयोगी माना है । यदि 'धृत्याद्याः' पाठ रखते हैं तो धृति निर्वेद तथा विषाद योगमें विशेष उपयोगी व्यभिचारिभाव बनते हैं । किन्तु अगली ही कारिकामें निर्वेद को योग तथा वियोग दोनों दशाओंमें साधारण व्यभिचारिभाव माना है । अतएव यहाँ धृत्याद्या के स्थान पर हर्षाद्याः पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अतः हमने यही पाठ दिया है । अगला उदाहरण भी हर्षका ही दिया है ।

उनमेंसे हर्ष [का उदाहरण] जैसे प्रथम स्कन्धमें—

प्रसन्नवदन होकर हर्षके कारण गद्गद वाणीसे सबके सुहृद एवं रक्षक [कृष्णसे] इस प्रकार बोले जैसे बालक पितासे कहता है ।७०६।

अथवा जैसे—

कृष्णको सामने देखकर सैकड़ों बार दण्डवत् प्रणाम करनेकी कामनासे हर्षविभोर राजा पृथिवी पर लेटकर फिर उठना ही भूल गया ।७०७।

क्लम [का उदाहरण] जैसे स्कन्दपुराणमें—

हे देव ! आपके विरहमें मानसी वेदना [आधि] ने उसके मुखको मलिन करके उसके मनको सुखा डाला जैसे ग्रीष्ममें सूर्य तालाबको सुखा डालता है ।७०८।

निर्वेदो यथा—

धन्याः स्फुरन्ति तव सूर्य्य ! कराः सहस्रं-
ये सर्वदा यदुपतेः पदयोः पतन्ति।
वन्ध्या दृशां दशशती भ्रियते ममासौ
दूरे मुहूर्त्तमपि या न विलोकते तम् ॥७०६॥

अथ स्थायी—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते ॥४०॥
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः।
आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि ॥४१॥
तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि।
संस्कारोद्बोधकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः ॥४२॥
एषां तु सम्भ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम्।
वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राग इति त्रिधा ॥४३॥

तत्र संभ्रमप्रीतिर्यथा श्रीदशमे—

ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥७१०॥

निर्वेद [का उदाहरण] जैसे—

हे सूर्य तुम्हारी जो सहस्रों किरणें [और हाथ] जो यदुपति [कृष्ण] के चरणोंका स्पर्श करते हैं वे धन्य प्रतीत होते हैं। किन्तु मेरी [अर्थात् इन्द्रकी] ये सहस्र आँखें व्यर्थ ही हैं जो दूर होनेके कारण उनको क्षण-भरको भी नहीं देख पाती हैं।

अब [प्रीतिभक्तिरसका] स्थायिभाव कहते हैं—

[कृष्णकी] प्रभुताके ज्ञानके कारण चित्तमें आदर-सहित कम्प होता है उससे अभिन्न प्रीति 'सम्भ्रमप्रीति' कहलाती है ॥४०॥

इस [प्रीतिभक्ति] में यह [सम्भ्रमप्रीति ही] विद्वानोंके द्वारा स्थायिभावरूपमें मानी गई है। आश्रित आदिमें रतिके उत्पन्न होनेका प्रकार [भावसामान्यके निरूपण प्रसंगमें पूर्व० विभाग, ३ लहरी, ३ के आरम्भमें १ साधनाभिनिवेश तथा कृष्ण एवं कृष्णभक्तका प्रसनद रूप [श्लोक ४ में] पहले ही कहा जा चुका है ॥४१॥

उनमेंसे पारिषदादिमें [रतिकी उत्पत्तिका हेतु संस्कार ही होता है और उसके संस्कारके उद्बोधक दर्शन-श्रवणादि होते हैं ॥४२॥

इनमें [अर्थात् पारिषदादिमें] उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त करती हुई सम्भ्रमप्रीति क्रमशः प्रेम उसके बाद [और वृद्धिको प्राप्त होनेपर] स्नेह और उसके आगे [बढ़कर] राग इस प्रकार तीन तरहकी होती है ॥४३॥

उनमेंसे सम्भ्रमप्रीति [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

आज मेरा पाप नष्ट हो गया और मेरा जन्म सफल हो गया कि जो मैं आज योगियों

बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः ।
इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत् ॥३८॥

योगे त्रयः स्युर्धृत्याद्या अयोगे तु क्लमादयः ।
उभयत्र परे शेषा निर्वेदाद्याः सतां मताः ॥३९॥

तत्र हर्षो यथा प्रथमे—

प्रीत्योत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥७०६॥

यथा वा—

हरिमवलोक्य पुरो भुवि पतितो दण्डप्रणामशतकामः ।
प्रमदविमुग्धो नृपतिः पुनरुत्थानं विसस्मार ॥७०७॥

क्लमो यथा स्कन्दे—

अशोषयन्मनस्तस्य म्लापयन्मुखपङ्कजम् ।
आधिस्त्वद्विरहे देव ! ग्रीष्मे सर इवांशुमान् ॥७०८॥

---

२० बोध, २१ स्वप्न, २२ क्लम, २३ मरण ये व्यभिचारिभाव होते हैं। अन्य मदादि [आठ अदादि [आठ व्यभिचारिभाव] इसके अधिक पोषक नहीं होते हैं ॥३८॥

योगमें हर्षादि तीन [अर्थात् हर्ष, गर्व तथा धृति] और वियोगमें क्लमादि तीन [अर्थात् क्लम व्याधि मृति] विशेष रूपसे होते हैं। शेष निर्वेदादि दोनों जगह [अर्थात् योग और वियोग दोनों अवस्थाओंमें व्यभिचारिभाव] होते हैं ॥ ४० ॥

इसमें पूर्व संस्करणोंमें 'धृत्याद्याः' पाठ पाया जाता है। वह अशुद्ध प्रतीत होता है। उसके स्थान पर 'हर्षाद्याः' पाठ ठीक प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि इन तीनको योगमें विशेष रूपसे उपयोगी माना है। यदि 'धृत्याद्याः' पाठ रखते हैं तो धृति निर्वेद तथा विषाद योगमें विशेष उपयोगी व्यभिचारिभाव बनते हैं। किन्तु अगली ही कारिकामें निर्वेद को योग तथा वियोग दोनों दशाओंमें साधारण व्यभिचारिभाव माना है। अतएव यहाँ धृत्याद्या के स्थान पर हर्षाद्याः पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अतः हमने यही पाठ दिया है। अगला उदाहरण भी हर्षका ही दिया है।

उनमेंसे हर्ष [का उदाहरण] जैसे प्रथम स्कन्धमें—

प्रसन्नवदन होकर हर्षके कारण गद्गद वाणीसे सबके सुहृद एवं रक्षक [कृष्णसे] इस प्रकार बोले जैसे बालक पितासे कहता है।७०६।

अथवा जैसे—

कृष्णको सामने देखकर सैकड़ों बार दण्डवत् प्रणाम करनेकी कामनासे हर्षविभोर राजा पृथिवी पर लेटकर फिर उठना ही भूल गया।७०७।

क्लम [का उदाहरण] जैसे स्कन्दपुराणमें—

हे देव ! आपके विरहमें मानसी वेदना [आधि] ने उसके मुखको मलिन करके उसके मनको सुखा डाला जैसे ग्रीष्ममें सूर्य तालावको सुखा डालता है।७०८।

निर्वेदो यथा—

धन्याः स्फुरन्ति तव सूर्य्य ! कराः सहस्रं-
ये सर्वदा यदुपतेः पदयोः पतन्ति।
वन्ध्या दृशां दशशती ध्रियते ममासौ
दूरे मुहूर्त्तमपि या न विलोकते तम् ॥७०६॥

अथ स्थायी—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादरः ।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते ॥४०॥
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः ।
आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि ॥४१॥
तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि ।
संस्कारोद्बोधकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः ॥४२॥
एषां तु सम्भ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम् ।
बृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राग इति त्रिधा ॥४३॥

तत्र संभ्रमप्रीतिर्यथा श्रीदशमे—

ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैष मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥७१०॥

निर्वेद [का उदाहरण] जैसे—

हे सूर्य तुम्हारी जो सहस्रों किरणें [और हाथ] जो यदुपति [कृष्ण] के चरणोंका स्पर्श करते हैं वे धन्य प्रतीत होते हैं। किन्तु मेरी [अर्थात् इन्द्रकी] ये सहस्र आँखें व्यर्थ ही हैं जो दूर होनेके कारण उनको क्षण-भरको भी नहीं देख पाती हैं।

अब [प्रीतिभक्तिरसका] स्थायिभाव कहते हैं—

[कृष्णकी] प्रभुताके ज्ञानके कारण चित्तमें आदर-सहित कम्प होता है उससे अभिन्न प्रीति 'सम्भ्रमप्रीति' कहलाती है ॥४०॥

इस [प्रीतिभक्ति] में यह [सम्भ्रमप्रीति ही] विद्वानोंके द्वारा स्थायिभावरूपमें मानी गई है। आश्रित आदिमें रतिके उत्पन्न होनेका प्रकार [भावसामान्यके निरूपण प्रसंगमें पूर्व० विभाग, ३ लहरी, ३ के आरम्भमें १ साधनाभिनिवेश तथा कृष्ण एवं कृष्णभक्तका प्रसनद रूप [श्लोक ४ में] पहले ही कहा जा चुका है ॥४१॥

उनमेंसे पारिषदादिमें [रतिकी उत्पत्तिका हेतु संस्कार ही होता है और उसके संस्कारके उद्‌बोधक दर्शन-श्रवणादि होते हैं ॥४२॥

इनमें [अर्थात् पारिषदादिमें] उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त करती हुई सम्भ्रमप्रीति क्रमशः प्रेम उसके बाद [और वृद्धिको प्राप्त होनेपर] स्नेह और उसके आगे [बढ़कर] राग इस प्रकार तीन तरहकी होती है ॥४३॥

उनमेंसे सम्भ्रमप्रीति [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

आज मेरा पाप नष्ट हो गया और मेरा जन्म सफल हो गया कि जो मैं आज योगियों

यथा वा—

कलिन्दनन्दनीकूलकदम्बवनवल्लभम् ।
कदा नमस्करिष्यामि गोपरूपं तमीश्वरम् ॥७११॥

अथ प्रेमा—

ह्रासशङ्काच्युता बद्धमूला प्रेमेयमुच्यते ।
अस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनिताऽऽदयः ॥४४॥

यथा—

अणिमादिसौख्यवीचीमवीचिदुःखप्रवाहं वा ।
नय मां विकृतिर्न हि मे त्वत्पदकमलावलम्बस्य ॥७१२॥

यथा वा—

रुषा ज्वरितबुद्धिना भृगुसुतेन शप्तोऽप्यलं-
मया ह्रृतजगत्त्रयोऽप्यतनुकैतवं तन्वता ।
विनिन्द्य कृतबन्धनोऽप्युरगराजपाशैर्बला-
दरज्यत स मय्यहो द्विगुणमेव वैरोचनिः ॥७१३॥

अथ स्नेहः—

सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्य्यते ।
क्षणिकस्यापि नेह स्याद्विश्लेषस्य सहिष्णुता ॥४५॥

के लिए भी ध्यान करने योग्य भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार [करनेका सौभाग्य प्राप्त] करूँगा।

अथवा जैसे—

कालिन्दी-कूलस्थ कदम्ब-वनके प्रेमी गोप रूप उन भगवान्‌को मैं कब नमस्कार [करने का अवसर प्राप्त] कर पाऊँगा।

अब प्रेम [रूप स्थायिभावका लक्षण करते हैं]—

ह्रासकी शंकासे मुक्त और बद्धमूल यह [वृद्धिगत सम्भ्रमप्रीति] ही प्रेमा कहलाती है। उसमें व्यसनिता आदि इसके अनुभाव कहे गए हैं ॥४४॥

जैसे—

आपके चरण कमलोंका अवलम्बन करनेवाले मुझको चाहे अणिमादिके सुखभागमें ले जाओ चाहे अवीचि [नामक नरकविशेषमें होनेवाले] दुःखकी धारामें [दोनों दशामें] मेरे भीतर [सुख या दुःख रूप] किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।

अथवा जैसे—

क्रोधके कारण प्रज्ज्वलित बुद्धिवाले भार्गव [परशुराम] के द्वारा शाप प्राप्त होनेपर भी भयंकर छल करके मेरे [वामनरूपधारी विष्णु] के द्वारा तीनों लोकोंके छीन लिए जानेपर भी और निन्दा करके प्रबल नागपाशोंसे जबरदस्ती बाँध लिए जानेपर भी वह विरोचनपुत्र बलि मेरे प्रति द्विगुण अनुरागयुक्त हो गया यह आश्चर्य की बात है।

अब स्नेह [रूपसे प्रेमसे भी अधिक वृद्धिगत सम्भ्रमप्रीतिका लक्षण करते हैं]—

चित्तको द्रवीभूत करनेवाला सान्द्र प्रेम 'स्नेह' कहलाता है। इसमें क्षणिक वियोगको

यथा—

दम्भेन वाष्पाम्बुझरस्य केशवं वीक्ष्य द्रवच्चित्तमसुस्रुवत्तव ।
इत्युच्चकैर्धारयतो विचित्ततां चित्रा न ते दारुक ! दारुकल्पता ॥७१४॥

यथा वा—

पत्नीं रत्ननिधेः परामुपहरन् पूरेण वाष्पाम्भसां-
रज्यन्सञ्जुलकण्ठगर्भलुठितस्तोत्राक्षरोपक्रमः ।
चुम्बन् फुल्लकदम्बडम्बुरतुलामङ्गैः समीक्ष्याच्युतं-
स्तब्धोऽप्यभ्यधिकां श्रियं प्रणमतां वृन्दाद्धारोद्धवः ॥७१५॥

अथ रागः—

स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखं दुःखमपि स्फुटम् ।
तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि ॥४६॥

यथा—

गुरुरपि भुजगाद्भीस्तत्क्षकात् प्राज्यराज्य-
च्युतिरतिशयिनी च प्रायचर्य्या च गुर्वी ।
अतनुत मुदमुच्चैः कृष्णलीलासुधाऽन्त-
र्विहरणसचिवत्वादौत्तरेयस्य राज्ञः ॥७१६॥

भी सहन करनेकी क्षमता नहीं रहती है ॥४५॥

जैसे—

हे दारुक केशवको देखकर द्रवीभूत हुआ तुम्हारा चित्त अश्रुधाराके व्याजसे बाहर बह निकला। इसलिए [चित्त बह जानेके कारण] विचित्रताको प्राप्त हुए तुम्हारी लकड़ीके समान [स्तम्भीभाव] की यह स्थिति आश्चर्यजनक नहीं है।

अथवा जैसे—

कृष्णको देखकर आनन्दाश्रुओंकी प्रबल नदीको बहा देनेवाले, प्रेमभरे सुन्दर कण्ठके भीतर ही जिनके स्तुतिके अक्षर स्खलित हो रहे हैं [गदगद वाणीके कारण अक्षर बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। और रोमांचके अतिशयके कारण] खिले हुए कदम्बकी समताको प्राप्त हुए उद्धव भक्तोंमें [प्रणमतां वृन्दात्] सबसे अधिक शोभाको धारण कर रहे थे।

अब [स्नेहसे भी अधिक वृद्धिको प्राप्त सम्भ्रमप्रीतिकी अवस्थाका लक्षण करते हैं]—

जिसके द्वारा दुःख भी स्पष्ट रूपसे सुख प्रतीत होने लगता है उसको राग कहते हैं। इसमें अपने प्राणोंको देकर भी उन [कृष्ण] का तनिक-सा भी सम्बन्ध प्राप्त करनेकी इच्छा होती है ॥४६॥

जैसे—

नागराज तक्षकसे अत्यन्त भय होनेपर भी, विशाल राज्यका नाश [सम्भावित होने] होनेपर भी और [गुर्वा प्रायचर्या अर्थात्] प्राणान्त पर्यन्त अनशनके प्राप्त होनेपर भी उत्तराके पुत्र राजा परीक्षित कृष्णलीलाके सुधासागरके भीतर विहरण करनेमें अत्यन्त आनन्दका अनुभव कर रहे थे।

यथा वा—

केशवस्य करुणालवोऽपि चेद्वाडवोऽपि किल पाडवो मम ।
अस्य यद्यदयता कुशस्थलीपूर्णसिद्धिरपि मे कुशस्थली ॥७१७॥

प्राय आद्यद्वये प्रेमा स्नेहः पारिषदेष्वसौ ।
परीक्षिति भवेद्रागो दारुके च तथोद्धवे ॥४७॥
व्रजानुगेष्वनेकेषु रक्तकप्रमुखेषु च ।
अस्मिन्नभ्युदिते भावः प्रायः स्यात्सख्यलेशभाक् ॥४८॥

यथा—

शुद्धान्तान्निमिलितं वाष्परुद्धवागुद्धवो हरिम् ।
किञ्चित् कुञ्चितनेत्रान्तः स्वान्तेन परिषस्वजे ॥७१८॥

अयोगयोगावेतस्य प्रभेदौ कथितावुभौ ।

तत्रायोगः—

सङ्गाभावो हरेर्धीरैरयोग इति कथ्यते ॥४९॥
अयोगे तन्मनस्कत्वं तद्गुणाद्यनुसंधयः ।
तत्प्राप्त्युपायचिन्ताऽऽद्याः सर्वेषां कथिताः क्रियाः ॥५०॥

अथवा जैसे—

यदि कृष्णकी करुणाका लेशमात्र भी प्राप्त हो जाय तो मेरे लिए वाडवानल भी पानक रसके समान । [षाडवः ठंडाई आदि जैसा पानकरस] और यदि उनकी [अदयता अर्थात्] कृपा न हो तो सारी सिद्धियोंसे परिपूर्ण यह [कुशस्थली अर्थात्] द्वारिका भी मेरे लिए कुश-कण्टकसे भरी हुई स्थलीके समान है ।

प्रायः प्रारम्भके दो [१३वीं कारिकामें कहे हुए अधिकृत तथा आश्रित इन दो] में प्रेमा और पारिषदोंमें स्नेह [रूप सम्भ्रमप्रीति भक्तिरस] रहता है । और परीक्षित दारुक तथा उद्धवमें 'राग' रहता है ॥४७॥

रक्तक आदि बहुतसे व्रजवासी [कृष्णके] अनुचरोंमें इस [राग] के उत्पन्न होनेपर प्रायः सख्यके लेशसे युक्त भाव होता है ॥४८॥

जैसे—

अन्तःपुरसे निकलते हुए कृष्णको गद्‌गदवाणी होकर उद्धवने [आनन्दके कारण] किंचित् आंकुचित-नेत्र होकर हृदयसे आलिंगन किया ।

इसमें आलिंगन सख्यभावका सूचक है ।

अयोग और योगको विद्वान् लोग इसी [सम्भ्रमप्रीति] का भेद बतलाते हैं ।

उनमेंसे अयोग [का लक्षण करते हैं]—

कृष्णके संगका प्राप्त न होना विद्वानोंके द्वारा अयोग नामसे कहा जाता है ॥४९॥

अयोगमें मनका उन्हीं [कृष्ण] में लगा रहना, उनके गुणादिकाही विचार करना और उनकी प्राप्तिके उपायोंकी चिन्ता आदि सबमें रहनेवाले [क्रिया अर्थात्] अनुभाव कहे गए हैं ।५०।

उत्कण्ठितं वियोगश्चेत्ययोगोऽपि द्विधोच्यते ।

तत्रोत्कण्ठितं—

अदृष्टपूर्वस्य हरेर्दिदृक्षोत्कण्ठितं मतम् ॥५१॥

यथा नरसिंहपुराणे—

चकार मेघे तद्वर्णे बहुमानरतिं नृपः ।
पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तद्दृशि ॥७१९॥

यथा वा श्रीदशमे—

अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं मह्यं न न स्यात्फलमञ्जसा दृशः ॥७२०॥

अत्रायोगप्रसक्तानां सर्वेषामपि सम्भवे ।
औत्सुक्यदैन्यनिर्वेदचिन्तानां चापलस्य च ॥५२॥
जडतोन्मादमोहानामपि स्यादतिरिक्तता ।

तत्रौत्सुक्यं यथा कर्णामृते—

असून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे ! त्वदालोकनमन्तरेण ।
अनाथबन्धो ! करुणैकसिन्धो ! हा हन्त हा हन्त कथं नयामि ॥७२१॥

यथा वा—

विलोचनसुधाऽम्बुधेस्तव पदारबिन्दद्वयी
विलोकनरसच्छटामनुपलभ्य विक्षुभ्यतः ।

अयोग भी १ उत्कण्ठित और २ वियोग रूपसे दो प्रकारका होता है ।

उनमेंसे उत्कण्ठित [अयोगका लक्षण कहते हैं]—

पहले न देखे हुए कृष्णको देखनेकी इच्छा उत्कण्ठित [नामक अयोग] माना जाता है ।

जैसे नरसिंहपुराणमें—

राजा [इक्ष्वाकु] ने उनके समान वर्णवाले मेघमें उनके समान नामवाले [कृष्णसार] मृगमें और उनके समान दिखलाई देनेवाले पद्ममें कृष्णके प्रेमके कारण [पक्षपातेन] अत्यन्त आदर तथा प्रेम प्रदर्शित किया ।

अथवा जैसे दशम स्कन्धमें—

आज अपनी इच्छासे पृथिवीका भार उतारनेके निमित्त मनुष्य रूपको धारण करने वाले सौन्दर्यके धाम विष्णुका दर्शन और नेत्रोंका फल मुझको अवश्य प्राप्त होगा ।

इस [उत्कण्ठितावस्था] में अयोगमें होनेवाले सभी [अनुभावों तथा व्यभिचारिभावों] का सम्भव होनेपर भी औत्सुक्य, दैन्य, निर्वेद, चिन्ता, चपलता, जड़ता, उन्माद तथा मोहका आधिक्य होता है ॥५२॥

उनमेंसे औत्सुक्य [के आधिक्यका उदाहरण] जैसे कर्णामृतमें—

हे हरे ! हे दीनबन्धो ! हे करुणासिन्धो इन [आपके दर्शनसे रहित] अन्य दिनोंको आपके दर्शनके बिना कैसे व्यतीत करूँ । हाय कैसे व्यतीत करूँ ।

अथवा जैसे—

हे व्रज महेन्द्र, नेत्रोंके लिए सुधासागरके समान आपके दोनों चरण कमलोंके विलोकन

मनो मम मनागपि क्व चिदनाप्नुवन्निर्वृतिं-
क्षणार्द्धमपि मन्यते व्रजमहेन्द्र ! वर्षव्रजम् ॥७२२॥

दैन्यं यथा तत्रैव—

निबद्धमूर्द्धाञ्जलिरेष याचे नीरन्ध्रदैन्योन्नतिमुक्तकण्ठम् ।
दयाऽम्बुधे ! देव ! भवत्कटाक्षदाक्षिण्यलेशेन सकृन्निषिञ्च ॥७२३॥

यथा वा—

असिशशिमुकुटाद्यैरप्यलब्धेक्षणस्त्वं-
लघुरघहर ! कीटादप्यहं कूटकर्म्मा ।
इति विसदृशताऽपि प्रार्थने प्रार्थयामि
स्नपय कृपणबन्धो ! मामपाङ्गच्छटाभिः ॥७२४॥

निर्वेदो यथा—

स्फुटं श्रितवतोरपि श्रुतिनिषेवया श्लाघ्यतां-
ममाभवनिरेतयोर्भवतु नेत्रयोर्मन्दयोः ।
भवेन्न हि ययोः पदं मधुरिमश्रियामास्पदं-
पदाम्बुजनखाङ्कुरादपि विसारि रोचिस्तव ॥७२५॥

की सरस-रसच्छटाके प्राप्त न कर सकनेके कारण विक्षुब्ध हुए मेरा मन कहीं भी शान्तिको प्राप्त न होकर क्षणके अर्धभागको भी वर्षोंके बराबर समझ रहा है ।

दैन्य [का उदाहरण] जैसे वहीं [कर्णामृतमें]—

हे दयासागर देव, अत्यन्त दीनतापूर्वक हाथ जोड़े हुए मुक्त कण्ठसे मैं आपसे यह याचना करता हूँ कि अपने कृपा-कटाक्षसे मुझे सिंचित करो ।

अथवा जैसे—

हे अघहर [एक ओर] आप [शशिमुकुट अर्थात्] शिव आदिके भी दर्शनके अगोचर होने [और दूसरी ओर] मैं कीटसे अधिक क्षुद्र कमवाला हूँ । इसलिए [मेरे तथा आपके भीतर अत्यन्त] प्रार्थनाके विषयमें अत्यन्त विसदृशता है [मैं आपसे प्रार्थना कर सकूँ इस योग्य भी नहीं हूँ ।] फिर आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि हे दीनबन्धो अपनी कटाक्ष छटासे मुझको अभिषिक्त करनेकी कृपा करो ।

निर्वेद [के आधिक्यका उदाहरण] जैसे—

इस श्लोकमें 'श्रुति' शब्द श्लिष्ट है । उसके दो अर्थ हैं एक वेद और दूसरा कन । इसमें नेत्रोंके 'श्रुतिनिषेवा' का वर्णन किया है । नेत्र कानों तक फैले हुए हैं यही उनका 'श्रुति-निषेवा' है । इसी श्रुतिनिषेवाको श्रुतिनिषेवा अर्थात् वेदश्रवण-रूप पवित्र कर्म मानकर उनकी श्लाघ्यताको कहा गया है । फिर भी उन्होंने कृष्णके रूपका दर्शन नहीं किया है इसलिए उन अभागोंका जन्म व्यर्थ ही इस बातको कवि इस श्लोकमें कह रहा है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

श्रुति [कान तथा वेद] का निषेवण करनेके कारण स्पष्ट रूपे श्लाघ्यताको प्राप्त करने पर भी मेरे इन अभागे नेत्रोंका जन्म ही व्यर्थ है [अभवनिर्भवतु] जिन्होंने आपके चरण-कमलके नखांकुरसे निकलनेवाली माधुर्यका धाम आपकी कान्तिका दर्शन नहीं किया ।

चिन्ता यथा—

हरिपदकमलावलोकतृष्णा तरलमतेरपि योग्यतामवीक्ष्य ।
अवनतवदनस्य चिन्तया मे हरि हरि निःश्वसतो निशाः प्रयान्ति ॥७२६॥

चापलं यथा कर्णामृते—

त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि
मच्चापलं च तव वा मम वाऽधिगम्यम् ।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥७२७॥

यथा वा—

ह्रियमघहर ! मुक्त्वा दृक्पतङ्गी ममासौ
भयमपि दमयित्वा भक्तवृन्दात्तृषाऽर्त्ता ।
निरवधिमविचार्य्य स्वस्य च क्षोदिमानं-
तव चरणसरोजं लेढुमन्विच्छतीश ! ॥७२८॥

जडता यथा सप्तमस्कन्धे—

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥७२९॥

यथा वा—

निमेषोन्मुक्ताक्षः कथमिह परिस्पन्दविधुरां-
तनुं बिभ्रद्भव्यः प्रतिकृतिरिवास्ते द्विजपतिः ।

चिन्ता [के आधिक्यका उदाहरण] जैसे—

हरिके चरण-कमलोंके दर्शनकी इच्छासे तरलमति होनेपर भी अपनी अयोग्यताको देखकर [लज्जासे] सिर झुकाए हुए मेरी रातें उसाँसें लेते हुए ही बीतती हैं ।

चापल [की अधिकताका उदाहरण] जैसे कर्णामृतमें—

आपका शैशव त्रिभुवनमें अद्भुत [अत्यन्त चपलता-युक्त] रहा था इसलिए [अपने शैशवकी चपलताके आधारपर] मेरी चपलताको, जिसे या तो तुम समझ सकते हो या मैं समझ सकता हूँ [तीसरा कोई नहीं समझ सकता है] उसे अनुमान कर लो । इसलिए हे मुरलीमनोहर, आपके सुन्दर मुखको अपने नेत्रोंसे देखनेके लिए यह बतलाइए कि मैं क्या उपाय करूँ ।

अथवा जैसे—

हे अघहर प्रभो, पतंगीके समान मेरी यह दृष्टि लज्जाको तथा भक्तसमुदयसे भयकी लज्जा तथा भयको छोड़कर और अपनी अपरिमित क्षुद्रताके पवचार न करके तृषातुर हुई आपके चरण-कमलोंका चुम्बन करना चाहती है ।

जड़ता [का उदाहरण] जैसे सप्तम स्कन्धमें—

[कृष्णके सुन्दर रूपको देखकर] खिलौनेको त्यागकर जड़के समान तन्मय हुआ मानो कृष्ण रूप ग्रहसे गृहीत हुआ-सा इस रूपमें [सामने स्थित] जगत्को नहीं देख रहा था । [अर्थात् कृष्णके सुन्दर रूपको देखकर बालक सब-कुछ भूल गया] ।

अये ज्ञातं वंशीरसिकनवरागव्यसनिना
पुरः श्यामाम्भोदे बत विनिहिता दृष्टिरमुना ॥७३०॥

उन्मादो यथा तत्रैव—

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥७३१॥

यथा वा—

क्वचिन्नटति निष्पटं क्वचिदसंभवं स्तम्भते
क्वचिद्विहसति स्फुटं क्वचिदमन्दमाक्रन्दति।
लसत्यनलसं क्वचित् चिदपार्थमार्त्तायते
हरेरभिनवोद्धुरप्रणयसीधुमत्तो मुनिः ॥७३२॥

मोहो यथा हरिभक्तिसुधोदये—

अयोग्यमात्मानमितीशदर्शने स मन्यमानस्तदनाप्तिकातरः।
उद्वेलदुःखार्णवमग्नमानसः स्रुताश्रुधारो द्विज ! मूर्च्छितोऽपतत् ॥७३३॥

यथा वा—

हरिचरणविलोकालब्धितापावलीभि-
र्बत विधुतचिदम्भस्यत्र नस्तीर्थवर्य्ये।

अथवा जैसे—

अरे यह भव्य [सुन्दर एवं योग्य] द्विजपति अपलक नेत्र और निस्पन्द देहको धारण किये हुए चित्रलिखित-सा क्यों खड़ा है। अच्छा समझ गया [कृष्णके] वंशीरागके इस रसिक ने सामने स्थित श्याममेघपर दृष्टि लगा रखी है। [उसमें कृष्ण साहृश्यको देखकर इसको स्तम्भ जड़ता उत्पन्न हो गई है]।

उन्माद [का उदाहरण] जैसे उसी [सप्तम स्कन्ध] में—

कहीं उत्कण्ठित होकर चिल्लाता घूमता है, कहीं निर्लज्ज होकर नाचने लगता है। कभी उन [कृष्ण] की भावनासे युक्त होकर उन्हींका अनुकरण करने लगता है।

अथवा जैसे—

कृष्णकी नवीन मदिराके आस्वादनसे मत्त हुए नारदमुनि कहीं नंगा होकर नाचने लगते हैं। कभी [असम्भवं अर्थात्] निर्जीव-से होकर अकड़ जाते हैं [स्तम्भते]। कभी ज़ोर-जोरसे हँसने लगते हैं और कभी जोरसे रोने लगते हैं। कभी [अनलसं लसति] फुर्तीके साथ दिखलाई देने लगते हैं और कभी बिना कारणके अत्यन्त दुःखी हो उठते हैं।

मोह [का उदाहरण] जैसे हरिभक्तिसुधोदयमें—

हे द्विज इसलिए भगवान्‌के दर्शनमें अपनेको अयोग्य समझकर उनकी प्राप्ति न हो सकनेके कारण अत्यन्त दुःखी, रोते हुए और प्रबल दुःखसागरमें जिनका मन डूबा जा रहा है इस प्रकारके [सः वह अर्थात्] प्रह्लाद मूर्छित हो गया।

अथवा जैसे—

हे साथियो, कृष्णके चरणोंके दर्शन न हो सकनेसे उत्पन्न सन्तापातिरेकके कारण जिनके चैतन्य-रूप जलका लोप हो गया है इस प्रकारके हमारे अपने गुरुजी [नस्तीर्थवर्यमें

श्रुतिपटुपरिवाहेनेशनामामृतानि
क्षिपत ननु सतीर्थ्याश्चेष्टतां प्राणहंसः ॥७३४॥

अथ वियोगः—

वियोगो लब्धसङ्गेन विच्छेदो दनुजद्विषा ॥५३॥

यथा—

वलिसुतभुजषण्डखण्डनाय क्षतजपुरं पुरुषोत्तमे प्रयाते ।
विधुतविधुरबुद्धिरुद्धवोऽयं विरहनिरुद्धमना निरुद्धवोऽभूत् ॥७३५॥

अङ्गेषु तापः कृशता जागर्य्याऽऽलम्बशून्यता ।
अधृतिर्जडता व्याधिरुन्मादो मूर्च्छितं मृतिः ॥५४॥
वियोगसंभ्रमप्रीतेर्दशावस्थाः प्रकीर्त्तिताः ।
अनवस्थितिराख्याता चित्तस्यालम्बशून्यता ॥५५॥
अरागिता तु सर्वस्मिन्नधृतिः कथिता बुधैः ।
अन्येऽष्टौ प्रकटार्थत्वात्तापाद्या न हि लक्षिताः ॥५६॥

तीर्थ शब्द श्लिष्ट है उसका एक अर्थ गुरु और दूसरा अर्थ तीर्थ जल है] के भीतर श्रवण-रूप बड़ी नालीके द्वारा भगवान्के नाम-रूप जल अमृतका प्रवेश कराओ जिससे इनका प्राण-रूप हंस चेष्टा करने लगे ।

श्लोकमें अपने गुरुका तीर्थके साथ सादृश्य दिखलाया है । अधिक गर्मीसे तीर्थका जल सूख जाता है । तब उसमें नहर द्वारा पानी पहुँचाने पर ही हंसादि पक्षियोंको विहार करनेका अवसर मिलता है । इसी प्रकार गुरुजी भगवान् कृष्णके चरणोंके दर्शन न होनेसे उत्पन्न तापावलीने गुरुजीके रूप तीर्थके चैतन्य-रूप जलको विलुप्त कर दिया है । उसमें श्रोत्र-रूप नहर परिवाहके द्वारा भगवान्के नामामृतको पहुँचानेसे ही उनका प्राण-रूप हंस फिर चैतन्य होकर विहार कर सकता है यह इस श्लोकका भाव है ।

अब वियोग [रूप प्रीतिभक्तिरसको कहते हैं]—

[एक बार कृष्णका] संग प्राप्त होनेपर फिर कृष्णसे संगका विच्छेद वियोग कहलाता है ॥५३॥

जैसे—

जब कृष्ण [बलिसुत अर्थात्] बाणासुरकी भुजाओंके काटनेके लिए [उसकी राजधानी क्षतजपुर अर्थात्] शोणितपुरको चले गए तब कम्पित एवं दुखी मनवाले उद्धव विरहाकुल होकर [निरुद्धवः उद्धवसे भिन्न] कुछ और ही से हो गए ।

वियोगसम्भ्रमप्रीतिकी दश अवस्थाएँ—

१ अंगोंमें सन्ताप, २ कृशता, ३ जागरण, ४ चित्तकी अस्थिरता, आलम्बन-शून्यता, ५ अधृति [धैर्यका अभाव], ६ जड़ता, ७ व्याधि, ८ उन्माद, ९ मूर्छा तथा १० मरण ॥५४॥

वियोगसम्भ्रमप्रीतिकी ये दश अवस्थाएँ कही गई हैं । इनमेंसे चित्तकी अस्थिरताको आलम्बन-शून्यता कहा जाता है ॥५५॥

और किसी विषयमें रागका न होना अधृति कहलाती है । और तापादि शेष आठका

तत्र तापो यथा—

अस्मान् दुनोतु कमलं तपनस्य मित्रं-
रत्नाकरश्च वडवाऽनलगूढमूर्त्तिः।
इन्दीवरं विधुसुहृन् कथमीश्वरं वा
तं स्मारयन्मुनिपते ! दहतीह सभ्यान ॥७३६॥

कृशता यथा—

दधति तव तथाऽद्य सेवकानां भुजपरिघाः कृशतां च पाण्डुतां च।
पतति बत यथा मृणालबुद्ध्या स्फुटमिह पाण्डवमित्र ! पाण्डुपक्षः ॥७३७॥

जागर्य्या यथा—

विरहान्मुरविद्विषश्चिरं विधुराङ्गे परिखिन्नचेतसि।
क्षणदाः क्षणदायितोज्झिता बहुलाश्वे बहुलास्तदाऽभवन ॥७३८॥

आलम्बनशून्यता यथा—

विजयरथकुटम्बिना विनाऽन्य-
न्न किल कुटुम्बमिहास्ति नस्त्रिलोक्याम्।
भ्रमदिदमनवेद्य तत्पदाब्जं-
क्वचिदपि न व्यवतिष्ठतेऽद्य चेतः ॥७३९॥

अर्थ स्पष्ट है इसलिए उनके लक्षण नहीं किए हैं ॥५६॥

उनमेंसे ताप [का उदाहरण] जैसे—

[यह नारदके प्रति उद्धवका वाक्य है। उद्धव कहते हैं कि कृष्णके वियोगमें] कमल हमको सन्ताप दे तो ठीक है क्योंकि वह [सन्तापदायक] सूर्यका मित्र है। और जिसके भीतर वड़वानल छिपा हुआ है वह सागर भी हमारे लिए सन्तापदायक हो सकता है। किन्तु यह चन्द्रमाका मित्र और [अपने नीले रंगके द्वारा] भगवान् कृष्णका स्मरण करनेवाले यह इन्दीवर [अर्थात् रात्रिमें खिलनेवाला नील-कमल] हम सभ्योंको क्यों जला रहा है।

कृशता [का उदाहरण] जैसे—

हे पाण्डवमित्र [अर्थात् हे कृष्ण] आज आपके सेवकोंके लम्बे-लम्बे बाहु [आपके वियोगमें] ऐसे पतले और सफेद हो गए हैं कि [पाण्डुपक्ष अर्थात्] हंस उनको मृणाल समझकर उनके [खानेके लिए उनके] ऊपर टूट पड़ते हैं।

जागरण [का उदाहरण] जैसे—

कृष्णजीके वियोगके कारण बहुत समय तक दुःखी एवं खिन्न चित्तवाले बहुलाश्वके लिए [क्षणदा अर्थात् आनन्द प्रदान करनेवाली] रात्रियाँ अपने [क्षणदायिता अर्थात्] आनन्द-प्रदायित्व रूप धर्मको छोड़कर [बहुला अर्थात् दुःखमयी] काली रात्रियाँ बन गईं।

आलम्बन-शून्यता [का उदाहरण] जैसे—

[विजयरथ अर्थात्] अर्जुनके [कुटुम्बी अर्थात्] सारथि [अर्थात् कृष्ण] के सिवाय हमारा इस संसारमें और कोई [कुटुम्बी अर्थात्] सम्बन्धी नहीं है। इसलिए उनके चरण-कमलोंको दर्शन न पानेसे चकराता हुआ हमारा यह मन आज कहीं भी नहीं टिक रहा है।

अधृतिर्यथा—

प्रेक्ष्य पिञ्छकुलमक्षि पिधत्ते नैचिकीनिचयमुज्झति दूरे।
वष्टि यष्टिमपि नाद्य मुरारे! रक्तकस्तव पदाम्बुजरक्तः ॥७४०॥

जडता यथा—

यौधिष्ठिरं पुरमुपेयुषि पद्मनाभे
खेदानलव्यतिकरैरतिविक्लवस्य।
स्वेदाश्रुभिर्न हि परं जलतामवापु-
रङ्गानि निष्क्रियतया च किलोद्धवस्य ॥७४१॥

व्याधिर्यथा—

चिरयति मणिमन्वेष्टुं चलिते मुरभिदि कुशस्थलीपुरतः।
समजनि धृतनव्याधिः पवनव्याधिर्यथाऽर्थाख्यः ॥७४२॥

उन्मादो यथा—

प्रोषिते बत निजाधिदैवते रैवते नवमवेक्ष्य नीरदम्।
भ्रान्तधीरयमधीरमुद्धवः पश्य नौति रमते नमस्यति ॥७४३॥

मूर्च्छितं यथा—

अधृति [का उदाहरण] जैसे—

हे मुरारे! [आपके वियोगमें] आपके चरण-कमलका अनुरागी यह रक्तक [नामक आपके सेवक उद्दीपन रूप] मोरपंखोंको देखकर आँख स्वयं बन्द कर लेता है और [नैचिकी-निचय अर्थात्] गो-समूहको [उज्झति दूरे दूर छोड़ देता है अर्थात्] देखना नहीं चाहता है। यहाँ तक कि विरहका यष्टि अर्थात् मुरली [या हार] को भी [उद्दीपक होनेके कारण] नहीं देखना चाहता है।

जड़ता [का उदाहरण] जैसे—

पद्मनाभ कृष्णके [यौधिष्ठिरं पुरं अर्थात्] इन्द्रप्रस्थको चले जानेपर [वियोगकी] दुःखाग्निसे अत्यन्त सन्तप्त उद्धवका शरीर केवल स्वेद तथा अश्रुओंसे ही जलता [अर्थात् द्रवीभाव] को प्राप्त नहीं हुआ अपितु निष्क्रिय हो जानेसे भी जड़ताको प्राप्त हुआ। [डलयोरभेदात इस सिद्धान्तके अनुसार जलत पदाके जलता अर्थात् द्रवीभाव तथा जड़ता दोनों अर्थ होते हैं]।

व्याधि [का उदाहरण] जैसे—

[कुशस्थलीपुरतश्च अर्थात्] द्वारिकापुरीसे [कौस्तुभ] मणिकी खोजमें निकले हुए कृष्ण के [वापिस आनेमें] देर होते देखकर व्याधिसे युक्त हो जानेसे [उद्धवका] 'पवन व्याधि' नाम चरितार्थ हो गया।

उन्माद [का उदाहरण] जैसे—

अपने अधिदेवता [कृष्ण] के चले जानेपर रैवतक पर्वतपर नवीन मेघको देखकर विचलित बुद्धि और अधीर हुए उद्धव [पागलोंकी तरह उस मेघकी कभी] स्तुति करते हैं, आनन्दित होते हैं और उसको नमस्कार करते हैं।

मूर्छा [का उदाहरण] जैसे—

समजनि दशा विश्लेषात्ते पदाम्बुजसेविनां-
व्रजभुवि तथा नासीन्निद्रालवोऽपि यथा पुरा।
यदुवर! दरश्वासेनामी वितर्कितजीविताः
सततमधुना निश्चेष्टाङ्गास्तटान्यधिशेरते ॥७४४॥

मृतिर्यथा—

दनुजदमन! याते जीवने त्वय्यकस्मा-
त्प्रचुरविरहतापैर्ध्वस्तहृत्पङ्कजायाम्।
व्रजमभि परितस्ते दासकासारपङ्क्तौ
न किल वसतिमार्त्ताः कर्त्तुमिच्छन्ति हंसाः ॥७४५॥

अशिवत्वान्न घटते भक्ते कुत्राप्यसौ मृतिः।
क्षोभकत्वाद्वियोगस्य जातप्रायेति कथ्यते ॥५७॥

अथ योगः—

कृष्णेन सङ्गमो यस्तु स योग इति कीर्त्यते।
योगोऽपि कथितः सिद्धिस्तुष्टिः स्थितिरिति त्रिधा ॥५८॥

हे यदुवर आपके वियोगसे आपके चरण-सेवकोंकी ऐसी दशा हो गई कि पहलेके समान उनको नामको भी नींद नहीं आती किन्तु मन्द-मन्द श्वाससे जिनके जीवनका अनुमान किया जा सकता है इस प्रकारके वे निरन्तर निश्चलांग होकर [यमुनाके] किनारोंपर पड़े रहते हैं।

मरण [का उदाहरण] जैसे—

इस श्लोकमें श्लिष्ट-परम्परित रूपक है। कृष्णके ऊपर जीवनका आरोप किया गया है। जीवन-पद श्लिष्ट है। उसका एक अर्थ जीवन अर्थात् प्राणसंयोग है और दूसरा अर्थ जल है। हृदयके ऊपर पंकजका, दासपंक्तिके ऊपर कासारपंक्ति अर्थात् तालाब समूहका तथा प्राणोंपर हंसका आरोप किया गया है। कृष्णके वियोगमें दास-रूप कासारों तालाबोंका जीवन अर्थात् जलके विलुप्त हो जानेसे उनके हृदय-कमल सूख गए हैं। और हंस अर्थात् प्राण उनमें वास नहीं करना चाहता है। अर्थात् प्राण निकलनेवाले हैं। यह श्लोकका भाव है। शब्दार्थ इस प्रकार है—

हे राक्षसोंका विनाश करनेवाले [कृष्ण! सेवक] 'जीवन'-रूप आपके अकस्मात् चले जानेसे व्रजमें चारों ओर प्रचण्ड विरहके तापसे जिनके हृदय-कमल सूख गए हैं इस प्रकारकी दास-रूप तालाबोंकी पंक्तिमें अब हंस [रूप प्राण वास नहीं करना चाहते हैं]।

अमंगल रूप होनेसे भक्तोंमें कहीं भी [वास्तविक] मरण उचित नहीं होता है। इसलिए वियोगके क्षोभकारी होनेसे जातप्राय [अर्थात् करीब-करीब मर गया इस रूपमें मरणको] कहा जाता है ॥५७॥

अब योग [रूप सम्भ्रमप्रीतिका वर्णन करते हैं]—

कृष्णके साथ जो संगमका होना है उसको योग कहते हैं। वह योग भी १ सिद्धि, २ तुष्टि तथा ३ स्थिति [भेदसे] तीन प्रकारका माना जाता है ॥५८॥

तत्र सिद्धिः—

उत्कण्ठिते हरेः प्राप्तिः सिद्धिरित्यभिधीयते ।

यथा कर्णामृते—

मौलिश्चन्द्रकभूषणो मरकतस्तम्भाभिरामं वपु-
र्वक्त्रं चित्रविमुग्धहासमधुरं बाले विलोले दृशौ ।
वाचः शैशवशीतला मदगजश्लाघ्या विलासस्थिति-
र्मन्दं मन्दमये क एष मथुरावीथीं मिथो गाहते ॥७४६॥

यथा वा श्रीदशमे—

रथात् तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः प्रेमविह्वलः ।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥७४७॥

तुष्टिः—

जाते वियोगे कंसारेः संप्राप्तिस्तुष्टिरुच्यते ॥५९॥

यथा प्रथमस्कन्धे—

कथं वयं नाथ ! चिरोषिते त्वयि
प्रसन्नदृष्ट्याऽखिलतापशोषणम् ।
जीवाम ते सुन्दरहासशोभित-
मपश्यमाना वदनं मनोहरम् ॥७४८॥

यथा वा—

समभ्रमभ्रमः प्रेक्ष्य हरिमञ्जलिबन्धने ।
दारुको द्वारकाद्वारि तत्र चित्रदशां ययौ ॥७४९॥

उनमेंसे सिद्धि [का लक्षण उदाहरणादि देते हैं]—

[कृष्णकी प्राप्तिके लिए] उत्कण्ठित [भक्त] को कृष्णकी प्राप्तिका होना सिद्धि [रूप योग] कहलाता है ।

जैसे कर्णामृतमें—

हे बाले सिर पर मोरपंखके मुकुटसे भूषित, मरकतमणिके स्तम्भके समान मुखवाला सुन्दर एवं सरल हास्यसे मनोहर-वदन, चंचल नेत्र बालपनके कारण शीतल वाणीवाला तथा मदमत्त हाथीके समान जिसकी गति तथा स्थिति है इस प्रकारका यह कौन मथुरापुरीकी गलियों में घूम रहा है ।

अथवा जैसे दशम स्कन्धमें—

[कृष्ण तथा बलरामको देखकर] प्रेमसे विह्वल हुए अक्रूरजी रथपरसे तुरन्त कूदकर कृष्ण और बलरामके चरणोंपर गिर पड़े ।

तुष्टि [रूप योगका लक्षणादि करते हैं]—

कृष्णका वियोग हो जानेपर दुबारा प्राप्ति तुष्टि [नामक योग] कही जाती है ॥५९॥

जैसे प्रथम स्कन्धमें—

हे नाथ बहुत दिनोंसे आपके चले जानेके बाद, अपनी प्रसन्न दृष्टिसे सारे सन्तापोंका नाश करनेवाले और सुन्दर हायसे शोभित आपके मुखको देखे बिना हम कैसे जीवित रहें ।

स्थितिः—

सहवासो मुकुन्देन स्थितिर्निगदिता बुधैः ।

यथा हंसदूते—

पुरस्तादाभीरीगणभयदनामा स कठिनो-
मणिस्तम्भालम्बी कुरुकुलकथाः संकथयिता ।
स जानुभ्यामष्टापदभुवमवष्टभ्य भविता
गुरोः शिष्यो नूनं पदकमलसंवाहनरतः ॥७५०॥

निजावसरशुश्रूषाविधाने सावधानता ॥६०॥
पुरस्तस्यानिवेशाद्या योगेऽमीषां क्रिया मताः ।
के चिदस्या रतेः कृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः ॥६१॥
भावत्वमेव निश्चित्य न रसावस्थतां जगुः ।
इति तावदसाधीयो यत्पुराणेषु केषु चित् ॥६२॥
श्रीमद्भागवते चैष प्रकटो दृश्यते रसः ।

तथा हि—

क्व चिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्व चि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

अथवा जैसे—

द्वारिकाके दरवाजेपर कृष्णको सामने [आता हुआ] देखकर [हर्षातिरेकके कारण] हाथोंके जोड़नेमें भी असमर्थ दारुक [नामक कृष्णके सेवक] की दशा चित्रलिखित-सी [अथवा विचित्र-सी] हो गई ।

स्थिति [रूप योगकी तृतीयावस्थाका लक्षणादि करते हैं]—

कृष्णके साथ निवासको विद्वान् लोग स्थिति कहते हैं ।

जैसे हंसदूतमें—

[ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेका प्रयत्न करनेके कारण] जिसके नामसे भी गोपियोंको भय मालूम पड़ता है इस प्रकारका और मणिस्तम्भके सहारे [बैठकर] कुरुकुलकी कथाओंको कहनेवाले वे बृहस्पतिके शिष्य [अर्थात् उद्धव] [कृष्णके] सामने स्वर्णिम भूमिके ऊपर घुटने टेककर निश्चय ही उनके पैर दबाने लगेंगे ।

अपने पर्याय पर [कृष्णकी] सेवा करनेमें सावधानता, और उन [कृष्ण] के सामने न बैठना आदि [कृष्णके साथ] संयोगके कालमें इन [भक्तों] की क्रियाएँ होती हैं ।।६०।।

भक्तिरसको न मानने वालोंका खण्डन—

कृष्णभक्तिके रसास्वादसे शून्य कुछ लोग [कृष्ण-विषयक] रतिको 'भावरूप' स्वीकार कर रस नहीं मानते हैं ।।६१।।

किन्तु [उनका] यह मत ठीक नहीं है । क्योंकि कहीं-कहीं [अन्य] पुराणोंमें और भागवतमें [विशेष रूपसे] यह [प्रीतिभक्तिरस] स्पष्ट रूपसे दिखलाई देता है ।।६२।।

जैसे कि—

[कृष्णके प्रेममें निमग्न होकर] अलौकिक [भक्तगण] कृष्णका चिन्तन करते हुए

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं-
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥७५१॥

निशम्य कर्म्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्य्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यतीति ॥७५२॥

एषाऽत्र भक्तभावानां प्रायिकी प्रक्रियोदिता ॥६३॥
किन्तु कालादिवैशिष्ट्यात्मक्क चित्स्यात् सीमलङ्घनम् ।

अथ गौरवप्रीतिः—

लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिर्गौरवोत्तरा ॥६४॥
सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीति उच्यते ।

अत्रालम्बनाः—

हरिश्च तस्य लाल्याश्च भवन्त्यालम्बना इह ॥६५॥

तत्र हरिर्यथा—

अयमुपहितकर्णः प्रस्तुते वृष्णिवृद्धै-
र्यदुपतिरितिहासे मन्दहासोज्ज्वलात्यः ।
उपदिशति सुधर्म्मामध्यमध्यास्य दीव्यन्
हितमिह निजयाऽग्रे चेष्टयैवात्मजान्नः ॥७५३॥

कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, नाचते-गाते और कृष्णका ध्यान करते हैं। और उनको [ध्यान में] पाकर शान्त हो जाते हैं।

अपने लीलामय शरीरों द्वारा किये हुए [कृष्णके] कार्योंको तथा [उनके] अनुपम गुणों तथा पराक्रमोंको सुनकर जब हर्षातिरेकसे रोमांचित और गद्गद होकर उच्चस्वरसे गाने लगता है या रोता है और नाचने लगता है।

यह भक्तजनोंके भावोंकी सामान्य प्रक्रिया कही है। किन्तु कभी-कभी विशेष समयपर [इन कार्योंमें भी] सीमाका उल्लंघन हो जाता है।

अब गौरवप्रीति [का वर्णन करते हैं]—

[लाल्याभिमानी अर्थात्] अपनेको कृष्णका कृपापात्र मानने वालोंमें कृष्णके प्रति गौरव-प्रधान प्रीति होती है वही विभावादिके द्वारा परिपुष्ट होनेपर गौरव-प्रीति कहलाती है ॥६४॥

इस [गौरवप्रीत] के आलम्बन [निम्न होते हैं]—

इस [गौरवप्रीति] में कृष्ण और उनके [लाल्य अर्थात्] कृपापात्र आलम्बन हो हैं ॥ ६५ ॥

उनमेंसे कृष्ण [के आलम्बन होनेका उदाहरण] जैसे—

यादवकुलके वृद्धजनोंके द्वारा [यदुवंशके] इतिहासका वर्णन आरम्भ करने पर ध्यान-पूर्वक सुनकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए [सुधर्माकी सभा अर्थात्] देवताओंकी सभाके बीच

महागुरुर्महाकीर्त्तिर्महाबुद्धिर्महाबलः ।
रक्षी लालक इत्याद्यैर्गुणैरालम्बनो हरिः ॥६६॥

अथ लाल्याः—

लाल्याः किल कनिष्ठत्वपुत्रत्वाद्यभिमानिनः ।
कनिष्ठाः सारणगदसुभद्राप्रमुखाः स्मृताः ॥६७॥

प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याश्च कुमारकाः ।

एषां रूपं—

अपि मुरान्तकपार्षदमण्डलादधिकमण्डनवेषगुणाश्रयः ।
असितपीतसितद्युतिभिर्युता यदुकुमारगणा पुरि रेमिरे ॥७५४॥

भक्तिः—

सर्धि भजन्ति हरिणा मुखमुन्नमय्य
ताम्बूलचर्वितमदन्ति च दीयमानम् ।
घ्रातश्च मूर्ध्नि परिरभ्य भवन्त्युदस्राः
साम्बादयः कति पुरा विदधुस्तपांसि ॥७५५॥

रुक्मिणीनन्दनस्तेषु लाल्येषु प्रवरो मतः ॥६८॥

बैठकर शोभायमान कृष्ण अपनी चेष्टाओं द्वारा ही अपने पुत्र रूप हमको हितका उपदेश देते रहे हैं ।

महान् गुरु, महान् कीर्तिशाली, महान् बुद्धिमान्, महाबली, रक्षक तथा लालन करने वाले आदि गुणोंसे युक्त कृष्ण [गौरवप्रीतिमें] आलम्बन होते हैं ॥ ६६ ॥

अब [लाल्य अर्थात् कृष्णके] कृपापात्र [आलम्बनोंको कहते हैं]—

अपनेको [कृष्णसे] छोटा या उनका पुत्रजैसा माननेवाले आदि [कृष्णके लाल्य आलम्बन विभाव] होते हैं । [उनमेंसे] सारण, गद, सुभद्र आदि कनिष्ठ [आलम्बन] माने जाते हैं ॥ ६७ ॥

प्रद्युम्न तथा चारुदेष्ण तथा साम्ब आदि कुमार [अर्थात् पुत्रत्वाभिमानी] माने जाते हैं।

इन [दोनों प्रकारके लाल्यजनों] का स्वरूप [निम्न प्रकार माना जाता है]—

कृष्णके [पार्षदमण्डल अर्थात् मित्रमण्डलसे भी अधिक अलंकार वेष और गुणोंको धारण करने वाले काली, पीली, सफेद आदि कान्तियोंसे युक्त यादवोंके कुमारगण [द्वारिका] पुरीमें शोभायमान हो रहे थे ।

[इन लाल्यजनोंकी] भक्ति [निम्न प्रकार मानी जाती है]—

कृष्णके साथ खाना खाते हैं । कृष्णके द्वारा मुख उठाकर [उनसे प्रेमपूर्वक] दिए जानेवाले पानोंके बीड़ा खाते हैं [कृष्णके द्वारा प्रेमपूर्वक] सिर सूघने पर उनसे लिपटकर [आनन्दातिरेकसे] आंसू बहाने लगते हैं । इन साम्ब आदि [कुमारों] ने पूर्व जन्ममें कितने पुण्य किये थे [जो उन्हें कृष्णका जैसा दिव्य प्रेम प्राप्त करनेका सौभाग्य मिला है]।

इन सब लाल्यजनोंमें रुक्मिणी पुत्र [प्रद्युम्न] सबसे प्रमुख माने जाते हैं ॥ ६८ ॥

तस्य रूपं—

स जयति शम्बरदमनः सुकुमारो यदुकुमारकुलमौलिः ।
जनयति जनेषु जनकभ्रान्तिं यः सुष्ठु रूपेण ॥७५६॥

भक्तिः—

प्रभावति ! समीक्ष्यतां दिवि कृपाऽम्बुधिर्मादृशां-
स एष परमो गुरुर्गरुडगोयदूनां पतिः ।
यतः किमपि लालनं वयमवाप्य दर्पोद्धुराः
पुरारिमपि संगरे गुरुरुषं तिरस्कुर्महे ॥७५७॥

उभयेषां सदाऽऽराध्यधियैव भजतामपि ।
सेवकानामिहैश्वर्य्यज्ञानस्यैव प्रधानता ॥६९॥
लाल्यानां तु स्वसम्बन्धस्फूर्त्तिरेव समन्ततः ।
व्रजस्थानां परैश्वर्य्यज्ञानशून्यधियामपि ॥७०॥
अस्त्येव वल्लवाधीशपुत्रत्वैश्वर्य्यवेदनम् ।

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपनास्तु वात्सल्यस्मितप्रेक्षाऽऽदयो हरेः ॥७१॥

उनका रूप [निम्न प्रकार कहा जाता है]—

जो [प्रद्युम्न] अपने सुन्दर रूपके द्वारा लोगोंमें अपने पिता [कृष्ण] की भ्रान्तिको उत्पन्न करते हैं कामदेवको भी पराजित करने वाले यदुकुमारगणोंके शिरोमणि वे सुकुमार प्रद्युम्न सर्वोत्कर्षशाली है ।

[उनकी] भक्ति [का वर्णन निम्न प्रकार किया जाता है]—

[हरिवंशोक्त प्रभावती हरणमें प्रभावतीके पास बैठे प्रद्युम्न प्रभावतीसे कह रहे हैं कि] हे प्रभावती ! देखो, मुझ जैसों पर कृपा करने वाले, गरुड़, गौ तथा यादवोंके स्वामी यह वे [कृष्ण] स्वर्गमें स्थित हैं जिनके अपूर्व लालनको पाकर अभिमानसे फूले हुए हम अत्यन्त प्रकुपित हुए इन्द्रको भी युद्धमें तुच्छ तिरस्कृत कर देते हैं ।

[९ इसी लहरीकी २१वीं कारिकामें कहे हुए पुरस्थ तथा व्रजस्थ] दोनों प्रकारके सेवक यद्यपि आराध्यबुद्धिसे ही [कृष्णकी] सेवा करते हैं किन्तु उनमें [कृष्णके] ऐश्वर्य-ज्ञानकी ही प्रधानता रहती है ॥ ६९ ॥

लाल्यजनोंमें [कृष्णके साथ] अपने सम्बन्ध के ज्ञानकी प्रतीति हो [प्रधान रूपसे] होती है ।

[कृष्णके] परम ऐश्वर्यके ज्ञानसे रहित बुद्धिवाले व्रजस्थ सेवकोंमें भी गोकुलाधीशके पुत्रत्व-रूप ऐश्वर्यका ज्ञान तो रहता ही है ॥ ७० ॥

अब [प्रीतिभक्तिके] उद्दीपन विभावोंको कहते हैं—

कृष्णका वात्सल्य और मुस्कराकर देखना आदि [प्रीतिभक्ति रसके] उद्दीपन होते हैं ।

यथा—

अग्रे सानुग्रहं पश्यन्नग्रजं व्यग्रमानसः ।
गदः पदारविन्देऽस्य विदधे दण्डवन्नतिम् ॥७५८॥

अथानुभावाः—

अनुभावास्तु तस्याग्रे नीचासननिवेशनम् ।
गुरोर्वर्त्मानुसारित्वं धुरस्तस्य परिग्रहः ॥७२॥
स्वैराचारविमोक्षाद्याः शीता लाल्येषु कीर्त्तिताः ।

तत्र नीचासननिवेशनं यथा—

यदुसदसि सुरेन्द्रैर्द्रागुपव्रज्यमानः
सुखदकरकवार्भिर्ब्रह्मणाऽभ्युक्षिताङ्गः ।
मधुरिपुमभिवन्द्य स्वर्णपीठानि मुञ्चन्
भुवमभि मकराङ्को राङ्कवं स्वीचकार ॥७५८॥

दासैः साधारणाश्चान्ये प्रोच्यन्तेऽमीषु के चन ॥७३॥
प्रणामो मौनबाहुल्यं संकोचः प्रश्रयाढ्यता ।
निजप्राणव्ययेनापि तदाज्ञापरिपालनम् ॥७४॥
अधोवदनता स्थैर्य्यं कासहासादिवर्जनम् ।
तदीयातिरहः केलिवार्त्ताव्युपरमादयः ॥७५॥

जैसे—

अनुग्रहयुक्त [अर्थात् वात्सल्य एवं प्रेमसे परिपूर्ण] कृष्णको सामने देखकर विचलित मन उद्धवने उनके चरणोंमें दण्डवत् [गिरकर] नमस्कार किया ।

अब [प्रीतिभक्तिरसके] अनुभाव [कहते हैं]—

उन [कृष्ण] के सामने नीचे आसन पर बैठना, गुरुके मार्गमें पीछे-पीछे चलना और उनके [रथादिके] धुरेको पकड़ना तथा [स्वैराकार अर्थात्] उच्छृंखलताका परित्याग ये लाल्यजनोंमें [होने वाले] शीतल अनुभाव हैं ॥ ७२ ॥

उनमेंसे नीचे आसनपर बैठनेका उदाहरण जैसे—

यादवोंकी सभामें [सम्मिलित होनेवाले] देवताओंने झटसे आगे आकर जिनका स्वागत किया और ब्रह्माने अपने कमण्डलुके जलसे जिसका अभिषेक किया है इस प्रकारके प्रद्युम्न कृष्णजीको नमस्कार करके स्वर्ण-सिंहासनोंको छोड़कर [अर्थात् स्वर्ण-सिंहासन पर न बैठकर भूमि पर पड़े हुए मृगचर्मके आसनको स्वीकार किया । [अर्थात् कृष्णके सामने प्रद्युम्न जमीन पर बिछे मृगचर्मके ऊपर बैठे] ।

अब इन [लाल्यजनों] में दासोंके समान पाये जानेवाले कुछ अनुभावोंको कहते हैं ॥७३॥

प्रणाम करना, अधिकतर चुप रहना, संकोच, विनयका बाहुल्य और अपने प्राणोंको देकर भी आज्ञाका पालन करना—॥ ७४ ॥

सिर नीचा रखना, स्थिरता [अर्थात् चपलता न करना], खाँसने और हँसने आदिका

अथ सात्त्विकाः—

कन्दर्प ! विन्दति मुकुन्दपदारविन्द-
द्वन्द्वे दृशोः पदमसौ किल निष्प्रकम्पा ।
प्रालेयविन्दुनिचितं धृतकण्टका ते
स्विन्नाऽद्य कण्टलिफलं तनुरन्वकार्षीत् ।।७६०।।

अथ व्यभिचारिणः—

अनन्तरोक्ताः सर्वेऽत्र भवन्ति व्यभिचारिणः ।

तत्र हर्षो यथा—

दूरे दरेन्द्रस्य नभस्युदीर्णे ध्वनौ स्थितानां यदुराजधान्याम् ।
तनूरुहैस्तत्र कुमारकाणांनटैश्च हृष्यद्भिरकारि नृत्यम् ।।७६१।।

निर्वेदो यथा—

धन्यः साम्ब ! भवान् सरिङ्गणमयन्पार्श्वे रजःकर्बुरो-
यस्तातेन विकृष्य वत्सलतया स्वोत्सङ्गमारोपितः ।
धिङ्मां दुर्भगमत्र शम्बरमयैर्दुर्दैवविस्फूर्जितैः
प्राप्ता न क्षणिकाऽपि लालनरतिः सा येन बाल्ये पितुः ।।७६२।।

अथ स्थायी—

परित्याग और उनकी अत्यन्त गुप्त क्रीड़ा तथा बातों आदिसे दूर रहना [ये सब दासोंके समान लाल्यजनोंमें भी होनेवाले अनुभाव हैं ।। ७५ ।।

अब [प्रीतिभक्तिरसके] सात्विक भाव [बतलाते हैं]—

हे कन्दर्प ! [अर्थात् प्रद्युम्न] कृष्णके चरणारविन्दोंके दिखलाई देते ही निश्चल, रोमांचित और पसीनेसे युक्त तुम्हारा शरीर ओसकी बूंदोंसे सिंचित कटहलके फलका अनुकरण कर रहा था ।

अब [प्रीतिभक्तिरसके] व्यभिचारिभाव [बतलाते हैं]—

[इसी लहरीकी ५४-५६ कारिकाओंमें] अभी पीछे कहे हुए सभी इसमें व्यभिचारिभाव होते हैं ।

उनमेंसे हर्ष [रूप व्यभिचारिभावका उदाहरण] जैसे—

आकाशमें दूर पर [कृष्णके] शंखाराज [पांचजन्यकी ध्वनिके उत्पन्न होनेपर यादवों की राजधानीमें स्थित कुमारोंके रोम और नट [दोनों] आल्हादित होकर नाचने लगे ।

निर्वेद [रूप व्यभिचारिभावका उदाहरण] जैसे—

हे साम्ब ! तुम धन्य हो क्योंकि रेंगकर चलनेके कारण दोनों पार्श्वोंमें धूल-धूसरित जिसको पिताजी [कृष्ण] ने वात्सल्यके कारण खींचकर अपनी गोदीमें बिठा लिया ! मुझ अभागेको धिक्कार है जिसने कामदेव सदृश होनेके दुर्भाग्यके कारण बाल्यावस्थामें पिताजीके उस वात्सल्यमय प्रेमको नाममात्रको भी प्राप्त नहीं किया ।

अब [प्रीतिभक्तिके] स्थायिभाव [को कहते हैं]—

देहसम्बन्धितामात्राद् गुरुधीरत्र गौरवम् ॥७६॥
तन्मयी लालके प्रीतिर्गौरवप्रीतिरुच्यते ।
स्थायी भावोऽत्र सा चैषामामूलात् स्वयमुच्छ्रिता ॥७७॥
कं चिद्विशेषमापन्ना प्रेमेति स्नेह इत्यपि ।
राग इत्युच्यते चात्र गौरवप्रीतिरेव सा ॥७८॥

तत्र गौरवप्रीतिर्यथा—

मुद्रां भिनत्ति न रदच्छदयोरमन्दां-
वक्त्रं च नोन्नमयति स्रवदस्रकीर्णम् ।
धीरः परं किमपि संकुचतीं झषाङ्को-
दृष्टिं क्षिपत्यघभिकश्चरणारविन्दे ॥७६३॥

प्रेम यथा—

द्विषद्भिः क्षोदिष्ठैर्जगदविहतेच्छस्य भवतः
करादाकृष्येव प्रसभमभिमन्यावपि हते ।
सुभद्रायाः प्रीतिर्दनुजदमन ! त्वद्विषयिका
प्रपेदे कल्याणी न हि मलिनिमानं लवमपि ॥७६४॥

स्नेहो यथा—

[पितादिके रूपमें स्वाभाविक] देहसम्बन्ध मात्रके कारण जो [कृष्णके प्रति ये मेरे गुरु हैं इस प्रकारकी] जो गुरुबुद्धि है वही गौरव कहलाती है ॥ ७६ ॥

और इन [लाल्यजनोंमें] प्रारम्भसे [अर्थात् बाल्यावस्थासे] स्वयं उदित हुई यह [गौरवप्रीति] ही इसमें स्थायिभाव होती है ॥ ७७ ॥

लालन करने वाले [कृष्ण] के प्रति इस प्रकारकी गौरवमयी प्रीति ही गौरवप्रीति कहलाती है ।

उसमें किसी प्रकारकी विशेषता हो जाने पर वही [गौरवप्रीति] प्रेम, स्नेह और राग आदि भी प्रेम, स्नेह, राग भी कहलाती है ॥ ७८ ॥

उनमेंसे गौरवप्रीति [का उदाहरण] जैसे—

[कृष्णके सामने प्रद्युम्न] ओठोंकी मुद्राको तनिक भी नहीं खोलते हैं [अर्थात् उनके प्रति गौरवप्रीतिके कारण तनिक भी नहीं हसते हैं] और बहते हुए प्रेमाश्रुओंसे युक्त मुखको ऊपर नहीं उठाते हैं । बल्कि कुछ अपूर्व ढंगसे झुकी जाती हुई अपनी दृष्टिको श्रीकृष्णजीके चरणकमलोंमें लगाये हुए हैं ।

प्रेम [रूप गौरवप्रीतिका उदाहरण] जैसे—

संसारमें कहीं भी जिनकी इच्छाका विघात नहीं हो सकता है इस प्रकार आपके हाथोंसे मानों खींचकर क्षुद्रतम शत्रुओं द्वारा अभिमन्युके मार दिए जाने पर भी हे दुष्ट विनाशक, आपके प्रति सुभद्राकी कल्याणमयी प्रीतिमें तनिक भी मलिनता नहीं आई ।

स्नेह [रूप गौरवप्रीतिका उदाहरण] जैसे—

विमुञ्च पृथुवेपथुं विसृज कम्पकुण्ठायितं-
विमृज्य मयि निक्षिप प्रसरदश्रुधारे दृशौ ।
करं च मकरध्वज ! प्रकटकण्टकालंकृतं-
निधेहि सविधे पितुः कथय वत्स ! कः संभ्रमः ॥७६५॥

रागो यथा—

विषमपि सहसा सुधामिवायं-
निपिबति चेत्पितुरिङ्गितं झषाङ्कः ।
विसृजति तदसंमतिर्यदि स्या-
द्विषमिव तां तु सुधां स एष सद्यः ॥७६६॥

त्रिष्वेवायोगयोगाद्या भेदाः पूर्ववदीरिताः ।

तत्रोत्कण्ठितं—

शम्बरः सुमुखि ! लब्धदुर्विपड्डम्बरः स रिपुरम्बरायितः ।
अम्बुराजमहसं कदा गुरुं कम्बुराजकरमीक्षितास्महे ॥७६७॥

अथ वियोगः—

मनो ममेष्टामपि गेण्डुलीलां न वष्टि योग्यां च तथास्त्रयोग्याम् ।
गुरौ पुरं कौरवमभ्युपेते कारामिव द्वारवतीमवैति ॥७६८॥

हे कामदेव [अर्थात् हे प्रद्युम्न] इस अत्यन्त कम्दनको त्याग दो और कम्पके कारण उत्पन्न कुण्ठितत्वको भी त्याग दो। इनको छोड़कर अपनी अश्रुपूर्ण दृष्टिसे मेरी ओर देखो। और हे मकरध्वज अपने रोमांचयुक्त हाथको मुझ पर अपने पिताके ऊपर रखो। हे पुत्र, कहो घबराहट किस बातकी है।

राग [रूप गौरवप्रीतिका उदाहरण] जैसे—

यदि पिताजी [कृष्ण] का इशारा हो तो प्रद्युम्न विषको भी अमृतके समान पी सकता है। और यदि उनकी सम्मति हो तो प्रद्युम्न उस अमृतको भी विषके समान तुरन्त परित्याग कर सकता है।

[१ प्रीति, २ प्रेयो तथा ३ वत्सल] तीनों ही [प्रीतिभक्तिरसों] में पहलेके समान संयोग-वियोग आदि भेद माने जाते हैं।

उनमेंसे उत्कण्ठित [रूप अयोगभेदका उदाहरण] जैसे—

हे सुमुखि ! [मुझ शम्बरारि कामदेव अर्थात् प्रद्युम्नके द्वारा प्राणविनाश रूप] भयंकर विपत्तिको प्राप्त कर वह [शम्बरासुर रूप] शत्रु [अम्बरायितः अर्थात्] आकाशके समान अदृश्य हो गया। अब मैं [अम्बुराजंहसं अर्थात् समुद्रके समान कृष्णवर्ण वाले और हाथमें [कम्बुराज अर्थात्] पांचजन्य शंखको धारण किए हुए पिताजीके दर्शन फिर कब कर सकूंगा [अर्थात् अब पिताजीसे मिलनेकी इच्छा हो रही है]।

अब वियोग [का उदाहरण देते हैं] जैसे—

पिताजी [कृष्ण] के [कौरवं पुरं अर्थात्] हस्तिनापुरको चले जाने पर अब मेरा मन अपनी प्रिय कन्दुक-क्रीड़ाको भी नहीं चाहता है और सुन्दर शस्त्राभ्यासमें भी नहीं लगता है। अब तो [पिताजीके वियोगमें] द्वारिका मुझे कारागार-सी मालूम होती है।

सिद्धिः—

मिलितः शम्बरपुरतो मदनः पुरतो विलोकयन्पितरम् ।
कोऽहमिति स्वं प्रमदान्न धीरधीरप्यसौ वेद ॥७६६॥

तुष्टिः—

मिलितमधिष्ठितगरुडं प्रेक्ष्य युधिष्ठिरपुरान्मुराराातिम् ।
अजनि मुदा यदु नगरे सम्भ्रमभूमा कुमाराणाम् ॥७७०॥

स्थितिः—

कुञ्चयन्नक्षिणी किञ्चिद्बाष्पनिस्यन्दिपक्ष्मणी ।
वन्दते पदयोर्द्वन्द्वं पितुः प्रतिदिनं स्मरः ॥७७१॥

उत्कण्ठितवियोगादौ यद्यद्विस्तारितं न हि ॥७९॥
संभ्रमप्रीतवज्ज्ञेयं तत्तदेवाखिलं बुधैः ।

इति रसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसपञ्चक निरूपणे प्रीतिभक्तिरसलहरी ॥ २ ॥

सिद्धि [का उदाहरण] जैसे—

शम्बरपुर [बाणासुरकी राजधानी] से लौटते समय प्रद्युम्न सामने पिताजीको आते देख आनन्दातिरेकके कारण स्थिरबुद्धि होने पर भी मैं कौन हूँ इस प्रकार अपनेको भी जान नहीं पाया [अपनेको भी भूल गया] ।

तुष्टि [का उदाहरण] जैसे—

[युधिष्ठिरपुर अर्थात्] इन्द्रप्रस्थसे [मिलितं अर्थात्] लौटते हुए गरुड़के ऊपर बैठे हुए कृष्णकी ओर देखकर यादवोंकी पुरी [अर्थात् द्वारिका] में आनन्दातिरेकके कारण कुमारगण सम्भ्रमयुक्त हो गए [हड़बड़ा गए] ।

स्थिति [का उदाहरण] जैसे—

[स्मर अर्थात्] प्रद्युम्न वाष्पसे गीले पलकोंवाली आँखोंको तनिक सिकोड़ते हुएसे प्रतिदिन पिताजीके चरणकमलोंकी वन्दना करते है ।

उत्कण्ठित वियोगादिके विषयमें जिन-जिन बातोंका यहाँ [गौरवप्रीतिके प्रसंगमें] बिस्तार [पूर्वक वर्णन] नहीं किया है उन सबको विद्वान् लोग सम्भ्रमप्रीति [में कहे हुए प्रसंगके] अनुसार यहाँ भी समझ लें ॥ ७९ ॥

भक्तिरसामृतसिन्धुके पश्चिमविभावमें मुख्य भक्तिरस पंचकके निरूपणके प्रसंगमें द्वितीया प्रीतिभक्तिलहरी समाप्त हुई ॥२॥

अथ तृतीया प्रेयोभक्तिरस लहरी

स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह ।
नीतश्चित्ते सतो पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्य्यते ।।१।।

तत्रालम्बनाः—

हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बना मताः ।

तत्र हरिः—

द्विभुजत्वादि भागत्र प्राग्वदालम्बनो हरिः ।।२।।

तत्र व्रजे यथा—

महेन्द्रमणिमञ्जुलद्युतिरमन्दकुन्दस्मितः
स्फुरत्पुरटकेतकीकुसुमरम्यपट्टाम्बरः ।
स्रगुल्लसदुरस्थलः क्वणितवेणुरत्राव्रजन्
व्रजादघहरो हरत्यहह नः सखीनां मनः ।।७७२।।

अथ तृतीया प्रेयोभक्तिरस लहरी

लहरी संगति—

इस पश्चिम विभागके प्रारम्भमें मुख्य भक्तिरससे १ शान्तभक्तिरस, २ प्रीतिभक्तिरस, प्रेयोभक्तिरस, ४ वत्सलभक्तिरस तथा ५ मधुरभक्तिरस ये पाँच भेद किये थे। क्रमशः इन पाँचोंका निरूपण करनेके लिए इस पश्चिम विभागमें पाँच लहरियोंकी रचना की गई है। उनमेंसे प्रथम लहरीमें शान्तभक्तिरसका और द्वितीय लहरीमें प्रीतिभक्तिरसका विवेचन अब तक किया जा चुका है। अब इस तृतीय लहरीमें प्रेयोभक्तिरसका विवेचन आरम्भ करते हैं। प्रेयोभक्तिरसको सख्यरति भी कहते हैं। पहली कारिकामें ग्रन्थकार उसका लक्षण निम्न प्रकारसे प्रस्तुत करते हैं—

सख्य रूप स्थायिभाव अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा सहृदयोंके चित्तमें पुष्टिको प्राप्त होकर प्रेयान् [प्रेयोभक्ति] रस कहलाता है ।। १ ।।

उसमें आलम्बन [विभाव निम्न प्रकार होते हैं]—

उस [प्रेयोभक्तिरस] में १ कृष्ण तथा २ उनके मित्र आलम्बन विभाव माने जाते है। उनमेंसे कृष्ण [के आलम्बनविभाव होनेका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

पहले [प्रीतिभक्तिरस आदिके समान] के समान यहाँ द्विभुजादि युक्त कृष्ण आलम्बन होते हैं।। २ ।।

उनमेंसे ब्रजमें [द्विभुजरूप कृष्णके आलम्बन होनेका उदाहरण] जैसे—

इन्द्रनीलमणिके समान मनोहर कान्तिवाले, विकसित कुन्दके समान [धवल] मुस्कराहटसे युक्त, चमकते हुए सुवर्ण तथा केतकी-कुसुमके समान मनोहर [पीतवर्णके] पीताम्बर धारण किये हुए, जिनके वक्षःस्थल पर माला सुशोभित हो रही है इस प्रकारके वंशीवादन करते गोष्ठसे इधर आते हुए कृष्ण हम मित्रोंके हृदयोंको मोह रहे हैं।

अन्यत्र यथा—

चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीं समुदयं कौमोदकीचक्रयोः
सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यं चतुर्भिर्भुजैः ।
दृष्ट्वा हारिहरिन्मणिद्युतिहरं शौरिं हिरण्याम्बरं
जग्मुः पाण्डुसुताः प्रमोदसुधया नैवात्मसंभावनाम् ॥७७३॥

सुवेषः सर्वसल्लक्ष्मलक्षितो बलिनां वरः ।
विविधाद्भुतभाषावित्‌वावदूकः सुपण्डितः ॥३॥
विपुलप्रतिभो दक्षः करुणो वीरशेखरः ।
विदग्धो बुद्धिमान् क्षन्ता रक्तलोकः समृद्धिमान् ॥४॥
सुखी वरीयानित्याद्या गुणास्तस्येह कीर्त्तिताः ।

अथ तद्वयस्याः—

रूपवेषगुणाद्यैस्तु समाः सम्यगयन्त्रिताः ॥५॥
विस्रम्भसम्भृतात्मानो वयस्यास्तस्य कीर्त्तिताः ।

यथा—

साम्येन भीतिविधुरेण विधीयमान-
भक्तिप्रपञ्चमनुदञ्चदनुग्रहेण ।
विस्रम्भसारनिकुरम्बकरम्बितेन
वन्देतरामघहरस्य वयस्यवृन्दम् ॥७७४॥

[व्रजसे] अन्यत्र [कृष्णके आलम्बनविभाव होनेका उदाहरण] जैसे—

कौस्तुभमणिकी प्रखर कान्तिसे उद्भासित, कौमुदकी [गदा, सुदर्शन] चक्र तथा जलजयोः [अर्थात् जलमें उत्पन्न होनेवाले] शंख तथा पद्मके सम्बन्धके कारण शोभायमान चारों भुजाओंसे सुशोभित एवं इन्द्रनीलमणिके समान मनोहरकान्तिवाले कृष्णको देखकर पाण्डव लोग आनन्दसुधामें मग्न होकर [आत्मसम्भावनां अर्थात्] अपनी सुध-बुधको भी [न जग्मुः अर्थात्] भूल गए ।

[यहाँ इस प्रेयोभक्तिरसमें कृष्ण] सुन्दर वेषवाले समस्त उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित, बलवानोंमें अग्रगण्य नाना प्रकारकी अद्भुत भाषाओंके ज्ञाता, वाग्मी, पण्डित—॥ ३ ॥

विशाल बुद्धिशाली, चतुर, दयालु, वीराग्रणी, कुशल, बुद्धिमान्, क्षमाशील, लोकप्रिय और समृद्धशाली—॥ ४ ॥

सुखी तथा श्रेष्ठ [रूपमें आलम्बन होते हैं अतएव सुवेष] इत्यादि गुण कहे जाते हैं । [इन गुणोंसे युक्त कृष्ण प्रयोभक्तिरसमें आलम्बन होते हैं] ।

अब उनके मित्र [रूप आलम्बनोंका कथन करते हैं]—

रूप, वेष, गुण आदिमें [कृष्णके] समान, अधिक नियन्त्रणसे रहित और विश्वस्त हृदयवाले उन [कृष्ण] के मित्रगण माने जाते हैं ॥ ५ ॥

जैसे—

भयसे विरहित अनुग्रहकी अपेक्षा न करनेवाले विश्वासकी अतिभूमिको प्राप्त समानता

ते पुरव्रजसम्बन्धाद् द्विविधाः प्राय ईरिताः ।।६।।

तत्र पुरसम्बन्धिनः—

अर्जुनो भीमसेनश्च दुहिता द्रुपदस्य च ।
श्रीदामभूसुराद्याश्च सखायः पुरसंश्रयाः ।।७।।

एषां सख्यं यथा—

शिरसि नृपतिर्द्रागघ्रासीदधारिमधीरधी-
र्भुजपरिघयोः श्लिष्टौ भीमार्जुनौ पुलकोज्ज्वलौ ।
पदकमलयोः सास्रौ दस्रात्मजौ च निपेततु-
स्तमवशाधियः प्रौढानन्दादरुन्धत पाण्डवाः ।।७७५।।

श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः ।

अस्य रूपं यथा—

गाण्डीवपाणिः करिराजशुण्डा-
रम्योरुरिन्दीवरसुन्दराभः ।
रथाङ्गिना रत्नरथाधिरोही
स रोहिताक्षः सुतरामराजीत् ।।७७६।।

सख्यं यथा—

पर्य्यङ्के महति सुरारिहन्तुरङ्के
निःशङ्कप्रणयनिसृष्टपूर्वकायः ।

के साथ नाना प्रकारकी भक्ति करनेवाले कृष्णके मित्रगणकी हम वन्दना करते हैं ।

पुर [द्वारिकानगरी] तथा ब्रजके सम्बन्धसे वे [कृष्णके मित्र] प्रायः दो प्रकारके कहे जाते हैं ।। ६ ।।

उनमेंसे पुरसम्बन्धी [मित्रगण निम्न प्रकार हैं]—

अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी और श्रीदामा ब्राह्मण आदि नगरमें रहनेवाले [कृष्णके] मित्रगण [माने जाते] हैं ।। ७ ।।

इनकी मित्रता [का उदाहरण] जैसे—

युधिष्ठिर अधीर होकर [जल्दीसे] कृष्णका सिर सूंघने लगे । भीम और अर्जुन [आनन्दसे] रोमांचित होकर [कृष्णके दोनों ओर दोनों] बाहुओंसे लिपट गये । और [अश्विनीकुमारोंके पुत्र] नकुल सहदेव आँखोंमें आनन्दाश्रु भरे हुए [कृष्णके] पैरोंपर गिर पड़े । इन अत्यन्त आनन्दमग्न पाण्डवगणोंने अवश होकर कृष्णको घेर लिया ।

पुरवासी मित्रगणोंमें [वानरध्वजः अर्थात्] अर्जुन सर्वश्रेष्ठ मित्र माने जाते] हैं ।

इस [अर्जुन] का रूप [निम्न प्रकार वर्णित पाया जाता है]—

गाण्डीव हाथमें लिए हुए, हाथीकी सूड़के समान सुन्दर जंघाओं वाला, नीलकमलके समान, सुन्दर कान्तिसे युक्त, लाल आंखोंवाला और कृष्णके साथ रत्नमय रथके ऊपर बैठा हुआ वह [अर्जुन] अत्यन्त शोभित हो रहा था ।

[उस अर्जुनके] सख्य [का उदाहरण] जैसे—

बड़से पलंगके ऊपर निशंक प्रेमके कारण कृष्णकी गोदमें ऊपरके [शिर आदि रूप]

उन्मीलन्नवनर्मकर्मठोऽयंगाण्डीवी
स्मितवदनाम्बुजो व्यराजीत् ॥७७७॥

अथ व्रजसम्बन्धिनः—

क्षणादर्शनतो दीनाः सदा सहविहारिणः ॥८॥
तदेकजीविताः प्रोक्ता वयस्या व्रजवासिनः ।
अतः सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्त्यमी ॥६॥

एषां रूपं यथा—

बलानुजसदृग्वयोगुणविलासवेषश्रियः
प्रियङ्करणसल्लकीदलविषाणवेणवङ्किताः ।
महेन्द्रमणिहाटकस्फटिकपद्मरागत्विषः
सदा प्रणयशालिनः सहचरा हरेः पान्तु वः ॥७७८॥

सख्यं यथा—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो-
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे! श्रीदामपाणौ गिरिम् ।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥७७६॥

यथा वा श्रीदशमे—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण सार्द्धं विजह्नुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥७८०॥

शरीरको रखे हुए नई-नई तरहके परिहासमें रत खिले हुए मुखकमलसे युक्त यह अर्जुन शोभायमान हो रहे थे ।

अब व्रजसम्बन्धी [मित्रगणोंको कहते हैं]—

तनिक देर भी [कृष्णको] न देखनेपर घबड़ा जानेवाले, सदा साथ रहनेवाले, व्रजवासी मित्र उन [कृष्ण] के साथ अभिन्न जीवनवाले माने जाते हैं ॥ ८ ॥

इसलिए समस्त मित्रोंमें ये मुख्यताको प्राप्त है ॥ ६ ॥

इन [व्रजस्थ मित्रों] का रूप [निम्न प्रकार होता है]—

[बलानुज बलरामके छोटे भाई] कृष्णके समान आयु, गुण, विलास तथा वेष एवं शोभासे युक्त आनन्ददायक सल्लकीके पत्तों तथा वंशीको धारण किये हुए इन्द्रका नीलमणि, सुवर्ण, स्फटिक तथा पद्मराग मणिके समान [काली, पीली, सफेद तथा लाल वर्णकी] कान्तिसे युक्त सदा प्रेमपरायण कृष्णके मित्र आप सब लोगोंकी रक्षा करें ।

[उन व्रजस्थ मित्रोंके] सख्य [का उदाहरण] जैसे—

[गोवर्धन पर्वतको धारण करते समय] जागते हुए और खड़े-खड़े आज तुमको सात रातें बीत गयीं । हाय तुम बड़े थकसे गए हो इसलिए [अब कुछ समयके लिए] पहाड़को श्रीदामाके हाथके ऊपर रख दो । हमको बड़ा कष्ट हो रहा है । अथवा अपने ही दाहिने हाथमें ले लो ताकि हम तुम्हारे बाएं हाथकी भली प्रकारसे मालिश कर दें ।

अथवा जैसे दशम स्कन्धमें [व्रजस्थ मित्रोंसे सख्यका उदाहरण]—

इस प्रकार मायामें पड़े हुए किन्तु ब्रह्मतत्वकी अनुभूतिके कारण दास्य भावको प्राप्त

एषु कृष्णस्य यथा—

सहचरनिकुरम्बं भ्रातरार्य्य ! प्रविष्टं-
द्रुतमघजठरान्तःकोटरे प्रेक्षमाणः ।
स्खलदशिशिरवाष्पक्षालितक्षामगण्डः
क्षणमहमवसीदन् शून्यचित्तस्तदाऽऽसम् ॥७८१॥

सुहृदश्च सखायश्च तथा प्रियसखाः परे ।
प्रियनर्मवयस्याश्चेत्युक्ता गोष्ठे चतुर्विधाः ॥१०॥

तत्र सुहृदः—

वात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाऽधिकाः ।
सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षापरायणाः ॥११॥
सुभद्रमण्डलीभद्रभद्रवर्द्धनगोभटाः ।
यक्षेन्द्रभटभद्राङ्गवीरभद्रमहागुणाः ॥१२॥
विजयो बलभद्राद्याः सुहृदस्तस्य कीर्त्तिताः ।

एषां सख्यं यथा—

धुन्वन् धावसि मण्डलाग्रममलं त्वं मण्डलीभद्र ! किं-
गुर्वीं नार्य्य ! गदां गृहाण विजय ! क्षोभं वृथा मा कृथाः ।
शक्तिं न क्षिप भद्रवर्द्धन ! पुरोगोवर्द्धनं गाहते
गर्जन्नेष घनो वली ननु बलीवर्दाकृतिर्दानवः ॥७८२॥

[सतां अर्थात्] ज्ञानियोंमेंसे जिन्होंने प्रचुर पुण्य किये थे ऐसे कुछ सौभाग्यशाली नररूपधारी [नरदारकेण] परं देवता [अर्थात् कृष्ण] के साथ [मित्रभावसे] विहार करते थे ।

इनमेंसे कृष्णके [मित्रभावका उदाहरण] जैसे—

हे भ्रातः, हे आर्य ! अपने साथियोंके समुदायको शीघ्र ही अघासुके पेटके भीतर जाते हुए देखकर निकलते हुए गरम-गरम आँसुओंसे मेरे गाल भीग गए और वे उस समय कुछ देरके लिए [अवसीदन्] निर्जीवसा और [शून्यचित्त अर्थात्] किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया ।

व्रजमें स्थित [कृष्णके मित्र] १ सुहृत्, २ सखा, ३ प्रियसखा तथा ४ प्रियमर्मसुहृत् इस प्रकार चार तरहके कहे गए हैं ॥ १० ॥

उनमेंसे सुहृत् [रूप मित्रोंका उदाहरण] जैसे—

आयुमें [कृष्णसे] कुछ अधिक [इसीलिए] जिनके सख्यमें वात्सल्यकी गन्ध पाई जाती है इस प्रकारके शस्त्र धारण किए हुए और दुष्टोंसे [कृष्णकी] रक्षा करनेमें सदा तत्पर ॥११॥

सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, यक्ष, यक्षेन्द्रभट भद्रांग, वीरभद्र, महागण — विजय तथा बलभद्र आदि उन [कृष्ण] के सुहृत् कहलाते हैं ॥ १२ ॥

इनके सख्य [का उदाहरण] जैसे—

हे मण्डलीभद्र, तुम चमकती हुई तलवारको घुमाते हुए क्यों भाग रहे हो । हे आर्य ! आप भारी गदा मत लो, हे विजय व्यर्थमें घबड़ाओ नहीं । हे भदवर्द्धन शक्तिको मत छोड़ो ।

सुहृत्सु मण्डलीभद्रबलभद्रौ किलोत्तमौ ॥१३॥

तत्र मण्डलीभद्रस्य रूपं यथा—

पाटलपटलसदङ्गो लकुटकरः शेखरी शिखण्डेन ।
द्युतिमण्डलीमलिनिभां भाति दधन्मण्डलीभद्रः ॥७८३॥

सख्यं यथा—

वनभ्रमणकेलिभिर्गुरुभिरह्नि खिन्नीकृतः
सुखं स्वपितु नः सुहृद् व्रजनिशान्तमध्ये निशि ।
अहं शिरसि मर्दनं मृदु करोमि कर्णे कथां
त्वमस्य विसृजन्नलं सुबल ! सक्थिनी लालय ॥७८४॥

बलदेवस्य रूपं यथा—

गण्डान्तस्फुरदेककुण्डलमलिच्छन्नावतंसोत्पलं-
कस्तूरीकृतचित्रकं पृथुहृदि भ्राजिष्णुगुञ्जास्रजम् ।
तं वीरं शरदम्बुदद्युतिभरं संवीतकालाम्बरं-
गम्भीरस्वनितं प्रलम्बभुजमालम्बे प्रलम्बद्विषम् ॥७८५॥

सख्यं यथा—

जनितिथिरिति पुत्रप्रेमसंवीतयाऽहं-
स्नपयितुमिह सद्मन्यम्बया स्तम्भितोऽस्मि ।
इति सुबल ! गिरा मे सदिश त्वं मुकुन्दं-
फणिपतिह्रदकच्छे नाद्य गच्छेः कदाऽपि ॥७८६॥

देखो, सामने यह महाबलवान् वृषभकी आकृति वाला दानव गरजता हुआ गोवर्धनके ऊपर घूम रहा है ।

सुहृत् [संज्ञक वयस्यों] में मण्डलीभद्र तथा बलभद्र [ये दोनों सुहृत्] सर्वोत्तम हैं ॥१३॥

उनमेंसे मण्डलीभद्रका रूप [निम्न प्रकारका वर्णित होता है] जैसे—

पीतवर्ण वस्त्रसे सुशोभित शरीरवाला हाथमें लाठी पकड़े, मोरपंखका मुकुट धारण किए भ्रमरोंके समान [कृष्णवर्णकी] कान्तिको धारण किए मण्डलीभद्र शोभायमान हो रहा है ।

[उस मण्डलीभद्रके] सख्य [का उदाहरण] जैसे—

दिनमें दूर-दूर तक वनमें भ्रमणके कारण थके हुए हमारे मित्र [कृष्ण] रातको व्रजके अन्तःपुरमें आनन्दपूर्वक सो सकें इसके लिए मैं धीरे-धीरे इनका सिर दबाता हूँ और कानमें कथा कहते हुए सुबल तुम इनके पैरोंको दबाओ ।

बलदेवका रूप [निम्न प्रकार वर्णित होता है] जैसे—

जिनके गालके ऊपर एक कुण्डल चमक रहा है, जिनके कानमें लगा हुआ नीलकमलका पुष्प भ्रमरोंसे आच्छादित हो रहा है, कस्तूरीका तिलक लगाए और विस्तीर्ण वक्षःस्थल पर चमकती हुई गुंजाओंकी माला धारण किए शरत्कालीन मेघोंके समान [धवल] कान्तिवाले तथा नीला वस्त्र धारण किए गम्भीर ध्वनि एवं लम्बी भुजाओं वाले प्रलम्बासुरको मारनेवाले उन वीर बलभद्रका हम आश्रय लेते हैं [उनकी शरणमें आते हैं] ।

[आज मेरी] जन्मतिथि है इसलिए स्नेहशीला माताने नहलानेके लिए मुझे घरमें

अथ सखायः—

कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिना ।
विशालवृषभौजस्विदेवप्रस्थवरूथपाः ।।१४।।

मरन्दकुसुमापीडमणिबन्धकरन्धमाः ।
इत्यादयः सखायोऽस्य सेवासौख्यैकरागिणः ।।१५।।

एषां सख्यं यथा—

विशालबिसिनीदलैः कलय वीजनप्रक्रियां-
वरूथप ! विलम्बितालकवरूथमुत्सारय ।
मृषा वृषभ ! जल्पितं त्यज भजाङ्गसंवाहनं-
यदुग्रभुजसङ्गरे गुरुमगात्क्लमं नः सखा ।।८८७।।

सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठो देवप्रस्थोऽयमीरितः ।

तस्य रूपं यथा—

विभ्रद् गेण्डुं पाण्डुरोद्भासवासाः
पाशाबद्धोत्तुङ्गमौलिर्वलीयान् ।
बन्धूकाभः सिन्धुरस्पर्धिलीलो-
देवप्रस्थः कृष्णपार्श्वे प्रतस्थे ।।८८८।।

सख्यं यथा—

रोक लिया है इस कारण हे सुबल ! तुम मेरी ओर से कृष्ण से कहना कि आज भूलकर भी कालिदह के किनारे न जावें ।

अब [वयस्योंमें सुहृत्के बाद द्वितीय भेद] सखाओं [को कहते हैं]—

[आयुमें कृष्णसे] छोटेसे और प्रीतिकी गन्धसे युक्त सख्यभावसे सम्बद्ध, विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप—।। १४ ।।

मरन्द, कुसुमापीड, मणिबन्ध, करन्धम इत्यादि केवल सेवासुखमें प्रीति रखनेवाले इन [कृष्ण] के सखा है ।। १५ ।।

इनके सख्य [का उदाहरण] जैसे—

हे विशाल कमलिनी के पत्तोंसे [कृष्णके ऊपर] पंखा झलनेका काम करो । हे वरूथप उलझे हुए बालोंको ठीक करो । हे वृषभ, व्यर्थकी बकबाद बन्द करो और शरीर दबाओ क्योंकि बाहुयुद्धमें हमारे मित्र [कृष्ण] को बड़ी थकावट हो गई हैं ।

सारे सखाओं [अर्थात् वयस्योंके द्वितीय भेद] में यह देवप्रस्थ सर्वोत्तम माना जाता है ।

उस [देवप्रस्थ] का रूप [निम्न प्रकार वर्णित होता] है—

गेंदको लिए हुए चमकते हुए सफेद वस्त्र धारण किए ऊँची चोटी [के बालों] को जिसने [पाश अर्थात्] फीतेसे बांध रखा है । इस प्रकारका अत्यन्त बलवान् दुपहरियाके फूलके समान [रक्त वर्ण] और हाथीके समान लीला गतिवाला वेदप्रस्थ कृष्णके साथ-साथ चल दिया ।

[उस देवप्रस्थका] सख्य [का उदाहरण] जैसे

श्रीदाम्नः पृथुलां भजामभि शिरो विन्यस्य विश्रासिणं-
दाम्नः सव्यकरेण रुद्ध हृदयं शय्याविराजत्तनुम् ।
मध्ये सुन्दरि ! कन्दरस्य पदयोः संवाहनेन प्रियं-
देवप्रस्थ इतः कृती सुखयति प्रेम्णा व्रजेन्द्रात्मजम् ।।७८६।।

अथ प्रियसखाः—

वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः ।।१६।।
श्रीदामा वसुदामा च दामा च वसुदामकः ।।
किङ्किणिस्तोककृष्णांशुभद्रसेनविलासिनः ।।१७।।
पुण्डरीकविटङ्काक्षकलबिङ्कादयोऽप्यमी ।।
रमयन्ति प्रियसखाः केलिभिर्विविधैः सदा ।।१८।।
नियुद्धदण्डयुद्धादिकौतुकैरपि केशवम् ।।

एषा सख्यं यथा—

सगद्गदपदैर्हरिंह सति कोऽपि वक्रोदितैः
प्रसार्य्य भुजयोर्युगं पुलकि कश्चिदाश्लिष्यति ।
करेण चलता दृशौ निभृतमेत्य रुन्धे परः
कृशाङ्गि ! सुखयन्त्यमी प्रियसखाः सखायं तव !।७६०।।

एषु प्रियवयस्येषु श्रीदामा प्रवरो मतः ।।१६।।

तस्य रूपं—

हे सुन्दरि [गोवर्द्धनकी] कन्दराके भीतर श्रीदामाकी लम्बी भुजाके ऊपर सिर रखे हुए दामाके बाएँ हाथसे अपनी छातीको दबाए हुए शैय्याके ऊपर लेटे हुए अपने प्रिय गोकुलाधीशके पुत्रको सौभाग्यशाली वेदप्रस्थ उनके पैरोंको दबाकर सुख दे रहा है ।

अब [वयस्योंके तृतीयभेद] प्रिय सखाओंको कहते हैं—

बराबर आयु वाले शुद्ध सख्य भावका अवलम्बन करने वाले, श्रीदामा, वसुदामा, दामा तथा वसुदामक किंकणी, स्तोक, कृष्णांशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटंकाक्ष और कलविंग आदि ये [कृष्णके] प्रियसखा भी नाना प्रकारकी क्रीड़ाओंसे कृष्णको आल्हादित करते हैं ।१८।

तथा मल्लयुद्ध युद्ध आदिसे भी कृष्णको सदा प्रसन्न करते रहते हैं ।

यह इनका सख्य [निम्न प्रकार वर्णित होता है] जैसे—

हे प्रिय सखी कोई [प्रियसखा] व्यंग्य करके कहे हुए गद्गदयुक्त पदोंसे करुणका उपहास करता है, कोई रोमांचयुक्त दोनों भुजाओंको फैलाकर आलिंगन करता है । तीसरा [सखा] चुपचाप आकर हिलते हुए हाथ से [कृष्णकी] आँखें मींच लेता है इस प्रकार हे कृशाङ्गि ! [राधे] [कृष्णके] प्रिय सखा तुम्हारे मित्र [कृष्ण] को आल्हादित कर रहे हैं ।

इन प्रिय वयस्योंमें श्रीदामा सबसे मुख्य माने जाते हैं ।१६।

उनका रूप [निम्न प्रकार वर्णित है] —

वासः पिङ्गं बिभ्रतं शृङ्गपाणिं
बद्धस्पर्द्धं सौहृदान्माधवेन।
ताम्रोष्णीषं श्यामधामाभिरामं-
श्रीदामानं दामभाजं भजामि ॥७६१॥

सख्यं यथा—

त्वं नः प्रोज्झ्य कठोर ! यामुनतटे कस्मादकस्मात् गतो:
दिष्ट्या दृष्टिमितोऽसि हन्त निविडाश्लेषैः सखीन्प्रीणय।
ब्रूमः सत्यमदर्शने तव मनाक् का धेनवः के वयं-
किं गोष्ठं किमभीष्टमित्यचिरतः सर्वं विपर्य्यस्यति ॥७६२॥

अथ प्रियनर्मवयस्याः—

प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः ॥
आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः ॥२०
सुबलार्जुनगन्धर्वास्ते वसन्तोज्ज्वलादयः ॥

एषां सख्यं यथा—

राधासन्देशवृन्दं कथयति सुवलः पश्य कृष्णस्य कर्णे
श्यामाकन्दर्प्यलेखं निभृतमुपहरत्यर्जुनः पाणिपद्मे।
पालीताम्बूलमास्ये वितरति चतुरः कोकिलो मूर्ध्नि धत्ते
तारादामेति नर्मप्रणयिसहचरस्तन्वि ! तन्वन्ति सेवाम् ॥७६३॥

कृष्णके साथ मित्रताके कारण [उनके समान ही] पीताम्बर धारण किए हुए, हाथ में शृंग [अर्थात् धनुष या वाद्यविशेष] को लिए हुए, लाल [ताम्रपर्ण] की [लालसी] पाग बाँधे हुए श्याम कान्ति से मनोहर अतः कृष्णके साथ स्पर्धा करते हुए हाथमें रस्सी [दाम] लिए हुए श्रीदामाको स्मरण करता हूँ।

[श्रीदामा का] सख्य [इस प्रकार वर्णित होता है] जैसे—

अरे निर्दयी, तुम हमको यमुना तट पर छोड़ कर अकस्मात् क्यों चले गए। बड़े भाग्यसे अब दिखाई दिए हो, हाय गाढ़ालिंगन द्वारा [हम] मित्रों को आनन्दित करो। हम सच कहते हैं कि तुम्हारे तनिक देरको न देखने पर न ये गौओं अच्छी लगती हैं न अपने-आप। न व्रज सुहाता है और न कोई प्रिय जान पड़ता है। सब कुछ एक दम बदल जाता है।

अब प्रिय नर्मवयस्योंको कहते हैं—

प्रियनर्म वयस्य तो पहिले [प्रियसखाओं] से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। विशेष भावोंसे युक्त अत्यन्त गोपनीय कार्यों में लगे हुए सुबल अर्जुन गन्धर्व वसन्त उज्जवल आदि वे [प्रिय नर्म सखा ही है] ।२०।

इनका सख्य [निम्न प्रकार वर्णित है]—

देखो सुबल कृष्णके कानमें राधाके नाना प्रकारके सन्देशों को कह रहा है। अर्जुन श्यामके प्रेम-पत्र को [कृष्ण के] करकमलमें धीरेसे पकड़ा रहा है। चतुर [नर्म सखा] पाली [नाम्नी प्रिया] के [दिए हुए भेजे हुए] पान को [कृष्णके] मुखमें दे रहा है और कोकिल

प्रियनर्मवयस्येषु प्रवरौ सुबलोज्ज्वलौ ॥२१॥

तत्र सुबलस्य रूपं यथा—

तनुरुचिविजितहिरण्यं-
हरिदयितं हारिणं हरिद्वसनम् ।
सुबलं कुवलयनयनं-
नयनन्दितबान्धवं वन्दे ॥७६४॥

सख्यं यथा—

वयस्यगोष्ठ्यामखिलेङ्गितेषु
विशारदायामपि माधवस्य ।
अन्यैर्दुरूहा सुबलेन सार्द्धं-
संज्ञामयी काऽपि बभूव वार्त्ता ॥७६५॥

उज्ज्वलस्य रूपं यथा—

अरुणाम्बरमुच्चलेक्षणं-
मधुपुष्पावलिभिः प्रसाधितम् ।
हरिनीलरुचि हरिप्रियं-
मणिहारोज्ज्वलमुज्ज्वलं भजे ॥७६६॥

सख्यं यथा—

शक्ताऽस्मि मानमवितुं कथमुज्ज्वलोऽयं-
दूतः समेति सखि ! यत्र मिलत्यदूरे ।

[नामक प्रियनर्म सखा] तारा की दी हुए रस्सी को [कृष्णके] सिर पर रख रहा है। इस प्रकार हे तन्वगि प्रियनर्मसखा [कृष्ण की] सेवा कर रहे हैं।

प्रिय-नर्मवयस्योंमें सुबल तथा उज्वल प्रमुख [माने जाते] हैं ।२१।

उनमेंसे सुबल का रूप [निम्न प्रकार वर्णित होता है] जैसे—

देह की कान्तिसे सुवर्णको भी जीत लेने वाले, हरे वस्त्र धारण किये हुए कृष्णके प्रिय, कमलके समान नेत्रों वाले मनोहर एवं नीतिके द्वारा बन्धुओंको आनन्दित करने वाले सुबलको मैं वन्दना करता हूँ।

[सुबलका] सख्य जैसे—

माधव की मित्र-मण्डली यद्यपि सब प्रकारके इशारों में [समझने] में विशारद फिर भी सुबलके साथ कृष्णकी इशारों में कुछ इस प्रकारकी बात हुई जिसका समझना दूसरोंके लिए कठिन था।

उज्जवलका रूप [निम्न प्रकार माना जाता है] जैसे—

लाल वस्त्र धारण किए हुए चंचल नेत्र वाले, वसन्तके फूलोंसे अलंकृत, कृष्णके समान श्यामवर्ण, मणि-हारोंसे सुशोभित, कृष्णके प्रिय उज्ज्वल को मैं वन्दना करता हूँ।

[उज्ज्वलका] सख्य [निम्न प्रकार वर्णित होता है] जैसे—

हे सखि, यह [कृष्णका] दूत उज्ज्वल आ रहा है। तब मैं अपने मान की रक्षा कैसे कर सकती हूँ। जिसके मिलते ही लज्जाशील, उत्तमकुलमें उत्पन्न और पतिव्रता होने पर

साऽपत्रपाऽपि कुलजाऽपि पतिव्रताऽपि
का वा वृपस्यति न गोपवृपं किशोरी ॥७६७॥

उज्ज्वलोऽयं विशेषण सदा नर्मोक्तिलालसः ॥

यथा—

स्फुरदतनुतरङ्गावर्द्धितानल्पवेलः
सुमधुररसरूपो दुर्गमावारपारः ।
जगति युवतिजातिर्निम्नगा त्वं समुद्र-
स्तदियमघहर ! त्वामेति सर्वाध्वनैव ॥७६८॥

एतेषु केऽपि शास्त्रेषु केऽपि लोकेषु विश्रुताः ॥२२॥
नित्यप्रियाः सुरचराः साधकाश्चेति ते त्रिधा ।
के चिदेषु स्थिरा जात्या मन्त्रिवत्तमुपासते ॥२३॥
तं हासयन्ति चपलाः के चिद्वैहासिकोपमाः ।
केचिदार्जवसारेण सरलाः शीलयन्ति तम् ॥२४॥
वामा वक्रिमचक्रेण के चद्विस्माययन्त्यमुम् ।
के चित्प्रगल्भाः कुर्वन्ति वितण्डाममुना समम् ॥२५॥

भी कौन ऐसी किशोर किशोरी है जो गोपश्रेष्ठ [गोपवृष कृष्णको] का सम्भोग करना नहीं चाहती है।

यह उज्ज्वल विशेष रूपसे सदा [रहस्य-सूचक] नर्मोक्तियोंके कहनेके लिए उत्सुक रहता है।

जैसे—

हे अघहर [कृष्ण] संसार में युवतिजाति नदियोंके समान है और तुम प्रदीप्त काम की तरगोंसे [वर्द्धितां अर्थात् छिन्न। वेला अर्थात् मर्यादा] मर्यादाका अतिक्रमण करने वाले [समुद्रपक्ष में वेलाका अर्थ जल है 'वेला स्यात् तीर-नीरयोः इत्यमरः] मुधर रस और रूप वाले समुद्र हो इसलिए नदी रूप युवतिजाति] सर्वात्मना तुम्हारे पास आती है।

[मर्यादाका अतिक्रमण तथा मधुर रस एवं रूपका वर्णन समुद्रकी अपेक्षा कृष्णके आधिक्य को सूचित करता है। इसलिए व्यतिरेकालंकार है। युवतियोंके लिए निम्नगा शब्द भी उनकी नीचे की ओर जाने वाली विशेष स्थिति एवं प्रवृत्तिका व्यंजक है]।

इन [चारों प्रकारके वयस्यों] में से कुछ शास्त्रों में और कुछ लोक में प्रसिद्ध है।२२।

और वे। १ नित्यप्रिय, २ सुरचर तथा ३ साधक इस प्रकारसे तीन तरह के हैं। इनमें से भी कुछ स्वभावतः स्थिरमति [होनेसे] मन्त्रीके समान उन [कृष्ण] की सेवा करते हैं।२३।

कुछ चपल [प्रवृत्तिके वयस्य] [वैहासिक अर्थात्] विदूषकके समान हँसाते रहते हैं। और कुछ सरल [प्रकृति वाले] सरलता द्वारा उनकी सेवा करते हैं।२४।

कुछ वाम-प्रकृति वाले उलटे-सीधे उपायोंसे उनको आश्चर्यान्वित करते हैं। और प्रगल्भ वृत्तिके कुछ [वयस्य] इन [कृष्ण] के साथ वितण्डा करते हैं॥ २५॥

सौम्याः सूनृतया वाचा धन्या धिन्वन्ति तं परे ।
एवं विविधया सर्वे प्रकृत्या मधुरा अमी ॥२६॥
पवित्रमैत्रीवैचित्रीचारुतामुपचिन्वते ।

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपना वयोरूपश्रृङ्गबेणुदरा हरेः ॥२७॥
विनोदनर्मविक्रान्तिगुणाः प्रेष्ठजनास्तथा ।
राजदेवावतारादिचेष्टाऽनुकरणादयः ॥२८॥

तत्र वयः—

वयः कौमारपौगण्डे कैशोरं चेह सम्मतम् ।
गोष्ठे कौमारपौगण्डे कैशोरं पुर गोष्ठयोः ॥२६॥

तत्र कौमारं—

कौमारं वत्सले वाच्यं ततः संक्षिप्य लिख्यते ।

यथा श्रीदशमे—

विभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।

सौम्य प्रकृतिके अन्य लोग सत्यभाषण द्वारा उनको प्रसन्न करते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारके स्वभावों द्वारा ये सब ही सुन्दर लगते हैं ॥ २६ ॥

और पवित्र मैत्री की चारुताको अधिकाधिक बढ़ाते हैं।

अब [प्रयोभक्तिरसके] उद्दीपन [विभावोंको कह] कहते हैं—

कृष्णकी आयु, रूप, शृङ्ग [जो बजाया जाता है अथवा शार्ङ्ग चाप] बांसुरी और [दर अर्थात्] शङ्ख उद्दीपन [विभाव] हैं ॥ २७ ॥

विनोद, हँसी-मजाक पराक्रमके गुण तथा प्रियजन एवं राजा, देवता, अवतार आदि की चेष्टाओंका अनुकरण आदि [प्रेयोभक्तिरसके उद्दीपन विभाव हैं]।

उनमेंसे अवस्था [का वर्णन निम्न प्रकार होता है]—

[कृष्णकी] १ कौमार [१-५ वर्ष तक], २ पौगण्ड [अर्थात् ५-१६ वर्ष तक] और ३ कैशोर [१६-२२ वर्ष तक] ये तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं। इनमेंसे ब्रजमें कौमार तथा पौगण्ड [अर्थात् १-५ वर्ष तक तथा ५-१६ वर्ष तक की अवस्था मुख्यरूपसे] तथा कैशोर अवस्था ब्रज तथा द्वारिकापुरी दोनों जगह [वर्णित] पाई जाती है ॥२६॥

उनमेंसे कौमार [अवस्थाका निरूपण आगे करते हैं]—

वात्सल्य [सरस] कौमारावस्थाका वर्णन करना चाहिए इसलिए संक्षेपमें उसको लिखते हैं—

जैसे दशम [स्कन्ध में]—

पेट और वस्त्रोंके बीचमें वंशीको लिए हुए शृङ्ग और बेंतको बगलमें दबाए [दही-भातके] चिकने ग्रासको बाएँ हाथमें [दोनेमें] पकड़े हुए और उसके फल [अर्थात् आस्वाद

तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः ॥७९९॥

अथ पौगण्डम्—

आद्यं मध्यं तथा शेषं पौगण्डं च त्रिधा भवेत् ॥३०॥

तत्राद्यं पौगण्डम्—

अधरादेः सुलौहित्यं जठरस्य च तानवम् ।
कम्बुग्रीवोद्गमाद्यं च पौगण्डे प्रथमे सति ॥३१॥

यथा—

तुन्दं विदन्ति ते मुकुन्द ! शनकैरश्वत्थपत्रश्रियं-
कण्ठः कम्बुवदम्बुजाक्ष ! भजते रेखात्रयीमुज्ज्वलाम् ।
आरुन्धे कुरुविन्दकन्दलरुचिं भूचन्द्र ! दन्तच्छदो-
लक्ष्मीराधुनिकी धिनोति सुहृदामक्षीणि सा काऽप्यसौ ॥८००॥

पुष्पमण्डनवैचित्री चित्राणि गिरिधातुभिः ।
पीतपट्टदुकूलाद्यमिह प्रोक्तम् प्रसाधनम् ॥३२॥

अंश] को दाहिने हाथकी अँगुलियोंमें [चाटनेके लिए] लगाए हुए अपने मित्रोंके बीचमें बैठे हास्य-वचनों द्वारा सबको हँसाते हुए बालक्रीड़ा करनेवाले [यज्ञभुक् कृष्ण] देवता और स्वर्गलोकके [मिषति] अर्थात् देखते हुए खा रहे हैं। [अर्थात् अन्य सब देवता देखते रह गए और कृष्ण पूर्वोक्त रूपमें दही-भात खा रहे हैं। यह कृष्णकी कुमारावस्थाका वर्णन हुआ।

अब पौगण्ड [५-१६ वर्ष तककी अवस्थाका वर्णन करते हैं]—

पौगण्ड [अर्थात् पाँचसे सोलह वर्ष तककी अवस्थामें] १ आद्य, २ मध्य तथा ३ अन्त्य [भेदसे] तीन प्रकारका होता है ॥ ३० ॥

उनमेंसे आद्य पौगण्डका वर्णन] जैसे—

प्रथम पौगण्ड [अर्थात् ५-८ वर्ष तककी अवस्था] के होने पर अधर आदिमें लालिमा का आधिक्य, उदरकी कृशता, और शंखके समान गरदनका उद्गम आदि [चिह्न प्रकट] होते हैं ॥ ३१ ॥

जैसे—

हे कृष्ण ! तुम्हारा पेट वट-पत्रकी शोभाको धारण कर रहा है। हे कमलनेत्र ! तुम्हारी गरदन शंखके समान स्पष्ट रूपसे तीन रेखाओंसे युक्त हो गई हैं। हे भूचन्द ! तुम्हारा अधरोष्ठ [कुरुबिन्द अर्थात्] रक्तमणिके पत्रकी शोभा धारण कर रहा है। इस प्रकार इस समयकी तुम्हारी अपूर्व शोभा मित्रोंके नेत्रोंको प्रसन्नता प्रदान कर रही है।

इस [प्रथम पौगण्डकी अवस्था अर्थात् ५-८ वर्ष तककी अवस्था] में पुष्पोंके अलंकारों से सौन्दर्यको बढ़ाना, गैरिक आदि धातुओंसे चित्रोंकी रचना, और पीले वस्त्रके दुपट्टा आदि शारीरिक सजावट [प्रसाधन] माने जाते हैं ॥ ३२ ॥

सर्वाटवीप्रचारेण नैचिकीचयचारणम् ।
नियुद्धकेलिनृत्यादिशिक्षाऽऽरम्भोऽत्र चेष्टितम् ।।३३।।

यथा—

बृन्दाऽरण्ये समन्तात् सुरभिणि सुरभीवृन्दरक्षाविहारी
गुञ्जाहारी शिखण्डप्रकटितमुकुटः पीतपट्टाम्बरश्रीः ।
कर्णाभ्यां कर्णिकारे दधदलमुरसा फुल्लमल्लीकमाल्यं-
नृत्यन् दोर्युद्धरङ्गे नटवदिह सखीन्नन्दयत्येष कृष्णः ।।८०१।।

अथ मध्यम्—

नासा सुशिखरा तुङ्गा कपोलौ मण्डलाकृती ।
पार्श्वाद्यङ्गं सुवलितं पौगण्डे सति मध्यमे ।।३४।।

यथा—

तिलकुसुमविहासिनासिकाश्री-
र्नवमणिदर्पणदर्पनाशिगण्डः ।
हरिरिह परिमृष्टपार्श्वसीमा
सुखयति सुष्ठु सखीन् स्वशोभयैव ।।८०२।।

उष्णीषं पट्टसूत्रोत्थपाशेनात्र तडित्त्विषा ।
यष्टिः श्यामा त्रिहस्तोच्चा स्वर्णाग्रेत्यादिमण्डनम् ।।३५।।

सारे वनोंमें घूम-घूमकर [नैचिकीच अर्थात्] गौग्रोंका चरना, [नियुद्ध अर्थात्] कुश्ती लड़ना और केलिनृत्य आदिकी शिक्षाका आरम्भ ये इस [प्रथम पौगण्डकी अवस्था] में व्यापार होते हैं ।। ३३ ।।

जैसे—

चारों ओर सुगन्धयुक्त वृन्दावनमें गौओंको चराते हुए विहार करनेवाले, गुंजाओंका हार, मोर-मुकुट और पीताम्बर धारण किए हुए कानोंमें कनेरके फूल लगाए और छातीके ऊपर खिली हुई जुहीकी माला पहने यह कृष्ण बाहुयुद्धकी रंगभूमिमें नटीके समान नाचता हुआ यह कृष्ण अपने मित्रोंको आल्हादित कर रहे हैं ।

अब मध्यम [पौगण्ड अर्थात् ८-१२ वर्ष तक की अवस्थाको कहते हैं]—

मध्यम पौगण्ड [अर्थात् ८-१२ वर्ष तककी आयु] के आने पर नाक नुकीली तथा ऊँची, गाल गोल-गोल तथा पार्श्व आदि अंग अत्यन्त सुन्दर हो जाते प ।। ३४ ।।

जैसे—

जिसकी नाक तिलकुसुमका भी उपहास कर रही है [अर्थात् तिलकुसुमसे भी अधिक सुन्दर] है । और गाल मणिके दर्पणके भी दर्पका दमन करनेवाले [अर्थात् मणिदर्पणसे भी अधिक सुन्दर] हैं । जिसके दोनों पार्श्व चिकने [मनोहर] हो उठे हैं इस प्रकारके कृष्ण अपनी शरीरशोभासे ही मित्रोंको आह्लादित कर रहे हैं ।

विद्युतके समान कान्तिवाले रेशमी पागसे मुकट बांधना, तीन हाथ ऊँची श्यामवर्णकी सोनेकी मूंठवाली लाठी आदिका धारण करना] इस [मध्यम पौगण्ड]में आभूषण होते हैं ।३५।

भाण्डीरे क्रीडनं शैलोद्धारणाद्यं च चेष्टितम् ।

यथा—

यष्टिं हस्तत्रयपरिमितां प्रान्तयोः स्वर्णबद्धां-
विभ्रन्मालां चटुलचमरीचारुचूडोज्ज्वश्रीः ।
बद्धोष्णीपः पुरटरुचिना पट्टपाशेन पार्श्वे
पश्य क्रीडन् सुखयति सखे ! मित्रवृन्दं मुकुन्दः ॥८०३॥

पौगण्डमध्य एवायं हरिर्दीव्यन् विराजते ॥३६॥

माधुर्य्याद्भुतरूपत्वात्कैशोराग्रांशभागिव ।

अथ शेपं—

बेणी नितम्बलम्बाग्रा लीलाऽलकलताद्युतिः ॥३७॥

अंसयोस्तुङ्गतेत्यादि पौगण्डे चरमे सति ।

यथा—

अग्रे लीलाऽलकलतिकयाऽलङ्कृतं विभ्रदास्यं-
चञ्चद्वेणीशिखरशिखया चुम्बितश्रोणिविम्बः ।
उत्तुङ्गांसच्छविरघहरो रङ्गमङ्गश्रियैव
न्यस्यन्नेप प्रियसवयसां गोकुलान्निर्जिहीते । ८०४॥

भाण्डीर वनमें भ्रमण तथा गोवर्धन पर्वतका धारण करना आदि इस आयुमें [कृष्णके] व्यापार हैं ।

जैसे—

दोनों ओर सोनेसे मढ़ी हुई तीन हाथकी लाठीको धारण किये हुए, माला धारण किये हुए चंचल चमरी [अर्थात् हिलते हुए चमरके समान सुन्दर बालोंसे सुशोभित [पुरट-रुचिना अर्थात्] सुनहरे रेशमी वस्त्रकी पाग बाँधे कृष्ण पासमें खेलते हुए मित्रवृन्दको आह्लादित कर रहे हैं इनको लखो ।

माधुर्यके कारण अद्भुत रूपसे युक्त यह कृष्ण मध्यम पौगण्ड [१०-१२ वर्षकी अवस्था में] में ही कैशोरावस्था [१५ वर्षसे ऊपरकी अवस्था] को प्राप्त हुए से उद्‌भासित एवं शोभित होते हैं ।

अब शेष [अर्थात् अन्तिम पौगण्ड १३-१५ की अवस्थाको कहते हैं]—

अन्तिम पौगण्ड [अर्थात् १३-१५ वर्षकी अवस्था] के आनेपर [केशोंकी] वेणी नितम्बों तक लटकने लगती है । लीलासे सजाई हुई केशपाश रूप लताकी [अद्भुत] शोभा होती है और कन्धोंकी ऊँचाई आदि [अन्य चिह्न भी प्रकट] होते हैं ॥ ३७ ॥

जैसे—

सामनेकी ओर सुन्दरताके साथ सजाये हुए केशोंसे अलंकृत मुखको धारण किये हुए, [और पीछेकी ओर] झूमती हुई वेणीके अन्तिम छोर जिसके नितम्बोंका स्पर्श कर रहा है इस प्रकारके और ऊँचे कन्धोंवाले शरीरकी शोभा ही प्रिय मित्रोंको आल्हादित करते हुए कृष्ण गोकुलसे निकल रहे हैं ।

उष्णीषे वक्रिमा लीलासरसीरुहपाणिता ॥३८॥
काश्मीरेणोर्ध्वपुण्ड्राद्यमिह मण्डन मीरितम् ।

यथा—

उष्णीषे दरवक्रिमा करतले व्याजृम्भिलीलाऽम्बुजं-
गौरश्रीरलिके किलोर्ध्वतिलकः कस्तूरिकाविन्दुमान् ।
वेषः केशव ! पेशलः सुबलमप्याघूर्णयत्यद्य ते
विक्रान्तं किमुत स्वभावमृदुलां गोष्ठावलानां ततिम् ॥८०५॥

अत्र भङ्गी गिरां नर्मसखैः कर्णकथारसः ॥३९॥
एषु गोकुलबालानां श्रीश्लाघेत्यादिचेष्टितम् ।

यथा—

धूर्त्तस्त्वं यदवैषि हृद्गतमतः कर्णे तव व्याहरे
केयं मोहनतासमृद्धिधुरना गोधुक्कुमारीगणे ।
अत्रापि द्युतिरत्नरोहणभुवो बालाः सखे ! पञ्चपाः
पञ्चेषुर्जगतां जये निजधुरां यत्रार्पयन् माद्यति ॥८०६॥

अथ कैशोरं—

कैशोरम् पूर्वमेवोक्तं सङ्क्षेपेणोच्यते ततः ॥४०॥

इस [अन्तिम पौगण्ड] टेढ़ी पाग बाँधना, [हाथमें लीला कमल लिए रहना, और केसरका लम्बा तिलक लगाना आदि अलंकार होते हैं ॥ ३८ ॥

जैसे—

तनिक टेढ़ी-सी पाग, हाथमें खिला हुआ कमल मस्तकपर केसरका तिलक जिसके बीचमें कस्तूरीकी बिन्दी लगी हुई इस प्रकारका सुन्दर तुम्हारा यह वेष हे केशव ! पराक्रमी सुबलको भी मूर्छित मोहित कर देनेवाला है फिर स्वभावसे ही कोमल गोकुलकी अबलाओं की तो बात ही क्या कही जाय ।

इस [अन्तिम पौगण्ड] में बात करनेकी विशेष शैली नर्मसखाओंके साथ कानमें बात करनेका आनन्द तथा इन नर्मसखाओं] के बीच गोकुल-कुमारियोंके सौन्दर्यकी प्रशंसा आदि व्यापार होते हैं ।

जैसे—

अरे ! तू बड़ा धूर्त है, सब जानता है । इसीलिए तुम्हारे कान में कह रहा हूँ कि आजकल गोकुलकी कुमारियोंके भीतर यह सौन्दर्यकी कैसी अपूर्व समृद्धि हो रही है । हे मित्र ! इनमें सौन्दर्यकी चरमसीमा पर पहुँची हुई पाँच-छः कुमारियाँ ही हैं जिनके ऊपर तीनों लोकोंको वशमें करनेके भारको सौंपकर कामदेव प्रसन्न हो रहा है ।

अब कैशोर [अवस्थाका वर्णन करते हे]—

कैशोरका वर्णन पहले [पृष्ठ ३७६ पर] कर चुके हैं । फिर संक्षेपसे दुबारा कहते है ।४०।

यथा—

पश्योत्सिक्तवलित्रयीवरलते वासस्तडिन्मञ्जुले
प्रोन्मीलद्वनमालिकापरिमलस्तोमे तमालत्विषिः ।
उत्तत्यम्बकचातकान् स्मितरसैर्दामोदराम्भोधरे
श्रीदामा रमणीयरोमकलिकाऽऽकीर्णाङ्गशाखी बभौ ॥८०७॥

प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते ॥
तेन यौवनशोभाऽस्य नेह का चित्प्रपञ्चिता ॥४१॥

अथ रूपं यथा—

अलङ्कारमलं कृत्वा तवाङ्गं पङ्कजेक्षण !
सखीन् केवलमेवेदं धाम्ना धीमन् ! धिनोति नः ॥८०८॥

अथ शृङ्गं यथा—

व्रजनिजवडभीवितर्दिकाया-
मुषसि विषाणवरे रुवत्युदग्रम् ।

जैसे—

इस श्लोकमें श्लिष्ट रूपकालंकार है । उसमें दामोदर कृष्णके ऊपर अम्भोधर मेघका उनके सखा श्रीदामा पर शाखी अर्थात् वृक्षका आरोप किया गया है । मेघके द्वारा वृष्टि होने पर जैसे बनके वृक्षोंमें कलियाँ खिलने लगती हैं इसी प्रकार कृष्ण-रूप मेघ ने जब श्रीदामा के नेत्र-रूप चातकों को वृष्टि द्वारा सिंचित किया तो श्रीदामा-रूप शाखी में रोमांच-रूप कलिकाओं का अविर्भाव हो आया । यह इस श्लोकका भाव है । दामोदरके जो विशेषण दिए गए हैं वे कृष्ण तथा मेघ दोनों पक्ष में लगते हैं । मेघपक्ष में उन उत्सिक्तवलित्रयीवरलते 'तथा' प्रोन्मीलद्वनमालिकास्तोमें' इन विशेषणोंमें तृतीया बहुब्रीहि तथा दामोदर पक्षमें सप्तमी बहुब्रीहि समास करना चाहिए । श्लोकार्थ निम्न प्रकार है—

[मेघपक्षमें] जिसने बलित्रयी रूप लताको भिगो दिया है, [कृष्णपक्षमें] जिसकी वलित्रयी रूप लता गीली हो रही है, [मेघपक्षमें] जिससे बनमालिकामें परमल-समुदाय फैल रहा है । [कृष्णपक्षमें] जिसकी बनमालिका का सौरभ चारों ओर व्याप्त हो रहा है, तमाल के समान कान्ति वाले [कृष्ण तथा मेघ] के द्वारा [श्रीदामाके] [अम्बक अर्थात्] नेत्र-रूप चातकों को सिंचित करने पर रमणीय रोमकलिकाओं से व्याप्त हो रहा है । देह-रूप वृक्ष जिसका इस प्रकार का श्रीदामा रूप शाखी शोभित हो रहा था इसको देखो ।

सब प्रकारके भक्तोंमें [कृष्णकी] कैशोरावस्था ही प्रायः प्रिय मानी जाती है । इस लिए [कृष्णके] यौवनकी शोभाका यहाँ बिलकुल वर्णन नहीं किया गया है ।

अब [कैशोरावस्थाके] रूप [का वर्णन करते हैं] । जैसे—

हे कमलनेत्र अलंकार धारण करनेकी आवश्यकता नहीं है । हे धीमन्, आपका यह केवल शरीर ही हम मित्रोंको अच्छा लगता है ।

अब [कृष्णके वाद्य] शृंग [का वर्णन करते हैं]।

गोकुलमें अपनी वलभी [अर्थात् मकानके सबसे ऊपर वाले भाग या कमरे] की [मवि

अहह सवयसां तदीयरोम्णा-
मपि निवहाः सममेव जाग्रति स्म ॥८१०॥

वेणुर्यथा—

सुहृदो ! न हि यात कातरा-
हरिमन्वेष्टु मितः सुतां रवेः ।
कथयन्न मुमत्र वैणव-
ध्वनिदूतः शिखरे धिनोति नः ॥८११॥

शङ्खो यथा—

पाञ्चालीपतयः श्रुत्वा पाञ्चजन्यस्य निस्वनम् ।
पञ्चास्य ! पश्य मुदिताः पञ्चास्यप्रतिमा ययुः ॥८१२॥

विनोदा यथा—

स्फुरदरुणदुकूलं केसरैर्गौरगात्रं-
कृतवरकबरीकं रत्नताटङ्ककर्णम् ।
मधुरिपुमिह राधावेषमुद्वीक्ष्य साक्षा-
त्प्रियसखि ! सुबलोऽभूद्विस्मितः सस्मितश्च ॥८१३॥

अथानुभावाः—

नियुद्धकन्दुकद्यूतवाद्यवाहादिकेलिभिः ।।
लगुडालगुडि क्रीडासङ्गरैश्चास्य तोषणम् ॥४२॥

[वितर्दिका अर्थात्] गोबरं [या खडं] खड़े होकर सवेरेके समय जोरसे सुन्दर विषाणको बजाने पर सवयस्क मित्रों के साथ-साथ उनके रोम-समुदाय भी जाग उठते थे ।

[कृष्णके] वेणु [का वर्णन] जैसे—

हें मित्रो आप लोग घबड़ाकर यहाँ से कृष्णको खोजनेके लिए यमुनातट पर मत जाओ । वेणुका ध्वनि-रूप दूत कृष्ण के [पर्वतके] शिखर पर होनेकी सूचना देता हुआ हमको आल्हादित कर रहा है ।

[कृष्णके] शंख [का वर्णन] जैसे—

हे पँचास्य [अर्थात् हे नृसिंह] सिंहके समान पाण्डव लोग पांचजन्य [कृष्णके शंख] पंचजन्य की आवाजको सुनकर देखो आल्हादित हुए चले गए ।

[कृष्णके] विनोद [का वर्णन] जैसे—

हे सखि केसरके लेपसे शरीरको गौर बनाए हुए, लाल दुपट्टा धारण किए हुए, जूड़ा बाँधे और कानोंमें रत्नके कर्णफूल पहिन कर कृष्णको साक्षात् राधाका वेष बनाए देखकर कवि सुबल आश्चर्यमें पड़ गया और मुस्कराने लगा ।

अनुभाव [प्रेयोभक्तिरसके अनुभावोंका वर्णन आगे करते हैं] ।

कुश्ती, गेंद खेलना, द्यूतक्रीड़ा, वाद्य तथा सवारी आदि की क्रीड़ाओंके द्वारा एवं दण्डोंसे परस्पर लड़ाई आदि के द्वारा इन [कृष्ण] को प्रसन्न करना ।४२।

पल्यङ्कासनदोलासु सहस्वापोपवेशनम् ॥
चारुचित्रपरीहासो विहारः सलिलाशये ॥४३॥
युग्मत्वे लास्यगानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः ॥

तत्र नियुद्धेन तोषणं यथा—

अघहर ! जितकाशी युद्धकण्डूलबाहु-
स्त्वमटसि सखिगोष्ठ्यामात्मवीर्य्यं स्तुवानः ।
कथय किमु समोच्चैश्चण्डदोर्दण्डचेष्टा-
विरमितरणरङ्गो निःसहाङ्गः स्थितोऽसि ॥८१४॥

युक्तायुक्तादिकथनं हितकृत्ये प्रवर्त्तनम् ॥४४॥
प्रायः पुरसरत्वाद्याः सुहृदामीरिताः क्रियाः ॥
ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे तिलकस्थासकक्रिया ॥४५॥
पत्राङ्कुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्त्तितम् ॥
निर्जितीकरणं युद्धे वस्त्रे धृत्वाऽस्य कर्षणम् ॥४६॥
पुष्पाद्याच्छेदनं हासात् कृष्णेन स्वप्रसाधनम् ॥
हस्ताहस्तिप्रसङ्गाद्याः प्रोक्ताः प्रियसखक्रियाः ॥४७॥

पलकेका आसन वाले झूले पर साथ-साथ सोना और बैठना, सुन्दर एवं नाना प्रकारका परिहास करना जलाशयोंमें विहार करना ।४३।

और दोके इकट्ठे होने पर नाचना-गाना आदि [प्रेयोभक्तिरसमें] सबके साथ समान रूप से होने वाले व्यापार होते हैं ।

उनमें से कुश्ती द्वारा प्रसन्न करनेका उदाहरण जैसे—

हे कृष्ण अपनी विजयपर अभिमान करने वाले और युद्ध के लिए जिसकी भुजाओं में खुजली हो रही है इस प्रकारके तुम मित्रमण्डलीमें अपने पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए बहुत घूमते रहते हो। फिर आज बोलो मेरी भयंकर भुजाओंके व्यापारसे युद्धके लिए उत्साह-रहित और थके हुए-से आज कैसे बैठे हो ।

युक्त और अयुक्त [अर्थात् कर्तव्य तथा अकर्तव्य] कथन करना, हितकारी कार्यों में प्रवृत्त करना, और प्रायः [पुरसरत्वाद्याः अर्थात्] नगर-गमन आदि [कृष्णके] मित्रोंके व्यापार कहे जाते हैं ।४४।

[कृष्णके] मुख में पान देना, तिलक तथा [छाती आदि पर हाथकी] [ठाप स्थापक] लगाना एवं [कपोलादि पर] पत्रांकुर-रचना आदि सखियों का कार्य कहा गया है ।४५।

युद्ध में [कृष्णको] हराना, वस्त्र पकड़ कर खींचना, मजाक में [कृष्णके हाथोंमेंसे] पुष्प आदिका छीन लेना, और कृष्णके द्वारा अपना [अर्थात् प्रियसखाका] सजाया जाना, तथा हाथा-पाई का प्रसंग आ जाना ये प्रिय सखाओंके कार्य कहे गए है ।४७।

दूत्यं ब्रजकिशोरीषु तासां प्रणयगामिता ॥
ताभिः केलिकलौ साक्षात्सख्युः पक्षपरिग्रहः ॥४८॥
अलाक्षात्स्वस्वपूर्वेशापक्षस्थापनचातुरी॥
कर्णाकर्णिकथाऽऽद्याश्च प्रियनर्मसख क्रियाः ॥४९॥
वन्यरत्नाद्यलङ्कारैः माधवस्य प्रसाधनम् ।
पुरस्तौर्य्यत्रिकं तस्य गवां सम्भालनक्रियाः ॥५०॥
अङ्गसंवाहनं माल्यगुम्फनं बीजनादयः ।
एताः साधारणा दासैर्वयस्यानां क्रिया मताः ॥५१॥
पूर्वोक्तेष्वपराश्चात्र ज्ञेया धीरैर्यथोचितम् ।

अथ सात्त्विकाः; तत्र स्तम्भो यथा—

निष्क्रामन्तं नागमुन्मथ्य कृष्णं-
श्रीदामाऽयं द्राक् परिष्वक्तुकामः ।
लब्धस्तम्भौ सम्भ्रमारम्भशाली
बाहुस्तम्भौ पश्य नोत्क्षेप्तुमीष्टे ॥८१५॥

स्वेदो यथा—

क्रीडोत्सवानन्दरसं मुकुन्दे-
स्वात्यम्बुदे वर्षति रम्यघोषे ।

ब्रज-किशोरियोंके पास दूत बनकर जाना, [प्रणयगामिता प्रणयस्यानुमोदनं इत्यर्थः] उनके प्रेम का अनुमोदन करना. और उनके साथ प्रणय-कलह होने पर [साक्षात् अर्थात्] उनके सामने मित्र [अर्थात् कृष्ण] का पक्ष लेना ।४८।

और [असाक्षात् अर्थात् ब्रजकिशोरियोंके पीछे कृष्णके सामने] अपने-अपने स्वान की स्वामिनी [व्रजांगना] के पक्षको पुष्ट करने की चातुरी तथा [कृष्णके साथ] कानाफूसी करना आदि प्रिय नर्मसखाओं के कार्य बतलाए गए हैं ।४९।

जंगली रत्नादि [अर्थात् गुंजादि] से कृष्णको सजाना, उनके सामने [तौर्यत्रिक अर्थात्] नाचना-गाना-बजाना तथा गौओं की सँभाल करना ।५०।

[कृष्णके] शरीरका दबाना, [कृष्णके लिए] माला गूथना, [कृष्णके ऊपर] पंखा करना ये दासोंके समान वयस्योंमें भी रहने वाली क्रियाएँ मानी गई हैं॥ ५१ ॥

पूर्वोक्त [अर्थात् अनुभावों] में [यहाँ न गिनाए हुए] अन्य अनुभाव भी विद्वान् लोग स्वयं समझ लें ।

अब [प्रेयोभक्तिरसके] सात्त्विकभाव [कहते हैं]। उनमेंसे स्तम्भ [का उदाहरण] जैसे—

कालियानागको मारकर [यमुनाकूलसे] निकलते हुए जल्दीसे आलिंगन करनेकी इच्छासे घबड़ाकर भागनेवाला यह श्रीदामा अपने स्तब्ध हुए दोनों भुजाओंको उठा भी नहीं पा रहा है ।

स्वेद [रूप सात्त्विकभावका उदाहरण] जैसे—

स्वाति-नक्षत्रके मेघके समान सुन्दर शब्द वाले कृष्णके द्वारा क्रीडोत्सवके आनन्दरस

श्रीदाममूर्त्तिर्वरशुक्तिरेपा
स्वेदःम्बुमुक्तापटलीं प्रसूते ॥८१६॥

रोमाञ्चो यथा दानकेलिकौमुद्यां—

अपि गुरुपुरस्त्वं दोस्तम्भौ प्रसार्य्य निरर्गलं-
विपुलपुलको धन्यः स्वैरी परिष्वजसे हरिम् ।
प्रणयति तव स्कन्धे चासौ भुजं भुजगोपमं-
क्व सुवल ! पुरा सिद्धक्षेत्रे चकर्थ कियत्तपः ॥८१७॥

स्वरभेदादिचतुष्कं यथा—

प्रविष्टवति माधवे भुजगराजभाजं ह्रदं-
तदीयसुहृदस्तदा पृथुलवेपथुव्याकुलाः ।
विवर्णवपुषः क्षणाद्विकटघर्घरध्मायिनो-
निपत्य निकटस्थलीभुवि सुषुप्तिमारेभिरे ॥८१८॥

अश्रु यथा—

दावं समीक्ष्य विचरन्तमिपीकतूलै-
स्तस्य क्षयार्थमिव वाष्पभरं किरन्ती ।
स्वामप्युपेक्ष्य तनुमम्बुजमालभारि
ण्याभीरवीथिरभितो हरिमावरिष्ट ॥८१६॥

अथ व्यभिचारिणः—

औग्र्यं त्रासं तथाऽऽलस्यं वर्जयित्वाऽखिलाः परे ॥५२॥

की वृष्टि करने पर श्रीदामा रूप यह सुन्दर शुक्ति स्वेदाम्बु रूप मुक्ताफलोंको उत्पन्न कर रहा है ।

रोमांच [का उदाहरण] जैसे दानकेलिकौमुदीमें—

हे सुबल ! तुम गुरुओंके सामने भी विना किसी संकोचके [निरर्गल] अपने भुजदण्डों को फैलाकर अत्यन्त पुलकित होकर स्वच्छन्द रूपसे आलिंगन करते हो इसलिए धन्य हो । और वह भी तुम्हारे कन्धेके ऊपर शेषनागके समान अपने भुजाको रख देते हैं सो बताओ कि तुमने किस सिद्धक्षेत्रमें रहकर ऐसा कितना तप किया था ।

स्वरभेदादि चार [सात्त्विकभावोंका उदाहरण] जैसे—

कृष्णके भुजगराज [कालियानाग] से युक्त तालाबमें घुस जानेपर उनके मित्र उस समय प्रबल कम्पसे व्याकुल एवं विवर्ण शरीरवाले पासकी भूमि पर गिरकर तुरन्त ही विकट घर्घर आवाज करते हुए सोने लगे ।

अश्रु [सात्त्विकभावका उदाहरण] जैसे—

सरकण्डोंकी परम्परासे फैलते हुए दावाग्निको देखकर मानो उसके बुझानेके लिए आंसुओंकी झड़ी लगा रही हो । इस प्रकारकी कमलोंकी मालाओंको लिए तथा अपने शरीरकी भी उपेक्षा करके अहीरोंके समुदाय ने कृष्णको घेर लिया ।

अब [प्रेयोभक्तिरसके] व्यभिचारिभाव [कहते हैं]—

[कृष्ण-विषयक] उग्रता भय तथा आलस्यको छोड़कर शेष सारे व्यभिचारिभाव विद्वान् लोग प्रेयोभक्तिरसमें बतलाते मानते हैं ॥ ५२ ॥

रसे प्रेयसि भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः ।
तत्रायोगे मदं हर्षं गर्वं निद्रां धृतिं विना ॥५३॥
योगे मृतिं क्लमं व्याधिं विनाऽपस्मृतिदीनते ।

तत्र हर्षो यथा—

निष्क्रमय्य किल कालियोरगं-
बल्लवेश्वरसुते समीयुषि ।
सम्मदेन सुहृदः स्खलत्पदा-
स्तद्गिरश्च विवशाङ्गतां दधुः ॥८२०॥

अथ स्थायी—

विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः ॥५४॥
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक् ।
विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः ॥५५॥
एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात् ।
प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पञ्चभिदोदिता ॥५६॥

तत्र सख्यरतिर्यथा—

मुकुन्दो गान्दिनीपुत्र ! त्वया संदिश्यतामिति ।
गरुडाङ्क ! गुडाकेशस्त्वां कदा परिरप्स्यते ॥८२१॥

उनमेंसे अयोगमें मद, हर्ष, गर्व, निद्रा, और धृतिको छोड़कर [शेष सब व्यभिचारिभाव रहते हैं]। तथा योगमें मृति, क्लम, व्याधि, स्मृति तथा दैन्यके अतिरिक्त [शेष सारे व्यभिचारिभाव होते हैं] ॥ ५३ ॥

उनमेंसे हर्ष [रूप व्यभिचारिभावका उदाहरण] जैसे—

कालियानागको मारकर आते हुए कृष्णको देखनेपर आनन्दातिरेकके कारण मित्रोंके पैर लड़खड़ाने लगे और उनकी वाणी विवश-सी हो गई ।

अब [प्रेयोभक्तिरसके] स्थायिभाव [को कहते हैं]—

दो समान व्यक्तियोंकी भयरहित तथा विश्वसरूपिणी जो रति होती है वह यहां [प्रेयोभक्तिरसमें] सख्य नामक स्थायिभाव कहलाता है ॥ ५४ ॥

किसी प्रकारके नियन्त्रणसे रहित जो प्रगाढ़ विश्वास है वह विश्रम्भ कहलाता है ॥ ५५ ॥

यह सख्य रति क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होती हुई १ प्रणय, २, प्रेम, ३ स्नेह, तथा ४ राग [और मूलभूत सख्यरतिको मिलाकर] पाँच प्रकारकी कही जाती है ॥ ५६ ॥

उनमेंसे सख्यरति [का उदाहरण] जैसे—

हे [गान्दिनीपुत्र अर्थात्] अक्रूरजी [या स्वफल्क] तुम कृष्णजीको यह सन्देश कहना कि [गुडाकेश अर्थात्] अर्जुनको आपका आलिंगन कब प्राप्त होगा।

प्रणयः—

प्राप्तायां संभ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम् ।
तद्‌गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा रतिः प्रणय उच्यते ॥५७॥

यथा—

सुरैस्त्रिपुरजिन्मुखैरपि विधीयमानस्तुते-
रपि प्रथयतः परामधिकपारमेष्ठ्यश्रियम् ।
दधत्पुलकिनं हरेरधिशिरोधि सव्यं भुजं-
समस्कुरुत पांशुलान् शिरसि चन्द्रकानर्जुनः ॥८२२॥

प्रेमा यथा—

भवत्युदयतीश्वरे सुहृदि हन्त राज्यच्युति-
र्मुकुन्द ! वसतिर्वने परगृहे च दास्यक्रिया ।
इयं स्फुटममङ्गला भवतु पाण्डवानां गतिः
परं तु वबृधे त्वयि द्विगुणमेव सख्यामृतम् ॥८२३॥

स्नेहो यथा दशमे—

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।
गायन्ति स्म महाराज ! स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥८२४॥

यथा वा—

२—प्रणय [रूप प्रेयोभक्तिरसके स्थायिभावका लक्षण] जैसे—

भय आदिका प्रसंग उपस्थित होनेपर भी उस [भय] के गन्धसे भी रहित रतिको प्रणय कहते हैं ॥ ५७ ॥

त्रिपुरविजयी [शिव] आदि देवता भी जिसकी स्तुति करते हैं और जो [परमेष्ठी अर्थात्] ब्रह्मासे भी अधिक श्रीको धारण करनेवाले हैं उन कृष्णके बाएँ हाथको अपने शिरके ऊपर धारण करता हुआ अर्जुनने अपने शिरपरके धूल-धूसरित चन्द्रकोंको भी सजाने लगा। [अर्थात् कृष्णके हाथको अपने ऊपर पाकर अर्जुन सर्वथा निर्भय हो गया। असुरोंके वधके बादका यह वर्णन है]।

प्रेम [का उदाहरण] जैसे—

आप जैसे शक्तिशाली मित्रको प्राप्त कर हे मुकुन्द ! राज्यका अपहरण, वनवास तथा दूसरेके घरमें दास्य आदि यह सब अमंगल गति पाण्डवोंको प्राप्त हो किन्तु प्रसन्नताकी बात है कि तुम्हारे प्रति उनके सख्यरूप अमृतमें वृद्धि ही हुई है [कमी नहीं हुई]।

स्नेह [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

हे महाराज ! अन्य लोग भी स्नेहसे व्याकुल होकर उनके अनुरूप महात्मा [कृष्ण] के गुणोंका गान कर रहे थे।

अथवा जैसे—

इस श्लोकमें श्लेषानुप्राणित रूपकालंकार है। इसमें कविने कृष्णका मुदिर अर्थात् मेघ बनाया है। कृष्णके मित्रोंको गोत्र अर्थात् पर्वत, वाणीकी सरस्वती नदी तथा अश्रुधाराको

आर्द्राङ्गस्खलदच्छधातुषु सुहृद्गोत्रेषु लीलारसं—
वर्षत्युच्छ्वसितेषु कृष्णमुदिरे व्यक्तं बभूवाद्भुतम्।
या प्रागास्त सरस्वती द्रुतमसौ लीनोपकण्ठस्थले
या नासीदुदगाद् दृशोः पथि सदानीरोरुधाराऽत्र सा ॥८२५॥

रागो यथा—

अस्त्रेण दुष्परिहरा हरये व्यकारि
या पत्रिपङ्क्तिरकृपेण कृपीसुतेन ।
उत्प्लुत्य गाण्डिवभृता हृदि गृह्यमाणा
जाताऽस्य सा कुसुमवृष्टिरिवोत्सवाय ॥८२६॥

यथा वा—

कुसुमान्यवचिन्वतः समन्ताद्
वनमालारचनोचितान्यरण्ये ।
वृषभस्य मृषार्कजा मरीचि-
र्दिवसार्धेऽपि बभूव कौमुदीव ॥८२७॥

सदातोया या करतोया नामक नदीके रूपमें प्रस्तुत किया है। कवि यह कह रहे हैं कि कृष्णरूप मेघने जब मित्र रूप पर्वतोंके ऊपर अपने लीलारसकी वृष्टि की तब उससे आश्चर्यजनक दो बातें उपस्थित हुईं। एक तो यह कि मित्रोंके पास जो उनकी वाणी रूप सरस्वती [नदी] थी वह उनके कण्ठके समीप जाकर लीन हो गई अर्थात् आनन्दातिरेकके कारण उनकी वाणी अवरुद्ध हो गई और दूसरा आश्चर्य यह हुआ उनके नेत्रोंमें जहाँ पहले अश्रुधारारूप नदी नहीं थी वहाँ आनन्दातिरेकके कारण सदानीरा नदी उत्पन्न हो गई। श्लोकका शब्दार्थ निम्न प्रकार है—

[स्वेदोद्गमके कारण] गीले अंगोंसे वहाँ स्वच्छ धातुएँ प्रवाहित हो रही हैं इस प्रकार के मित्ररूप और उच्छ्वसितेषु अर्थात् मित्र पक्षमें आनन्दातिरिकके कारण तथा पर्वत पक्षमें वृक्षादिके द्वारा] फूले हुए मित्र रूप [गोत्रों अर्थात्] पर्वतोंके ऊपर कृष्ण रूप मेघके द्वारा लीलारसकी वृष्टि किये जानेपर यह आश्चर्यजनक दृश्य उत्पन्न हुआ कि [उन मित्रोंके पास] जो सरस्वती [एक पक्षमें वाणी और दूसरे पक्षमें नदी] पहले विद्यमान थी वह कण्ठके समीप ही लीन हो गई। और नेत्रोंके मार्गमें जो पहले नहीं थी वह प्रबल वेग वाली सदानीरा नदी उत्पन्न हो गई।

राग [का उदाहरण] जैसे—

प्रचण्ड [कृपीसुत कृपाचार्यकी बहिन और द्रोणाचार्यकी पत्नी कृपीके पुत्र] अश्वत्थामा ने अस्त्रके द्वारा जिसका निवारण करना कठिन था इस प्रकारकी जो बाणोंकी बौछार कृष्ण के ऊपरकी गाण्डीवधारी अर्जुनने उछलकर उसको अपनी छाती पर ग्रहण किया और वह उसके लिए पुष्पवृष्टिके समान आनन्ददायक बन गई।

अथवा जैसे—

[कृष्णके लिए] वनमाला बनानेके योग्य [सुन्दर] पुष्पोंको वनमें चारों ओर [घूम-घूमकर] चुनते समय [कृष्णके मित्र] वृषभके लिए वृष राशिके सूर्यकी किरणें भी [चन्द्रमा की] चाँदनीके समान आनन्ददायक हो रही थीं।

अथायोग उत्कण्ठितं यथा—

धनुर्वेदमधीयानो मध्यमस्त्वयि पाण्डवः ।
बाष्पसंकीर्णया कृष्ण ! गिरा श्लेषं व्यजिज्ञपत् ॥८२८॥

अथ वियोगे यथा—

अघस्य जठरानलात्फणिह्रदस्य च क्ष्वेडतो-
दवस्य कवलादपि त्वमविताऽत्र येषामभूः ।
इतस्त्रितयतोऽप्यतिप्रकटघोरधाटीधरा-
त्कथं न विरहज्वरादवसि तान्सखीनद्य नः ॥८२९॥

अत्रापि पूर्ववत्प्रोक्तास्तापाद्यास्ता दश दशा ।

तत्र तापः—

प्रपन्नो भाण्डीरेऽप्यधिकशिशिरे चण्डिमभरं-
तुषारेऽपि प्रौढिं दिनकरसुतास्रोतसि गतः ।
अपूर्वः कंसारे ! सुबलमुखमित्रावलिमसौ
बलीयानुत्तापस्तव विरहजन्मा ज्वलयति ॥८३०॥

कृशता—

त्वयि प्राप्ते कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं-
गभीरादाभीरावलितनुषु खेदादनुदिनम् ।
चतुर्णां भूतानामजनि तनिमा दानवरिपो !
समीरस्य प्राणाध्वनि पृथुलता केवलमभूत ॥८३१॥

[कृष्णके] अयोगमें उत्कण्ठित [का उदाहरण] जैसे—

हे कृष्ण ! धनुर्वेदका अध्ययन करते हुए [मध्यम पाण्डव अर्थात्] अर्जुनने गद्गद वाणीसे तुमसे आलिंगन करनेका सन्देश दिया है ।

वियोगमें [उत्कण्ठितका उदाहरण] जैसे—

अघासुरके जठरानलसे कालिदहके विषसे और दावानलके ग्राससे भी तुमने जिन मित्रोंकी रक्षा की थी इन तीनोंसे भी अधिक सन्तापको देनेवाले [घाटीधरात् सन्तापदायक] विरह-ज्वरसे हम मित्रोंकी आज रक्षा क्यों नहीं करते हो ।

इसमें भी पहिले कही हुई वे ताप आदि दशों दशाएँ मानी जाती हैं ।

उनमेंसे ताप [का उदाहरण] जैसे—

अत्यन्त शीतल भाण्डीर वनमें भी भयंकर उग्रता को प्राप्त, और शीतल यमुना जलके भीतर भी प्रचण्डताको प्राप्त हे कंसारि आपके विरह से उत्पन्न यह अलौकिक सन्ताप सुबल आदि मित्रगणों को सन्तप्त कर रहा है ।

कृशता [का उदाहरण] जैसे—

हे दानवरिपो, कंसके मारनेके लिए तुम्हारे मथुरा नगरी को चले जाने पर अत्यन्त दुःखके कारण आभीरों के शरीर में [वायुको छोड़ कर शेष] चारों भूत कृशता को प्राप्त हो गई । केवल श्वासमार्ग में वायुका वेग अधिक हो गया ।

जागर्य्या यथा—

नेत्राम्बुजद्वन्द्वमवेक्ष्य पूर्णं-
वाष्पाम्बुपूरेण वरूथपस्य ।
तत्रानुवृत्तिं किल यादवेन्द्र !
निर्विद्य निद्रामधुपी मुमोच ॥८३२॥

आलम्बशून्यता—

गते वृन्दाऽरण्यात् प्रियसुहृदि गोष्ठेश्वरसुते
लघूभूतं सद्यः पतदतितरामुत्पतदपि ।
न हि भ्रामं भ्रामं भजति चटुलं तूलमिव मे
निरालम्बं चेतः क्व चिदपि विलम्बं लवमपि ॥८३३॥

अधृतिः—

रचयति निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निवृत्तिं-
कलयति च कलानां विस्मृतौ यत्नकोटिम् ।
किमपरमिह वाच्यं जीवितेऽप्यद्य धत्ते
यदुवर ! विरहात्ते नार्थितां बन्धुवर्गः ॥८३४॥

जडता

जागरण [का उदाहरण] जैसे—

हे यादवेन्द्र वरूथप [सखा] के दोनों नेत्रों, नेत्र-कमलों को वाष्पधारा से परिपूर्ण देख कर दुःखी हुई निद्रा-रूप मधुपी ने उनमें रहना छोड़ दिया ।

आलम्बनशून्यता [का उदाहरण] जैसे—

अपने प्रिय मित्र और गोकुलेश्वरके पुत्र कृष्णके वृन्दावनसे चले जाने पर सारहीन मेरे चित्त चंचल चित्त गिरता-पड़ता और रूईके समान चक्कर खाता हुआ कहीं तनिक देरके लिए भी विश्राम नहीं पोता है ।

अधृति [का उदाहरण] जैसे—

हे यदुवर तुम्हारे विरह के कारण आज तुम्हारा बन्धुवर्ग धूलसे शोभित होने वाले [गोचारण रूप] अपने काम को छोड़ बैठा है और [संगीत आदि] कलाओंको भुलानेके सहस्रों उपाय कर रहा है । अधिक क्या कहें आज तो उसे अपना जीवन भी प्रिय नहीं मालूम होता है ।

जड़ता [का उदाहरण] जैसे—

इस श्लोकमें श्लेषालंकार है । कृष्णके मित्रों को कविने पर्वतके शिखर पर उत्पन्न वृक्षके समान माना है । मित्रोंके जो बिशेषण दिए हैं वे मित्र पक्षमें तथा शिखरजात वृक्ष के पक्ष में भिन्न-भिन्न अर्थ बोधित करते हुए अन्वित होते हैं । परिच्छद पद मित्र पक्ष में वेषका वाचक होता है । और वृक्ष पक्षमें अनाश्रिताः परितच्छदाः पत्राणि यैस्ते अनाश्रितपरिच्छदाः अर्थात् पत्तोंसे रहित इस अर्थका बोधक होता है । विफलवृत्तयः का अर्थ मित्रपक्षमें व्यर्थ-व्यापार वाले और शिखरवृक्ष पक्षमें फलहीन होता है । छायाका अर्थ मित्रपक्षमें कान्ति तथा वृक्षपक्षमें अनातप धपका अभाव होता है । विरावपपिवर्जिताः का अर्थ मित्रपक्षमें हर्षध्वनि

अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षालकाः
सदा विफलवृत्तयो विरहिताः किल च्छायया।
विरावपरिवर्जितास्तव मुकुन्द ! गोष्ठान्तरे
स्फुरन्ति सुहृदा गणाः शिखरजातवृक्षा इव ॥८३५॥

व्याधिः—

विरहज्वरसंज्वरेण ते
ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना।
यदुवीर ! तटे विचेष्टते
चिरमाभीरकुमारमण्डली ॥८३६॥

उन्मादः—

विनाभवदनुस्मृतिं विरहविभ्रमेणाधुना
जगद्व्यवहृतिक्रमं निखिलमेव विस्मारिताः।
लुठन्ति भुवि शेरते बत हसन्ति धावन्त्यमी
रुदन्ति मथुरापते ! किमपि बल्लवानां गणाः ॥८३७॥

मूर्च्छितम्—

दीव्यतीह मधुरे मथुरायां-
प्राप्य राज्यमधुना मधुनाथे।
विश्वमेव मुदितं रुदितान्धे
गोकुले तु मुहुराकुलताऽभूत् ॥८३८॥

और वृक्षमें वीनां पक्षिणां रावः पक्षियोंकी ध्वनिसे रहित अर्थ होता है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

हे मुकुन्द [तुम्हारे वियोगमें] गोकुलमें तुम्हारे मित्रगण पर्वतशिखरपर उत्पन्न वृक्षके समान वेषभूषा-रहित [वृक्ष पक्षमें पत्तोंसे रहित] कृश और रूखे तथा बिखरे हुए बालोंसे युक्त, सदा व्यर्थ व्यापार [वृक्षपक्षमें फलोसे रहित] कान्तिसे शून्य [वृक्षपक्षमें छायारहित] हर्षादिसूचक विशेष ध्वनिसे रहित [वृक्षपक्षमें पक्षियोंके शब्दसे शून्य] पर्वतशिखर पर उत्पन्न वृक्षके समान प्रतीत होते हैं।

व्याधि [का उदाहरण] जैसे—

हे यदुवीर तुम्हारे विरहज्वरसे सन्तापित अभीरकुमारोंकी मण्डली शिथिलगात्र होकर बहुत समयसे [यमुनाके] तट पर पड़ी हुई है।

उन्माद [का उदाहरण] जैसे—

हे मथुरापते आपके विरह-सन्तापके कारण आभीर-मण्डली इस समय तुम्हारे स्मरण को छोड़ शेष सारे जगद्-व्यवहारोंको एकदम भूल गई है। वे लोग [उन्मादयुक्तसे होकर] कभी लोटते हैं, कभी जमीन पर सो जाते हैं कभी हंसने और दौड़ने लगते हैं और कभी कुछ विचित्र ढंगसे रोने लगते हैं।

मूर्च्छा [का उदाहरण] जैसे—

अब सुन्दर कृष्ण के राज्यको प्राप्त कर मथुरा में शोभित होने पर सारा संसार हर्ष मना रहा है किन्तु गोकुलवासी री-रोकर अन्धे तथा अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं।

मृतिः—

कंसारेर्विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावली जर्जरा-
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते ।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि ॥८३६॥

प्रोक्तेयं विरहावस्था स्पष्टलीलाऽनुसारतः ॥५८॥

कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु व्रजवासिनाम् ।

तथा च स्कान्दे मथुराखण्डे—

वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीडति माधवः ।
वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः ॥८४०॥

अथ योगे सिद्धिर्यथा—

पाण्डवः पुण्डरीकाक्षं प्रेक्ष्य चक्रिनिकेतने ।
चित्राकारं भजन्नेव मित्राकारमदर्शयत् ॥

तुष्टिर्यथा श्रीदशमे—

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो-
भीमः स्मयन् प्रेमवजवाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धवाष्पा परिरेभिरेऽच्युतम् ॥८४२॥

मरण [का उदाहरण] जैसे—

कृष्णके विरहज्वरसे उत्पन्न ज्वालाओंसे क्षीण हुए गोपगण गोवर्धन पर्वतकी तलहट में श्वास-चिन्होंसे रहित होकर ऐसे पड़े हुए हैं कि उनके परिचयके कारण स्नेह करने वाले मृग भी अपनी बड़ी-बड़ी आँखों के जल से निश्चल पड़े हुए उनको बार-बर तर करते हुए उनके लिए शोक कर रहे है ।

[कृष्ण के] विरह की यह अवस्था [स्पष्टलीला अर्थात्] लौकिक लीला के अनुसार कही गई है । वास्तवमें तो व्रजवासियोंका कृष्ण से कभी भी वियोग नहीं होता है ।५८।

जैसे स्कन्दपुराणके मथुराखण्डमें कहा है—

बलरामके सहित बालकोंसे घिरे हुए कृष्ण वृन्दावनमें ही रहते हुए सदैव गोपाल-बालों तथा गौओंके साथ विहार करते रहते हैं । [कभी भी वृन्दाबन छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाते हैं ।]

[कृष्णके योगमें सिद्धि [का उदाहरण] जैसे—

[द्रुपदनगर में] कुम्भकारके घर में पुण्डरीकाक्ष कृष्णकी देख कर चित्रलिखित सा हुए अर्जुन ने [मित्राकारं अर्थात्] मित्रके योग्य संकेत को प्रदर्शित किया ।

[कृष्णके योगमें] तुष्टि [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्दमें—

प्रेमके आवेगसे विकलेन्द्रिय भीम ने उन मातुल-पुत्र [ममेरे भाई] का आलिंगन कर हँसते हुए अत्यन्त सन्तोषका अनुभव किया । और आनन्दाश्रुओसे परिपूर्ण नेत्रों वाले नकुल सहदेव तथा अर्जुन ने अपने घनिष्ठ मित्रका आनन्दसे आलिगन किया ।

यथा वा—

कुरुजाङ्गले हरिमवेक्ष्य पुरः
प्रियसंगमे व्रजसुहृन्निकराः ।
भुजमण्डलेन मणिकुण्डलिनः
पुलकाञ्चितेन परिषस्वजिरे ॥८४३॥

स्थितिर्यथा श्रीदशमे—

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम् ॥८४४॥

द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्य्यभागसौ ॥५९॥
प्रेयान् कामपि पुष्णाति रसश्चित्तचमत्कृतिम् ।
प्रीते च वत्सले चापि कृष्णतद्भक्तयोः पुनः ॥६०॥
द्वयोरन्योन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत् ।
प्रेयानेव भवेत्प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम् ॥६१॥
सख्यसंपृक्तहृदयैः सद्भिरेवानुबुध्यते ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
निरूपणे प्रेयोभक्तिलहरी ॥३॥

अथवा जैसे—

जिसका संग प्रिय है इस प्रकारके कृष्णको कुरुक्षेत्रमें देख कर मणिके कुण्डल व्रज-वासी मित्रगणोंने रोमांचित भुजाओंसे कृष्णका आलिंगन किया ।

स्थिति [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

अनेक जन्मोंकी तपस्याके बाद आत्म-साक्षात्कार करने वाले योगियोंके द्वारा भी जिनकी चरणरज प्राप्त नहीं होती है वही कृष्ण स्वयं जिनके नेत्रोंके सामने स्थित है उन व्रजवासियों के सौभाग्यका वर्णन करना सम्भव नहीं है ।

दोनोंके चित्त में एक ही प्रकारकी माधुर्य को प्रस्तुत करने वाला यह प्रेयोभक्तिरस चित्तमें किस अनिर्वचनीय आनन्द को उत्पन्न करता है ।५९।

प्रति [अर्थात् प्रीति भक्तिरस में] तथा वत्सल रसमें कृष्ण तथा उनके भक्त दोनों के स्नेह की भिन्नता रहती है [एक जातीयता नहीं होती है ।६०।

इसलिए सारे रसों प्रयोग रस [अर्थात् प्रेयोभक्तिरस] ही सर्वप्रिय माना जाता है । और सख्यभावसे परिपूर्ण हृदय वाले सहृदय ही उसका अनुभव कर सकते हैं ।६१।

भक्तिरसामृतसिन्धु के पश्चिम विभागमें
मुख्य भक्तिरसके निरूपण में
प्रेयोभक्तिरसलहरी
समाप्त हुई ॥३॥

अथ चतुर्थी वत्सलभक्तिरस लहरी

विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः ।
एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः ॥१॥

तत्रालम्बनाः—

कृष्णं तस्य गुरूंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः ।

तत्र कृष्णो यथा—

नवकुवलयदामश्यामलं कोमलाङ्गं
विचलदलकभृङ्गक्रान्तनेत्राम्बुजान्तम् ।
व्रजभुवि विहरन्तं पुत्रमालोकयन्ती
व्रजपतिदयिताऽऽसीत्प्रस्नवोत्पीडदिग्धा ॥८४५॥

श्यामाङ्गो रुचिरः सर्वसल्लक्षणयुतो मृदुः ॥२॥
प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत् ।
दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इह कथ्यते ॥३॥
एवङ्गुणस्य चास्यानुग्राह्यत्वादेव कीर्त्तिता ।
प्रभावानास्पदतया वेद्यस्यात्र विभावता ॥४॥

अथ चतुर्थी वत्सलभक्तिरस लहरी

विभावादिके द्वारा पुष्टिको प्राप्त हुआ वात्सल्यरूप स्थायिभाव वत्सलभक्तिरस होता है । इसको विद्वान् लोग [वत्सलभक्तिरस न कहकर] केवल वात्सल्य [वत्सलतामात्रः] रस कहते हैं ॥ १ ॥

उसमें आलम्बन [निम्न प्रकार होते हैं]—

विद्वान् लोग कृष्ण और उनके गुरुजनोंको इस [वात्सल्यरस] का आलम्बन मानते हैं ।

उनमेंसे कृष्ण [के आलम्बन विभाव होनेका उदाहरण] जैसे—

नवीन कुवलयमालाके समान श्यामल देह, चंचल केशपाश रूप भृङ्गसमूहसे जिनका मुखकमल आक्रान्त हो रहा है । इस प्रकारके ब्रजमें घूमते हुए पुत्रको देखकर ब्रजरानी यशोदा [वात्सल्यके कारण अपने] स्तनों से बह चलने वाले दूधसे [दिग्धा अर्थात्] भीग गई ।

श्यामलदेह, सुन्दर, समस्त शुभलक्षणोंसे युक्त एवं मृदुल स्वभाव—॥२॥

मिष्टभाषी, सरल प्रकृति, लज्जाशील, विनयी, पूजनीय जनोंका आदर करनेवाले एव दाता इत्यादि गुणोंसे युक्त कृष्ण इस [वात्सल्यरस] में विभाव होते हैं ॥३॥

इस प्रकारके गुणोंसे युक्त इन [कृष्ण] के [प्रभावनास्पदतया वेद्यस्य अर्थात् ईश्वर रूपके] प्रभावसे रहित रूपमें ज्ञात होने पर हो [गुरुजनोंके द्वारा पुत्रादि रूपसे] अनुग्राह्य होने से [वात्सल्यरसमें] विभाव माना जाता है ॥४॥

यथा श्रीदशमे—

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्त्वतैः ।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम् ॥८४६॥

यथा वा—

विष्णुर्नित्यमुपास्यते सखि ! मया तेनात्र नीताः क्षयं-
शङ्के पूतनिकाऽऽदयः क्षितिरुहौ तौ वात्ययोन्मूलितौ ।
प्रत्यक्षं गिरिरेष गोष्ठपतिना रामेण सार्द्धं धृत-
स्तत्तत्कर्म दुरन्वयं मम शिशोः केनास्य सम्भाव्यते ॥८४७॥

अथ गुरवः—

अधिकंमन्यभावेन शिक्षाकारितयाऽपि च ।
लालकत्वादिनाऽप्यत्र विभावा गुरवो मताः ॥५॥

भूय्यनुग्रहचित्तेन चेतसा लालनोत्कम्भितः कृपाऽऽकुलम् ।
गौरवेण गुरुणा जगद्गुरोर्गौरवं गणमगण्यमाश्रये ॥८४८॥

ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज्ञी व्रजेश्वरः ।
रोहिणी ताश्च वल्लव्यो या पद्मजहृतात्मजाः ॥६॥

जैसे दशम स्कन्धमें—

तीनों वेदों के, उपनिषदों और सत्वप्रधान सांख्य-योगादि भी जिसके माहात्म्यका गान करते हैं। इस प्रकारके कृष्णको [उनकी माता यशोदा, उनके वास्तविक प्रभावको न जाननेके कारण] अपना पुत्र समझती है।

अथवा जैसे—

हे सखि ! मैं प्रतिदिन विष्णुकी उपासना करती हूँ इसलिए जान पड़ता है कि उन्होंने ही पूतना आदि का नाश किया है। और उन [यमलार्जुन रूप] दोनों वृक्षोंको आँधी ने गिरा दिया है और [अपने उपास्य विष्णुके प्रभावसे] इस गोवर्धन पर्वतको बलरामके साथ मिलकर निश्चय ही नन्दने उठाया हैं। क्योंकि इन सब कार्योंका मेरे पुत्र [कृष्ण] के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता है। [यह बच्चा इन कामों को कर सकता है] ऐसा कौन कह सकता है।

अब गुरुजन [रूप विभावोंको कहते हैं]—

अपनेको [कृष्णकी अपेक्षा] बड़ा समझनेके कारण, शिक्षा देने वाला होनेके कारण अथवा लालन-पालन करने वाला होनेके नाते गुरुजन इस [वात्सल्यरसमें] में विभाव माने जाते हैं ॥५॥

अत्यधिक कृपालु मनसे [कृष्णके] लालनके लिए उत्सुक दयार्द्र [जगद्गुरोः अर्थात्] कृष्णको अगणित [गौरवं गणं अर्थात्] गुरुजनोंको अत्यन्त आदरके साथ नमस्कार करता हूँ।

यह [वात्सल्यरसके प्रकरण] में व्रजरानी [यशोदा] व्रजेश्वर [नन्द] रोहिणी, वे गोपपत्नियाँ जिनके बालक ब्रह्माने चुरा लिये थे ॥६॥

देवकी तत्सपत्न्यश्च कुन्ती चानकदुन्दुभिः ।
सान्दीपनिमुखाश्चान्ये यथापूर्वममी वराः ॥७॥
व्रजेश्वरीव्रजाधीशौ श्रेष्ठौ गुरुजनेष्विमौ ।

तत्र व्रजेश्वर्य्या रूपं यथा श्रीदशमे—

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं-
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः ।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥८४९॥

यथा वा—

डोरीजूटितवक्रकेशपटला सिन्दूरबिन्दूल्लस-
त्सीमन्तद्युतिरङ्गभूषणविधिं नातिप्रभूतं श्रिता ।
गोविन्दास्यविसृष्टसाश्रुनयनद्वन्द्वा नवेन्दीवर-
श्यामश्यामरुचिर्विचित्रसिचया गोष्ठेश्वरी पातु वः ॥८५०॥

वात्सल्यं यथा—

तनौ मन्त्रन्यासं प्रणयति हरेर्गद्गदमयी
सबाष्पाक्षा रक्षातिलकमलिके कल्पयति च ।

देवकी, उनकी सपत्नियाँ, कुन्ती [आनकदुन्दुभिः अर्थात् श्रीकृष्णके पिता] वसुदेव, और सान्दीपनि आदि अन्य [सब कृष्णके गुरुजन वात्सल्यरसमें आलम्बन विभाव होते हैं] इनमें पूर्व-पूर्व [उत्तर-उत्तर की अपेक्षा अधिक] श्रेष्ठ माने जाते हैं ॥७॥

[इन समस्त गुरुजनोंमें] व्रजरानी तथा व्रजेश्वर [अर्थात् नन्द और यशोदा] सबसे अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं ।

उनमेंसे व्रजेश्वरीका रूप [इस प्रकार वर्णित होता है] जैसे दशम स्कन्धमें—

डोरीसे बँधे हुए रेशमी वस्त्रको कमरमें पहने हुए, पुत्रस्नेहके कारण जिनसे दूध बह रहा है इस प्रकारके हिलते हुए स्तनोंको धारण करने वाली, सुन्दर भौंहोंसे युक्त [दधिमन्थन के समय] रस्सीके खींचनेमें समर्थ भुजाओंमें चंचल कंकण और [कानोंमें चञ्चल] कुण्डलोंको धारण एवं पसीनेसे तर चौमुखको धारण किये हुए जिसमें केशोंसे मालतीके फूल गिरे जा रहे हैं इस प्रकारसे [दहीका] मन्थन कर रही थी ।

अथवा जैसे [यशोदाके रूपका वर्णन निम्न प्रकार भी पाया जाता है]—

डोरीसे जिसने अपने घुँघराले बालोंका जूड़ा बांध रखा है, जिसकी माँग सिन्दूरसे भरी हुई शोभित हो रही है, जो अधिक अलकारोंको नहीं धारण किये हुए हैं जो आनन्दाश्रुओं से परिपूर्ण नेत्रोंसे कृष्णका मुँह निहार रही है । नवीन नीलकमलोंके समान कान्तिवाली और विचित्र पल्ला डाले हुए वह व्रजरानी आप सबका कल्याण करे ।

[यशोदाके कृष्णके प्रति] वात्सल्य [का उदाहरण] जैसे—

[स्नेहातिशयके कारण] गद्गदयुक्त हुई [नजर लग जानेके भयसे कृष्णके] शरीर पर मन्त्र पढ़ती है, आंखोंमें प्रेमाश्रु लिए कृष्णके माथे पर रक्षा तिलक लगाती है । और प्रातः-

स्तुवाना प्रत्यूषे दिशति च भुजे कार्म्मणमसौ
यशोदा मूर्त्तेव स्फुरति सुतवात्सल्यपटला ॥८५१॥

व्रजाधीशस्य रूपं यथा—

तिलतण्डुलितैः कचैः स्फुरन्तं-
नवभाण्डीरपलाशचारुचेलम् ।
अतितुन्दिलमिन्दुकान्तिभाजं-
व्रजराजं वरकूर्चमर्चयामि ॥८५२॥

वात्सल्यं यथा—

अवलम्ब्य कराङ्गुलिं निजां स्खलदङ्घ्रि प्रसरन्तमङ्गने ।
उरसि स्रवदश्रुनिर्झरो मुमुदे प्रेक्ष्य सुतं व्रजाधिपः ॥८५३॥

अथोद्दीपनाः—

कौमारादिवयोरूपवेषाः शैशवचापलम् ॥८॥
जल्पितस्मितलीलाद्या बुधैरुद्दीपनाः स्मृताः ।

तत्र कौमारं—

आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारं त्रिविधं मतम् ॥६॥

तत्राद्यं—

स्थूलमध्योरुताऽपाङ्गश्वेतिमा स्वल्पदन्तता ।
प्रव्यक्तमार्दवाद्यं च कौमारे प्रथमे सति ॥१०॥

काल कृष्णकी स्तुति करती हुई उनकी बांहमें मन्त्रौषधि बांधती है। इस प्रकार मानो वात्सल्यरस स्वयं मूर्ति धारण करके आ गया हो, इस प्रकारसे यशोदा शोभित हो रही है।

व्रजाधीश [नन्द] का रूप [इस प्रकार वर्णित होता है]—

[तिल-तण्डुलित अर्थात् आधे काले आधे सफेद] खिचड़ी हुए बालोंसे शोभायमान, नवीन [भाण्डीर अर्थात्] बरगदके नवीन पत्तेके समान [हरिद् वर्ण] वस्त्रको धारण किये बड़ी तोंद वाले और चन्द्रमाके समान गौरवर्ण सुन्दर दाढ़ी-मूँछों वाले व्रजराज [नन्द] की वन्दना करता हूँ।

[नन्दके कृष्णके प्रति] वात्सल्य [का उदाहरण] जैसे—

अपनी हाथकी अँगुली पकड़ाये हुए लड़खड़ाते पैरोंसे आँगनमें घूमते हुए पुत्र [कृष्ण] को देखकर जिनकी छाती पर प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है इस प्रकारके व्रजाधिप [नन्दजी] आल्हादित हो रहे थे।

अब [वात्सल्यरसके] उद्दीपन [विभाव बतलाते हैं]—

कौमारि आदि आयु, रूप वेष, शैशवकी चपलता, बात करना, मुस्कराना और लीला आदिको विद्वान् लोग [वात्सल्यरसका] उद्दीपन [विभाव] बतलाते हैं ॥८॥

उनमेंसे कौमार [अर्थात् १-५ वर्ष तककी अवस्थाका वर्णन करते हैं]—

आद्य, मध्यम तथा अन्तिम भेदसे कौमार अवस्था तीन प्रकारकी मानी जाती है ॥६॥

उनमेंसे आद्य [कौमारका वर्णन निम्न प्रकार है]—

प्रथम कौमार अवस्थाके होनेपर कमर तथा जंघाओंमें स्थूलता, नेत्रोंके किनारेपर

यथा—

त्रिचतुरदशनस्फुरन्मुखेन्दुः प्रथुतरमध्यकुटीरकोरुसीमा ।
नवकुवलयकोमलः कुमारो मुदमधिकां व्रजनाथयोर्व्यतानीत् ॥८५४॥

अस्मिन्मुहुः पदक्षेपः क्षणिके रुदितस्मिते ।
स्वाङ्गुष्ठपानमुत्तानशयनाद्यं च चेष्टितम् ॥११॥

यथा—

मुखपुटकृतपादाम्भोरुहाङ्गुष्ठमूर्ध्व-
प्रचलचरणयुग्मं पुत्रमुत्तानसुप्तम् ।
क्षणमिह विरुदन्तं स्मेरवक्त्रं क्षणं सा
तिलमपि विरताऽऽसीन्नेक्षितुं गोष्ठराज्ञी ॥८५५॥

अत्र व्याघ्रनखः कण्ठे रक्षातिलकमञ्जनम् ।
पट्टडोरी कटौ हस्ते सूत्रमित्यादि मण्डनम् ॥१२॥

यथा—

तरक्षुनखमण्डनं नवतमालपत्रद्युतिं-
शिशुं रुचिररोचनाकृततमालपत्रश्रियम् ।
धृतप्रतिसरं कटस्फुरितपट्टसूत्रस्रजं-
व्रजेशगृहिणी सुतं न किल वीक्ष्य तृप्तिं ययौ ॥८५६॥

श्वेतिमा, छोटे-छोटे दाँत और अत्यन्त कोमलता आदि होती है ॥१०॥

जैसे—

तीन-चार दाँतोंसे जिसका मुख शोभायमान हो रहा है, जिसकी कमर, नितम्ब और जँघाएँ खूब मोटी-मोटी हैं. इस प्रकारका और नीलकमलके समान कोमल कुमार [कृष्ण] नन्द और यशोदा दोनों ब्रजपतियोंको प्रमुदित कर रहे थे ।

इस [प्रथम कौमार अवस्था] में बार-बार पैर चलाना, तनिक-तनिक वेरमें रोना और हँसना, अपने [पैरके] अँगूठेका चूसना और चित्त लेटे रहना आदि क्रियाएँ होती हैं ॥११॥

जैसे—

चरण-कमलके अँगूठेको मुँहमें दिये हुए, दोनों पैरोंको चलाते हुए, चित्त लेटे हुए तनिक देरको रोने लगने और तनिक देरमें हँसने लगने वाले पुत्रको गोकुलेश्वरी क्षणभरको भी आँखोंसे ओझल करनेमें समर्थ नहीं थी ।

इस [प्रथम कौमार अवस्था] में गलेमें बघनखा, राखका तिलक, काजल, कमरमें रेशमी डोरी, हाथमें सूत्र आदि आभूषण होते हैं ॥ १२ ॥

जैसे—

[नजर बचानेके लिए माता द्वारा पहिनाये गए] बघनखाको धारण करने वाले, नवीन तमालपत्रके समान कान्तिवाले, सुन्दर गोरोचना [कृततमालपत्रश्रियम अर्थात्] तिलक को धारण करने वाले हाथमें डोरा बाँधे हुए और कमरमें रेशमी डोरीको धारण करनेवाले पुत्रको देखकर ब्रजेश्वरीकी तृप्ति नहीं हो रही थी ।

अथ मध्यं—

दृक्तटीभागलकताऽऽनग्नता च्छिद्रिकर्णता ।
कलोक्तिरिङ्गणाद्यं च कौमारे सति मध्यमे ।।१३।।

यथा—

विचलदलकरुद्धभ्रूतटीचञ्चलाक्षं-
कलवचनमुदञ्चन्नूतनश्रोत्ररन्ध्रम् ।
अलघुरचिररिङ्गं गोकुले दिग्दुकूलं-
तनयममृतसिन्धौ प्रेक्ष्य माता न्यमाङ्क्षीत् ।।८५७।।

घ्राणस्य शिखरे मुक्ता नवनीतं कराम्बुजे ।
किङ्किण्यादि च कट्यादौ प्रसाधनमिहोदितम् ।।१४।।

यथा—

क्वणितकनककिङ्किणीकलापं—
स्मितमुखमुज्ज्वलनासिकाऽग्रमुक्तम् ।
करधृतनवनीतपिण्डमग्रे—
तनयमवेक्ष्य नन्द नन्दपत्नी ।।८५८।।

अथ शेषं—

अत्र किञ्चितकृशं मध्यमीषत्प्रथितभागुरः ।
शिरश्च काकपक्षाढ्यं कौमारे चरमे सति ।।१५।।

अब मध्यम [कौमार अवस्थाका वर्णन करते हैं]—

आँखोंके किनारे तक बालोंका लटकना, नंगा रहना, छिदे हुए कान, सुन्दर बोली और रेंगना [घुटनोंके बल चलना] आदि मध्यम कौमार अवस्थामें होते हैं ।।१३।।

जैसे—

हिलते हुए केशोंसे जिसकी भौंहें तथा चञ्चल नेत्र ढक गए हैं, इस प्रकारके, सुन्दर वचनोंसे जिसके नूतन कानोंके छिद्र खुले जा रहे हैं। गोकुलमें धीरे-धीरे [या दूर तक] रंगनेवाले और नंग-धड़ंग पुत्रको देखकर माता [यशोदा आनन्दातिरेकके कारण] अमृतसागरमें निमग्न हो रही थी।

नाकके अगले भाग पर मोती धारण करना, हाथमें मक्खन और कमर आदिमें किंकिणीका बँधा होना इत्यादि इस [मध्यम कौमारावस्था] में अलंकार होते हैं।।१४।।

जैसे—

जिसकी [कमरमें बँधी हुई] किंकिणियाँ बज रही हैं, नाकके आगे सुन्दर मोती लटक रहा है, हाथमें मक्खन लिये हुए एवं मुस्कराते हुए पुत्रको देखकर नन्दकी पत्नी [यशोदा] अत्यन्त प्रमुदित हो रही थीं।

अब अन्तिम [कौमारावस्थाको कहते हैं]—

अन्तिम कौमार अवस्थाके आने पर कमर कुछ पतली तथा छाती कुछ चौड़ी हो

यथा—

> स मनागपचीयमानमध्यः
> प्रथमोक्रमशिक्षणाथिवक्षाः ।
> दधदाकुलकाकपक्षलक्ष्मीं—
> जननीं स्तम्भयति स्म दिव्यडिम्भः ॥८५६॥

धटी फणपटी चात्र किञ्चिद्वन्यविभूषणम् ।
लघुवेत्रकरत्वादि मण्डनं परिकीर्त्तितम् ॥१६॥

वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे वयस्यैः सह खेलनम् ।
पावशृङ्गदलादीनां वादनाद्यत्र चेष्टितम् ॥१७॥

यथा—

> शिखण्डकृतशेखरः फणपटीं कटीरे दधत्
> करेश लगुडीं लघुं सवयसां कुलैरावृतः ।
> अवन्निह शक्रुत्करीन् परिसरे व्रजस्य प्रिये !
> सुतस्तव कृतार्थयत्यहह पश्य नेत्राणि नः ॥८६०॥

अथ पौगण्डं—

पौगण्डादि पुरैवोक्तं तेन संक्षिप्य लिख्यते ।

जाती है । और सिरकाकपक्षा [घुंघराले बालों] से भर जाता है ॥१५॥

जैसे—

जिसकी कमर तनिक पतली होती जा रही है, और छाती तनिक विस्तारका आरम्भ कर रही है, तथा चञ्चल केशपाशोंको धारण करने वाला वह दिव्य बालक [कृष्ण] माता [यशोदा] को आश्चर्यान्वित कर रहा था ।

[धाटी स्वल्पविस्तारबह्वायामः पटविशेषः । यः खलु विचित्रपरिवृत्तिबाहुल्येनाधारागे विच्छित्तिं लभते । फणपटी पुरतः फणाकारः कच्छीकरणाय, पश्चादल्पपटीसन्निभः स्यूतपटः । अर्थात् धोती और लँगोटी [मयूरपंख आदि] कुछ जंगली आभूषण तथा हाथमें बेंत आदिका धारण करना इस [अन्तिम कौमार अवस्था] में विभूषण होते हैं ॥१६॥

बछड़ोंका पालन और व्रजके आसपास मित्रोंके साथ खेलना पाव [वाद्यविशेष] तथा शृङ्गदल [वाद्यविशेष] का बजाना इस [अन्तिम कौमारावस्था] में व्यापार होते हैं ॥१७॥

जैसे—

मोरपंखोंका मुकुट बनाए, कमरमें लँगोटी लगाए, हाथमें छोटी-सी लकड़ी लिए और मित्रगणोंसे घिरे बछड़ोंको चराते हुए व्रजके किनारे हे प्रिये ! तुम्हारा यह पुत्र हमारे नेत्रों को कृतार्थ कर रहा है ।

अब पौगण्ड [१५-२५ वर्ष तककी अवस्थाको कहते हैं]—

पौगण्ड आदिका वर्णन पहले ही कर चुके हैं । इसलिए संक्षेपमें ही [उसके विषयमें यहाँ दुबारा] लिखते हैं ।

यथा—

पथि पथि सुरभीणामंशुकोत्तंसिमूर्धा
धवलिमयुगपाङ्गो मण्डितः कञ्चुकेन ।
लघु लघु परिगुञ्जन्मञ्जुमञ्जीरयुग्मं-
व्रजभुवि मम वत्सः कच्छदेशादुपैति ॥८६१॥

अथ कैशोरं—

अरुणिमयुगपाङ्गस्तुङ्गवक्षःकपाटी—
विलुलदमलहारो रम्यरोमावलिश्रीः ।
पुरुषमणिरयं मे देवकि ! श्यामलाङ्ग-
स्त्वदुदरखनिजन्मा नेत्रमुच्चैर्धिनोति ॥८६२॥

नव्येन यौवनेनापि दीव्यन् गोपेन्द्रनन्दनः ॥१८॥
भाति केवलवात्सल्यभाजां पौगण्डभागिव ।
सुकुमारेण पौगण्डवयसा संगतोऽप्यसौ ॥१६॥
किशोराभा सदा दासविशेषाणां प्रभासते ।

अथ शैशवचापलं—

पारीर्भिनत्ति विकिरत्यजिरे दधीनि
सन्तानिकां हरति कृन्तति मन्थदण्डम् ।
वन्हौ क्षिपत्यविरतं नवनीतमित्थं-
मातुः प्रमोदभरमेव हरिस्तनोति ॥८६३॥

जैसे—

गौओंके प्रत्येक रास्तेमें मोरपंखका मुकुट लगाए श्वेत वर्णके दोनों नेत्र प्रान्तोंवाला, कुर्ता धारण किए, सुन्दर मँजीरेको धीरे-धीरे बजाता हुआ मेरा पुत्र यमुनाके किनारेसे गोकुल भूमिमें आ रहा है ।

अब कैशोर [अवस्थाका वर्णन करते हैं]—

लाल नेत्रप्रान्तोंवाला, ऊँची छाती हारसे सुशोभित, सुन्दर रोमावलीसे अलंकृत श्याम वर्णका हे देवकि ! तुम्हारे पेट रूप खानसे निकला हुआ यह पुरुषमणि [कृष्ण] आँखोंको अत्यन्त आनन्द प्रदान कर रहा है ।

केवल वात्सल्य [शुद्ध वात्सल्यः] से युक्त [गुरुजनों] को पौगण्ड [१५-२२ वर्षकी अवस्था] से युक्तके समान नवीन यौवन [२२-२५ वर्ष तककी अवस्था] से युक्त कृष्ण भी अत्यन्त प्रिय लगते हैं ॥१८॥

और दास विशेषोंके लिए यह पौगण्ड [१५ २२ वर्ष तककी अवस्था] से युक्त होनेपर भी सुकुमार किशोरावस्था [६-१५ वर्ष की अवस्था] के साथ संगत होकर किशोर-जैसे सदा प्रतीत होते हैं ॥१६॥

अब [कृष्णके] शैशवकी चपलता [का वर्णन करते हैं]—

[पारी अर्थात्] दुग्धादि पीनेके पात्रको तोड़ डालता है, दधिको आँगनमें फैला देता

यथा वा—

प्रेक्ष्य प्रेक्ष्य दिशः सशङ्कमसकृन्मन्दं पदं निक्षिप-
न्नायात्येष लताऽन्तरे स्फुटमितो गव्यं हरिष्यन् हरिः।
तिष्ठ स्वैरमजानतीव मुखरे! चौर्य्यभ्रमद्भ्रूलतं-
त्रस्यल्लोचनमस्य शुष्यदधरं रम्यं दिदृक्षे मुखम् ॥८६४॥

अथानुभावाः—

अनुभावाः शिरोघ्राणं करेणाङ्गाभिमार्जनम् ॥२०॥
आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रतिपालनम्।
हितोपदेशदानाद्या वत्सले परिकीर्त्तिताः ॥२१॥

तत्र शिरोघ्राणं यथा श्रीदशमे—

तदा क्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उद्गृह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्ध्नि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥८६५॥

यथा वा—

दुग्धेन दिग्धा कुचविच्युतेन
समानमाघ्राय शिरः सपिच्छम्।
करेण गोष्ठेशितुरङ्गनेय-
मङ्गानि पुत्रस्य मुहुर्ममार्ज ॥८६६॥

है, [सन्तानिका दुग्धोपरिजाततत्सारमयजालिका अर्थात्] मलाईको उतार देता है और रई [मन्थनदण्ड] को तोड़ डालता है। और [कभी] मक्खनको लगातार अग्निमें डालता रहता है। इस प्रकार [शरारतें करने पर भी] कृष्ण माताके आनन्दको प्रतिक्षण बढ़ाता ही है।

अथवा जैसे—

सशंक दृष्टिसे चारों ओर देखते हुए, बार-बार धीरे-धीरे पग रखता हुआ यह कृष्ण लताओंकी आड़में होकर दधि छीननेके लिए चला आ रहा है। अरी वाचाले! बिलकुल अनजान-सी होकर चुपचाप खड़ी हो जा। चोरीके कारण जिसकी भौंहें चञ्चल हो रही हैं, डरी हुई आँखोंसे युक्त और सूखा हुआ इसका मुख मैं देखना चाहती हूँ।

अब [वात्सल्यरसके] अनुभाव [कहते हैं]—

सिरका सूँघना, शरीर पर हाथ फेरना, आशीर्वाद और आज्ञा देना, लालन-पालन करना तथा हितका उपदेश करना आदि वत्सलरसमें अनुभाव कहे जाते हैं ॥२०-२१॥

उनमेंसे सिर सूँघना, जैसे दशम स्कन्धमें—

उस समय थोड़ी देरके लिए स्नेहातिरेकसे परिप्लावित हृदयवाली, अनुरागयुक्त, और क्रोध-रहित माताओंने बच्चोंको उठाकर बाहुओंमें दबाकर और सिरको सूँघकर उन [माताओं] ने अत्यन्त आनन्दका अनुभव किया।

अथवा जैसे—

स्तनोंसे निकलते हुए दूधसे भीगी हुई यह व्रजराजकी पत्नी [कृष्णके] मोरपंख-युक्त

चुम्बाश्लेषौ तथाऽऽह्वानं नामग्रहणपूर्वकम् ।
उपालम्भादयश्चात्र मित्रैः साधारणाः क्रियाः ॥२२॥

अथ सात्त्विकाः—

नवात्र सात्त्विका स्तन्यस्त्रावः स्तम्भादयश्च ते ।

तत्र स्तन्यस्त्रावो यथा श्रीदशमे—

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता—
उद्गृह्य दोर्भिः परिरभ्यः निर्भरम् ।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधाऽऽसवं—
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥८६७॥

यथा वा ललितमाधवे—

निचुलितगिरिधातुस्फीतिपत्रावलीका-
नखिलसुरभिरेणून् क्षालयद्भिर्यशोदा ।
कुचकलशविमुक्तैः स्नेहमाध्वीकमेध्यै-
स्तव नवमभिषेकं दुग्धपूरैः करोति ॥८६८॥

स्तम्भादयो यथा—

कथमपि परिरब्धुं न क्षमा स्तब्धगात्रा
कलयितुमपि नालं बाष्पपूरप्लुताक्षी ।
न च सुतमुपदेष्टुं रुद्धकण्ठी समर्था
दधतमचलमासीद् व्याकुला गोकुलेशा ॥८६९॥

सिरको आदरपूर्वक सूंघकर पुत्रके अंगोंको हाथसे बार-बार सहलाने लगी ।

इस [वत्सलरस] में [कृष्णका] चुम्बन, आलिंगन, नाम लेकर पुकारना और उलाहना देना आदि मित्रोंके साथ साधारण व्यवहार होते हैं ॥२२॥

अब [वत्सलरसके] सात्त्विकभाव [कहते हैं]—

स्तनोंसे दूध बहना और स्तम्भादि नौ सात्त्विकभाव इसमें [वत्सलरस] में होते हैं ।

उनमेंसे दूध बहनेका [उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

बांसुरीकी आवाज सुनकर जल्दीसे उठी हुई उनकी माताओंने [अपने बच्चोंको] गोदमें उठाकर जोरसे भुजाओंमें दाबकर और परब्रह्म [अर्थात् कृष्ण] रूप मानकर अपने दुग्धामृतका पान पुत्रोंको कराया—

अथवा जैसे ललितमाधवमें—

ऊपर पड़े हुए [निचुलित] गैरिकादि धातुओंसे पत्रावलियोंको बढ़ा देने वाले सारे धूलिकणोंको धो डालनेवाले, अपने स्तनकलशोंसे निकलते हुए स्नेहामृतके पवित्र दुग्धधाराओं से हे कृष्ण ! यशोदा माता तुम्हारा अभिनव अभिषेक करा रही है ।

स्तम्भादि [सात्त्विकभावोंका उदाहरण] जैसे—

कृष्णको पर्वत उठाते देखकर यशोदा अंगोंके अकड़ जानेसे किसी प्रकार भी उसका आलिंगन करनेमें समर्थ नहीं हो सकी और आनन्दाश्रुओंसे नेत्रोंके भर जानेके कारण उसको

अथ व्यभिचारिणः—

अत्रापस्मारसहिताः प्रीतोक्ताः व्यभिचारिणः ।।२३।।

तत्र हर्षो यथा श्रीदशमे—

यशोदा च महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ।।८७०।।

यथा वा विदग्धमाधवे—

जितचन्द्रपरागचन्द्रिकानलदेन्दीवरचन्दनश्रियम् ।
परितो मयि शैत्यमाधुरींवहति स्पर्शमहोत्सवस्तव ।।८७१।।

अथ स्थायी—

सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः ।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते ।।२४।।
यशोदाऽऽदेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढ़ा निसर्गतः ।
प्रेमवत्स्नेहवद्भाति कदाचित्किल रागवत् ।।२५।।

तत्र वात्सल्यरतिर्यथा श्रीदशमे—

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः ।
मूर्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ! ।।८७२।।

देखनेमें भी समर्थ नहीं हो सकी तथा [आनन्दातिरेकसे] कण्ठके अवरुद्ध हो जानेसे कुछ कह सकनेमें भी असमर्थ हो गई ।

अब [वत्सलरसके] व्यभिचारिभाव [कहते हैं]—

अपस्मार-सहित प्रीतिभक्तिरसमें कहे हुए व्यभिचारिभाव इसमें होते हैं ।।२३।।

उनमेंसे हर्ष [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

[आँधीमें] पहिले खोए और [आँधीके शान्त हो जानेके] बाद प्राप्त हो गया है, पुत्र जिसको इस प्रकारकी महाभाग्यशालिनी यशोदा [कृष्णका] आलिंगन करके और गोदीमें उठाकर अश्रुधारा बहाने लगी ।

अथवा जैसे विदग्धमाधवमें—

कर्पूर-पराग, [चन्द्रमाके जितने नाम हैं वे सब संस्कृतमें कर्पूरके भी वाचक हैं । इस लिए चन्द्रपरागका अर्थ कर्पूर-पराग है] चाँदनी, [नलद अर्थात्] खस और चन्दनकी श्रीको भी जीत लेने वाला तुम्हारे स्पर्शका महान् आनन्द मेरे लिए चारों ओरसे स्पर्शके आनन्दको प्रदान कर रहा है ।

अब [वत्सलरसके] स्थायिभाव [को कहते हैं]—

अनुकम्पा करनेवाले [गुरुजनों] की अनुकम्पनीयके प्रति भयादिसे रहित जो रति होती है उसीको यहां [वत्सलरसमें] वात्सल्य नामक स्थायि भाव कहते हैं ।।२४।।

यशोदा आदिकी वात्सल्यरति स्वभावतः ही प्रौढ़ा है और वह प्रेमके समान, स्नेहके समान और कभी रागके समान प्रतीत होती है ।।२५।।

उनमेंसे वात्सल्यरति [का उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

हे कुरुश्रेष्ठ ! उदार बुद्धिवाले और प्रवाससे आये हुए नन्दने अपने पुत्रको लेकर एवं

यथा वा—

विन्यस्तश्रुतिपालिरद्य मुरलीनिस्वानशुश्रूषया
भूयः प्रस्नववर्षिणी द्विगुणितोत्कण्ठा प्रदोषोदये ।
गेहादङ्गनमङ्गनात् पुनरसौ गेहं विशन्त्याकुला
गोविन्दस्य मुहुर्व्रजेन्द्रगृहिणी पन्थानमालोकते ॥८७३॥

प्रेमवद्यथा—

प्रेक्ष्य तत्र मुनिराजमण्डलैः स्तूयमानमपि मुक्तसम्भ्रमा ।
कृष्णमङ्कमभि गोकुलेश्वरी प्रस्नुता कुरुभुवि न्यवीविशत् ॥८७४॥

यथा वा—

देवक्या विवृतप्रसूचरितयाऽप्युन्मृज्यमानानने
भूयोभिर्वसुदेवनन्दनतयाऽप्युद्घुष्यमाणे जनैः ।
गोविन्दे मिहिरग्रहोत्सुकतया क्षेत्रं कुरोरागते
प्रेमा वल्लवनाथयोरतितरामुल्लासमेवाययौ ॥८७५॥

स्नेहवद्यथा—

उसका सिर सूंघकर अत्यन्त आनन्दका अनुभव किया ।

अथवा जैसे—

सन्ध्याकालके समय मुरलीकी ध्वनिको सुननेकी इच्छासे कान लगाए हुए स्तनोंसे दूध टपकाती हुई द्विगुणित उत्कण्ठयुक्त होकर एक कमरेसे दूसरे कमरेमें और एक आँगनसे दूसरे आँगनमें जाती हुई यह यशोदा बार-बार कृष्णके आनेकी राह देख रही है ।

प्रेमके समान [प्रतीत होनेवाला वात्सल्य] जैसे

कुरुक्षेत्रमें मुनिराजोंके समुदाय द्वारा स्तुति किए जानेवाले कृष्णको देखकर भी भयसे रहित, प्रस्नुतस्तनी यशोदाने कृष्णको अपने सामने गोदीमें बिठा लिया ।

अथवा जैसे—

माताके समान व्यवहार करनेवाली देवकीके द्वारा [पुत्रभावसे कृष्णके] मुखके पोंछे जाने और अनेक पुरुषों द्वारा [कृष्णको] वसुदेवका पुत्र घोषित कर देनेपरभी [सूर्यग्रहण के लिये उत्सुक कृष्णके कुरुक्षेत्रमें आनेपर गोपेश्वर नन्द तथा यशोदाका प्रेम उल्लासको ही प्राप्त हुआ ।

स्नेहके समान [वात्सल्य रतिका उदाहरण] जैसे—

सूर्यग्रहणके स्नानकी यात्राके व्याजसे कुरुक्षेत्र आकर अपने पुत्र श्रीकृष्णका दर्शन करनेके उद्देश्यसे आई हुई यशोदाको पहचान कर उनकी किसी परिचिता तपस्विनीका यशोदाके प्रति यह वचन है । वात्सल्यरसके कारण यशोदाके स्तनोंसे दूधकी धारा तथा आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही है । कविने इसमें दुग्धधाराकी गंगा तथा कज्जल-विमिश्रित अश्रुधाराओंको यमुनाकी धारा माना है । यशोदाके मध्यदेशमें उन दोनों धाराओंका संगम भारतके मध्यभागमें हुए गंगा-यमुनाका संगम है । उस संगमसे यशोदा 'विलन्ना' भीग रही स्नात हो रही है । संगमका स्नान बड़े पुण्यका जनक होता है । उसी पुण्यसे यशोदाको ब्रह्म-स्वरूप पुत्रका दर्शन हो रहा है । इस भावको कविने तपस्विनीके मुखसे इस श्लोकमें व्यक्त

पीयूषद्युतिभिः स्तनाद्रिपतितैः क्षीरोत्करैर्जान्हवी
कालिन्दी च विलोचनाब्जजनितैर्ज्जाताञ्जनश्यामलैः।
आरान्मध्यमवेदिमापतितयोः क्लिन्ना तयोः सङ्गमे
वृत्ताऽसि व्रजराज्ञि ! तत्सुतमुखप्रेक्षा स्फुटं वाञ्छसि ॥८७६॥

रागवद्यथा—

तुषारति तुषानलोऽप्युपरि तस्य बद्धस्थिति-
र्भवन्तमवलोकते यदि मुकुन्द ! गोष्ठेश्वरी।
सुधाऽम्बुधिरपि स्फुटं विकटकालकूटत्यलं-
स्थिता यदि न तत्र ते वदनपद्ममुद्वीक्ष्यते ॥८७७॥

अथायोग उत्कण्ठितं—

वत्सस्य हन्त शरदिन्दुविनिन्दिवक्त्रं-
सम्पादयिष्यति कदा नयनोत्सवं नः।
इत्यच्युते विहरति व्रजवाटिकाया-
मुर्वी त्वरा जयति देवकनन्दिनीनाम् ॥८७८॥

यथा वा—

भ्रातस्तनयं भ्रातुर्मम सन्दिश गान्धिनीपुत्र !।
भ्रातृव्येषु वसन्ती दिदृक्षते त्वां हरे ! कुन्ती ॥८७६॥

किया है। श्लोकका शब्दार्थ इस प्रकार है—

स्तनरूप पर्वतसे बहनेवाले अमृत-सदृश दुग्धधाराओंसे जाह्नवी [गंगा रूप] और नेत्रकमलोंसे उत्पन्न कज्जलके सम्पर्कके कारण श्यामल अश्रुधारा रूप यमुना इन दोनोंके मध्यवेदिक अर्थात् उदरप्रदेशमें समीप आकर मिलनेके संगममें व्रजरानी तुम स्नान कर चुकी हो इसलिए अब तुमको शीघ्र ही पुत्रके मुखका दर्शन करनेकी इच्छा है यह बात स्पष्ट ही प्रतीत होती है। [तुमको अब शीघ्र ही पुत्रके मुखका दर्शन होगा]।

रागके समान [वात्सल्यरतिका उदाहरण] जैसे—

हे मुकुन्द ! यदि गोपेश्वरी तुषानलसे ऊपर बैठकर तभी तुम्हारा दर्शन कर सके तो उनके लिए वह [तुषानल] भी तुषारके समान शीतल लगेगा। और यदि सुधासागरमें स्थित होकर भी तुम्हारा दर्शन न कर पाये तो उनके लिए वह [सुधासागर] भी कालकूट विषके समान [सन्तापदायक] होगा।

[कृष्णके] अयोगमें उत्कण्ठा [का उदाहरण] जैसे—

हाय ! शरत्कालीन चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करनेवाला पुत्रका मुख कब हमारे नेत्रोंको आनन्द प्रदान करेगा। इस प्रकार कृष्णके व्रजमें विहार करने पर देवकीकी उग्र व्यग्रता सर्वोत्कर्षशालिनी है [जयति]।

अथवा जैसे—

हे [गान्धिनीपुत्र अर्थात्] भाई अक्रूरजी, भाईके पुत्र [भतीजे कृष्ण] को मेरा यह सन्देश कहना कि हे हरे [भ्रातृव्य अर्थात्] शत्रुओंके बीचमें पड़ी हुई कुन्ती तुमको देखना चाहती है।

अथ वियोगो यथा श्रीदशमे—

यशोदा वर्ण्यमानानि सुतस्य चरितानि च ।
शृण्वत्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा ॥८८०॥

यथा वा—

याते राजपुरं हरौ मुखतटीव्याकीर्णधूम्रालका
पश्य स्रस्ततनुः कठोरलुठनैर्देहे व्रणं कुर्वती ।
क्षीणा गोष्ठमहीमहेन्द्रमहिषी हा पुत्र पुत्रेत्यसौ
क्रोशन्ती करयोर्युगेन कुरुते कष्टादुरस्ताडनम् ॥८८१॥

बहुनामपि सद्भावे वियोगेऽत्र तु केचन ।
चिन्ताविषादनिर्वेदजाड्यदैन्यानि चापलम् ॥२६॥
उन्मादमोहावित्याद्या अत्युद्रेकं व्रजन्त्यमी ॥

तत्र चिन्ता—

मन्दस्पन्दमभूत् क्लमैरलघुभिः सन्दानितं मानसं-
द्वन्द्वं लोचनयोश्चिरादविचलद्व्याभुग्नतारं स्थिरम् ।
निश्वासैः स्रवदेव पाकमयते स्तन्यं च तप्तैरिदं-
नूनं बल्लवराज्ञि ! पुत्रविरहोद्घूर्णाभिराक्रम्यसे ॥८८२॥

विषादः—

वदनकमलं पुत्रस्याहं निमीलति शैशवे
नवतरुणिमारम्भोन्मृष्टं न रम्यमलोकयम् ।

अब वियोग [को कहते हैं] जैसे दशम स्कन्धमें—

वर्णित किए जाने वाले पुत्रके चरितोंको सुनकर स्नेहसे जिसके स्तनोंसे दूध बहने लगा है । इस प्रकारकी यशोदा [आनन्दातिरेकके कारण] आंसू बरसाने लगी ।

अथवा जैसे—

कृष्णके [राजपुरं अर्थात्] मथुरा चले जानेपर मुखके ऊपर जिसके बाल बिखरे हुए हैं इस प्रकारकी शिथिल शरीर होकर कठोर भूमिपर लोटती हुई और अपनी देहको घायल करती हुई यह दुर्बल गोकुलेश्वरी [यशोदा] हा पुत्र ! हा पुत्र ! कहकर चिल्लाती हुई, दोनों हाथोंसे जोर-जोरसे अपनी छाती पीट रही है ।

बहुतसे [व्यभिचारिभावों] के होने पर भी वियोगमें चिन्ता, विषाद निर्वेद, जाड्य, दैन्य, चापल, उन्माद मोह आदि कुछ [व्यभिचारिभाव] अत्यन्त उग्रताको प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

उनमेंसे चिन्ता [का उदाहरण] जैसे—

तीव्र दुःखोंसे पीड़ित [यशोदाका] मन गतिशून्य-सा [मन्दस्पन्दं] हो रहा था [किसी काममें मन नहीं लगता था] । दोनों आँखें बहुत देर तक अलक्षित और वक्र तारोंसे युक्त हो जाते थे । और [स्तनोंसे निकलता हुआ दूध उष्ण निःश्वासोंके कारण तुरन्त ही पक जाता था] गोपेश्वरी इनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुम पुत्रविरहके दुःखसे आक्रान्त हो रही हो ।

विषाद [का उदाहरण जैसे]—

शैशवकी समाप्ति पर नवीन तरुणाईके आरम्भके कारण चमकता हुआ पुत्रका मुख

अभिनववधूयुक्तं चामुं न हर्म्यमवेशयं-
शिरसि कुलिशं हन्त क्षिप्तं स्वफल्कसुतेन मे ॥८८३॥

निर्वेदः—

धिगस्तु हतजीवितं निरवधिश्रियोऽप्यद्य मे
मया न हि हरेः शिरः स्नुतकुचाग्रमाघ्रायते ।
सदा नवसुधादुहामपि गवां परार्धं व धिक्
स लुञ्चति न चञ्चलः सुरभिगन्धि यासां दधि ॥८८४॥

जाड्यं—

यः पुण्डरीकेक्षण ! तिष्ठतस्ते
गोष्ठे कराम्भोरुहमण्डनोऽभूत् ।
तं प्रेक्ष्य दण्डस्तिमितेन्द्रियाऽद्य
दण्डाकृतिस्ते जननी बभूव ॥८८५॥

दैन्यं—

याचते बत विधातरुदस्रा
त्वां रदैस्तृणमुदस्य यशोदा ।
गोचरे सकृदपि क्षणमद्य
मत्सरं त्यज ममानय वत्सम् ॥८८६॥

चापलं—

किमिव कुरुते हर्म्ये तिष्ठन्नयं निरपत्रपो—
व्रजपतिरिति ब्रूते मुग्धोऽयमत्र मुदा जनः ।

कमल में न देख सकी । और नई बहूके साथ उसको महलमें प्रवेश न करा पाई । हाय अक्रूर ने [कृष्णको मथुरा ले जाकर] मेरे सिरपर यह वज्रपात कर दिया ।

निर्वेद [का उदाहरण जैसे]—

मेरे इस जीवनको और अपार सम्पत्ति होनेको धिक्कार ही है । जोकि स्तनोंसे दूध चुआते हुए मैं उस कृष्णका सिर सूँघनेका अवसर न प्राप्त कर सकी । सदा नवीन सुधा रूप दूधको देनेवाली असंख्य गौओंको भी धिक्कार है जिनके सुगन्धित दहीको चञ्चल कृष्ण नहीं लूटता है ।

जाड्य [का उदाहरण जैसे]—

हे कमलनेत्र ! तुम्हारे गोकुलमें रहनेपर जो [तुम्हारा दण्ड] तुम्हारे हाथका अलंकार था [तुम्हारे वियोगमें] उस [दण्ड] को देखकर तुम्हारी माता आज दण्डके समान ही स्तब्ध देह वाली हो गई ।

दैन्य [का उदाहरण जैसे]—

हे विधाता ! रोती हुई और दाँतोंमें तिनका दबाए [दाँतोंमें तिनका दबाना दैन्यका सूचक चिन्ह] यशोदा तुमसे यह भीख माँगती है कि गोकुलके प्रति तनिक देरके लिए अपने द्वेषको छोड़कर एक बार फिर वत्स कृष्णको यहाँ ला दो ।

चापल [का उदाहरण जैसे]—

यह [मुग्धो जनः अर्थात्] बाहरके सीधे-सादे लोग [मुदा अर्थात्] हाथमें [नन्दको

अहह तनयं प्राणेभ्योऽपि प्रियं परिहृत्य तं-
कठिनहृदयो गोष्ठे स्वैरी प्रविश्य सुखीयति ॥८८७॥

उन्मादः—

क्व मे पुत्रो नीपाः! कथयत कुरङ्गा! किमिह वः
स बभ्रामाभ्यर्णे भणत तदुदन्तं मधुकराः! ।
इति भ्रामं भ्रामं भ्रमभरविदूना यदुपते!
भवन्तं पृच्छन्ती दिशि दिशि यशोदा विचरति ॥८८८॥

मोहः—

कुटुम्बिनि! मनस्तटे विधुरतां विधत्से कथं-
प्रसादय दृशं मनाक् तव सुतः पुरो वर्तते।
इदं गृहिणि! मे गृहं न कुरु शून्यमित्याकुलः
स शोचति तव प्रसूं यदुकुलेन्द्र! नन्दः पिता ॥८८६॥

अथ योगे सिद्धिः—

विलोक्य रङ्गस्थललब्धसङ्गमं—
विलोचनाभीष्टविलोकनं हरिम्।
स्तन्यैरसिञ्चन्नवकञ्चुकाञ्चलं—
देव्यः क्षणादानकदुन्दुभिप्रियाः ॥८६०॥

गोष्ठके भीतर ही घुसा हुआ देखकर] यह निर्लज्ज महलमें घुसा हुआ क्या करता रहता है, यह कहते हैं। किन्तु हाय! प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रको त्यागकर कठिन हृदय नन्द [कृष्णके प्रिय स्थान] गोष्ठमें सदा जाकर अपनेको सुख प्रदान करते हैं। [गोष्ठमें कृष्णके प्रिय स्थानमें जानेपर नन्दको सुख प्राप्त होता है इसलिए वे प्रायः गोष्ठमें ही बने रहते हैं।

उन्माद [का उदाहरण जैसे]—

हे कदम्बो! बतलाओ कि मेरा पुत्र कहाँ गया। हे मृगो! तुम्हीं बतलाओ, तुम्हारा इसमें क्या बिगड़ता है। हे भ्रमरो! वह तुम्हारे पास घूमता रहता था तुम्हीं उसका समाचार बतलाओ। हे यदुपते! तुम्हारे वियोगमें [भ्रमर विदूना अर्थात्] उन्मत्त-सी हुई यशोदा इस प्रकार बार-बार तुमको पूछती फिरती है।

मोह [का उदाहरण जैसे]—

हे प्रिये! तुम मनमें इतनी दुःखी क्यों हो रही हो। जरा अपनी आँख ऊपर उठाकर देखो, तुम्हारा पुत्र सामने खड़ा है। हे प्रिये! मेरे इस घरको सूना न करो। इस प्रकार [यशोदाको मूर्छित पड़ा देखकर] घबड़ाए हुए तुम्हारे पिता हे यादवेन्द्र [मोहावस्थामें पड़ी हुई] तुम्हारी माताका शोक कर रहे हैं।

अब [कृष्णके] योगमें सिद्धि [का उदाहरण देते हैं]—

जिसका दर्शन नेत्रोंको प्रिय लगता है और [मथुरामें मल्लयुद्धकी योजनाके समय] रंगस्थलमें जिसका संग प्राप्त हुआ है इस प्रकारके कृष्णको देखकर [आनकदुन्दुभिः अर्थात्] वसुदेवकी प्रिया [अर्थात् देवकी, बहुवचन आदरार्थ है] ने दूधसे अपनी कञ्चुकीको भिगो दिया।

तुष्टिर्यथा प्रथमे—

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥८६१॥

यथा वा ललितमाधवे—

नयनयोः स्तनयोरपि युग्मतः
परिपतद्भिरसौ पयसां भरैः।
अहह वल्लभराजगृहेश्वरी
स्वतनयं प्रणयादभिषिञ्चति ॥८६२॥

स्थितिर्यथा विदग्धमाधवे—

अहह कमलगन्धेरत्र सौन्दर्य्यवृन्दे
विनिहितनयनेयं त्वन्मुखेन्दोर्मुकुन्द !।
कुचकलशमुखाभ्यामम्बरक्नोपमम्बा
तव मुहुरतिहर्षाद्वर्षति क्षीरधाराम् ॥८६३॥

स्वीकुर्वते रसमिमं नाट्यज्ञा अपि केचन ॥२७॥

तथाऽऽहुः—

"स्फुटञ्चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलताऽस्येह पुत्राद्यालम्वनं मतम्" ॥८६४॥

किञ्च—

अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः ॥२८॥

तुष्टि [का उदाहरण] जैसे प्रथम स्कन्धमें—

स्नेहके कारण जिसके स्तनोंसे दूध बह रहा है और हर्षके कारण जो विह्वल हो रही हैं इस प्रकारकी उन [वसुदेवपत्नी] ने पुत्रको गोदमें बिठाकर आँसुओंसे अभिषिक्त कर दिया।

अथवा जैसे ललितमाधवमें—

अपने दोनों नेत्रोंसे बहते हुए आँसुओं और दोनों स्तनोंसे बहते हुए दूधकी धाराओंसे [पयसां भरैः मे पयसां पद दूध तथा जल दोनोंका वाचक है] बल्लवराजेश्वरी देखो प्रेमसे अपने पुत्रको नहला रही है।

स्थिति [का उदाहरण] जैसे विदग्धमाधवमें—

हे मुकुन्द ! कमलके समान सुगन्धित तुम्हारे मुखचन्द्रके अपार सौन्दर्यपर दृष्टि लगाए हुए यह माता [यशोदा] हर्षातिरेकके कारण अपने दोनों स्तनकलशोंसे वस्त्रोंको भिगो देने वाली दुग्धधारा बरसा रही है।

कुछ नाट्यशास्त्रके पण्डित भी इस [वत्सलरस] रसको स्वीकार करते हैं ॥२७॥

जैसा कि कहा है—

"स्पष्ट रूपसे चमत्कारजनक होनेके कारण वत्सलको भी रस मानते हैं। वत्सलता इसमा स्थायिभाव है और पुत्रादि इसका आलम्बन-विभाव माने जाते हैं।"

और कृष्णके प्रति रतिकी प्रतीति न होनेपर प्रीत [अर्थात् प्रीतिभक्तिरस] की पुष्टि

एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुता ।
तत्र केषुचिदप्यस्या संकुलत्वमुदीर्य्यते ।।२६।।
सङ्कर्षणस्य सख्यं तु प्रीतिवात्सल्यसङ्गतम् ।
युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं प्रीत्या सख्येन चान्वितम् ।।३०।।
आहुकप्रभृतीनां तु प्रीतिर्वात्सल्यमिश्रिता ।
जरदाभीरिकाऽऽदीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम् ।।३१।।
माद्रेयनारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम् ।
रुद्रताक्ष्योंद्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता ।।३२।।
अनिरुद्धादिनप्तृणामेवं केचिद्बभाषिरे ।
एवं केषुचिदन्येषु विज्ञेयं भावमिश्रणम् ।।३३।।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
निरूपणे वत्सलभक्तिरसलहरी ।।४।।

नहीं हो पाती है। और प्रेयोभक्तिरसका तिरोभाव हो जाता है। किन्तु इस वत्सलरसकी कोई भी हानि नहीं होती है ।। २८ ।।

यह प्रीतादि रूप तीनों रसोंका समुदाय अत्यन्त अद्भुत है। उनमेंसे किन्हींमें इसके संकीर्णताका [आगे] वर्णन करते हैं ।। २६ ।।

संकर्षण [बलदेव] का सख्य प्रीति तथा वत्सलसे मिश्रित रहता है। और युधिष्ठिर का वात्सल्य प्रीति तथा सख्यसे युक्त रहता है ।। ३० ।।

आहुक आदिको प्रीति वात्सल्य तथा सख्यसे मिश्रित है। तथा वृद्ध अहीर आदिका वात्सल्य सख्यसे मिश्रित रहता है ।। ३१ ।।

माद्रीके पुत्र [नकुल सहदेव] तथा नारदादिका [कृष्णके प्रति] सख्यभाव प्रीतिसे मिश्रित होता है और रुद्र, गरुड़ एवं उद्धव आदिकी प्रीति सख्यभावसे मिश्रित मानी जाती है ।। ३२ ।।

अनिरुद्ध आदि नातियोंकी प्रीतिको भी कुछ लोग इसी प्रकार [सख्यसे मिश्रित] मानते हैं। इस प्रकार कुछ अन्य लोगोंमें भी [अनेक] भावोंका मिश्रण समझ लेना चाहिए ।। ३३ ।।

मुख्यभक्तिरसका निरूपण करनेवाले भक्तिरसामृतसिन्धु
के पश्चिम विभागमें चौथी वत्सलभक्तिलहरी
समाप्त हुई ।। ४ ।।

अथ पञ्चमी मधुरभक्तिरसलहरी

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ।
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरारतिः ॥१॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः ।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥२॥

तत्रालम्बनाः—

अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुभ्रुवः ।

तत्र कृष्णः

असमानोर्ध्वसौन्दर्य्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम् ॥३॥
आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः ।

यथा श्रीगीतगोबिन्दे—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
श्रृङ्गारः सखि ! मूर्त्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ॥८६५॥

अथ पञ्चमी मधुरभक्तिरसलहरी

अपने अनुरूप विभावादिकोंके द्वारा सहृदयों [श्रीकृष्णविषयकतत्कान्तरतिस्पृष्टचित्तानां सद्विशेषाणां] के हृदयमें पुष्टिको प्राप्त मधुरा रतिको 'मधुरभक्तिरस' कहा जाता है ॥ १ ॥

[निवृत्तेषु प्राकृतश्रृङ्गाररससाम्यदृष्ट्या भागवदादप्यस्माद्रसाद्विरक्तेषु] विरक्त जनोंके उपयोगी न होनेसे, २ [विशेष प्रकारके भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त अन्योंके लिए] दुरूह होनेसे और ३ गोप्य होनेके कारण विस्तृत अंगों वाला होने पर भी संक्षेपसे ही उसका वर्णन किया जाता है ॥ २ ॥

उस [मधुरभक्तिरस] के आलम्बन [विभाव निम्न प्रकार हैं]—

इस [मधुरभक्तिरस] मेंकृष्ण तथा उनकी प्रिय सुन्दरियाँ आलम्बनविभाव होती हैं ।

उनमेंसे कृष्ण [के आलम्बन होनेका वर्णन जैसे]—

जिसके समान या जिससे अधिक [सौन्दर्य तथा लीला] दूसरी नहीं है, इस प्रकारके सौन्दर्य तथा लीलाओं एवं वैदग्ध्य-सम्पत्तिके आश्रय रूपसे ही कृष्ण इस [मधुरभक्तिरस] में आलम्बन माने जाते हैं ॥ ३ ॥

जैसे श्रीगीतगोविन्दमें—

हे सखि ! सबको [अपने प्रति] अनुरक्त बनाकर आनन्द प्रदान करनेवाले और नील-कमलोंके पंक्तिके समान श्यामल एवं कोमल अंगोंके द्वारा अनंगोत्सको उपस्थित करनेवाले

अथ तस्य प्रेयस्यः—

नवनववरमाधुरीधुरीणा प्रणयतरङ्गकरम्बितान्तरङ्गाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः ॥८६६॥

प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी ॥४॥

अस्या रूपं—

मदचकुरचकोरीचारुताचोरदृष्टि—
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्त्तिः।
अविकलकलधौतोद्घृतिधौरयकश्री-
र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा ॥८६७॥

रतिः—

नर्मोक्तौ मम निर्मितोरुपरमानन्दोत्सवायामपि
श्रोत्रस्यान्ततटीमपि स्फुटमनाधाय स्थितोद्यन्मुखी।
राधा लाघवमप्यसादरगिरां भङ्गीभिरातन्वती
मैत्रीगौरवतोऽप्यसौ शतगुणां मत्प्रीतिमेवादधे ॥८६८॥

तथा व्रजसुन्दरियोंके द्वारा अबाध रूपसे प्रत्येक अंगमें आलिंगित मूर्तिधारी भृङ्गारके समान सुन्दर हरि क्रीड़ा कर रहे हैं।

अब उनकी प्रेयसी [कहते हैं]—

प्रतिक्षण नव-नव सुन्दर माधुरीको धारण करनेवाली प्रेमकी तरंगोंसे लहराते हुए अंगोंवाली तथा अपने पतिके रूपमें कृष्णका सेवन करनेवाली उन परम अद्भुत किशोरियोंको प्रणाम करो।

कृष्णकी इन प्रेयसियोंमें [वृषभानुसुता] राधा सबसे प्रमुख [प्रेयसी] है ॥ ४ ॥

इस [राधा] का रूप [निम्न प्रकार वर्णित होता है]—

मदमत्त चकोरीकी चारुताको भी हरण करनेवाली जिसकी दृष्टि है, जिसने अपनी मुखकान्तिसे पूर्णमासीके चन्द्रमाकी कान्तिका भी दमन कर दिया है, सुवर्ण-समुदायकी अविकल दीप्तिके समान सुन्दर कान्तिको धारण करनेवाली तथा मधुरिमा रूप मधुकी [मद्य की] पात्रीके समान यह राधा शोभित हो रही है, इसको देखो।

[राधाकी कृष्णविषयक] रति [निम्न प्रकार वर्णित होती है]—

परम आनन्दोत्सवको उत्पन्न करनेवाले मेरे [अर्थात् कृष्णके] नर्मवचनों [अर्थात् भृङ्गारोचित हास्य वचनों] के प्रति भी स्पष्ट रूपसे अपने कानोंको न लगाती हुई-सी [अर्थात् वास्तवमें तो मेरी नर्मोक्तियोंको सुनकर अत्यन्त आनन्दित होने पर भी बाहरसे ऐसा प्रकट कर रही है कि वह मेरी बातें सुन ही नहीं रही है। मेरी बातोंका उसके लिए कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकारकी] मुंह उचकाए बैठी हुई और अनादरपूर्वक बोले गए शब्दोंके द्वारा [मेरी नर्मोक्तियोंके प्रति] तुच्छताको सूचित करती हुई भी [यह मानिनी और लाघव प्रदर्शित करनेवाली राधा मेरे प्रति] मैत्री एवं गौरव [प्रदर्शन करनेवाली राधा] से भी सौ गुना आनन्द प्रदान कर रही है।

अत्र कृष्णरतिर्यथा श्रीगीतगोविन्दे—

कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृङ्खलाम्
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः ॥८६६॥

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरलीनिस्वनादयः ।

यथा पद्यावल्यां—

गुरुजनगञ्जनमयशोगृहपतिचरितं च दारुणं किमपि ।
विस्मारयति समस्तं शिव शिव मुरली मुरारातेः ॥६००॥

अथानुभावाः—

अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षास्मितादयः ॥५॥

यथा ललितमाधवे—

कृष्णापाङ्गतरङ्गितद्युमणिजासंभेदवेणीकृते
राधायाः स्मितचन्द्रिकासुरधुनीपूरे निपीयामृतम् ।
अन्तस्तोषतुषारसंप्लवलवव्यालीढतापोद्गमाः
क्रान्त्वा सप्त जगन्ति संप्रति वयं सर्वोर्ध्वमध्यास्महे ॥६०१॥

अथ सात्त्विका यथा पद्यावल्यां—

कामं वपुः पुलकितं नयने धृतास्रे
वाचः सगद्गदपदाः सखि ! कम्पि वक्षः ।

इस [मधुरभक्तिरसमें अथवा राधाके विषय] में कृष्णकी रति [का उदाहरण] जैसे गीतगोविन्दमें—

[सम्यक् सारः संसारश्च अर्थात्] उत्कृष्ट प्रेमकी भृङ्खलासे बद्ध राधाको अपने हृदय में स्थापित करके कृष्णने अन्य व्रजसुन्दरियोंको भुला दिया [त्याग दिया] ।

अब [मधुरभक्तिरसके] उद्दीपनविभाव [कहते हैं]—

मुरलीकी ध्वनि आदि इस [मधुरभक्तिरसमें] में उद्दीपनविभाव कहे जाते हैं ।

जैसे पद्यावलीमें—

अरे शिव-शिव, कृष्णकी मुरली, गुरुजनोंकी नाराजी, अपकीर्ति तथा गृहपतिके कठोर आचरण [अर्थात् पति द्वारा की जाने वाली मार पीट आदि] इन सबको भुला देती है ।

अब [मधुरभक्तिरसके] अनुभाव [कहते हैं]—

कटाक्ष तथा स्मित आदि [मधुरभक्तिरसके] अनुभाव कहे गए हैं ॥ ५ ॥

जैसे ललितमाधवमें—

कृष्णके कटाक्ष रूप [द्युमणिजा अर्थात्] यमुनाके संगम-प्रवाहसे युक्त राधाके स्मित रूप गंगाके प्रवाहमें [अमृतके तुल्य जल रूप] अमृतका पान करके, भीतर उत्पन्न होनेवाले सन्तोष रूप तुषारसे जिनका सारा सन्ताप दूर हो गया है, इस प्रकारके हम सातों लोकोंको पार करके हम [अपनेको] सर्वोपरि [समझते] हैं ।

अब [मधुभक्तिरसके] सात्त्विकभाव [कहते हैं] जैसे पद्यावलीमें—

हे सखि [राधा तुम्हारा] शरीर अत्यन्त पुलकित हो रहा है, आंखोंमें [आनन्दके]

ज्ञातं मुकुन्दमुरलीरवमाधुरी ते
चेतः सुधांशुवदने ! तरलीकरोति ॥६०२॥

अथ व्यभिचारिणः—

आलस्यौग्र्ये विना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

तत्र निर्वेदो यथा पद्यावल्यां—

मा मुञ्च पञ्चशर ! पञ्चशरीं शरीरे
मा सिञ्च सान्द्रमकरन्दरसेन वायो ! ।
अङ्गानि तत्प्रणयभङ्गविगर्हितानि
नालम्बितुं कथमपि क्षमतेऽद्य जीवः ॥६०३॥

हर्षो यथा दानकेलिकौमुद्यां—

कुवलययुवतीनां लेहयन्नक्षिभृङ्गान्
कुबलयदललक्ष्मीलङ्घिमाः स्वाङ्गभासः ।
मदकलकलभेन्द्रोल्लङ्घिलीलातरङ्गः
कवलयति धृतिं मे क्ष्माधरारण्यधूर्त्तः ॥६०४॥

अथ स्थायी—

स्थायी भावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरा रतिः ॥६॥

आँसू भर रहे हैं, वाणी गद्गद हो रही है और छाती काँप रही है। इससे जान पड़ता है कि कृष्णकी मुरलीध्वनिकी माधुरी तेरे चित्तको चञ्चल बना रही है।

अब [मधुरभक्तिरसके] व्यभिचारिभाव [कहते हैं]—

[सम्भोग-बाधक रूप] आलस्य तथा [प्रियसंगकारक] उग्रताको छोड़कर शेष सारे व्यभिचारिभाव [मधुरभक्तिरसमें भी] होते हैं।

उनमेंसे निर्वेद [का उदाहरण] जैसे पद्यावली में—

हे कामदेव तुम अपने पंच बाणोंको [मेरे ऊपर] मत चलाओ। हे वायो, गाढ़ मकरन्द रससे मेरे शरीरको मत आर्द्र करो। क्योंकि उस [कृष्ण] के द्वारा किए जाने वाले प्रणय-भंगके कारण विनिन्दित इन अंगोंको ग्रहण करनेके लिए आज जीवात्मा किसी प्रकार भी तैयार नहीं है।

हर्ष [का उदाहरण] जैसे दानकेलिकौमुदी में—

[कु-वलय अर्थात्] भू-मण्डलकी युवतियोंके नेत्र-रूप भृंगोंको [कुवलयदललक्ष्मी अर्थात्] नीलकमलोंकी कान्तिको भी तिरस्कृत करने वाले अपनी देहकान्तिका आस्वादन कराने वाला, एवं मदमत्त कलभ [हाथीके बच्चे] को भी तिरस्कृत करने वाले लीलाव्यापारों से युक्त [क्ष्माधरारण्यधूर्तः अर्थात्] गोवर्धन पर्वतके वनोंमें विहार करने वाला धूर्त [अर्थात् कलाचतुर कृष्ण] मेरे धैर्यका नाश कर रहा है [मुझे अपने पास आनेके लिए अधीर कर रहा है]।

अब [मधुरभक्तिरसका] स्थायिभाव [कहते हैं]—

पूर्वोक्त मधुरभक्ति ही यहाँ [मधुरभक्तिरसमें] स्थायिभाव कहा जाता है।६।

यथा पद्यावल्यां—

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः
कङ्केल्लिकोरककरम्बितकर्णपूरः।
कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेषो-
वंशीरवेण सखि ! मामवशीकरोति ॥६०५॥

राधामाधवयोरेव क्वापि भावैः कदाऽप्यसौ ॥
सजातीयविजातीयैर्नैव विच्छिद्यते रतिः ॥७॥

यथा—

इतोऽदूरे राज्ञी स्फुरति परितो मित्रपटली
दृशोरग्रे चन्द्रावलिरुपरि शैलस्य दनुजः।
असव्ये राधायां कुसुमितलतासंवृततनौ
दृगन्तश्रीर्लोला तडिदिव मुकुन्दस्य वलते ॥६०६॥
घोरा खण्डितशङ्खचूडमजिरं रुन्धे शिवा तामसी
ब्रह्मिष्ठश्वसनः शमस्तुतिकथाप्रालेयमासिञ्चति।
अग्रे रामसुधारुचिर्विजयते कृष्णप्रमोदोचितं—
राधायास्तदपि प्रफुल्लमभजन् म्लानिं न भावाम्बुजम् ॥६०७॥

जैसे पद्यावली में—

हे सखि भौहों-रूप लताओंके नचानेसे जिसकी मुख-कान्ति मधुर हो रही है [कंकेलि अर्थात्] अशोककी कलियोंका कर्णपूर धारण किए हुए नवीन कसौटीके पत्थरके समान वेष वाला यह कौन है जो वंशीरवके द्वारा मुझे विवश [आपेसे बाहर] किए दे रहा है।

राधा और कृष्ण की ही यह रति सजातीय अथवा विजातीय किसी प्रकारके भावोंसे कभी भी विच्छिन्न नहीं होती है।७।

जैसे—

व्रजरानी [यशोदा माता] यहाँ पासमें ही हैं, मित्रमण्डली चारों ओर दिखलाई दे रही है, आंखोंके सामने चन्द्रावली दिखलाई दे रही है शैलज [शैलस्य शिलासमूहस्य व्रजद्वार्यास्थानीरूपतया चितस्य] शिलासमुदायके ऊपर [दनुज अर्थात्] अरिष्ट है [इन सबके उपस्थित होने पर भी] दाहिनी ओर खिली हुई लताओंके भीतर छिपी हुई राधाके शरीरके ऊपर विद्युतके समान चंचल कृष्णके कटाक्ष हो ही रहे हैं।

इसमें सजातीय भावोंसे कृष्ण की राधाविषयक रतिका भंग न होना दिखलाया गया है। अगले उदाहरणमें विजातीय भावोंसे उसका अविच्छेद दिखलाते हैं। इस श्लोकके द्वितीय तथा तृतीय चरणोंमें क्रमशः भयानक, शान्त तथा वत्सल रसका वर्णन है। ये तीनों रस शृङ्गार [या मधुर भक्ति] के विरोधी रस हैं। किन्तु उनके होने पर भी राधाके प्रेम में म्लानि नहीं आई है यह बात कही गई है। इसलिए यह विजातीय भावोंके द्वारा भी राधा की कृष्ण-विषयक रतिके अविच्छेदका उदाहरण है। श्लोकमें श्लेष तथा रूपकालंकार है। शिव तामसी का अर्थ एक पक्षमें उसमें राधा भाव अर्थात् प्रेमके ऊपर अम्बुज अर्थात् कमलका

स विप्रलम्भसम्भोगभेदेन द्विविधो मतः ।।

तत्र विप्रलम्भः—

स पूर्वरागो मानश्च प्रवासादिमयस्तथा ।।८।।

विप्रलम्भो बहुविधो विद्वद्भिरिह कथ्यते ।।

तत्र पूर्वरागः—

प्रागसङ्गतयोर्भावः पूर्वरागो भवेद्द्वयोः ।।९।।

यथा पद्यावल्यां—

अकस्मादेकस्मिन् पथि सखि ! मया यामुनतटं—
व्रजन्त्या दृष्टो यो नवजलधरश्यामलतनुः ।

आरोप किया गया। इसलिए 'शिवा तामसी' पदोंका अर्थ तमोगुणमयी शिवा अर्थात् शृगाल जाति है। जो भयानकरसका पोषक है। अम्बुज पक्षमें 'अशिवा तामसी' यह पदच्छेद है और उसका अर्थ कमलके प्रति अशिवा अमलरूपा तामसी अर्थात् रात्रि होता है। रात्रि कमलोंके लिए अमंगल रूप है। रात्रिके होने पर कमल मुर्झा जाते हैं। कमलोंकी अपेक्षा राधा के 'भावाम्बुज' का यह दिखलाया है कि जिस तामसी रात्रि 'सुधानिधि' चन्द्रमाके होने पर कमल मुर्झा जाते हैं उस सब सामग्रीके उपस्थित होने पर भी राधाका 'भावाम्बु' म्लानिं न अभजत' मुर्झाया नहीं। इस लिए श्लोकमें व्यतिरेकालंकार है। अर्थ निम्न प्रकार है।

शंखचूड नामक यक्ष जिसमें मारा गया इस प्रकार [अजिरं अर्थात्] आंगन या मैदान को तमोगुणमयी शृगाल जाति आच्छादित किए हुए [यह अर्थ भयानक या बीभत्स रसका व्यंजक है। [अम्बुज कमलपक्षमें] [अशिवा अर्थात् कमलोंके लिए] अभंगभूत [तामसी अर्थात्] [रात्रि यह अर्थ होगा]। ब्रह्मनिष्ठमनिवर्ग रूप श्वसन अर्थात् वायु [कृष्णको] शंखचूड-विषय शान्त करनेवाली स्तुति कथा-रूप शीतल हिम की वर्षा कर रहा है [इस चरणमें शान्तरसकी चर्चा की गई है वह शृंगाररसका विरोधी है। किन्तु उसके होने पर भी राधाकी कृष्ण-विषयक रति कम नहीं हुई] सामने बलराम-रूप सुधानिधि [अर्थात् चन्द्रमा] दिखलाई दे रहा है [चन्द्रमा के होने पर अम्बुज बन्द हो जाता है किन्तु बलरामके सामने उपस्थित होने पर भी राधाका कृष्ण-विषयक भावाम्बुज म्लान नहीं हुआ। इस प्रकार १ तामसी निशा २ प्रालेय अर्थात् पाला और ३ सुधानिधि रूप कमल-म्लानिके तीन-तीन कारण उपस्थित हैं] फिर भी राधाका [कृष्णके प्रति] भावाम्बुज म्लानताको प्राप्त नहीं हुआ।

वह [मधुरभक्ति या शृंगाररस] सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। उनमेंसे विप्रलम्भ [का उदाहरण] जैसे—

वह [अर्थात् विप्रलम्भ शृंगार या मधुरभक्तिरस] पूर्वराग, मान, प्रवासमय होने से विद्वानोंके द्वारा अमुक प्रकारका [पाँच प्रकारका] कहा जाता है।८।

उनमेंसे पूर्वराग [का लक्षण उदाहरण निम्न प्रकार है]।

पहले कभी जिनका मिलन नहीं हुआ है इस प्रकारके [प्रिय तथा प्रिया] दोनोंका अनुराग पूर्व राग कहलाता है।९।

जैसे पद्यावली में—

हे सखि, यमुना तटको जाते समय मैंने अकस्मात् जिस नव-जलधरके समान श्यामल

स दृग्भङ्ग्या किं वाऽकुरुत न हि जाने तत इदं—
मनो मे व्यालोलं क्वचन गृहकृत्ये न वलते ॥६०८॥

यथा वा श्रीदशमे—

तथाऽहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः ॥६०९॥

अथ मानः—

मानः प्रसिद्ध एवात्र ।

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

विहरति वने राधा साधारणप्रणये हरौ
विगलितनिजोत्कर्षादीर्ष्यावशेन गताऽन्यतः ।
क्व चिदपि लताकुञ्जे गुञ्जन्मधुमण्डली-
मुखशिखरे लीना दीनाप्युवाच रहः सखीम् ॥६१०॥

प्रवासः—

प्रवासः सङ्गविच्युतिः ।

यथा पद्यावल्यां—

हस्तोदरे विनिहितैककपोलपाले-
रश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः ।

शरीर [कृष्ण] को देखा उसने अपनी दृष्टिके द्वारा [मेरे भीतर] न जाने क्या कर दिया कि तब से व्याकुल हुआ मेरा यह मन किसी भी गृहकार्य में नहीं लगता है ।

अथवा जैसे दशम स्कन्धमें—

इस प्रकार उसी [रुक्मिणी] का ध्यान करते हुए मुझको भी रात्रिमें नींद नहीं आती है । मैं जानता हूँ कि रुक्मि [अर्थात् राजा भीष्मके ज्येष्ठ राजकुमार तथा श्रीकृष्णकी पटरानी रुक्मिणीके भाई] रुक्मीने [रुक्मिणीके साथ] मेरा विवाह द्वेषवश ही रोक दिया है ।

अब मान [का लक्षण उदाहरण कहते हैं]—

[लोकमें] प्रसिद्ध मान ही यह [मान शब्दसे] लिया जाता है ।

जैसे श्रीगीतगोविन्दमें—

अन्य गोपियोंके साथ समान रूपसे प्रेम करते हुए कृष्णके वनमें विहार करते देखकर अपने उत्कर्षके नष्ट हो जानेके कारण ईर्ष्यावश अलग चली गई राधा, मधुकरमण्डली जिसमें गूँज रही है इस प्रकारके किसी लता-मण्डपमें बैठकर सखियोंसे दीनतापूर्वक बात कर रही है । [अपने दुःख तथा दैन्यको प्रकट कर रही है] ।

प्रवास [का लक्षण उदाहरण कहते हैं]—

संगका छूट जाना प्रवास [कहलाता] है ।

जैसे पद्मावलीमें—

हथेलीके ऊपर एक गालको रखे हुए और निरन्तर बहते हुए आँसुओंसे जिसका मुख

प्रस्थानमङ्गलदिनावधि माधवस्य
निद्रालवोऽपि कुत एव सरोरुहाक्ष्याः ॥६११॥

तथा प्रल्हादसंहितायामुद्धववाक्यं—

भगवानपि गोविन्दः कन्दर्पशरपीडितः ।
न भुङ्क्ते न स्वपिति च चिन्तयन् वो ह्यहर्निशम् ॥६१२॥

अथ सम्भोगः—

द्वयोर्मिलितयोर्भोगः संभोग इति कीर्त्यते ॥१०॥

यथा पद्यावल्यां—

परमानुरागपरयाऽथ राधया
परिरम्भकौशलविकाशिभावया ।
स तया सह स्मरसभाजन्तोत्सवं
निरवाहयच्छिखिशिखण्डशेखरः ॥६१३॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसनिरूपणे मधुराख्यभक्तिरसलहरी ॥ ५ ॥

भोग रहा है, इस प्रकारकी उस कमलनेत्रा राधाको कृष्णके [मथुराको] प्रस्थान करनेके दिनसे लेकर आजतक निद्रा कहाँ आई हैं ।

और [जैसे] प्रल्हादसंहितामें उद्धवका [निम्न] वाक्य [प्रवास रूप विप्रलम्भश्रृङ्गार का उदाहरण है]—

कामदेवके बाणोंसे पीड़ित भगवान् कृष्ण भी [राधाके वियोगमें] रात-दिन उसका ध्यान करते हुए न खाते-पीते हैं और न सो पाते हैं ।

अब सम्भोग [श्रृङ्गार या मधुरभक्तिरसको कहते हैं]—

मिलनेपर दोनोंका भोग सम्भोग [श्रृङ्गार] कहलाता है ॥१०॥

जैसे पद्मावलीमें—

मोरमुकुट धारण किये हुए उन [कृष्ण] ने अत्यन्त अनुरागयुक्त और आलिंगनके कौशलसे जिसका प्रेम और भी उद्दीप्त हो गया है, इस प्रकारकी राधाके साथ मदन-महोत्सव को सम्पन्न किया ।

भक्तिरसामृतसिन्धुके मुख्यभक्तिरसनिरूपणपरक
पश्चिमविभावमें पञ्चमी मधुरभक्तिलहरी
समाप्त हुई ॥५॥

श्रीमद्भागवताद्यर्हशास्त्रदर्शितया दृशा ।
इयमाविष्कृता मुख्या पञ्चभक्तिरसी मया ॥११॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।
तुष्यतु सनातनात्मा पश्चिमभागे रसाम्बुनिधेः ॥१२॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ मुख्यभक्तिरसनिरूपणनामा
पश्चिमो विभागस्तृतीयः ।

श्रीभागवत आदि मान्य शास्त्रोंमें दिखलाई हुई पद्धतिसे मैंने यह पाँच प्रकारके मुख्य भक्तिरसका वर्णन [इस पश्चिमविभागमें] किया है ॥११॥

गोपाल [कृष्ण] के रूप-सौन्दर्यको धारण भी [राम और कृष्णके अभेदके कारण] रघुनाथ रूपको भी प्रदर्शित करने वाले वे सनातन स्वरूप भगवान् भक्तिरसामृतसिन्धुके पश्चिम विभागके पूर्ण होनेपर प्रसन्न हों ॥१२॥

भक्तिरसामृतसिन्धुमें मुख्यभक्तिरसनिरूपण नामक तृतीय
पश्चिमविभाग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ उत्तर विभागः

अथ उत्तर विभागः

अथ प्रथमा हास्यभक्तिरसलहरी

भक्तिभरेण प्रीतिं कलयन्नुररीकृतव्रजासङ्गः ।
तनुतां सनातनात्मा भगवान्मयि सर्वदा तुष्टिम् ।।१।।

रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तुरीये तूत्तराभिधे ।
रसः सप्तविधो गौणो मैत्रीवैरस्थितिर्मिथः ।।२।।

रसाभासाश्च तेनात्र लहर्य्यो नव कीर्त्तिताः ।
प्रागत्रानियताधाराः कदा चित् क्वाप्युदित्वराः ।।३।।

गौणा भक्तिरसाः सप्त लेख्या हास्यादयः क्रमात् ।
भक्तानां पञ्चधोक्तानामेषां मध्यत एव हि ।।४।।

अथ प्रथमा हास्यभक्तिरस लहरी

मंगलाचरण—

[गोपियोंके] भक्ति-बाहुल्यसे प्रमुदित हुए और व्रजांगनाओंके आसंग [प्रेमातिशय] को स्वीकार करनेवाले वे सनातनस्वरूप भगवान् [कृष्ण] मेरे भीतर सदैव सन्तोष प्रदान करें ।। १ ।।

विषय-प्रदर्शन—

भक्तिरसामृतसिन्धुके इस [उत्तर विभाग रूप] चतुर्थ विभागमें [आदिकी सात लहरियोंमें] सात प्रकारके गौण रसोंका [आठवीं लहरीमें रसोंकी] परस्पर मैत्री तथा वैरकी स्थिति और [नवम लहरीमें] रसाभासोंका वर्णन किया गया है, इसलिए इसमें नौ लहरियाँ रखी गई हैं ।। २ ।।

इसमेंसे पहले अनियत आधारवाले [अर्थात् सबमें साधारण रूपसे सम्भव] कभी किसी [व्यक्तिविशेष] में उदयको प्राप्त हास्य आदि सात प्रकारके गौणभक्तिरसका क्रमशः निरूपण करेंगे ।। ३ ।।

[इन हास्यादि सात प्रकारके] गौण रसोंमें पूर्वोक्त पाँच प्रकारके भक्तोंसे ही कहीं कई एक और कहीं अनेक [भक्तगण] आलम्बनविभाव माने जाते हैं ।। ४ ।।

क्वाप्येकः क्वाप्यनेकश्च गौणेष्वालम्बनो मतः ।
वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं हासरतिर्गता ॥५॥
हास्यभक्तिरसो नाम बुधैरेष निगद्यते ।
अस्मिन्नालम्बनः कृष्णस्तथाऽन्योऽपि तदन्वयी ॥६॥
वृद्धाः शिशुमुखाः प्रायः प्रोक्ता धीरैस्तदाश्रयः ।
विभावनादिवैशिष्ट्यात्प्रवराश्च क्वचिन्मताः ॥७॥

तत्र कृष्णो यथा—

यास्याम्यस्य न भीषणस्य सविधे जीर्णस्य शीर्णाकृते-
र्मातर्नेष्यति मां पिधाय कपटाद्दावारिकायामसौ ।
इत्युक्त्वा चकिताक्षमद्भुतशिशावुद्वीक्षमाणे हरौ
हास्यं तस्य निरुन्धतोऽप्यतितरां व्यक्तं तदाऽऽसीन्मुनेः ॥६१४॥

अथ तदन्वयी—

यच्चेष्टा कृष्णविषया प्रोक्तः सोऽत्र तदन्वयी ।

यथा—

ददामि दधि फाणितं विवृणु वक्त्रमित्यग्रतो-
निशम्य जरतीगिरं विवृतकोमलौष्ठे स्थिते ।

हास्यरस निरूपण—

आगे कहे जानेवाले विभावादिके द्वारा पुष्टिको प्राप्त हास्यरतिको ही विद्वान् लोग हास्यरस कहते हैं ॥ ५ ॥

इस [हास्यरस] में १. कृष्ण, तथा २. उनसे सम्बन्ध रखनेवाला अन्य भी आलम्बन विभाव हो सकता है ॥ ६ ॥

वृद्ध तथा शिशु प्रभृतिको विद्वान् लोग उस [हास्यरस] का आश्रय मानते हैं । और विभाव आदिके वैशिष्ट्य होनेपर भी कहीं-कहीं [प्रवराः अर्थात्] उत्तम लोग भी [हास्यरसके] आश्रय हो सकते हैं ॥ ७ ॥

उनमेंसे कृष्ण [के आलम्बनविभाव होनेका उदाहरण] जैसे—

हे माता, मैं इस सड़ी आकृतिवाले इस भयंकर बूढ़ेके पास नहीं जाऊँगा । यह धोखेसे मुझे अपनी पिटारीमें बन्द करके ले जायगा, इस प्रकार कहकर और चकित नेत्रोंसे उस अद्भुत बालक कृष्णको अपनी ओर देखते हुए अवलोकन कर रोकनेका बहुत प्रयत्न करने पर भी उस समय मुनिको हँसी आ गई ।

अब उस [कृष्ण] से सम्बद्ध [आलम्बनविभावका लक्षण तथा उदाहरण कहते हैं]—

कृष्ण-विषयक जिसकी चेष्टा हो वह उस [कृष्ण] से सम्बद्ध कहा जाता है ।

जैसे—

[हे कृष्ण] मुँह खोलो, मैं दही-बूरा तुम्हारे मुखमें देती हूँ, इस प्रकार सामने खड़ी बूढ़ी [माता अथवा गोपी] की बातको सुनकर अपने कोमल ओष्ठवाले मुखको खोलकर खड़े न

तया कुसुममर्पितं नवमवेत्य भुग्नानने
हरौ जहसुरुद्धुरं किमपि सुष्ठु गोष्ठार्भकाः ॥६१५॥

यथा वा—

अस्य प्रेक्ष्य करं शिशोर्मुनिपते ! श्यामस्य मे कथ्यतां-
तथ्यं हन्त चिरायुरेष भविता किं धेनुकोटीश्वरः ।
इत्युक्ते भगवन् ! मयाऽद्य परितश्चीरेण किं चारुणा
द्रागाविर्भवदुद्धुरस्मितमिदं वक्त्रं त्वया रुध्यते ? ॥६१६॥

उद्दीपना हरेस्तादृग्वाग्वेषचरितादयः ॥८॥
अनुभावास्तु नासौष्ठगण्डविस्पन्दनादयः ।
हर्षालस्याबहित्थाऽऽद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥९॥
सा हासरतिरेवात्र स्थायिभावतयोदिता ।
षोढा हासरतिः स्यात् स्मितहसिते विहसितावहसिते च ॥१०॥
अपहसितातिहसितके ज्येष्ठादीनां क्रमाद् द्वे द्वे ।
विभावनादिवैचित्र्यादुत्तमस्यापि कुत्रचित् ॥११॥
भवेद्विहसिताद्यं च भावज्ञैरिति भण्यते ।

हुए कृष्णके मुखमें उसके द्वारा ताजा फूल दे दिया गया, ऐसा जानकर कृष्णके मुँह फेर लेनेपर व्रजके बालक बड़े जोरसे हँसने लगे ।

अथवा जैसे—

हे मुनिपते, इस कृष्णका हाथ देखकर बतलाइए कि क्या यह सचमुच ही दीर्घायु तथा करोड़ों गौओंका स्वामी होगा । [नन्दके] इस प्रकार कहनेपर, हे भगवन् चारों ओर सुन्दर चीर [वस्त्र] लपेटे हुए मुझको देखकर तुरन्त ही जोरसे हँसनेवाले इसका मुख क्या आप बन्द कर सकेंगे, यह मुनि बोले ।

कृष्णका उस प्रकारका वेष और चरित आदि [हास्यरसके] उद्दीपनविभाव हैं ॥८॥

नाक, ओठ तथा गालोंका फड़कना आदि [हास्यरसमेंके] अनुभाव तथा हर्ष, आलस्य, अवहित्था [आकारगोपन] आदि व्यभिचारिभाव समझने चाहिए ॥ ९ ॥

वह [प्रसिद्ध] हास्य रति ही इस [हास्यभक्तिरस] में स्थायिभाव मानी जाती है । हास्य रति छः प्रकारकी होती है । इसमेंसे १ स्मित, २ हसित, ३ विहसित, ४ अविहसित, ५ अपहसित तथा ६ अतिहसित—इस प्रकार छः तरहकी होती है । इनमें ज्येष्ठादिमें क्रमशः दो-दो रहती हैं । [अर्थात् उत्तम पात्रोंमें १ स्मित तथा २ हसित ये दो भेद रहते हैं । मध्यम पात्रोंमें १ विहसित और २ अवहसित ये दो भेद तथा नीच पात्रोंमें १ अपहसित एवं २ अति-हसित ये दो भेद रहते हैं] ॥ १० ॥

विभावादिके [विशेष] वैचित्र्यसे कहीं-कहीं उत्तम पात्रोंमें भी विहसित आदि देखे जा सकते हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ११ ॥

तत्र स्मितं—

स्मितं त्वलक्ष्यदशनं नेत्रगण्डविकासकृत् ॥१२॥

क्व यामि जरती खला दधिहरं दिधीर्षन्त्यसौ
प्रधावति जवेन मां सुबल ! मञ्जु रक्षां कुरु ।
इति स्खलदुदीरिते द्रवति कान्दिशीके हरौ
विकस्वरमुखाम्बुजं कुलमभून्मुनीनां दिवि ॥६१७॥

हसितं—

तदेव दरसंलक्ष्यदन्ताग्रं हसितं भवेत् ।

यथा—

मद्वेषेण पुरः स्थितो हरिरसौ पुत्रोऽहमेवास्मि ते
पश्येत्यच्युतजल्पविश्वसितया संरम्भरज्यद्दृशा ।
मामेतिस्खलदक्षरे जटिलया व्याक्रुश्य निष्कासिते
पुत्रे प्राङ्गनतः सखीकुलमभूद्दन्तांशुधौताधरम् ॥६१८॥

विहसितं—

सस्वनं दृष्टदशनं भवेद्विहसितं तु तत् ॥१३॥

१—उनमेंसे स्मित [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

जिसमें दांत दिखलाई न दें इस प्रकारका तथा नेत्रों और गालोंको विकसित करने वाला [मन्दहास्य] स्मित कहलाता है ॥ १२ ॥

जैसे—

इस दही चुरानेवालेको पकड़नेके लिए मैं अभागिनी बुढ़िया कहां जाऊं यह बड़ी जोरसे भाग रहा है । हे सुबल, [मंजु अर्थात्] जल्दीसे मुझे बचाओ । [यशोदा माताके] हांफते हुए इस प्रकार कहने पर और डरके कारण कृष्णके भाग जानेपर स्वर्गमें मुनि-समुदायका मुख [मन्दस्मितसे] खिल उठा ।

२—हसित [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

जिसमें दांत थोड़े दिखलाई देने लगें, इस प्रकारका वही [स्मित] हसित हो जाता है ।

जैसे—

अपनेको राधाका पति समझनेवाले, जटिलाके पुत्र अभिमन्युका वेष धारण कर कृष्ण उसके घर जाते हैं और वहां जटिला से कहते हैं कि—

जो मेरा [अर्थात् अभिमन्युका] वेष धारण किए हुए यह [धूर्त] कृष्ण तुम्हारे सामने खड़ा है [यह तुमको धोखा दे रहा है । यह तुम्हारा पुत्र अभिमन्यु नहीं कृष्ण है] तुम्हारा [असली] पुत्र तो देखो मैं ही हूं । इस प्रकार [झूठ बोलने वाले] कृष्ण की बातों पर विश्वास कर लेने के कारण [अपने वास्तविक पुत्र अभिमन्युके प्रति] क्रोध से लाल-लाल आंखें करके हकलाते हुए [दुष्ट कहीं का] मेरे पास आता है ऐसे जोर से झिड़ककर पुत्रको आंगनसे निकाल देने पर सखि-समुदायके होंठों पर हँसी फूट पड़ी ।

३—विहसित [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है] ।

जिसमें दांत दिखलाई दें इस प्रकारका शब्दपूर्वक वह हास्य विहसित कहलाता है ।१३।

यथा—

मुषाण दधि मेदुरं विफलमन्तराशङ्कसे
सनिश्वसितडम्बरं जटिलयाऽत्र निद्रायते ।
इति ब्रुवति केशवे प्रकटशीर्णदन्तस्थलं-
कृतं हसितमुत्स्वनं कपटसुप्तया वृद्धया ॥६१६॥

अवहसितं—

तच्चावहसितं फुल्लनासकुञ्चितलोचनम् ॥

यथा—

लग्नस्ते नितरां दृशोरपि युगे किं धातुरागो घनः
प्रातः पुत्र ! बलस्य वा किमसितं वासस्त्वयाऽङ्गे धृतम् ।
इत्याकर्ण्य पुरो व्रजेशगृहिणीवाचं स्फुरन्नासिका
दूती सङ्कुचदीक्षणाऽवहसितं जाता न रोद्धुं क्षमा ॥६२०॥

अपहसितं—

तच्चापहसितं साश्रुलोचनं कम्पितांसकम् ॥१४॥

यथा—

उदस्रं देवर्षिर्दिवि दरतरङ्गद्भुजशिरा-
यदश्राप्युद्दण्डो दशनरुचिभिः पाण्डुरयति ।

जैसे—

अरे इस बढ़िया दहीको चुरा ले चलो, भीतरसे व्यर्थ ही डर रहे हो। यह जटिला तो बड़ी-बड़ी गहरी साँसें लेती हुई सो रही है [खर्राटे भर रही है] कृष्णके इस प्रकार कहने पर बहाने करके सोई हुई वृद्धाने अपने दाँतोंसे रहित मसूड़े दिखलाते हुई जोरसे हँस पड़ी ।

४—अवहसित [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है] ।

जिसमें नाक फूल जाय और आंखें बन्द हो जाएँ इस प्रकारका हास्य अवहसित कहलाता है ।

जैसे—

प्रातःकाल [अधूरी नींदमें जाग जानेके कारण लाल-लाल आँखों वाले कृष्णको देखकर यशोदा हँसी में उसे कह रही है कि—

हे पुत्र क्या तुम्हारी आंखों में भी यह इतना अधिक धातुराग [गैरिकादि] लग गया है [जिसके कारण तुम्हारी आंखें लाल दिखलाई देती हैं अथवा तुमने बलरामका नीला वस्त्र सवेरे-सवेरे पहन लिया है इस प्रकार सामने व्रजेन्द्रगृहिणी [यशोदा] की बातोंको सुनकर दूती जिसकी नाक फूल गई है और आंखें बन्द हुई जा रही हैं इस प्रकारकी दूती अपने अवहसितको रोकनेमें समर्थ न हो सकी ।

५—अपहसित [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

जिसमें आँखोंमें आंसू आ जाएँ और कन्धे हिलने लगें इस प्रकारका हास्य अपहसित कहलाता है ॥१४॥

जैसे—

देवलोक में जिनके भुजाएँ और गर्दन [अत्यन्त हँसीके कारण] हिल रहे हैं और

स्फुटं ब्रह्मादीनां नटयितरि दिव्ये व्रजशिशो
जरत्याः प्रस्तोभान्नटति तदनैषीद् दृशमसौ ॥६२१॥

अतिहसितं—

सहस्ततालं क्षिप्ताङ्गं तच्चातिहसितं विदुः ॥

यथा—

वृद्धे ! त्वं बलिताननाऽसि बलिभिः प्रेक्ष्य स्वयोग्यामत-
स्त्वामुद्वोढुमसौ बलीमुखवरो मां साधयत्युत्सुकः ।
आभिर्विप्लुतधीर्वृणे न हि परं त्वत्तो बलिध्वंसना-
दित्युच्चैर्मुखरागिरा विजहसुः सोत्तालिका बालिकाः ॥६२२॥

यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते ॥१५॥
तथाऽप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ॥

यथा—

शिम्बीलम्बिकुचाऽसि दर्दुरवधूविस्पर्धिनासाकृति-
स्त्वं जीर्ण्यद्दुलिदृष्टिरोष्ठतुलिताङ्गारा मृदङ्गोदरी ।
का त्वत्तः कुटिले ! पराऽस्ति जटिलापुत्रि ! क्षितौ सुन्दरी
पुण्येन व्रजसुभ्रुवां तव धृतिं हर्त्तुं न वंशी क्षमा ॥६२३॥

[अपहसितके कारण जिनकी] आँखोंमें आँसू आ रहे हैं इस प्रकारके देवर्षि नारद अपने दाँतोंकी कान्तिसे मेघोंको शुभ्र कर रहे हैं सो यह जान पड़ता है कि ब्रह्मा आदि को भी नचाने वाले व्रजशिशु [कृष्ण] को वृद्धाओंके समुदाय द्वारा नचाए जानेने उनकी दृष्टि पड़ गई है। [कृष्णको वृद्धाएँ जो नचा रही हैं इसी को देखकर नारद खूब जोरसे हँस रहे हैं]।

६—अतिहसित [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

ताली बजाकर और हाथ-पैर हिलाते हुए हँसने को विद्वान् लोग अतिहसित कहते हैं।

हे वृद्धे तुम्हारे मुखके ऊपर झुर्रियाँ पड़ गई हैं इसलिए तुमको अपने योग्य देखकर यह सुन्दर बन्दर तुम्हारे साथ विवाह करने की इच्छासे उत्सुक होकर मेरे द्वारा तुमको तैयार कराना चाहता है [साधयति साधनाय प्रेरयति माम् द्विर्णिच्प्रत्ययात्] [यह कृष्णका किसी वृद्धाके प्रति हास्य-वचन हैं। वृद्धा इसके उत्तरमें कहती है कि] इन [झुर्रियों] से जिसकी बुद्धि बिगड़ गई है इस प्रकारकी में [तृणावर्त पूतना आदि] बलियोंका नाश करने वाले तुझको छोड़कर और किसीके ब्याह नहीं करूँगी [इसको सुन कर] तालियाँ बजाकर बालिकाएँ खूब जोर-जोरसे हँसने लगीं।

जिसका हास है उसका यदि कभी साक्षात् वर्णन न किया जाय तो भी विभावादि की सामर्थ्य से उसकी प्रतीति हो ही जाती है ॥१५॥

जैसे—

हे कुटिले जटिलापुत्रि, तेरे स्तन लौकीके समान लटक गए हैं, नाक की आकृति मेढकी के समान मालूम होती है। तेरी दृष्टि बूढ़ी कच्छपीके समान और ओठ कोयलेके समान

एष हास्यरसस्तत्र कैशिकीवृत्तिविस्तृतौ ।।
शृङ्गारादिरसोद्भेदाद्बहुधैव प्रपञ्चितः ।।१६।।
इति भक्तरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तरस-
निरूपणे हास्यभक्तिरसलहरी ।।१।।

अथ द्वितीया अद्भुतभक्तिरसलहरी

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि ।
सा विस्मयरतिर्नीताऽद्भुतभक्तिरसो भवेत् ।।१।।
भक्तः सर्वविधोऽप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः ।
लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विषयस्तत्र केशवः ।।२।।
तस्य चेष्टाविशेषाद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः ।
क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः ।।३।।

[काले] । बुझा कोयला तथा जलता कोयला दोनों अंगार कहलाते हैं । यहाँ बुझा कोयलाका अर्थ अभिप्रेत है] तेरा पेट मृदंगके समान हैं । इसलिए हे जटिलापुत्रि, संसार में तुझसे अधिक सुन्दर और कौन हो सकती है । किन्तु ब्रजसुन्दरियोंके सौभाग्यसे [कृष्णकी] वशी-ध्वनि तुम्हें मोहित करनेमें समर्थ नहीं है । [नहीं तो फिर ब्रजसुन्दरियोंको थोड़े ही पूछते तुम्हारे पीछे लगे घूमते] ।

यह हास्यरस कैशिकी वृत्तिके विस्तारमें शृंगारादि रसोंके सम्बन्धसे वहाँ [अर्थात् भरत-नाट्यशास्त्र आदि में] नाना प्रकारसे वर्णन किया गया है ।।१५।।

भक्तिरसामृतसिन्धु में गौण भक्तिरसनिरूपणपरक
उत्तरविभागमें हास्यभक्तिरसलहरी
समाप्त हुई ।।१।।

अथ द्वितीया अद्भुतभक्तिरस लहरी

अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तके चित्तमें आस्वाद्यताको प्राप्त वह [लोकप्रसिद्ध] विस्मयरतिको अद्भुतरस कहा जाता है ।। १ ।।

इसमें सब प्रकारके भक्त विस्मयके आश्रय हो सकते हैं । किन्तु लोकोत्तर क्रियाका हेतु कृष्ण ही उसके विषय [अर्थात् आलम्बनविभाव] होते हैं ।। २ ।।

उन [कृष्ण] की विशेष प्रकारकी चेष्टा आदि उस [अद्भुत भक्तिरस] में उद्दीपन विभाव होता है । नेत्रोंका फैल जाना स्तम्भ, अश्रु और रोमांच आदि उसके [क्रिया अर्थात्] अनुभाव माने जाते हैं ।। ३ ।।

आवेगहर्षजाड्याद्यास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः ।
स्थायी स्याद्विस्मयरतिः सा लोकोत्तरकर्मतः ॥४॥
साक्षादनुमितं चेति तच्च द्विविधमुच्यते ।

तत्र साक्षाद् यथा—

साक्षादैन्द्रियकं दृष्टश्रुतसङ्कीर्त्तितादिकम् ॥५॥

तत्र दृष्टं यथा—

एकमेव विविधोद्यमभाजं-
मन्दिरेषु युगपन्निखिलेषु ।
द्वारकामभि समीक्ष्य मुकुन्दं-
स्पन्दनोज्झिततनुर्मुनिरासीत् ॥६२४॥

यथा वा—

क्व स्तन्यगन्धिवदनेन्दुरसौ शिशुस्ते
गोवर्द्धनः शिखररुद्धघनः क्व चायम् ।
भोः पश्य सव्यकरकन्दुकिताचलेन्द्रः
खेलन्निव स्फुरति हन्त किमिन्द्रजालम् ॥६२५॥

श्रुतं यथा—

यानक्षिपन्प्रहरणानि भटाः स देवः
प्रत्येकमच्छिनदमूनि शरत्रयेण ।
इत्याकलय्य युधि कंसरिपोः प्रभावं-
स्फारेक्षणः क्षितिपतिः पुलकी तदाऽऽसीत् ॥६२६॥

आवेग, हर्ष, जाड्य आदि उसमें व्यभिचारिभाव होते हैं। और अलौकिक कार्योंसे उत्पन्न विस्मयरति उसमें स्थायिभाव होता है ॥ ४ ॥

वह [अद्भुतरस] १ साक्षात् तथा २ अनुमति रूपसे दो प्रकारका होता है।

उनमेंसे साक्षात् [का लक्षण तथा उदाहरण] जैसे—

इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला [विस्मयजनक] दर्शन-श्रवण, कीर्तन आदि साक्षात् [अद्भुत रस कहलाता] है ॥ ५ ॥

उनमें [साक्षात्] दर्शन [का उदाहरण] जैसे—

द्वारकामें एक ही कृष्णको एक साथ सारे मन्दिरों, भवनोंमें नाना प्रकारका कार्य करते हुए देखकर [नारद] मुनि स्तब्ध रह गए।

अथवा जैसे [साक्षात् दृष्ट अद्भुतरसका दूसरा उदाहरण] जैसे—

कहाँ तो तू हमारा यह दुधमुँहा [जिसके मुखसे दूधकी गन्ध आ रही है, इस प्रकार का] बच्चा और कहाँ गगनचुम्बी शिखरोंवाला गोवर्धन पर्वत। लेकिन देखो तो बाएँ हाथके ऊपर गेंदके समान गिरिराजको उठाकर यह खेलता-सा प्रतीत हो रहा है, यह कैसा आश्चर्य है।

[साक्षात्] श्रुत [अद्भूत रसका उदाहरण] जैसे—

[नरकासुरकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके] वीरोंने [कृष्णके ऊपर] जिन बाणोंकी वृष्टि की उन देव [कृष्ण] ने उनमेंसे प्रत्येक [अस्त्र] को केवल तीन बाणों द्वारा काट डाला, युद्धमें

सङ्कीर्त्तितं यथा—

डिम्भाः स्वर्णनिभाम्बरा घनरुचो जाताश्चतुर्बाहवो-
वत्साश्चेति वदन् कृतोऽस्मि विवशः स्तम्भश्रिया पश्यत ।
आश्चर्यं कथयामि वः शृणुतभोः प्रत्येकमेकैकशः
स्तूयन्ते जगदण्डवद्भिरभितस्ते हन्त पद्मासनैः ॥६२७॥

अनुमितं यथा—

उन्मील्य व्रजशिशवो दृशं पुरस्ता-
द्भाण्डीरं पुनरतुलं विलोकयन्तः ।
सात्मानं पशुपटलीं च तत्र दावा-
दुन्मुक्तां मनसि चमत्क्रियामवापुः ॥६२८॥

अप्रियादेः क्रिया कुर्यान्नालौकिक्यपि विस्मयम् ।
असाधारण्यपि मनाक् करोत्येव प्रियस्य सा ॥६॥
प्रियात् प्रियस्य किमुत सर्वलोकोत्तरोत्तरा ।
इत्यत्र विस्मये प्रोक्ता रत्यनुग्रहमाधुरी ॥७॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस निरूपणेऽद्भुतभक्तिरसलहरी ॥१॥

कृष्णके इस प्रकारके प्रभावको [आकलय्य अर्थात्] सुनकर उसमें राजा [परीक्षित] रोमांचित हो गए और उनकी आँखें [विस्मयातिरेकके कारण] खुली रह गईं ।

संकीर्तित [अद्भुतरसका उदाहरण] जैसे—

[सत्यलोक सभामें ब्रह्मा इस वाक्यको कह रहे हैं—गोकुलके सारे] बालक पीताम्बर-धारी मेघके समान कान्तिवाले और चतुर्भुज [कृष्ण रूप] बन गए और हे वत्सो, ऐसा कहते-कहते मैं स्तम्भके कारण विवश हो गया [उनको वत्स कहकर सम्बोधन न कर पाया] और सुनो, मैं तुमसे आश्चर्यकी बात कहता हूँ कि उन[गोपाल-बालों] मेंसे प्रत्येकके चारों ओर सकल ब्रह्माण्ड सहित पद्मासन ब्रह्मा उपस्थित होकर [भगवान्‌के रूपमें] उनकी स्तुति करने लगे ।

अनुमति [अद्भुतरसका उदाहरण] जैसे—

[कृष्णके प्रभावसे दावानलके शमन हो जानेके पश्चात्] व्रजके बालकोंने [दावानलके भयसे बन्द हुई अपनी] आँखोंको खोलकर सामने अनुपम [शोभायुक्त] भाण्डीरवन [वटवृक्षोंके वन] को [पूर्ववत् अक्षुण्ण] देखकर और अपने-आपको तथा पशुमण्डलीको दावानलसे बचा हुआ देखकर मन चकित हो गए ।

अप्रिय [जनों] की अलौकिक क्रिया भी विस्मयको उत्पन्न नहीं करती है । किन्तु प्रिय [जन] की तनिकसी भी असाधारण क्रिया विस्मयको उत्पन्न करती है ॥ ६ ॥

प्रियसे भी अधिक प्रिय [अर्थात् सबसे अधिक प्रियतम कृष्ण] की सारे लोकोंसे लोकोत्तर क्रिया [के विस्मय-जनकत्व] का तो कहना ही क्या है । इसलिए यहाँ विस्मयमें रतिको बढ़ानेके [कृष्णकी लीलाओं] की माधुरीको कहा गया है ॥ ७ ॥

भक्तिरसामृतसिन्धुके गौण भक्तिनिरूपणपरक उत्तरविभागमें
अद्भुतभक्तिरसलहरी समाप्त हुई ॥ २ ॥

अथ तृतीया वीरभक्ति रस लहरी

सैवोत्साहरतिः स्थायी विभावाद्यैर्निजोचितैः ।
आनीयमाना स्वाद्यत्वं वीरभक्तिरसो भवेत् ॥१॥
युद्धदानदयाधर्मैश्चतुर्धा वीर उच्यते ।
आलम्बन इह प्रोक्त एष एव चतुर्विधः ॥२॥
उत्साहस्त्वेष भक्तानां सर्वेषामेव सम्भवेत् ।

तत्र युद्धवीरः—

परितोषाय कृष्णस्य दधदुत्साहमाहवे ॥३॥
सखा बन्धुविशेषो वा युद्धवीर इहोच्यते ।
प्रतियोद्धा मुकुन्दो वा तस्मिन्वा प्रेक्षके स्थिते ॥४॥
तदीयेच्छावशेनात्र भवेदन्यः सुहृद्वरः ।

तत्र कृष्णो यथा—

अपराजितमानिनंहठा-
च्चटुलं त्वामभिभूय माधव ! ।
धिनुयामधुना सुहृद्गणं-
यदि न त्वं समरात्पराऽञ्चसि ॥६२६॥

अथ तृतोया वीरभक्तिरसः लहरी

[साहित्यशास्त्र तथा लोकमें प्रसिद्ध] वही उत्साह रति अपने अनुरूप विभाव आदिके द्वारा आस्वाद की योग्यता को प्राप्त कराई जाने पर वीरभक्तिरस कहलाती है ॥१॥

१. युद्धवीर, २. दानवीर, ३. दयावीर तथा ४. धर्मवीर भेदसे वीररस चार प्रकारका होता है। यही [युद्धवीर आदि] चारों प्रकारके [व्यक्ति] इसमें आलम्बन-भाव कहे जाते हैं ॥२॥

यह [चारों प्रकारका] उत्साह सभी भक्तोंमें हो सकता है [इसलिए सभी भक्त उस रूपमें वीर भक्तिरसके आलम्बन-विभाव हो सकते हैं]।

उनमेंसे युद्धवीर [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

कृष्ण प्रसन्न करनेके लिए युद्धमें उत्साह रखने वाला मित्र या कोई विशेष सम्बन्धी युद्धवीर कहलाता है ॥३॥

कभी स्वयं कृष्ण अथवा कभी उनके प्रेक्षक रूपमें स्थित होने पर उनकी इच्छासे कोई दूसरा उत्तम मित्र [इस युद्धवीरके साथ] प्रतियोद्ध होता है ॥५॥

उनमेंसे कृष्ण [के प्रतियोद्धा होनेका उदाहरण] जैसे—

हे कृष्ण तुमको अपने कभी न हारने का बड़ा अभिमान है सो आज यदि तुम युद्धसे भागो नहीं चंचल तुमको युद्धमें हराकर अपने मित्रगणको आनन्दित करूँगा।

यथा वा—

संरम्भप्रकटीकृतप्रतिभटारम्भश्रियोः साद्भुतं-
कालिन्दीपुलिने वयस्यनिकरैरालोक्यमानस्तदा ।
अव्युत्थापितसख्ययोरपि वराहङ्कारविस्फूर्जितः
श्रीदाम्नश्च बकीद्विषश्च समराटोपः पटीयानभूत ॥६३०॥

सुहृद्वरो यथा—

सखिप्रकरमार्गणानगणितान क्षिपन् सर्वत-
स्तथाऽद्य लगुडं क्रमाद् भ्रमयति स्म दामा कृती ।
असौ रचितस्तुतिर्व्रजपतेस्तनूजोऽप्यमुं-
समृद्ध पुलको यथा लगुडपञ्जरान्तःस्थितम् ॥६३१॥

प्रायः प्रकृतिशूराणां स्वपक्षैरपि कर्हिचित् ॥५॥
युद्धकेलिसमुत्साहो जायते परमाद्भुतः ।

तथा च श्रीहरिवंशे—

"तथा गाण्डीवधन्वानं विक्रीडन्मधुसूदनः ।
जिगाय भरतश्रेष्ठं कुन्त्याः प्रमुखतो विभुः" ॥ इति,

कत्थितास्फोटविस्पर्धाविक्रमास्त्रग्रहादयः ॥६॥

अथवा [कृष्णके प्रतियोद्धा होनेका दूसरा उदाहरण] जैसे—

[अव्युत्थापितसख्योरपि अर्थात्] सख्यभावको न तोड़ने पर भी [संरम्भ अर्थात्] क्रोधावेशमें प्रतियौद्धके रूपको प्रदर्शित करने वाले श्रीदामा तथा [बकीद्विषः अर्थात्] कृष्णका यमुनातटपर मित्रगणके देखते हुए अहंकार-पूर्वक गर्जन-तर्जन-युक्त महान् भयंकर युद्ध हुआ ।

मित्र [के प्रतियोद्धा होनेका उदाहरण] व जैसे—

[कृती अर्थात्] वीर दामा आज मित्रोंके सारे अगणित [रूई से भरे चमड़ेके फल वाले विशेष प्रकारके] बाणोंको [लाठीसे ही] इधर-उधर फेंकते हुए आज इस प्रकार लाठी चला रहा था कि [आनन्दातिरेकके कारण] रोमांचयुक्त पुलकित और साधुवाद देते हुए कृष्ण भी उसको लाठीके पिंजरेके भीतर बन्द समझने लगे । [दामाकी लाठी इतनी तेजीसे उसके चारों ओर घूम रही थी कि वह घूमती नहीं दिखलाई देती थी और ऐसा मालूम होता था कि मानो दामा लाठियोंके पिंजरेके भीतर खड़ा हो] ।

स्वभावतः शूर प्रकृति वालोंको कभी-कभी अपने पक्ष वालोंके साथ भी युद्ध करनेका अत्यन्त अद्भुत उत्साह हो जाता है ॥५॥

जैसे हरिवंश [पुराण] में—

भरतकुल श्रेष्ठ गाण्डीवधारी [अर्जुन] को कृष्णने कुन्तीके सामने खेलते हुए ऐसे [अनायास] ही जीत लिया ।

प्रतियोद्धामें रहने वाले [कत्थित अर्थात्] आत्म-श्लाघा [स्फोट अर्थात्] ताल ठोकना, [विस्पर्धा अर्थात्] बराबरी करना [विक्रम अर्थात् युद्धके लिए] पैंतरेबाजी और अस्त्रोंका उठाना आदि इस [युद्धवीररस] में उद्दीपनविभाव होते हैं ॥६॥

प्रतियोधस्थिताः सन्तो भवन्त्युद्दीपना इह ।

तत्र कत्थितं यथा—

पिण्डीशूर ! त्वमिह सुबलं कैतवेनाघलाङ्ग-
जित्वा दामोदर ! युधि वृथा मा कृथाः कत्थितानि ।
माद्यन्नेष त्वदलघुभुजासर्पदर्पापहारी
मन्द्रध्वानो नटति निकटे स्तोककृष्णः कलापी ॥६३३॥

कत्थिताद्याः स्वसंस्थाश्चेदनुभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥७॥

तथैवाहोपुरुषिकाक्ष्वेडिताक्रोशबलगनम् ।

असहायेऽपि युद्धेच्छा समरादपलायनम् ॥८॥

भीताभयप्रदानाद्या विज्ञेयाश्चापरे बुधैः ।

तत्र कत्थितं—

प्रोत्साहयस्यतितरां किमिवाग्रहेण
मां केशिशूदन ! विदन्नपि भद्रसेनम् ।
योद्धुं बलेन सममत्र सुदुर्बलेन
दिव्यार्गलाप्रतिभटस्त्रपते भुजो मे ॥६३४॥

आहोपुरुषिका यथा—

धृताटोपे गोपेश्वरजलधिचन्द्रे परिकरं-
निबध्नत्युल्लासाद् भुजसमरचर्य्यासमुचितम् ॥

उनमेंसे [कत्थित अर्थात्] आत्मश्लाघा [का उदाहरण] जैसे—

अरे [पिण्डीशूर अर्थात्] भोजनभट्ट दामोदर तुम दुर्बल शरीर सुबल [नामक मित्र] को छलपूर्वक जीतकर व्यर्थ अपनी बड़ाई [आत्मश्लाघा] मत करो । तुम्हारी लम्बी-लम्बी भुजा रूप सर्पोंके दर्पणका अपहरण करने वाला मदमत्त और गम्भीर गर्जनयुक्त यह स्तोककृष्ण [नामक शूरवीर मित्र] रूप कलापी [अर्थात् सर्पपक्षमें मयूर, तथा स्तोककृष्णके पक्षमें कलापी अर्थात् कलंगी लगाए हुए नाच रहा है ।

ये आत्मश्लाघा आदि यदि अपनेमें रहते हैं तो अनुभाव कहलाते हैं [और दूसरेमें रहने पर उद्दीपनविभाव होते हैं] ॥७॥

इसी प्रकार [आहोपुरुषिका अर्थात् अपने पौरुषका] अभिमान आदि, [क्ष्वेडित अर्थात्] सिंहनाद, [आक्रोश अर्थात्] क्रोधयुक्त वचन, [वल्गन अर्थात्] युद्धोचित गतिविशेष] । पैंतरा बदलना, अकेले होने पर भी युद्धकी इच्छा तथा युद्धसे न भागना] ॥८॥

भीतको अभयप्रदान आदि अन्य अभाव भी विद्वान् लोग बतलाते हैं ।

उनमेंसे कत्थित [अर्थात् आत्मश्लाघाका उदाहरण] जैसे—

हे केशिनिषूदन मुझ भद्रसेन को जानते हुए भी तुम आग्रहपूर्वक [जबरदस्तीसे] क्यों उत्साहित कर रहे हो । अत्यन्त दुर्बल बलरामके साथ लड़नेमें दिव्य अर्गलाका प्रतिद्वन्द्वी मेरा यह बाहु लज्जित होता है ।

आहोपुरुषिका [का उदाहरण] जैसे—

हे गोपेश्वर जलधिचन्द्र [नामक मित्र) के बाहुयुद्धके अनुरूप उत्साहपूर्वक कमर

सरोमाञ्चं क्ष्वेडानिबिडमुखबिम्बस्य नटतः
सुदाम्नः सोत्कण्ठं जयति मुहुराहोपुरुषिका ॥६३५॥

चतुष्टयेऽपि वीराणां निखिला एव सात्त्विकाः ॥९॥
गर्वावेगधृतिव्रीडामतिहर्षावहित्थिकाः ।
अमर्षोत्सुकताऽसूयास्मृत्याद्या व्यभिचारिणः ॥१०॥
युद्धोत्साहरतिस्त्वस्मिन् स्थायिभावतयोदिता ।
या स्वशक्तिसहायाद्यैराहार्य्या सहजाऽपि वा ॥११॥
जिगीषा स्थेयसी युद्धे स युद्धोत्साह ईर्य्यते ।

तत्र स्वशक्त्या आहार्य्योत्साहरतिर्यथा—

स्वतातशिष्ट्या स्फुटमप्यनिच्छ-
न्नाहूयमानः पुरुषोत्तमेन ।
स स्तोककृष्णो धृतयुद्धतृष्णः
प्रोद्यम्य दण्डं भ्रमयाञ्चकार ॥६३६॥

स्वशक्त्या सहजोत्साहरतिर्यथा—

शुण्डाकारं प्रेक्ष्य मे बाहुदण्डं-
मा त्वं भैषीः क्षुद्र ! रे भद्रसेन ! ।
हेलाऽरम्भेणाद्य निर्जित्य रामं-
श्रीदामाऽहं कृष्णमेवाह्वयेय ॥६३७॥

कसने पर पुलकित और [क्ष्वेडा अर्थात्] क्रोधयुक्त गर्वोक्तियोंसे युक्त मुख वाले एवं उत्कण्ठा-पूर्वक नाचते हुए सुदामा की आहोपुरुषिका [पौरुषाभिमान, विजयते अर्थात्] सर्वोत्कर्षशाली है।

चारों प्रकारके वीरोंमें सभी सात्विक वृत्तिके होते हैं ॥९॥

गर्व, आवेग, धृति, व्रीडा, मति, हर्ष, अवहित्था [अर्थात् आकारगोपन], अमर्ष उत्सुकता असूया, स्मृति आदि [युद्धवीररसके] व्यभिचारभाव होते हैं ॥१०॥

युद्धोत्साह-रति इसमें स्थायिभाव कहा जाता है। और वह स्वशक्तिसे तथा सहायक आदि के द्वारा [अर्थात् दो कारणोंसे] १. आहार्या तथा २ सहजा [दो प्रकार की और दोनों कारणोंके सम्बन्धसे मिलाकर चार प्रकार की] होती है ॥११॥

युद्धमें विजय प्राप्त करनेकी स्थायिनी इच्छा युद्धोत्साह कहलाता है।

उनमेंसे स्वशक्तिसे आहार्य उत्साहरति [का उदाहरण]जैसे —

अपने पिताकी शिक्षाके अनुसार [कृष्णके साथ लड़नेकेलिए] न चाहते हुए भी कृष्णके द्वारा ललकारे जानेपर वह स्तोककृष्ण [नामक सखा] युद्धके लिए उद्यत होकर डण्डा उठाकर घुमाने लगा।

२—अपनी शक्तिसे सहसा उत्साह रति [का उदाहरण] जैसे—

अरे, नीच भद्रसेन हाथीकी सूँडके समान मेरे बाहुदण्डको देखकर तुम मत डरो। आज तो खेल-खेलमें अनायास बलरामको जीतकर मैं श्रीदामा कृष्णको ही ललकार रहा हूँ।

यथा वा—

बलस्य बलिनो बलात्सुहृदनीकमालोडयन्
पयोधिमिव मन्दरः कृतमुकुन्दपक्षग्रहः ।
जनं विकटगर्जितैर्बधिरयन् स धीरस्वरो-
हरेः प्रमदमेककः समिति भद्रसेनो व्यधात् ॥६३८॥

सहायेनाहार्य्योत्साहरतिर्यथा—

मयि वल्गति भीमविक्रमे
भज भङ्गं न हि सङ्गरादितः ।
इति मित्रगिरा वरूथपः
सविरूपं विरुवन् हरिं ययौ ॥६३६॥

सहायेन सहजोत्साहरतिर्यथा—

संग्रामकामुकभुजः स्वयमेव कामं-
दामोदरस्य विजयाय कृती सुदामा ।
साहाय्यमत्र सुबलः कुरुते बली चे-
ज्जातो मणिः सुजटितो वरहाटकेन ॥६४०॥

सुहृदेव प्रतिभटो वीरे कृष्णस्य न त्वरिः ॥१२॥

स भक्तक्षोभकारित्वाद्रौद्रे त्वालम्बनो रसे ।
रागाभावो दृगादीनां रौद्रादस्य विभेदकः ॥१३॥

अथवा जैसे—

कृष्णका पक्ष लेकर और अत्यन्त शक्तिशाली बलरामके मित्रोंकी सेनाको मन्दराचल जैसे समुद्रको मथ डालता है इस प्रकार बलपूर्वक मथता हुआ अपने भयंकर गर्जनसे लोगोंको बहरा बनाता हुआ गम्भीर ध्वनि वाला वह अकेला भद्रसेन युद्धमें कृष्ण अत्यन्त आह्लादित कर रहा था ।

३—सहायकोंके द्वारा आचार्य उत्साहरति [का उदाहरण] जैसे—

भयंकर पराक्रमशाली [वरूथप नामक मित्रके] मेरे [वल्गति अर्थात्] युद्धोद्यत रहते तुम इस युद्धसे भागो नहीं, मित्रोचित वाणीसे बुरी तरह चिल्लाता हुआ वरूथप [नामक कृष्णका मित्र] कृष्णके पास पहुँचा ।

४—सहायकोंके द्वारा सहज उत्साहरति [का उदाहरण] जैसे—

यद्यपि संग्रामकेलिए उत्सुक भुजा वाला सुदामा अकेला ही कृष्णको जीतनेके लिए पर्याप्त है । किन्तु यदि बलवान सुबल [नामक मित्र] भी इसमें सहायता करता है तो फिर सोनेमें सुगन्ध हो गई [मणिका सोनेके साथ योग हो गया] ।

वीररसमें कृष्णका मित्र ही उनका प्रतिद्वन्द्वी हो सकता है शत्रु नहीं ॥१२॥

भक्तोंका क्षोभकारी होनेसे वह [अर्थात् वैरी] रौद्ररसमें तो आलम्बन [विभाव] हो सकता है । नेत्रादिमें लालिमा आदिका अभाव रौद्ररससे इस [वीररस] का भेदक होता है ॥ १३ ॥

अथ दानवीरः—

द्विविधो दानवीरः स्यादेकस्तत्र बहुप्रदः ।
उपस्थितदुरापार्थत्यागी चापर उच्यते ॥१४॥

तत्र बहुप्रदः—

सहसा दीयते येन स्वयं सर्वस्वमप्युत ।
दामोदरस्य सौख्याय प्रोच्यते स बहुप्रदः ॥१५॥
संप्रदानस्य वीक्षाऽऽद्या अस्मिन्नुद्दीपना मताः ।
वाञ्छिताधिकदातृत्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम् ॥१६॥
स्थैर्य्यदाक्षिण्यधैर्य्याद्या अनुभावा इहोदिताः ।
वितर्कौत्सुक्यहर्षाद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥१७॥
दानोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभावतयोदिता ।
प्रगाढा स्थेयसी दित्सा दानोत्साह इतीर्य्यते ॥१८॥
द्विधा बहुप्रदोऽप्येष विद्वद्भिरिह कथ्यते ।
स्यादाभ्युदयिकस्त्वेकः परस्तत्संप्रदानकः ॥१९॥

तत्राभ्युदयिकः—

कृष्णस्याभ्युदयार्थं तु येन सर्वस्वमर्प्यते ।
अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः स आभ्युदयिको भवेत् ॥२०॥

अब दानवीर [रसको कहते हैं]—

दानवीर दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे एक बहुत अधिक दान देनेवाला [दानवीर होता है] और दूसरा दुर्लभ अर्थके उपस्थित होनेपर भी उसको त्याग देनेवाला [दानवीर] होता है ॥१४॥

उनमेंसे बहुप्रद [दानवीरका लक्षण आदि आगे देते हैं]—

जो कृष्णके सुखके लिए सहसा अपना सर्वस्य भी दान कर सकता है वह 'बहुप्रद' [दानवीर] कहलाता है ॥१५॥

[किसी अन्यके द्वारा किए जानेवाले] दानका देखना आदि इस [दानवीर] में उद्दीपन होते हैं। माँगे हुएसे भी अधिक देना, मुस्कराकर बोलना, स्थैर्य, दाक्षिण्य और धैर्य आदि इसमें अनुभाव कहे जाते हैं ॥१६॥

वितर्क, औत्सुक्य, हर्ष आदि [दानवीररसके] व्यभिचारिभाव समझने चाहिए ॥१७॥

इसमें दानोत्साहरतिको स्थायिभाव माना जाता है। स्थिर और सगाढ़ दानकी इच्छा को दानोत्साह कहते हैं ॥१८॥

विद्वान् लोग इस बहुप्रद [दानवीर] को भी दो प्रकारका बतलाते हैं। उनमेंसे आभ्युदयिक [दानवीर] और दूसरा तत्सम्प्रदानक [दानवीर] होता है ॥१९॥

उनमेंसे आभ्युदयिक [बहुप्रद दानवीरका लक्षण तथा निम्न प्रकार है—

जो कृष्णके अभ्युदयके लिए याचकों अथवा ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दान कर देता

यथा—

व्रजपतिरिह सूनोर्जातकार्थं तथाऽसौ
व्यतरदमलचेताः संचयं नैचिकीनाम्।
पृथुरपि नृगकीर्त्तिः सांप्रतं संवृताऽऽसी-
दिति निजगदुरुच्चैर्भूसुरा येन तृप्ताः ॥६४१॥

अथ तत्संप्रदानकः—

ज्ञातये हरये स्वीयमहन्ताममताऽऽस्पदम् ।
सर्वस्वं दीयते येन स स्यात्तत्संप्रदानकः ॥२१॥
तद्दानं प्रीतिपूजाभ्यां भवेदित्युदितं द्विधा ।

तत्र प्रीतिदानं—

प्रीतिदानं तु तस्मै यद्दद्याद् बन्ध्वादिरूपिणे ॥२२॥

यथा—

चार्चिक्यं वैजयन्तीं पटमुरुपुरुटोद्भासुरं भूषणानां-
श्रेणिं माणिक्यभाजं गजरथतुरगान् कर्बुरान् कर्बुरेण ।
दत्वा राज्यं कुटुम्बं स्वमपि भगवते दित्सुरप्यन्यदुच्चै-
र्देयं कुत्राप्यदृष्ट्वा मखसदसि तदा व्याकुलः पाण्डवोऽभूत् ॥६४२॥

है वह आभ्युदयिक [बहुप्रद दानवीर] होता है ॥२०॥

जैसे—

व्रजपति [नन्द] ने अपने पुत्र कृष्णके जातकर्म संस्कारके लिए उदारचित्त होकर गौओं का इतना दान किया कि जिससे तृप्त होकर ब्राह्मण यह कहने लगे कि इसके आगे नृग [राजा] की विशाल कीर्ति भी फीकी पड़ गई है।

अब तत्सम्प्रदानक [बहुप्रद दानवीरका लक्षण आदि कहते हैं]—

अपनी अहन्ता तथा ममताके पात्रभूत अपने सर्वस्वको जाति अथवा कृष्णको जो दान कर देता है वह तत्सम्प्रदानक [बहुप्रद दानवीर] कहलाता है ॥२१॥

वह दान भी १ प्रीतिके कारण तथा २ पूजाके कारण होता है इसलिए दो प्रकारका कहा जाता है ।

उनमेंसे प्रीतिदान [का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

बन्धु आदिके रूपमें उस [कृष्ण] को जो दिया जाय वह प्रीतिदान कहलाता है॥ २२ ॥

जैसे—

[चार्चिक्य अर्थात्] अंगराग, वैजयन्ती माला, स्वर्णके समान चमकते हुए वस्त्र, आभूषणोंकी पंक्ति [कबुरेण अर्थात्] सोनेसे [कर्बुरान अर्थात्] मढ़े हुए तथा माणिक्योंसे जड़े हुए हाथी, घोड़ों और रथोंको देकर अपने कुटुम्ब तथा अपने-आपको भी भगवान् [कृष्ण] को दे चुकनेके बाद और भी कुछ देनेकी इच्छावाले [पाण्डव अर्थात्] युधिष्ठिरको देनेके लिए और कुछ न दीखने पर यज्ञकी सभामें [युधिष्ठिर] व्याकुल हो गए ।

पूजादानं—

पूजादानं तु तस्मै यद्विप्ररूपाय दीयते ।

यथाऽष्टमे—

यजन्ति यज्ञं क्रतुभिर्यमादृता-
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः ।
स एष विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो-
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने ! ॥६४३॥

यथा वा दशरूपके—

लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कमारुणितो हरेः ।
बलिनैव स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥६४४॥

अथोपस्थितदुरापार्थत्यागी—

उपस्थितदुरापार्थत्याग्यसौ येन नेष्यते ॥२३॥

हरिणादीयमानोऽपि साष्टर्यादिस्तुष्यता वरः ।
पूर्वतोऽत्र विपर्य्यस्तकारकत्वं द्वयोर्भवेत् ॥२४॥

अस्मिन्नुद्दीपनाः कृष्णकृपाऽऽलापस्मितादयः ।
अनुभावास्तदुत्कर्षवर्णनद्रढिमादयः ॥२५॥

पूजादान [का लक्षण उदाहरण आगे देते हैं]—

विप्र-रूपमें उन [कृष्ण] को जो-कुछ दिया जाता है वह पूजादान कहलाता है।

जैसे अष्टम स्कन्धमें—

हे मुने, वेदोंके विद्वान् आप लोग जिनकी यज्ञोंके द्वारा पूजा करते हैं तथा यह वे वर देनेवाले विष्णु हों अथवा कोई और हों, मैं इनको माँगी हुई पृथ्वी इनको [अवश्य] दूँगा।

अथवा जैसे दशरूपकमें—.

वह बलि [राजा] बलि ही है जिससे इस विष्णुके लक्ष्मीके उन्नत उरोजोंके कुंकुमसे अरुण हाथको भिक्षापात्र बना दिया।

अब उपस्थित दुर्लभ अर्थका त्याग करनेवाला [बहुप्रद दानवीरका लक्षण करते हैं]—

जो सन्तुष्ट हुए भगवान्के द्वारा दिए जानेवाले सहस्थिति आदि रूप वर जिसको नहीं चाहता है ॥२३॥

इसमें पहले [दानवीर] की अपेक्षा दोनोंका विपरीत व्यापारकारकत्व भी होता है। [विपर्यस्तार्थकारकत्वका अभिप्राय यह है कि भक्त दान ग्रहण करनेवाला सम्प्रदान बन जाय और हरि अपादान अर्थात् दानदाता हों। विपर्यस्तार्थकारत्वं हरेरपादनत्वं भक्तस्य तु सम्प्रदान नत्वम्] ॥२४॥

कृष्णकी कृपा आलाप और स्मित आदि इसमें उद्दीपन विभाव होते हैं। और उनके उत्कर्षका वर्णन तथा द्रढिमा आदि अनुभाव होते हैं ॥२५॥

अत्र संचारिता भूम्ना धृतेरेव समीक्ष्यते ।
त्यागोत्साहरतिर्धीरैः स्थायीभाव इहोदितः ॥२६॥
त्यागेच्छा तादृशी प्रौढा त्यागोत्साह उदीर्य्यते ।

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

स्थानाभिकामस्तपसि स्थितोऽहं-
त्वां दृष्टवान्-साधुमुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्निव दिव्यरत्नं-
स्वामिन् ! कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥६४५॥

यथा वा तृतीये—

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं-
किम्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग ! त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥६४६॥

अयमेव भवन्नुच्चैःप्रौढभावविशेषभाक् ॥२७॥
धुर्य्यादीनां तृतीयस्य वीरस्य पदवीं व्रजेत् ।

अथ दयावीरः—

कृपाऽऽर्द्रहृदयत्वेन खण्डशो देहमर्पयन् ॥२८॥

इसमें अधिकतर धृतिका ही संचारिभावत्व देखा जाता है। और विद्वान् लोग इसमें त्यागोत्साह रतिको स्थायिभाव बतलाते हैं ॥२६॥

उस प्रकारकी [अर्थात् स्थिर रहनेवाली] त्यागकी इच्छा ही त्यागोत्साह कहलाती है।

जैसे हरिभक्तिसुधोदयमें [उपस्थित दुरापार्थत्याथीका उदाहरण]—

[स्वर्गादि रूप] स्थान विशेषकी प्राप्तिकी इच्छासे मैं तप करनेमें लगा था किन्तु [अकस्मात्] जैसे काँचके अन्वेषण करनेवालेके हाथ दिव्य रत्न लग जाय, इस प्रकार मुनीन्द्रों के द्वारा ग्राह्य आपका दर्शन मैं पा गया। इसलिए हे स्वामिन् [आपके दर्शनोंसे ही] मैं कृतार्थ हो गया। अब मैं वर नहीं चाहता।

अथवा जैसे तृतीय स्कन्धमें [दुरापार्थत्यागी दानवीरका उदाहरण]—

हे भगवान् ! जो आपके चरणोंकी शरणमें आकर आपकी कथाके कीर्तनरूप तीर्थजल के रसको भली प्रकार जानते हैं वे आपकी कृपाकी भी विशेष परवाह नहीं करते हैं। फिर दूसरोंको भय प्रदान करनेवाली तुम्हारी भौंहोंके चढ़ानेसे उनको क्या मतलब [अर्थात् वे न आपकी कृपाकी चिन्ता करते हैं और न आपके कोपसे डरते हैं। उन्हें तो केवल आपके कीर्तन तथा भक्तिमें ही आनन्द मिलता है]।

यही [उपस्थित दुरापार्थत्यागित्व] वृद्धिको प्राप्त होता हुआ विशेष रूपसे प्रौढ़ होकर धुर्यादि [आचार्यों] के मतमें [पूर्वोक्त दानवीरसे भिन्न] तृतीय [प्रकारके वीररस] की पदवी को प्राप्त करता है ॥२७॥

अब दयावीर [रसका लक्षण आदि करते हैं]—

[परदुःखप्रहाणेच्छा रूप] कारुण्यके कारण द्रवीभूत होकर जो प्रच्छन्न रूप [से

कृष्णायाच्छन्नरूपाय दयावीर इहोच्यते ।
उद्दीपना इह प्रोक्तास्तदार्त्तिव्यञ्जनादयः ॥२९॥
निजप्राणव्ययेनापि विपन्नत्राणशीलता ।
आश्वासनोक्तयः स्थैर्य्यमित्याद्यास्तत्र विक्रियाः ॥३०॥
औत्सुक्यमतिहर्षाद्या ज्ञेयाः संचारिणो बुधैः ।
दयोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभाव उदीर्य्यते ॥३१॥
दयोद्रेकभृदुत्साहो दयोत्साह इहोदितः ।

यथा —

वन्दे कुड्मलिताञ्जलिर्मुहुरहं वीरं मयूरध्वजं-
येनार्द्धं कपटद्विजाय वपुषः कंसद्विषे दित्सता ।
कष्टं गद्‌गदिकाऽऽकुलोऽस्मि कथनारम्भादहो धीमता
सोल्लासं क्रकचेन दारितमभूत्पत्नीसुताभ्यां शिरः ॥६४७॥

हरेश्चेत्तत्त्वविज्ञानं नैवास्य घटते दया ॥३२॥
तदभावे त्वसौ दानवीरेऽन्तर्भवति स्फुटम् ।
वैष्णवत्वाद्रतिः कृष्णे क्रियतेऽनेन सर्वदा ॥३३॥

याचक बनकर आए हुए] कृष्णको टुकड़े-टुकड़े करके अपना देह अर्पित कर दे वह दयावीर कहलाता है ॥२८॥

उस [शरणागत अथवा याचक] के कष्टका वर्णन आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। और अपने प्राणोंको भी देकर विपद्ग्रस्तकी रक्षा करना, उसको सान्त्वना देना और स्थिरता आदि इस [दयावीररस] में [क्रिया अर्थात्] अनुभाव होते हैं ॥३०॥

औत्सुक्य, मति, हर्ष आदिको विद्वान् लोग [दयावीरका] व्यभिचारिभाव समझें। और दयोत्साहरति इसमें स्थायिभाव कहलाता है ॥३१॥

दयाका उद्रेक करानेवाला उत्साह दयोत्साह कहलाता है। [वही इसमें स्थायिभाव होता है]।

[दयावीरका उदाहरण] जैसे—

मैं उस वीर मयूरध्वज [राजा] को हाथ जोड़कर [श्रद्धापूर्वक] नमस्कार करता हूँ। जिसने ब्राह्मणका कपटवेष धारण किये हुए कृष्णको अपना आधा शरीर देनेके लिए हाय, मुझे तो कहनेसे भी व्याकुलता हो रही है कि उस प्रसन्नतापूर्वक पत्नी तथा पुत्रके हाथोंसे आरेके द्वारा अपने शरीरको [दो टुकड़ोंमें] चिरवा डाला।

यदि [दयावीरको] कृष्णके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान [उस समय] हो जाय तो दया इससे नहीं बनेगी [अर्थात् उस दशामें यह दयावीर न कहलाकर दानवीर कहलायेगा] ॥३२॥

उस [दया] के अभावमें यह [इस प्रकारका दानी] स्पष्ट ही दानवीरमें अन्तर्भूत होता है ॥३३॥

विष्णुभक्त होनेके कारण यह [दयावीर] सदा कृष्णकी भक्ति करता है। यहाँ

कृताऽत्र द्विजरूपे च भक्तिस्तेनाऽस्य भक्तता ।
अन्तर्भावं वदन्तोऽस्य दानवीरे दयाऽऽत्मनः ॥३४॥
वोपदेवादयो धीरा वीरमाचक्षते त्रिधा ।

अथ धर्मवीरः—

कृष्णैकतोषणे धर्मे यः सदा परिनिष्ठितः ॥३५॥
प्रायेण धीरशान्तस्तु धर्मवीरः स उच्यते ।
उद्दीपना इह प्रोक्ताः सच्छास्त्रश्रवणादयः ॥३६॥
अनुभावा नयास्तिक्यसहिष्णुत्वयमादयः ।
मतिस्मृतिप्रभृतयो विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥३७॥
धर्मोत्साहरतिर्धीरैः स्थायी भाव इहोच्यते ।
धर्मैकाभिनिवेशस्तु धर्मोत्साहो मतः सताम् ॥३८॥

यथा—

भवदभिरतिहेतून् कुर्वता सप्ततन्तून्
पुरमभि पुरुहूते नित्यमेवोपहूते ।
दनुजदमन! तस्याः पाण्डुपुत्रेण गण्डः
सुचिरमरचि शच्याः सव्यहस्ताङ्कशायी ॥६४८॥

[मोरध्वजवाले उदाहरणमें] द्विज रूपमें [मोरध्वजने] भक्तिकी है इसलिए यह [वैष्णव न होकर] भक्त कहलाता है ॥३३॥

बोपदेव आदि [विद्वान्] इस दयावीर रूप [वीररस] का दानवीरमें अन्तर्भाव करके वीररसको [चार प्रकारके स्थानपर] तीन प्रकारका ही मानते हैं ॥३४॥

अब धर्मवीर [का लक्षण करते हैं]—

जो सदा केवल कृष्णको प्रसन्न करने वाले धर्मानुष्ठानमें लगा रहता है, प्रायः धीर-शान्त प्रकृतिका वह [भक्त] धर्मवीर कहलाता है ॥३५॥

उत्तम शास्त्रोंका श्रवण आदि इसमें उद्दीपन-विभाव माने जाते हैं । तब आस्तिक्य, सहिष्णुत्व तथा यम-नियमादि इसके अनुभाव होते हैं और मति स्मृति आदि व्यभिचारिभाव माने जाते हैं ॥३७॥

धर्मोत्साहरतिको विद्वान् लोग इसका स्थायिभाव बतलाते हैं । केवल धर्ममें ही आग्रह का नाम धर्मोत्साहरति है ॥३८॥

जैसे [धर्मवीरका उदाहरण]—

हे दनुजदमन [कृष्ण] आपको प्रसन्न करनेके लिए नित्य ही [सप्ततन्तून् अर्थात्] यज्ञों को करते हुए और नित्य ही इन्द्रको राजधानीमें निमन्त्रित करके पाण्डव [युधिष्ठिर] ने उस इन्द्राणीके कपोलको बहुत दिनोंसे [चिन्ताग्रस्त रूपमें] बायें हाथकी हथेलीपर स्थापित कर दिया है ।

यज्ञः पूजाविशेषोऽस्य भुजाद्यङ्गानिः वैष्णवः ।
ध्यात्वेन्द्राद्याश्रयत्वेन यदेष्वाहुतिरर्प्यते ॥३६॥
अयं तु साक्षात्तस्यैव निदेशात्कुरुते मखान् ।
युधिष्ठिरोऽम्बुधिः प्रेम्णां महाभागवतोत्तमः ॥४०॥
दानादित्रिविधं वीरं वर्णयन्तः परिस्फुटम् ।
धर्म्मवीरं न मन्यन्ते कतिचिद्धनिकादयः ॥४१॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस
निरूपणे वीरभक्तिरसलहरी ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थी करुणभक्तिरसलहरी

आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता पुष्टिं सतां हृदि ।
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिधः ॥१॥
अव्युच्छिन्नमहानन्दोऽप्येष प्रेमविशेषतः ।
अनिष्टाप्तेः पदतया वेद्यः कृष्णोऽस्य च प्रियः ॥२॥

वैष्णव [अर्थात् विष्णुके उद्देश्यसे किया जानेवाला विष्णुदेवताके] यज्ञ इस[धर्मवीर] की [अभिमत] विशेष पूजा है । [कृष्णके] भुजा आदि अंगोंका ध्यान करते हुए इन्द्रादिके लिए इन [यज्ञों] में आहुति दी जाती है । [इसलिए ये यज्ञ वैष्णव यज्ञ कहलाते हैं] ॥३६॥

यह प्रेमसागर युधिष्ठिर तो साक्षात् उन्हीं [कृष्ण] की आज्ञासे यज्ञोंको करते हैं । इसलिए यह महाभागवतोंमें सर्वोत्तम हैं ॥४०॥

धनिक आदि कुछ [आचार्य] दानवीर आदि तीन प्रकारके ही वीररसका प्रतिपादन करते हुए धर्मवीरको अलग रस नहीं मानते हैं ॥४१॥

भक्तिरसामृतसिन्धुमें गौणभक्तिरसनिरूपण-परक उत्तरविभागमें
तृतीय वीरभक्तिरसलहरी समाप्त हुई ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थी करुणभक्तिरस लहरी

अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा सहृदयोंके हृदयमें पुष्टिको प्राप्त शोकरति ही यह करुणभक्तिरस कहलाती है ॥१॥

[स्वरूपतः] सर्वदा आनन्दसे परिपूर्ण होनेपर भी विशेष प्रेमके कारण कृष्ण और उनके प्रिय इस [करुणभक्तिरस] में अनिष्टप्राप्तिके पात्र [अर्थात् करुणरसके विभाव] रूपमें प्रतीत होते हैं ॥२॥

तथाऽनवाप्ततद्भक्तिसौख्यश्च स्वप्रियो जनः ।
इत्यस्य विषयत्वेन ज्ञेय आलम्बनस्त्रिधा ॥३॥
तत्तद्वेदी च तद्भक्त आश्रयत्वेन च त्रिधा ।
सोऽप्यौचित्येन विज्ञेयः प्रायः शान्तादिवर्जितः ॥४॥
तत्कर्मगुणरूपाद्या भवन्त्युद्दीपना इह ।
अनुभावा मुखे शोषो विलापः स्रस्तगात्रता ॥५॥
श्वासक्रोशनभूपातघातोरस्ताडनादयः ।
अत्राष्टौ सात्त्विका जाड्यनिर्वेदग्लानिदीनताः ॥६॥
चिन्ता विषाद औत्सुक्यचापलोन्मादमृत्यवः ।
आलस्यापस्मृतिव्याधिमोहाद्या व्यभिचारिणः ॥७॥
हृदि शोकतयांऽशेन गता परिणतिं रतिः ।
उक्ता शोकरतिः सैव स्थायी भाव इहोच्यते ॥८॥

तत्र कृष्णो यथा श्रीदशमे—

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्त्ताः ।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा—
दुःखाभिशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥६४०॥

[पूर्व कारिकामें कहे हुए १ कृष्ण और २ उनके प्रिय, ये दो और तीसरा] जिसने उनकी भक्तिके सुखको प्राप्त नहीं किया है इस प्रकारका [करुणरसके आलम्बन नहीं अपितु आश्रयभूत व्यक्तिका] अपना प्रिय जन ये तीन इसके विषय होनेसे तीन प्रकारके आलम्बन विभाव कहे जाते हैं ॥३॥

उन [तीनों प्रकारके आलम्बनों] को जाननेवाले उनके भक्त उसका आश्रय हानेसे तीन प्रकारके होते हैं । और वह भी औचित्यके अनुसार प्रायः शान्तादि रसोंसे रहित होते हैं ॥४॥

उन [तीनों प्रकारके आलम्बनों] के कर्म, गुण और रूपादि इसमें उद्दीपन विभाव होते हैं । मुख सूखना, विलाप और त्रस्तगात्रता आदि इसके अनुभाव होते हैं ॥५॥

श्वास, रोना-चिल्लाना, पृथिवी पर गिर पड़ना, छाती पीटना आदि आठ सात्त्विक, निर्वेद, ग्लानि, दीनता, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य, चपलता, उन्माद तथा मरण, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि और मोहादि व्यभिचारिभाव होते हैं ॥६-७॥

हृदयमेंसे अंशतः शोकरूपमें परिणत हुई रति शोकरति कहलाती है और वही इसमें स्थायिभाव मानी जाती है ॥८॥

उनमेंसे कृष्ण [के आलम्बन विभाव होनेका उदाहरण] जैसे दशम स्कन्धमें—

कालियानागके फनके भीतर लिपटे हुए उन [कृष्ण] को देखकर अपने आपको मित्र,

यथा वा—

फणिह्रदमवगाढे दारुणं पिञ्छचूडे
स्खलदविरलबाष्पस्तोमधौतोत्तरीया ।
निखिलकरणवृत्तिस्तम्भिनीमाललम्बे
विषमगतिमवस्थां गोष्ठराजस्य राज्ञी ॥६५०॥

तस्य प्रियजनो यथा—

कृष्णप्रियाणामाकर्षे शङ्खचूडेन निर्मिते ।
नीलाम्बरस्य वक्त्रेन्दुर्नीलिमानं मुहुर्दधे ॥६५१॥

स्वप्रियो यथा हंसदूते—

विराजन्ते यस्य व्रजशिशुकुलस्तेयविकल-
स्वयम्भूचूडाऽग्रैर्लुलितशिखराः पादनखराः ।
क्षणं यानालोक्य प्रकटपरमानन्दविवशः
स देवर्षिर्मुक्तानपि मुनिगणान् शोचति भृशम् ॥६५२॥

यथा वा—

मातर्माद्रि ! गता कुतस्त्वमधुना हा क्वासि पाण्डो पितः !
सान्द्रानन्दसुधाऽब्धिरेष युवयोर्नाभूद् दृशां गोचरः ।
इत्युच्चैर्नकुलानुजो विलपति प्रेक्ष्य प्रमोदाकुलो-
गोविन्दस्य पदारविन्दयुगलप्रोद्दामकान्तिच्छटाम् ॥६५३॥

धन, स्त्री और इच्छादि सब-कुछ कृष्णको अर्पण किए हुए उनके प्रिय सखा और गौएं [पशवः] अत्यन्त सन्तप्त होकर दुःख, शोक और भयसे मूढ़ होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

अथवा जैसे—

मोरमुकुटधारी कृष्णके भयंकर कालीदहमें उतर जानेपर निरन्तर बहते हुए आंसुओंसे जिसका दुपट्टा भीग गया है, इस प्रकारकी गोकुलराजकी रानी [यशोदा] सारी इन्द्रियोंको व्यापारशून्य कर देनेवाली विषमगतिवाली अवस्थाको प्राप्त हो गईं।

उनके प्रियजन [के आलम्बनविभाव होनेका उदाहरण] जैसे—

शंखचूड़के द्वारा कृष्णके प्रियजनोंको खींचे जानेपर नीलाम्बरधारी [बलराम] का मुख फिर काला पड़ गया।

स्वप्रिय [रूप तृतीय आम्बनविभावका उदाहरण] जैसे हंसदूतमें—

व्रजकुमारों चुरानेके कारण घबराए हुए ब्रह्माके चूड़ासे जिनके अग्रभाग आलिंगित हो रहे हैं, इस प्रकारके कृष्णके पैरोंके नख ऐसे शोभित हो रहे हैं जिनको देखकर आविर्भूत होनेवाले परम आनन्दसे विह्वल हुए देवर्षि [नारद उनका दर्शन न कर सकनेवाले] मुक्त हुए मुनियोंके ऊपर अत्यन्त शोक कर रहे हैं।

अथवा जैसे—

हे मातः माद्रि, तुम अब कहां चली गईं। हे पितः पाण्डो, आप अब कहां हैं। यह प्रगाढ़ आनन्दामृतके सागर श्रीकृष्ण] को आप दोनों नहीं देख पाए। नकुलका अनुज सहदेव कृष्णके चरणारविन्दोंकी प्रबल कान्तिको देखकर आनन्दसे विह्वल होकर इस प्रकार जोर-

रतिं विनाऽपि घटते हासादेरुद्गमः क्वचित् ।
कदाचिदपि शोकस्य नास्य सम्भावना भवेत् ॥६॥
रतेर्भूम्ना कृशिम्ना च शोको भूयान् कृशश्चसः ।
रत्या सहाविनाभावात्काप्येतस्य विशिष्टता ॥१०॥

अपि च—

कृष्णैश्वर्य्याद्यविज्ञानं कृतं नैषामविद्यया ।
किन्तु प्रेमोत्तररसविशेषेणैव तत्कृतम् ॥११॥
अतः प्रादुर्भवन् शोको लब्ध्वाऽप्युद्भटतां मुहुः ।
दुरूहामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि ॥१२॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस
निरूपणे करुणभक्तिरसलहरी ॥ ४ ॥



जोरसे विलाप कर रहा है ।

हासादि [अन्य रसों] की उत्पत्ति कभी-कभी [कृष्णविषयक] रतिके बिना भी हो सकती है । किन्तु यह शोक [कृष्णविषयक रतिके बिना] कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है ॥ ६ ॥

रतिके न्यूनाधिक्यके कारण शोकमें भी न्यूनाधिकता हो सकती है । रतिके साथ अविनाभूत [रतिके बिना न रह सकने] होनेके कारण इस [शोकरति या करुणारस] में [अन्य रसोंकी अपेक्षा कुछ विशेषता रहती है ॥१०॥

और भी [विशेष बात यह है कि]—

[कर्मकाण्डादि रूप] अविद्याके कारण इन [करुणरसाश्रयों] को कृष्णके ऐश्वर्य आदि का ज्ञान नहीं हो पाता है । किन्तु प्रेम प्रधान [करुण रूप] रस विशेषके द्वारा ही वह प्राप्त होता है ॥११॥

इसलिए शोकका प्रादुर्भाव होनेपर वह प्रौढ़ताको प्राप्त होकर सुखकी कुछ ऐसी दुरूह अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त करा देता है ॥१२॥

भक्तिरसामृतसिन्धुमें गौणभक्तिरसनिरूपण-परक
उत्तरविभागमें चौथी करुणभक्तिरसलहरी
समाप्त हुई ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमी रौद्रभक्तिरसलहरी

नीता क्रोधरतिः पुष्टिं विभावाद्यैर्निजोचितः ।
हृदि भक्तजनस्यासौ रौद्रभक्तिरसो भवेत् ।।१।।
कृष्णो हितोऽहितश्चेति क्रोधस्य विषयस्त्रिधा ।
कृष्णे सखीजरत्याद्याः क्रोधस्याश्रयतां गताः ।।२।।
भक्ताः सर्वविधा एव हिते चैवाहिते तथा ।

तत्र कृष्णे सख्याः क्रोधः—

सखीक्रोधो भवेत्सख्याः कृष्णादत्याहिते सति ।।३।।

यथा विदग्धमाधवे—

अन्तःक्लेशकलङ्किताः किल वयं यामोऽद्य याम्यां पुरं-
नायं वञ्चनसञ्चयप्रणयिनं हासं तथाऽप्युज्भति ।
अस्मिन्संपुटिते गभीरकपटैराभीरपल्लीविटे
हा मेधाविनि राधिके ! तव कथं प्रेमा गरीयानभूत् ।।६५४।।

अथ तत्र जरत्याः क्रोधः—

क्रोधो जरत्या वध्वादिसम्बन्धे प्रेक्षिते हरौ ।

अथ पञ्चमी रौद्रभक्तिरस लहरी

अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा पुष्ट की गई क्रोधरतिभक्तिके हृदयमें यह रौद्रभक्ति रस बन जाती है ।। १ ।।

१ कृष्ण २ [कृष्णके] मित्र तथा शत्रु ये तीन क्रोधके विषय [अर्थात् आलम्बनविभाव] होते हैं । कृष्णके विषयमें सखी तथा वृद्धा आदि क्रोधके आश्रय [अर्थात् कृष्णपर क्रोध करने वाले] होते हैं ।। २ ।।

[कृष्णके] मित्र तथा शत्रुके विषयमें क्रोधके आश्रय [अर्थात् उनपर क्रोध करनेवाले] सभी प्रकारके भक्त हो सकते हैं ।

उनमेंसे कृष्णके ऊपर सखीका क्रोध [निम्न प्रकार होता है]—

कृष्णके द्वारा सखीका महान् अनिष्ट [अत्याहितं महाभीतिः] होनेपर सखीका कृष्णके प्रति क्रोध होता है ।। ३ ।।

जैसे विदग्धमाधवमें—

हम लोग आज मानसिक दुःखसे सन्तप्त होकर मर भले ही जावें किन्तु यह [कृष्ण] अपने धोखा देनेवाले परिहासको फिर भी नहीं छोड़ेंगे । हे राधिके, तुम तो बड़ी बुद्धिमती थीं, सारे आभीरोंके नगले [की युवतियोंमें विचरण करनेवाले] और इस महान् छलियाके चक्करमें फँस गई ।

अब उस [कृष्ण] के प्रति वृद्धाके क्रोध [का उदाहरण] जैसे—

यथा—

अरे युवतितस्कर ! प्रकटमेव वध्वाः पट-
स्तवोरसि निरीक्ष्यते बत न नेति किं जल्पसि ।
अहो व्रजनिवासिनः शृणुत किं न विक्रोशनं-
व्रजेश्वरसुतेन मे सुतगृहेऽग्निरुत्थापितः ॥६५५॥

गोबर्द्धनं महामल्लं विनाऽन्येषां व्रजौकसाम् ॥४॥

सर्वेषामेव गोविन्दे रतिः प्रौढा विराजते ।

अथ हितः—

हितस्त्रिधाऽनवहितः साहसी चेर्ष्युरित्यपि ॥५॥

तत्रानवहितः—

कृष्णपालनकर्त्ताऽपि तत्कर्माभिनिवेशतः ।

क्वचित्तत्र प्रमत्तो यः प्रोक्तोऽनवहितोऽत्र सः ॥६॥

यथा—

उत्तिष्ठ मूढे ! कुरु मा विलम्बं-
वृथैव धिक् पण्डितमानिनीत्वम् ।
त्रुट्यत्पलाशिद्वयमन्तरा ते
बद्धः सुतोऽसौ सखि ! बम्भ्रमीति ॥६५६॥

अरे, युवतियोंको लूटनेवाले, व्यर्थ झूठ क्यों बोल रहा है । बहूका दुपट्टा तो सामने ही तेरी छाती पर दीख रहा है और तू मना किए जा रहा है । हे व्रजवासियो, मैं चिल्ला रही हूँ और आप लोग मेरी बात क्यों नहीं सुन रहे हैं । देखो व्रजेश्वरके पुत्र [कृष्ण] ने [मेरी पुत्रवधूको फँसाकर] मेरे घरमें आग लगा दी है ।

[चन्द्रावलीके पति और कंसके पक्षपाती] गोवर्धन [नामक गोप] को छोड़कर और सारे व्रजवासियोंकी कृष्णके प्रति प्रौढ़ रति विद्यमान रहती है ॥ ४ ॥

अब मित्र [के क्रोधका विषय होनेका वर्णन करते हैं]—

१ ध्यान न देनेवाला, २ साहसी और ३ ईर्ष्यालु ये तीन प्रकारके मित्र [क्रोधके विषय] होते हैं ॥ ५ ॥

उनमेंसे अनवहित [ध्यान न देनेवाले मित्रका लक्षण उदाहरण निम्न प्रकार है]—

कृष्णका पालन करनेवाला भी कभी उस कार्यमें ध्यान न देकर प्रमाद करनेवाला हो जाय तो उसको अनवहित [मित्र या हितचिन्तक] कहते हैं ॥ ६ ॥

जैसे—

अरी मूढ़े ! उठ, विलम्ब मत कर । तू अपनी चतुराईका अभिमान व्यर्थ ही करती है । देख तो, तेरा यह पुत्र [कृष्ण] गिरे हुए दो पलाश [ढाक] के वृक्षोंके बीचमें फँसकर [घबराया हुआ] चक्कर काट रहा है [निकल नहीं पा रहा है] ।

अथ साहसी—

यः प्रेरको भयस्थाने साहसी स निगद्यते ।

यथा—

गोबिन्दः प्रियसुहृदां गिरैव यात-
स्तालानां विपिनमिति स्फुटं निशम्य ।
भ्रूभेदस्थपुटितदृष्टिरास्यमेषां—
डिम्भानां व्रजपतिगेहिनी ददर्श ॥६५७॥

अथेर्ष्युः—

ईर्ष्युर्मानधनाः प्रोक्ताः प्रौढेर्ष्याक्रान्तमानसाः ॥७॥

यथा—

दुर्मानमंथमथिते ! कथयामि किं ते
दूरं प्रयाहि सविधे तव जाज्वलीमि ।
हा धिक् प्रियेण चिकुराञ्चितपिञ्छकोट्या
निर्मञ्छिताग्रचरणाऽपि रुषोद्धराऽऽसीः ॥६५८॥

अथाहितः

अहितः स्याद् द्विधा स्वस्य हरेश्चेति प्रभेदतः ।

तत्रस्वस्याहितः—

अब साहसी [हितचिन्तक या मित्रका लक्षण और उदाहरण देते हैं]—

जो भयके स्थानमें [जाने आदिके लिए] प्रेरणा करे वह साहसी [मित्र या हित-चिन्तक] कहलाता है ।

जैसे—

मित्रोंके कहनेसे ही कृष्ण तालोंके वनमें गया था, ऐसा सुनकर ब्रजपतिगेहिनी [यशोदा] ने उन लड़कोंके मुखकी ओर [क्रोधसे] भौंहें टेढ़ी करके देखा ।

अब ईर्ष्यालु [हितचिन्तक या मित्रका लक्षण तथा उदाहरण आगे देते हैं]—

उग्र ईर्ष्याके कारण मनके आक्रान्त होनेपर रूठने या क्रोध करनेवाले [हितचिन्तक या मित्र] ईर्ष्यालु [मित्र] कहलाते हैं ॥ ७ ॥

जैसे—

अरी, अनुचित मानसे भरी हुई [राधा] तुझसे क्या कहूँ । जा मेरे पाससे दूर चली जा । तेरे पास रहनेमें मेरे शरीरसे आग लग जाती है । तुझे धिक्कार है जो केशोंमें लगे हुए मोरपंखके अग्रभागसे तेरे चरणोंको पोंछने वाले [अर्थात् तेरे पैर पर सिर झुकानेवाले] प्रियके प्रति भी तू क्रोधमें ऐंठी रही ।

अब [क्रोधके विषयभूत तृतीय आलम्बनविभाव] शत्रु [को कहते हैं]—

अपने [अर्थात् क्रोध करनेवाले] और कृष्ण [शत्रु होनेके] भेदसे [क्रोधका विषय] शत्रु दो प्रकारका होता है ।

उनमेंसे अपने शत्रु [का लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार है]—

अहितः स्वस्य स स्याद्यः कृष्णसम्बन्धवाधकः ॥८॥

यथोद्धवसंदेशे—

कृष्णं मुष्णन्नकरुण ! बलाद्गोष्ठतो निष्ठुरस्त्वं—
मा मर्य्यादां यदुकुलभुवां भिंधि रे गांधिनेय ! ।
पश्याभ्यर्णे त्वयि रथमधिष्ठाय यात्रां विधित्सौ
स्त्रीणां प्राणैरपि नियुतशो हन्त यात्रा व्यधायि ॥६५६॥

अथ हरेरहितः—

अहितस्तु हरेस्तस्य वैरिपक्षो निगद्यते ।

यथा—

हरौश्रुतिशिरःशिखामणिमरीचिनीराजित-
स्फुरच्चरणपङ्कजेऽप्यवमतिं व्यनक्त्यत्र यः ।
अयङ्क्षिपति पाण्डवः शमनदण्डघोरं हठात्
त्रिरस्य मुकुटोपरि स्फुटमुदीर्य्य सव्यं पदम् ॥६६०॥

सोल्लुण्ठहासवक्रोक्तिकटाक्षानादरादयः ॥६॥
कृष्णाहितहितस्थाः स्युरमी उद्दीपना इह ।
हस्तनिष्पेषणं दन्तघट्टनं रक्तनेत्रता ॥१०॥
दष्टौष्ठताऽतिभ्रुकुटी भुजास्फालनताडनाः ।
तूष्णीकता नतास्यत्वं निश्वासो भुग्नदृष्टिता ॥११॥

अपना शत्रु वह होता है जो कृष्णके साथ सम्बन्ध होनेमें बाधा डालने वाला होता है ॥ ८ ॥

जैसे उद्धव सन्देशमें—

अरे, निष्ठर, निर्दयी अक्रूर, तुम गोकुलसे कृष्णको ले जाकर यदुवंशियोंकी मर्यादाका उल्लंघन मत करो । देखो, तुम्हें रथ पर बैठकर यात्रा करनेके लिए तैयार देखकर करोड़ों स्त्रियोंके प्राणोंने भी परलोकके लिए प्रस्थान कर दिया है ।

अब कृष्णके शत्रु [कहते हैं]—

कृष्णका वैरिपक्ष उनका शत्रु कहलाता है ।

जैसे—

श्रुतियोंके शिरोमणि साक्षात् वेद भी जिसके चरणोंकी वन्दना करते हैं इस प्रकारके कृष्णके प्रति भी यहाँ अादरभाव दिखला रहा है, उसके सिर पर यह पाण्डुपुत्र यमराजके दण्ड के समान अपने बायें पैरको उठाकर तीन बार उसके मुकुट पर प्रहार करता है ।

सोल्लुण्ठ [मजाक बनाते हुए] हँसना, व्यंग्य वचन, कटु आक्षेप करना, अनादर करना ॥ ६ ॥

कृष्णके अहितमें रहनेवाले ये सब धर्म इस [रौद्रभक्तिरस] में उद्दीपन विभाव होते हैं

हाथोंका मलना, दाँत किटकिटाना, आँखोंका लाल हो जाना—॥ १० ॥

होंठ चबाना, अत्यन्त भौंहें चढ़ाना, भुजाओंका फड़कना, और भुजाओंका ठोकना

भर्त्सनं मूर्द्धविधुतिर्दृगन्ते पाटलच्छविः ।
भ्रूभेदाधरकम्पाद्या अनुभावा इहोदिताः ॥१२॥
अत्र स्तम्भादयः सर्वे प्राकट्ये यान्ति सात्त्विकाः ।
आवेगो जडता गर्वो निर्वेदो मोहचापले ॥१३॥
असूयौग्र्यं तथाऽमर्षश्रमाद्या व्यभिचारिणः ।
अत्र क्रोधरतिः स्थायी स तु क्रोधस्त्रिधा मतः ॥१४॥
कोपो मन्युस्तथा रोषस्तत्र कोपस्तु शत्रुगः ।
मन्युर्बन्धषु ते पूज्यसमन्यूनास्त्रिधोदिताः ॥१५॥
रोषस्तु दयिते स्त्रीणामतो व्यभिचरत्यसौ ।
हस्तपेषादयः कोपे मन्यौ तूष्णीकताऽऽदयः ॥१६॥
दृगन्तपाटलत्वाद्या रोषे तु कथिताः क्रियाः ।

तत्र वैरिणि यथा—

निरुध्य पुरमुन्मदे हरिमगाधसत्त्वाश्रयं-
मृधे मगधभूपतौ किमपि वक्रमाक्रोशति ।

चुप हो जाना, सिर झुका लेना, निःश्वास, टेढ़ी दृष्टि,—॥ ११ ॥

फटकारना, सिर हिलाना, नेत्रोंके किनारोंपर लालिमाका आ जाना, भौंहोंका टेढ़ा होना, होंठ फड़कना आदि इस रौद्रभक्तिरस] में अनुभाव कहे जाते हैं ॥ १२ ॥

इसमें स्तम्भ आदि सारे [आठों] सात्त्विकभाव प्रकट होते हैं ।

आवेग, जड़ता, गर्व, निर्वेद, मोह, चपलता,—॥ १३ ॥

असूया, उग्रता और अमर्ष एवं श्रम आदि व्यभिचारिभाव होते हैं ।

इस [रौद्रभक्तिरसमें] क्रोधरति स्थायिभाव होता है । और वह क्रोध तीन प्रकारका होता है ॥ १४ ॥

१ कोप, २ मन्यु, तथा ३ रोष [इन भेदोंसे क्रोध तीन प्रकारका होता है] इनमेंसे कोप शत्रुके प्रति होता है । बान्धवोंके प्रति [होनेवाला क्रोध] मन्यु होता है । वे [मन्युके विषयभत बन्धुगण] १ पूज्य, २ बराबर वाले और ३ कम । इस प्रकार ये तीन तरहके कहे जाते हैं ॥ १५ ॥

प्रियतमके प्रति स्त्रियोंका [क्रोध] रोष कहलाता है । इसलिए [उसके स्थिर न होने से] यह व्यभिचारिभाव कहलाता है ।

कोपमें हाथोंका कम्पन आदि हो जाता है । मन्युमें चुप हो जाना तथा आँखोंके किनारोंका लाल हो जाना आदि रोषमें [क्रिया अर्थात्] अनुभाव कहे जाते हैं ॥ १६ ॥

उनमेंसे [वैरीके प्रति [क्रोधका उदाहरण] जैसे—

पुरको घेरकर उन्मत्त हुए मगधपति जरासन्धके द्वारा और युद्धमें अगाध बल सम्पन्न कृष्णके प्रति अनुचित शब्दोंको प्रयोग किये जाने पर हलधर बलरामने [द्विषद्विसरजांगलं

दृशं कवलितद्विषद्विसरजाङ्गले लाङ्गले
नुनोद दहदिङ्गलप्रबलपिङ्गलां लाङ्गली ॥६६१॥

पूज्ये यथा विदग्धमाधवे—

क्रोशन्त्यां करपल्लवेन बलवान्सद्यः पिधत्ते मुखं—
धावन्त्यां भयभाजि विस्तृतभुजो रुन्धे पुरः पद्धतिम् ।
पादान्ते विलुठत्यसौ मयि मुहुर्दष्टाधरायां रुषा
मातश्चण्डि ! मया शिखण्डमुकुटादात्माऽभिरक्ष्यः कथम् ॥६६२॥

समे यथा—

ज्वलति दुर्मुखि ! मर्मणि मुर्मुर-
स्तव गिरा जटिले ! निटिले च मे ।
गिरिधरः स्पृशति स्म कदा मदाद्
दुहितरं दुहितुर्मम पामरि ! ॥६६३॥

न्यूने यथा—

हन्त स्वकीयकुचमूर्ध्नि मनोहरोऽयं-
हारश्चकास्ति हरिकण्ठतटीचरिष्णुः ।
भो! पश्यत स्वकुलकज्जलमञ्जरीयं-
कूटेन मां तदपि वञ्चयते बधूटी ॥६६४॥

अस्मिन्नताट्टशो मन्यौ वर्त्तते रत्यनुग्रहः ॥१७॥

अर्थात्] शत्रुओंके मांसको खा जाने वाली जलते हुए इंगाल [लकुटी] के समान पीतवर्ण नेत्र को अपने [अस्त्रभूत] हलकी ओर प्रेरित किया [अर्थात् जरासन्धपर प्रहार करनेके लिए अपने हलकी ओर देखने लगे] ।

पूज्यके प्रति [क्रोधका उदाहरण] जैसे विदग्धमाधवमें—

हे प्रकुपित माताजी, मेरे चिल्लानेपर वह बलवान [कृष्ण] तुरन्त अपने हाथसे मेरा मुख दबा देता है । मैं डरकर भागने लगती हूँ तो हाथोंको फैलाकर रास्ता रोक लेता है । जब मैं क्रोधके मारे होठ चबाने लगती हूँ तो पैरोंपर गिर पड़ता है । तो हे माता, आप जो नाराज हो रही हैं सो बताओ उस मोरमुकुटधारीसे मैं अपनेको कैसे बचा पाऊँ ।

बराबरवालेके प्रति [क्रोधका उदाहरण] जैसे

अरी कटुभाषिणि [दुर्मुखि] जटिले, तेरी बातें सुनकर मेरे [मर्मणि] हृदय और [निटिले मस्तके] मस्तिष्क दोनोंमें [मुर्मुरः ज्वलति] आग लग रही है । अरी दुष्टे, सही कि मदमस्त हुआ कृष्ण मेरी लड़कीकी पुत्री [राधा] को कब छू रहा था ।

छोटेके प्रति [क्रोधका उदाहरण] जैसे—

अरे, देखो तो इसके अपने स्तनोंके ऊपर कृष्णके गलेमें रहनेवाला यह सुन्दर हार पड़ा हुआ है । इसपर भी अपने कुलके लिए कज्जल-मंजरीके समान [कलंकित करनेवाली] यह वधूटी झूठ बोलकर मुझे बहका रही है ।

इस [बन्धुओंके प्रति कोपरूप] मन्युमें उस प्रकारका [चमत्कारजनक] रतिका अनुग्रह नहीं पाया जाता है । फिर उदाहरणमात्रके लिए उसको हमने यहाँ दिखला दिया है ॥१७॥

उदाहरणमात्राय तथाऽप्येष निर्दशितः ।
क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावतः ।।१८।।
क्रोधो रतिविनाभावान्न भक्तिरसतां व्रजेत् ।

इतिभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
रौद्रभक्तिरसलहरी ।।५।।

अथ षष्ठी भयानकभक्तिरस लहरी

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं भयरतिर्गता ।
भयानकाभिधो भक्तिरसो धीरैरुदीर्य्यते ।।१।।
कृष्णश्च दारुणाश्चेति तस्मिन्नालम्बना द्विधा ।
अनुकम्प्येषु सागःसु कृष्णस्तस्य च बन्धुषु ।।२।।
दारुणाः स्नेहतः शश्वत्तदनिष्टाप्तिदर्शिषु ।
दर्शनाच्छ्रवणाच्चेति स्मरणाच्च प्रकीर्त्तिताः ।।३।।

क्रोधके आश्रयभूत शिशुपाल आदि शत्रुओंका क्रोध [कृष्णके प्रति] रतिके बिना ही होनेसे भक्तिरसताको प्राप्त नहीं होता है ।। १८ ।।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें गौणभक्तिरसके निरूपणपरक उत्तरविभागमें
पञ्चमी रौद्रभक्तिरस लहरी
समाप्त हुई ।। ५ ।।

अथ षष्ठी भयानकभक्तिरस लहरी

आगे कहे जानेवाले विभावादिके द्वारा पुष्टिको प्राप्त हुई भयरतिको ही विद्वान् लोग भयानकभक्तिरस नामसे कहते हैं ।। १ ।।

१ कृष्ण और २ अन्य भयानक लोग [दारुणाः] ये दो प्रकारके इस [भयानकभक्तिरस] में आलम्बनविभाव होते हैं । अनुकम्पा करने योग्योंके आराधन करनेपर कृष्ण [भयानक भक्तिरसके आलम्बन होते हैं] और स्नेहके कारण सदा नाना प्रकारके अनिष्ट होनेकी शंका करनेवाले [कृष्णके] बन्धुओंके विषयमें दारुण [अन्य भयानक लोग आलम्बनविभाव] कहे जाते हैं ।। २ ।।

[भय जनक वस्तुओंके] १ दर्शनसे, २ श्रवणसे तथा ३ स्मरणसे [तीन प्रकार से ये दारुण लोग भयके आलम्बनविभाव होते हैं] ।। ३ ।।

तत्रानुकम्प्येषु कृष्णो यथा—

किं शुष्यद्वदनोऽसि मुञ्च खचितं चित्ते पृथुं वेपथुं-
विश्रम्य प्रकृतिं भजस्व न मनागप्यस्ति मन्तुस्तव।
ऊष्मग्रन्थितमृक्षराज ! रभसाद्विस्तीर्य्य वीर्य्यं त्वया
पृथ्वी प्रत्युत युद्धकौतुकमयी सेवैव मे निर्मिता ॥६६५॥

यथा वा—

मुरमथन ! पुरस्ते को भुजङ्गस्तपस्वी
लघुरहमिति कार्षीर्मा स्म दीनाय मन्युम्।
गुरुरयमपराधस्तथ्यमज्ञानतोऽभु-
दशरणमतिमूढं रक्ष रक्ष प्रसीद ॥६६६॥

बन्धुषु दारुण दर्शनाद्यथा—

हा किं करोमि तरलं भवनान्तराले
गोपेन्द्र ! गोपय बलादुपरुध्य बालम्।
क्ष्मामण्डलेन सह चञ्चलयन्मनो मे-
शृङ्गाणि लङ्घयति पश्य तुरङ्गदैत्यः ॥६६७॥

श्रवणाद्यथा—

शृण्वती तुरगदानवं रुषा
गोकुलं किल विशन्तमुद्धरम्।
द्रागभूत्तनयरक्षणाकुला
शुष्यदास्यजलजा व्रजेश्वरी ॥६६८॥

उनमेंसे अनुकम्प्यके प्रति कृष्ण [के अभयालम्बन होनेका उदाहरण] जैसे—

तुम्हारा मुख क्यों सूख रहा है। मनके भीतर जमे हुए भयको निकाल दो। तनिक विश्राम करके स्वस्थ हो जाओ। तुम्हारा कार्य [मन्तु अर्थात्] अपराध नहीं है। हे सन्तप्त हुए ऋक्षराज बिना विचारे अपना पराक्रम दिखलाकर भी तुमने मेरी युद्ध द्वारा मनोरंजनरूप सेवा ही की है।

अथवा जैसे—

हे मुरारे, आपके सामने विचारा सर्प [कालियनाग] क्या चीज है। मैं [कालियनाग] बहुत तुच्छ हूँ [इसलिए मेरे अपराध करने पर भी] मेरे प्रति आप क्रोध न करें। वास्तविक तथ्यको न जाननेके कारण ही मुझसे यह महान् अपराध हो गया है। मरणहीन और अत्यन्त मूर्ख मेरे ऊपर प्रसन्न हों और मेरी रक्षा करें।

बन्धुओंके विषयमें दारुण [आलम्बनविभाव] श्रवण से जैसे—

हाय, मैं क्या करूँ। हे गोपेन्द्र [नन्दराज] ! इस चञ्चल [कृष्ण] को जबरदस्ती पकड़कर घरमें छिपा लो। भूमण्डलके साथ मेरे चित्तको भी भयभीत करता हुआ देखो यह तुरंग दैत्य [पहाड़ी] शिखरोंको फाँदता हुआ चला आ रहा है।

सुननेसे [बन्धुओंके प्रति दारुण आलम्बनका उदाहरण] जैसे—

क्रोधके कारण गोकुलके भीतर प्रविष्ट होते हुए तुरंग दानवको सुनकर व्रजेश्वरीका

स्मरणाद्यथा—

विरम विरम मातः पूतनायाः प्रसङ्गा—
त्तनुमियमधुनाऽपि स्मर्य्यमाणा धुनोति ।
कवलयितुमिवाङ्कीकृत्य बालं घुरन्ती
वपुरतिपरुषं या घोरमाविश्चकार ॥६६॥

विभावस्य भ्रुकुट्याद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः ।
मुखशोषणमुच्छ्वासः पराहत्य विलोकनम् ॥४॥
स्वसङ्गोपनमुद्घूर्णा शरणान्वेषणं तथा ।
क्रोशनाद्याः क्रियाश्चात्र सात्त्विकाश्चाश्रुवर्ज्जिताः ॥५॥
इह सन्त्रासमरणचापलावेगदीनताः ।
विषादमोहापस्मारशङ्काद्या व्यभिचारिणः ॥६॥
अस्मिन् भयरतिः स्थायीभावः स्यादपराधितः ।
भीषणेभ्यश्च तत्र स्याद्बहुधैवापराधिता ॥७॥
तज्जा भीर्नापरत्र स्यादनुग्राह्यजनान्विता ।
आकृत्या ये प्रकृत्या ये ये प्रभावेण भीषणाः ॥८॥
एतदालम्बना भीतिः केवलप्रेमशालिषु ।
नारीबालादिषु तथा प्रायेणात्रोपजायते ॥९॥

मुख कमल सूख गया और तुरन्त बालक [कृष्ण] की रक्षाके लिए व्याकुल हो गई ।

स्मरणसे [बन्धुओंके प्रति दारुण आलम्बनविभावका उदाहरण] जैसे—

हे माता, पूतनाकी बात मत करा कर । उसकी याद आनेके यह शरीर आज भी काँपने लगता हूँ । बालक [कृष्णको मानों खा जानेके लिए ही गोदमें उठाकर घूरती हुई उसने अपना अत्यन्त भयंकर स्वरूप प्रकट किया था ।

विभावकी भ्रुकुटि आदि इस [भयानक भक्तिरस] में उद्दीपन कहलाते हैं ।

मुखका सूखना, उच्छ्वास, मुड़कर देखना ॥ ४ ॥

अपनेको छिपाना, [उद्घूर्ण] घबराहट, शरणकी खोज और चिल्लाना आदि इसमें [क्रिया अर्थात्] अनुभाव माने गए हैं । और अश्रुको छोड़कर [शेष सात] सात्त्विकभाव माने जाते हैं ॥ ५ ॥

इसमें त्रास, मरण, चपलता, आवेग, दीनता, विषाद, मोह, अपस्मार तथा शंका आदि व्यभिचारिभाव होते हैं ॥ ६ ॥

अपराधके कारण होनेवाली भयरति इसमें स्थायिभाव होती है । और भयंकर लोगों से उसमें बहुधा ही अपराध होते हैं ॥ ७ ॥

उनसे उत्पन्न भय दूसरी जगह अनुग्राह्यजनोंसे सम्बद्ध नहीं होता है ।

जो आकृतिसे या प्रकृतिसे तथा प्रभावके कारण भयंकर होते हैं उनसे उत्पन्न [एतदा-

आकृत्या पूतनाऽऽद्याः स्यु प्रकृत्या दुष्टभूभुजः ।
भीषणास्तु प्रभावेण सुरेन्द्रगिरिशादयः ॥१०॥
सदा भगवतो भीतिं गता आत्यन्तिकीमपि ।
कंसाद्या रतिशून्यत्वादत्र नालम्बना मताः ॥११॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
भयानकभक्तिरसलहरी ॥६॥

अथ सप्तमी बीभत्सभक्तिरस लहरी

पुष्टि निजविभावाद्यैर्जुगुप्सारतिरागता ।
असौ भक्तिरसो धीरैर्बीभत्साख्य इतीर्य्यते ॥१॥
अस्मिन्नाश्रितशान्ताद्या धीरैरालम्बना मताः ।

यथा—

पाण्डित्यं रतहिण्डकाध्वनि गतो यः कामदीक्षाव्रती
कुर्वन्पूर्वमशेषषिड्गनगरी साम्राज्यचर्य्यामभूत् ।
चित्रं सोऽयमुदीरयन् हरिगुणानुद्बाष्पदृष्टिर्जनो-
दृष्टे स्त्रीवदने विकूणितमुखो विष्टभ्य निष्ठीवति ॥६७०॥

लम्बना] भय केवल [कृष्णको] प्रेम करनेवाले नारी तथा बाला आदिमें ही प्रायः यहाँ देखी जाती है ॥ ८-९ ॥

आकृतिसे [भीष्ण] पूतना लादि हैं। प्रकृतिसे भयंकर दुष्ट [शिशुपालादि] राज, तथा प्रभावसे भयंकर इन्द्र तथा शिव आदि हैं ॥ १० ॥

[भगवतः अर्थात्] कृष्णसे अत्यन्त भयकी प्राप्ति होनेवाले कंस आदि रतिशून्य होने के कारण इस [भयानकभक्तिरस] में आलम्बनविभाव नहीं माने जाते है ॥ ११ ॥

भक्तिरसामृतसिन्धुमें गौणभक्तिरसनिरूवणपरक उत्तरविभावमें
भयानकभक्तिरसलहरी समाप्त हुई ॥ ६ ॥

अथ सप्तमी बीभत्सभक्तिरस लहरी

अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा पुष्टिको प्राप्त हुई जुगुप्सा रति ही इस बीभत्सभक्तिरस नामसे कही जाती है ॥ १ ॥

इसमें आश्रित तथा शान्त आदिको विद्वान् लोग आलम्बनविभाव बतलाते हैं।

जैसे—

जो कामकी दीक्षाका व्रत लेकर [रतिहिण्ठक अर्थात् रतिचौर्यके चौर्यरतिके मार्गमें निपुण होकर पहले सारे [षिंग अर्थात्] व्यभिचारियोंकी नगरीके साम्राज्यकी सेवा करता था, आश्चर्यकी बात है कि आज वह कृष्णके गुणोंका गान करता हुआ और [उस कृष्णप्रेम

अत्र निष्ठीवनं वक्त्रकूरणनं घ्राणसंवृतिः ॥२॥
धावनं कम्पपुलकप्रस्वेदाद्याश्च विक्रियाः ।
इह ग्लानिश्रमोन्मादमोहनिर्वेददीनताः ॥३॥
विषादचापलावेगजाड्याद्या व्यभिचारिणः ।
जुगुप्सारतिरत्र स्यात्स्थायी सा च विवेकजा ॥४॥
प्रायिकी चेति कथिता जुगुप्सा द्विविधा बुधैः ।

तत्र विवेकजा —

जातकृष्णरतेर्भक्ताविशेषस्य तु कस्यचित् ॥५॥
विवेकोत्था तु देहादौ जुगुप्सा स्याद्विवेकजा ।

यथा—

घनरुधिरमये त्वचा पिनद्धे पिशितविमिश्रितविस्रगन्धभाजि ।
कथमिह रमतां बुधः शरीरे भगवति हन्त रतेर्लवेऽप्युदीर्णे ॥६७१॥

अथ प्रायिकी—

अमेध्यपूत्यनुभवात्सर्वेषामेव सर्वतः ॥६॥
या प्रायो जायते सेयं जुगुप्स. यिकी मता ।

यथा—

के कारण उत्पन्न हुए] आँसुओंसे परिपूर्ण नेत्रोंवाला जब स्त्रीके मुखको देख लेता है तो तब घृणाके कारण] मुँह सिकोड़कर और [विष्टभ्य अर्थात् सतन्त्र होकर थूकने लगता है।

इस [बीभत्सभक्तिरस] में मुँहका सिकोड़ना, थूकना, नाक बन्द कर लेना ॥ २ ॥

भागना, कांपना और रोमाञ्च हो आना, पसीना आ जाना आदि विकार [अर्थात् अनुभाव होते हैं ॥ २ ॥

और इसमें ग्लानि, श्रम, मोह, निर्वेद, दीनता, विषाद, चापल, आवेग तथा जाड्य आदि व्यभिचारिभाव होते हैं ॥ ३ ॥

जुगुप्सा रति इसमें स्थायिभाव होती है। और वह [जुगुप्सारति] १ प्रायिकी [अर्थात् प्रायः सबमें पाई जानेवाली] तथा २ विवेकजा—दो प्रकारका विद्वान् लोग मानते हैं ॥ ४ ॥

उनमेंसे विवेकजा [जुगुप्सारतिका लक्षण तथा उदाहरण आगे दिखलाते हैं]—

कृष्णमें जिसको प्रेम हो गया है इस प्रकारके किसी विशेष भक्तको विवेकके कारण देहादिमें जो जुगुप्सा हो जाती है वह विवेकजा [जुगुप्सारति] कहाती है ॥ ५ ॥

जैसे—

अरे, भगवान्‌के प्रति रतिका लेश भी उत्पन्न हो जानेके बाद आदमी प्रचुर रुधिरसे भरे हुए खालसे ढके मांससे युक्त और दुर्गन्धित इस शरीरसे कैसे प्रेम कर सकता है।

अब प्रायिकी [जुगुप्साका लक्षण तथा उदाहरण कहते हैं]—

अपवित्र तथा दुर्गन्धयुक्त वस्तुके अनुभवसे प्रायः सबको ही होनेवाली जो जुगुप्सा है वह प्रायिकी [जुगुप्सारति] कहलाती है ॥ ६ ॥

जैसे—

असृङ्मूत्राकीर्णे घनशमलपङ्कव्यतिकरे
वसन्नेष क्लिन्नो जडतनुरहं मातुरुदरे।
लभे चेतःक्षोभं तव भजनकर्माक्षमतया
तदस्मिन्कंसारे ! कुरु मयि कृपासागर ! कृपाम् ॥९७२॥

यथा वा—

घ्राणोद्घूर्णकपूतिगन्धविकटे कीटाकुले देहली-
स्रस्तव्याधितयूथगूथघटनानिर्द्धूतनेत्रायुषि ।
कारानामनि हन्त मागधयमेनामी वयं नारके
क्षिप्तास्ते स्मृतिमाकलय्य नरकध्वंसिन्निह प्राणिमः ॥९७३॥

लब्धकृष्णरतेरेव सुष्ठु पूतं मनस्सदा ॥७॥
क्षुभ्यत्यहृद्यलेशेऽपि ततोऽस्यां रत्यनुग्रहः ।
हास्यादीनां रसत्वं यद् गौणत्वेनापि कीर्त्तितम् ॥८॥
प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिः ।
अमी पञ्चैव शान्ताद्या हरेर्भक्तिरसा मताः ॥९॥
एषु हासादयः प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम् ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे बीभत्सभक्तिरस लहरी ॥७॥

रक्त तथा मूत्रसे व्याप्त, मलसे भरे हुए माताके पेटमें रहता हुआ जड़देह तथा [मल-मूत्रसे] सना हुआ [अर्थात् उस गन्दगीका अनुभव न करनेवाला] मैं अपने भजन करनेके कार्य-क्षम होकर अत्यन्त दुःखी हूँ। इसलिए हे कृपासागर कृष्ण, आप मेरे ऊपर कृपा करें।

अथवा जैसे—हे नरकासुरके नाशक [कृष्ण मागधयमेन अर्थात्] शिशुपाल रूप यम-राजने, नाकको बन्द करा देनेवाले दुर्गन्धके कारण अत्यन्त विकट कीड़ोंसे भरे हुए, दरवाजे पर पड़े हुए रोगियोंके समुदायके कारण जिसमें नेत्रोंकी आयु भी समाप्त हो गई है [अर्थात् जिसमें अँधेरेके कारण कुछ भी दिखलाई नहीं देता है] इस प्रकारके कारागार नामक नरकमें हमको डाल रखा है। हम केवल आपका स्मरण करके ही जैसे-तैसे जीवित रहे हैं।

कृष्णके प्रति प्रेम होनेपर ही मन भली प्रकारसे प्रवित्र होता है। और तनिक-सी भी बुराई [अहृद्यता] होनेपर क्षेमको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

गौणरस निरूपणका उपसंहार—

हमने हास्यादिका जो गौणरूपमें भी वर्णन किया है वह प्राचीनोंके मतानुसार ही किया है। यह बात विद्वानोंको समझ लेनी चाहिए ॥ ८ ॥

[हमारे अपने मतमें तो वास्तवमें] शान्त आदि प्रकारके मुख्यभक्तिरस ही कृष्णभक्ति के रस हैं। हासादि [अन्य गौणरस] इनमें व्यभिचारिभावत्वको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

भक्तिरसामृतसिन्धुमें गौणभक्तिरसनिरूपणपरक उत्तरविभागमें सातवीं बीभत्सभक्तिरसलहरी समाप्त हुई ॥ ७ ॥

अथ अष्टमी मैत्रीवैरस्थिति भक्तिरस लहरी

अथामीषां क्रमेणैव शान्तादीनां परस्परम् ।
मित्रत्वं शात्रवत्वं च रसानामभिधीयते ।।१।।
शान्तस्य प्रीतबीभत्सधर्मवीराः सुहृद्वराः ।
अद्भुतश्चैष विज्ञेयः प्रीतादिषु चतुर्ष्वपि ।।२।।
द्विषन्नस्य शुचिर्युद्धवीरो रौद्रोभयानकः ।
सुहृत्प्रीतस्य बीभत्सः शान्तो वीरद्वयं तथा ।।३।।
वैरी शुचिर्युद्धवीरो रौद्रश्चैकविभावकः ।
प्रेयसस्तु शुचिर्हास्यो युद्धवीरः सुहृद्वराः ।।४।।

अथ अष्टमी मैत्री-वैरस्थिति भक्तिरस लहरी

इन शान्त आदि रसोंको क्रमसे ही मित्रत्व तथा शत्रुत्वका वर्णन [इस अष्टमी लहरी में अब प्रारम्भ] करते हैं ।। १ ।।

रसोंका यह मित्रत्व तथा शत्रुत्व १ मुख्य अंगीरसका अनुभव करनेवाले कृष्णभक्तगत २ स्वयं कृष्णगत, ३ प्रथम कहे हुए कृष्णभक्तके मित्र रूप दूसरे भक्त, ४ शत्रु तथा ५ उदासीनगत रूपसे अभिप्रेत हैं। इनमेंसे मुख्य अंगीरसका किसी अनुचित व शत्रु रूपके साथ मिलनेसे उसकी प्रतीतिमें विघात उत्पन्न होता है। और अनुकूल मित्ररसके साथ मिलनेसे उसका परिपोष होता है। इसलिए इस मैत्री तथा विद्वोधस्थितिका विशेष महत्त्व है।

मुख्य भक्तिरसका निरूपण करनेवाले पश्चिमविभागमें शान्त, प्रीतप्रेयोभक्तिरस तथा मधुरभक्ति रूपसे पाँच प्रकारके मुख्यभक्तिरसोंका विवेचन किया था। उसी क्रमसे यहाँ पहले उन मुख्यभक्तिरसोंके मित्र तथा शत्रुभूत गोणरसोंको दिखलाते हैं।

शान्तरसके १ प्रीत, २ बीभत्स, तथा ३ धर्मवीर ये [तीन रस] मित्ररस हैं। और प्रीत आदि चारोंमें अद्भुत रसको उत्तम मित्ररस मानना चाहिए ।। २ ।।

पश्चिमविभागकी प्रथम लहरी कारिका ९-१० में शान्तभक्तोंके आत्माराम तथा तपस्वी रूप दो भेद किये थे। यहाँ प्रीत, बीभत्स, तथा धर्मवीरको शान्तका मित्ररस कहा है। इनमेंसे बीभत्स तथा धर्मवीर तपस्वी शान्तके मित्रवर हैं। आत्माराम शान्तके साथ इनका सुहृद्भाव नहीं है।

शुचि [अर्थात् शोक अर्थात् करुणरल] युद्धवीर तथा भयानकरस इस [शान्तःरस]के वैरी हैं।

प्रीतभक्तरसके मित्र बीभत्स, शान्त तथा [धर्मवीर, दानवीर रूप] दो प्रकारके वीररस मित्ररस हैं ।। ३ ।।

शुचि [अर्थात् करुणरस] से युद्धवीर [एकविभावकः अर्थात् कृष्णसे उत्पन्न] कृष्ण विभावक रौद्ररस [इस प्रीतिभक्तिरस] का वैरी रस है।

करुण, हास्य तथा युद्धवीर प्रेयोभक्तिरसके मित्रवर हैं। वत्सल, बीभत्स और [पू

द्विषो वत्सलबीभत्सरौद्रा भीष्मश्च पूर्ववत् ।
वत्सलस्य सुहृद्धास्या करुणो भीष्मभित्तथा ॥५॥

शत्रुः शुचिर्युद्धवीरः प्रीतो रौद्रश्च पूर्ववत् ।
शुचेर्हास्यस्तथः प्रेयान् सुहृदस्य प्रकीर्त्तितः ॥६॥

द्विषो वत्सलबीभत्सशान्तरौद्रभयानकाः ।
प्राहुरेकेऽस्य सुहृदं वीरयुग्मं परे रिपुम् ॥७॥

मित्रं हास्यस्य बीभत्सः शुचिः प्रेयान्सवत्सलः ।
प्रतिपक्षस्तु करुणस्तथा प्रोक्तो भयानकः ॥८॥

अद्भुतस्य सुहृद्वीरः पञ्च चान्तादयस्तथा ।
प्रतिपक्षो भवेदस्य रौद्रो बीभत्स एव च ॥९॥

वीरस्य त्वद्भुतो हास्यः प्रेयान् प्रीतस्तथा सुहृत् ।
भयानको विपक्षोऽस्य कस्यचिच्छान्त एव च ॥१०॥

करुणस्य सुहृद्रौ वत्सलश्च विलोक्यते ।
वैरी हास्योऽस्य सम्भोगश्शृङ्गारश्चाद्भुतस्तथा ॥११॥

वत् अर्थात् कृष्णविभावक [कृष्णसे उत्पन्न होने वाले] रौद्र तथा भयानक [प्रेयोभक्तिरसके] शत्रुरस हैं ॥ ४ ॥

हास्य, करुण तथा [भीष्मभित् अर्थात्] विरोधिहेतुक भयानकभेद मित्रवर हैं। शुचि, युद्धवीर, प्रीत तथा [पूर्ववत् अर्थात् कृष्णविभावक रौद्ररस [वत्सलके] शत्रु हैं ॥ ५ ॥

इस शुचिके मित्ररस हास्य तथा प्रेयोभक्ति माने जाते हैं। वत्सल, बीभत्स, शान्त, रौद्र तथा भयानक [शुचिके] शत्रु कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

कुछ लोग [धर्मवीर तथा दानवीर रूप] दो वीररसोंको इस [शुचि] का मित्र बतलाते हैं और दूसरे उन्हें इसका शत्रु मानते हैं ॥ ७ ॥

बीभत्स, शुचि, प्रेयान् तथा वत्सल हास्यके मित्ररस हैं। करुण तथा भयानक इसके प्रतिपक्ष अर्थात् शत्रुरस हैं ॥ ८ ॥

वीररस तथा शान्तादि पांच [मुख्यभक्तिरस] अद्भुतरसके मित्रवर माने जाते हैं। रौद्र तथा बीभत्स इस [अद्भुतरस] के प्रतिपक्षी [शत्रुरस] हैं ॥ ९ ॥

अद्भुत, हास्य, प्रेयान् तथा प्रीत वीररसके मित्ररस हैं। भयानक इस [वीररस] का विपक्षी [शत्रुरस] है। और किसीके मतमें केवल शान्त ही [इसका अर्थात् वीररसका विरोधी रस है ॥ १० ॥

रौद्र तथा वत्सल करुणरसके मित्र पाए जाते हैं। हास्य, सम्भोग, शृङ्गार तथा अद्भुतरस इस [करुण रस] के वैरी हैं ॥ ११ ॥

रौद्रस्य करुणः प्रोक्तो वीरश्चापि सुहृद्वरः ।
प्रतिपक्षस्तु हास्योऽस्य शृङ्गारो भीषणोऽपि च ॥१२॥
भयानकस्य बीभत्सः करुणश्च सुहृद्वरः ।
द्विषस्तु वीरशृङ्गारहास्यरौद्राः प्रकीर्त्तिताः ॥१३॥
बीभत्सस्य भवेच्छान्तो हास्यः प्रीतस्तथा सुहृत् ।
शत्रुः शुचिस्तथा प्रेयान् ज्ञेया युक्तया परे च ते ॥१४॥
कथितेभ्यः परे ये स्युस्ते तटस्थाः सतां मताः ।

तत्र सुहृत कृतम्—

सुहृदोमिश्रणं सम्यगास्वाद्यं कुरुते रसम् ॥१५॥
द्वयोस्तु मिश्रणे साम्यं दुःशकं स्यात्तुलाधृतम् ।
तस्मादङ्गाङ्गिभावेन मेलनं विदुषां मतम् ॥१६॥
भवेन्मुख्योऽथ वा गौणो रसोऽङ्गी किल यत्र सः ।
कर्त्तव्यं तत्र तस्याङ्गं सुहृदेव रसो बुधै ॥१७॥
अथालिङ्गत्वं प्रथमतो मुख्यानामिह लिख्यते ।
अङ्गतां यत्र सुहृदो मुख्या गौणाश्च बिभ्रति ॥१८॥

करुण तथा वीर रौद्ररसके उत्तम मित्र माने जाते हैं। हास्य, शृङ्गार तथा भयानक इस [रौद्ररस] के प्रतिपक्ष [शत्रुरस] हैं ॥ १२ ॥

बीभत्स तथा करुण भयानकरसके मित्रवर कहे जाते हैं। वीर, शृङ्गार, हास्य तथा रौद्र इस [भयानक रस] के शत्रुरस माने जाते हैं ॥ १३ ॥

शान्त, हास्य तथा प्रीतरस बीभत्सरसके मित्र होते हैं। शुचि तथा प्रेयान् और युक्तिके अनुसार कुछ अन्य रस [परे च ते] भी इसके शत्रुरस हैं ॥ १४ ॥

इन कारिकाओंमें जिनको मित्र या शत्रु रूपमें कहा गया है उन] कथित रसोंको छोड़कर शेष रस तटस्थ [अर्थात् उदासीनरस] समझने चाहिए।

अब मित्ररसोंका कार्य [बतलाते हैं]—

मित्ररसोंके साथ मिश्रण रसके विशेष सुन्दर रूपसे आस्वाद योग्य बनता है ॥१५॥

[मित्ररसों] के मिश्रणमें तोलकर मिलाया हुआ जैसा साम्य सम्भव नहीं है। इस-लिए विद्वान् लोग अंगागिभवसे ही [दो मित्ररसों] का मेल न मानते हैं ॥ १६ ॥

जहाँ मुख्य [शान्तादि पाँच प्रकारके मुख्य भक्तिरसोंमेंसे] अथवा [हास्यादि सात प्रकारके गौण भक्तिरसोंमेंसे कोई] गौणरस अंगीरस [अर्थात् प्रधानरस रूप में निबद्ध] हो वहाँ उसके अंगरूपमें उसके मित्ररसको ही प्रस्तुत करना चाहिए ॥ १७ ॥

अब यहाँ पहले [पांच प्रकारके शान्तादि] मुख्यरसोंकी अंगिता [अर्थात् प्रधानता का उल्लेख करते हैं। जिसमें उनके मित्ररूप [शान्तादि पांच प्रकारके] मुख्य तथा [हास्यादि

तत्र शान्तेऽङ्गिनि प्रीतस्याङ्गता यथा—

जीवस्फुलिङ्गवन्हेर्महसो घनचित्स्वरूपस्य ।
तस्य पदाम्बुजयुगलं किं वा संवाहयिष्यामि ॥६७४॥

अत्र मुख्येऽङ्गिनि मुख्यस्याङ्गता,
तत्रैव वीभत्सस्य यथा—

अहमिह कफशुक्रशोणितानां-
पृथुकुतुपे कुतुकी रतः शरीरे ।
शिव शिव परमात्मनो दुरात्मा
सुखवपुषः स्मरणेऽपि मन्थरोऽस्मि ॥६७५॥

अत्र मुख्य एव गौणस्य,
तत्रैव प्रीतस्याद्भुतवीभत्सयोश्च यथा—

हित्वाऽस्मिन् पिशितोपनद्धरुधिरक्लिन्ने मुदं विग्रहे
प्रीत्युत्सिक्तमनाः कदाऽहमसकृद् दुस्तर्कचर्य्याऽऽस्पदम् ।
आसीनं पुरटासनोपरि परं ब्रह्माम्बुदश्यामलं-
सेविष्ये चलचारुचामरमरुत्सञ्चारचातुर्य्यतः ॥६७६॥

सात प्रकारके] गौणरस अंगरूप होते हैं ॥ १८ ॥

उनमेंसे शान्तरसके अंगसे [अर्थात् प्रधान रस है] होनेपर प्रीतकी अंगता [का उदाहरण] जैसे—

जीव रूप स्फुलिंगके [जनक] वन्हि [अर्थात् जीव जिसका अंशभूत है इस प्रकारके अंशीभूत भगवान्] के घनरूप [अर्थात् कृष्णरूप] जो विद्रूप ब्रह्म उनके चरणकमलोंकी सेवा का सौभाग्य क्या मुझे मिलेगा ।

इसमें मुख्यरस ही अंगी और मुख्य ही अंग है । [अर्थात् पाँच प्रकारके मुख्यभक्ति रसोंमें शान्त तथा प्रीत दोनों रस आते हैं । उनमेंसे यहाँ प्रीतरस शान्तरसका अंग है । इसलिए मुख्यरस मुख्यरसका अग है इस प्रकारका यह उदाहरण है] ।

इसी [मुख्यरूप शान्तरस] में [गौण रूप] बीभत्सरसकी [अंगताका उदाहरण] जैसे—

मैं कफ, शुक्र, शोणितकी बड़ेसे कुप्पा रूप शरीरमें तो खूब रमण करता रहा किन्तु सुखस्वरूप परमात्माके स्मरण करनेको भी मैं दुरात्मा तैयार नहीं हूँ । ऐसे मुझको धिक्कार है ।

इसमें मुख्य [शान्तरस] में ही गौण [बीभत्सरसकी अंगता है]—

उसी [मुख्यशान्तरस] में प्रीत [रूप मुख्य तथा] तथा अद्भुत एवं बीभत्स [रूप गौण] की [अंगताका उदाहरण] जैसे—

मास और रुधिरसे सने हुए इस शरीरमें आनन्द लेना छोड़कर मैं कब प्रसन्नताके साथ स्वर्ण-सिंहासनके ऊपर बैठे हुए और [दुस्तर्क्यचर्यास्पदम् अर्थात्] जिसकी सेवाकी कल्पना भी कठिन है इस प्रकारके मेघके समान श्यामल वर्ण [कृष्णरूप] ब्रह्मको बार-बार हिलते हुए सुन्दर चँवरकी वायुके संचार द्वारा सेवा कर सकूँगा ।

अत्र मुख्य एव मुख्यस्य गौणयोश्च,

अथ प्रीते शान्तस्य यथा—

निरविद्यतया सपद्यहं निरवद्यः प्रतिपद्य माधुरीम् ।
अरविन्दविलोचनं कदा प्रभुमिन्दीवरसुन्दरं भजे ॥६७७॥

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,

तत्रैव वीभत्स यथा—

स्मरन् प्रभुपदाम्भोजं नटन्नटति वैष्णवः ।
यस्तु दृष्ट्या पद्मिनीनामपि सुष्ठु हृणीयते ॥६७८॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,

तत्रैव वीभत्सशान्तवीराणां यथा—

तनोति मुखविक्रियां युवतिसङ्गरङ्गोदये
न तृप्यति न सर्वतः सुखमये समाधावपि ।
न सिद्धिपु च लालसां वहति दीयमानास्वपि
प्रभो ! तव पदार्चने परमुपैति तृष्णां मनः ॥६७९॥

अत्र मुख्ये मुख्यस्य गौणयोश्च,

इसमें मुख्य [शान्तरस] में मुख्य [प्रीति] तथा [अद्भुत एवं बीभत्सरूप] दो गौण-रसोंकी [अंगता है] ।

अब प्रीत [रूप मुख्य रस] में शान्त [रूप मुख्यरस] की [अंगताका उदाहरण] जैसे—

अविद्यासे हीन होकर और इसीलिए सुन्दर माधुरी युक्तमें इन्दीवरके सदृश [नील-वर्ण] और कमलनेत्र भगवान् [कृष्ण] की सेवा कब कर सकूंगा ।

इसमें मुख्य [प्रीतरस] में मुख्य [शान्तरस] की [अंगता पाई जाती है] ।

उसी [प्रीतरस रूप मुख्यरस] में बीभत्स [रूप गौणभक्तिरस] की [अंगताका उदा-हरण] जैसे—

जो पद्मिनी [अत्यन्त सुन्दर स्त्रियों] की दृष्टिको देखकर भी अत्यन्त लज्जित हो जाता है इस प्रकारका यह विष्णुभक्त [वैष्णवः] भगवान्के चरणकमलोंका स्मरण करके नाचता हुआ घूम रहा है ।

इसमें मुख्य [प्रीतरस]में गौण [बीभत्सरस] की अंगता पाई जाती है] ।

उसी [मुख्य प्रीतरस] में बीभत्सरूप [गौण] शान्त [रूप मुख्य] तथा वीर [रूप गौणरसों] की [अंगताका उदाहरण] जैसे—

हे प्रभो, मेरा यह मन युवतियोंके संग रूप प्रसन्नताके अवसरोंके उपस्थित होनेपर भी मुख सिकोड़ लेता है । सुखमय समाधिमें भी सर्वथा तृप्त न होता हो सो बात नहीं है [अर्थात् समाधिमें अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है] । सिद्धियोंके प्रदान किए जानेपर भी उनकी इच्छा नहीं करता है । केवल आपके चरणकमलोंकी पूजा करनेमें अत्यन्त उत्सुक रहता है ।

इसमें मुख्य [प्रीतरस] में एक [शान्तरूप] एक मुख्य तथा [बीभत्स एवं वीर रूप] दो गौणरसोंकी [अंगता पाई जाती है] ।

अथ प्रेयसि शुचेर्यथा—

धन्यानां किल मूर्द्धन्याः सुबलामूव्रजाबलाः।
अधरं पिञ्छचूलस्य चलाश्चुलकयन्ति याः ॥६८०॥

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,
तत्रैव हास्यस्य यथा—

दृशोस्तरलितैरलं व्रज निवृत्य मुग्धे ! व्रजं—
वितर्कयसि मां यथा न हि तथाऽस्मि किं भूरिणा।
इतीरयति माधवे नवविलासनीं छद्मना
ददर्श सुबलो वलद्विकचदृष्टिरस्याननम् ॥६८१॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,
तत्रैव शुचिहास्ययोर्यथा—

मिहिरदुहितुरुद्यद्वञ्जुलं मञ्जुतीरं
प्रविशति सुबलोऽयं राधिकावेषगूढः।
सरभसमभिपश्यन् कृष्णमभ्युत्थितं यः
स्मितविकसितगण्डं स्वीयमास्यं वृणोति ॥६८२॥

अत्र मुख्ये मुख्यगौणयोः,

अब प्रेयो [रूप मुख्यरस] में शुचि [अर्थात् मधुरभक्तिरस] की [अंगताका उदाहरण] जैसे—

हे सुबल, हे व्रजांगनाएँ परम धन्य हैं जो चञ्चल होकर मोरमुकुटधारी [कृष्ण] के अधरका पान करती हैं।

यहाँ मुख्य [प्रेयोरस] में मुख्य [शुचि अर्थात् मधुरभक्तिरस] की अंगता पाई जाती है]।

उसी [प्रेयोभक्तिरस] में हास्य [रूप गौणरस] की [अंगताका उदाहरण] जैसे—

अरी भोली, तू इन कटाक्षोंको करना छोड़कर चुपचाप ब्रजको चली जा। तू मुझको जैसा समझ रही है मैं वैसा नहीं हूँ। अधिक [करनेसे या अधिक यत्न करनेसे] से क्या लाभ है। नवीन विलासकी इच्छा रखनेवाली [किसी गोपी] के प्रति कृष्णको ऐसा कहते हुए सुनकर जबरदस्ती जिसका मुख [हँसीके मारे] खिला जा रहा था इस प्रकारके सुबलने कृष्णके मुख की ओर देखने लगा।

यहाँ मुख्य [प्रेयोरस] में गौण [हास्यरस] की [अंगता वर्णित है]।

उसी [प्रेयोभक्तिरस] में शुचि [अर्थात् मधुरभक्तिरस] तथा हास्यकी [अंगता] का उदाहरण जैसे—

जिसमें बेंतकी लताएँ उग रही हैं इस प्रकारके सुन्दर यमुनाके तीरपर राधिकाका वेष धारण किये हुए यह सुबल प्रविष्ट हो रहा है जो [राधिका समझकर] वेग झपटकर उठ खड़े हुए कृष्णको देखकर जिसका मुख मुस्कराहटसे खिल उठा है इस प्रकारका होकर अपने मुखको ढक लिया।

यहाँ मुख्य [प्रेयोभक्तिरस] में मुख्य [शुचि अर्थात् मधुरभक्तिरस] तथा गौण [हास्य] दोनोंकी [अंगता पाई जाती है]।

अथ वत्सले करुणस्य—

निरातपत्रः कान्तारे सन्ततं मुक्तपादुकः ।
वत्सानवति वत्सो मे हन्त सन्तप्यते मनः ॥६८३॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,

तत्रैव हास्यस्य यथा—

पुत्रस्ते नवनीतपिण्डमतनुं मुष्णन् मान्तर्गृहा—
द्विन्यस्यापससार तस्य कणिकां निद्राणडिम्भानने ।
इत्युक्ता कुलवृद्धया सुतमुखे दृष्टिं विभुग्नभ्रुणि
स्मेरां निक्षिपती सदा भवतु वः क्षेमाय गोष्ठेश्वरी ॥६८४॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,

तत्रैव भयानकाद्भुतहास्यकरुणानां यथा—

कम्प्रास्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे स्फारेक्षणा तुङ्गिते
सव्ये दोष्णि विकासिगण्डफलका लीलाऽस्यभङ्गीशते ।
बिभ्राणस्य हरेर्गिरीन्द्रमुदयद्बाष्पा चिरोर्ध्वस्थितौ
पातु प्रस्नवसिच्यमानसिचया विश्वं व्रजाधीश्वरी ॥६८५॥

अत्र मुख्ये चतुर्णां गौणानाम्,

अब वत्सल में करुणको [अंगता का उदाहरण देते हैं] जैसे—

हाय मेरा बालक, जंगल में सदा नंगे पैर तथा छाते से रहित से ही गौओं को चराया करता है। इससे मेरा मन बड़ा दुःखी होता है।

यहाँ मुख्य [वत्सल रस] में गौण [करुण रस] की [अंगता पाई जाती है]।

[वत्सल रस में] हास्य की [अंगताका उदाहरण] जैसे—

तुम्हारा पुत्र मेरे घरके भीतरसे बड़ेसे मक्खनके टुकड़ेको चुरा कर उसका कुछ किनका सोते हुए मेरे बच्चेके मुखमें लगा कर भाग गया है [ताकि चोरीमें यह मेरा पुत्र कृष्ण पकड़ा जाय। वास्तवमें इसने चोरी नहीं की है] कुलवृद्धाके द्वारा ऐसा कहे जाने पर जिसकी भौंहें तिरछी हो रही हैं इस प्रकारके पुत्र [कृष्ण] के मुखकी ओर मुस्कराकर देखती हुई गोपेश्वरी [यशोदा] सदा तुम्हारी रक्षा करे।

यहाँ मुख्य [वत्सलरस] में गौण [हास्यरस] की [अंगता पाई जाती है]।

उसी [वत्सलरस] में भयानक, अद्भुत, हास्य तथा करुण [रूप अनेक गौणरसों] की [अंगता का उदाहरण] जैसे—

[गोवर्धन पर्वतको धारण किये हुए कृष्णको] सुन्दर केशपाशके नीचे पसीना देखकर कम्पयुक्त, [दाहिना हाथ थक जानेपर पर्वतको] बाएं हाथ पर उठाए देखकर [स्फारेक्षणा अर्थात्] विस्मित हुई, नाना प्रकारकी मुखमुद्राओंको देखकर जिसके गालोंपर प्रसन्नता झलक उठी है, और बहुत देर तक [पर्वतको लेकर] खड़े देखकर जिसकी आंखोंमें आंसू आ गए हैं; पर्वतको लिए हुए देखकर अश्रुपूरित नेत्रोंवाली तथा बहुत देर तक खड़े हुए देखकर जिसके स्तनोंसे दूध बह निकला है इस प्रकारकी व्रजेश्वरी [यशोदा] सदा संसारकी रक्षा करें।

यहाँ मुख्य [वत्सलरस] में [भयानक, अद्भुत, हास्य तथा करुण रूप] चार गौण-

केवले वत्सले नास्ति मुख्यस्य खलु सौहृदम् ।
अतोऽत्र वत्सले तस्य नतरां लिखिताऽङ्गता ॥१६॥

अथोज्ज्वले प्रेयसो यथा—

मद्वेषशीलिततनोः सुबलस्य पश्य
विन्यस्य मञ्जुभुजमूर्ध्नि भुजं मुकुन्दः ।
रोमाञ्चकञ्चुकजुषः स्फुटमस्य कर्णे
सन्देशमर्पयति तन्वि ! मदर्थमेव ॥६८६॥

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,

तत्रैव हास्यस्य यथा—

स्वसाऽस्मि तव निर्दये ! परिचिनोषि न त्वं कुतः
कुरु प्रणयनिर्भरं मम कृशाङ्गि ! कण्ठग्रहम् ।
इति ब्रुवति पेशलं युवतिवेषगूढे हरौ
कृतं स्मितमभिज्ञया गुरुपुरस्तदा राधया ॥६८७॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,

तत्रैव प्रेयोवीरयोर्यथा—

मुकुन्दोऽयं चन्द्रावलिवदनचन्द्रे चटुलभे
स्मरस्मेरामाराद् दृशमसकलामर्पयति च ।
भुजामंसे सख्युः पुलकिनि दधानः फणनिभा-
मिभारिक्ष्वेडाभिर्भूषदनुजमुद्योजयति च ॥६८८॥

रसोंकी [अंगता दिखलाई देती है] ।

केवल वत्सलरस ऐसा है जिसमें किसी मुख्यरसकी मित्रता नहीं है । इसलिए यहाँ वत्सलरसमें किसी [मुख्यरस] की अंगता नहीं दिखलाई है ॥ १६ ॥

अब [उज्ज्वल अर्थात्] मधुरभक्तिरस [अर्थात् श्रृङ्गाररस] में प्रेयोरसकी [अंगता का उदाहरण] जैसे—

हे तन्वि, देख तो मेरा [अर्थात् राधाका] वेष बनाकर अपने शरीरको छिपाए हुए सुबलके कन्धे पर हाथ रखकर यह कृष्ण और पुलकित होकर कुछ मुझसे सम्बद्ध बात ही उसके कानोंमें कह रहे हैं ।

इसमें मुख्य [मधुरभक्तिरस] में मुख्य [प्रेयोरस] की [अंगता दिखलाई गई है ।]

उसी [मधुरभक्तिरस] में हास्यकी [अंगताका उदाहरण] जैसे—

अरी निर्दये [राधे] क्या तू पहचानती नहीं है कि मैं तेरी बहन हूँ । इसलिए हे कृशांगि खूब जोरसे लिपट जा । [युवतीका वेष धारण किये हुए कृष्णके इस प्रकार सुन्दर रूपसे बोलने पर गुरुजनोंके सामने जो [यह कृष्ण ही युवतिवेषमें आया इस] रहस्यको जानने वाली राधा मुस्कराने लगी ।

यहाँ मुख्य [मधुरभक्तिरस] में गौण [हास्यरस] की [अंगता दिखलाई गई है] ।

उसी [मधुरभक्तिरस] में प्रेयो तथा वीर दोनोंकी [अंगता] जैसे—

देखो, यह कृष्ण चञ्चल कान्ति वाले चन्द्रावलीके मुखके ऊपर कामावेशसे विकसित

अत्र मुख्ये मुख्यगौणयोः,

अथ गौणानामङ्गिता—

हास्यादीनां तु गौणानां यदुदाहरणं कृतम् ।
तेनैषामङ्गिता व्यक्ता मुख्यानां च तथाऽङ्गता ॥२०॥
तथाऽप्यल्पविशेषाय किञ्चिदेव विलिख्यते ।

अथ हास्येऽङ्गिनि शुचेरङ्गता यथा—

मदनान्धतया त्रिवक्रया प्रसभं पीतपटाञ्चले धृते ।
अदधाद्विनतं जनाग्रतो हरिरुत्फुल्लकपोलमाननम् ॥६८६॥

अत्र गौणेऽङ्गिनि मुख्यस्याङ्गता,

वीरे प्रेयसो यथा—

सेनान्यं विजितमवेद्य भद्रसेनं—
मां योद्धुं मिलसि पुरः कथं विशाल !
रामाणां शतमपि नोद्भटोग्रधामा
श्रीदामा गणयति रे ! त्वमत्र कोऽसि ॥६६०॥

अत्रापि गौणेऽङ्गिनि मुख्यस्य,

हुई अपनी अधूरी [कटाक्ष रूप] दृष्टिको डाल रहे हैं और [दूसरी ओर] मित्रके कन्धेके ऊपर हाथ रखकर गजोंको भी भयभीत करनेवाले सिंहनादों [इभानां अरयोविद्राविका याः क्ष्वेडाः सिंहनादाः] के द्वारा दनुजको ललकार रहे हैं [युद्धके लिए उत्साहित कर रहे हैं]।

यहाँ मुख्य [मधुरभक्तिरस] में एक मुख्य [प्रेयोरस] और एक अमुख्य [वीररस] की [अंगता दिखलाई गई है]।

अब गौणरसोंकी अंगिता [और मुख्यरसोंकी अंगता दिखलाते हैं]—

गौण हास्यादि रसोंके जो उदाहरण [ऊपर] दिखलाए गए हैं उनसे इन [गौणरसों] की अंगिता [अर्थात् प्रधानत्व] तथा मुख्यरसोंमें भी [उनके प्रति] अंगता प्रकट ही है ॥२०॥

फिर कुछ विशेषता दिखलानेके लिए यहाँ संक्षेपमें फिर लिखते हैं।

उनमेंसे हास्य [रूप गौणरस] के अंगी [अर्थात् प्रधान रस] होनेपर उसमें मधुरभक्ति [रूप मुख्यरस] की अंगता [का उदाहरण] जैसे—

मदनान्ध हुई त्रिवक्रा [अथवा कुब्जा] के द्वारा पीताम्बरका छोर पकड़े जानेपर कृष्णने लोगोंके सामने ही अपने पुलकित मुखको नीचे झुका दिया।

यहाँ गौण [हास्यरस] के प्रधान होनेपर मुख्य [शुचि या मधुरभक्तिरस] की [अगता दिखलाई गई है]।

वीर [रूप गौणरस] में प्रेयो [रूप मुख्यरस] की [अंगताका उदाहरण] जैसे—

अरे, विशाल [नामक गोप] अपने सेनापति [अर्थात् नेता] भद्रसेनको हारा हुआ देखकर अब तुम क्यों लड़नेके लिए सामने आ रहे हो। उद्भट और अत्यन्त तेजस्वी यह श्रीदामा [अर्थात् मैं] सैकड़ों बलरामोंको भी कुछ नहीं गिनता हूँ। तुम कौन हो !

यहाँ भी [वीररूप] गौणरसके [अंगी अर्थात्] प्रधान होनेपर मुख्य [प्रेयोरस] की [अंगता दिखलाई गई है]।

रौद्रे प्रेयोवीरयोर्यथा—

यदुनन्दननिन्दनोद्धतं शिशुपालं समरे जिघांसुभिः।
अतिलोहितलोचनोत्पलैर्जगहे पाण्डुसुतैर्वरायुधम् ॥६६१॥

अत्र गौणे मुख्यगौणयोः

अद्भुते प्रेयोवीरहास्यानां यथा—

मित्रानीकवृतं गदायुधि गुरुंमन्यं प्रलम्बद्विषं।
यष्ट्या दुर्बलया विजित्यपुरतः सोल्लुण्ठमुद्गायतः॥
श्रीदाम्नः किलवीक्ष्य केलिसमराटोपक्रमे पाटवं।
कृष्णः फुल्लकपोलकः पुलकवान् विस्फारदृष्टिर्बभौ ॥६६२॥

अत्र गौणे मुख्यस्य गौणयोश्च—

एवमन्यस्य गौणस्य ज्ञेया कविभिरङ्गिता।
तथाऽत्र मुख्यगौणानां रसानामङ्गताऽपि च ॥२१॥
सोऽङ्गी सर्वातिगो यः स्यान्मुख्यो गौणोऽथ वा रसः।
स एवाङ्गं भवेदङ्गिपोषी संचारितां व्रजन् ॥२२॥

रौद्ररसमें प्रेयो तथा वीररसकी [अंगताका उदाहरण] जैसे—

हे यदुनन्दन, [आपकी] निन्दा करनेके कारण उद्धत शिशुपालको युद्धमें मारनेके लिए तत्पर तथा अत्यन्त रक्तनेत्रों वाले पाण्डवोंने [शिशुपालको मारनेके लिए] अस्त्र उठा लिए।

यहाँ गौण [रौद्ररस] में मुख्य [प्रेयो] तथा गौण [वीररस] की [अंगता दिखलाई गई है]।

अद्भुतमें प्रेयो, वीर तथा हास्यकी [अंगताका उदाहरण] जैसे—

मित्रोंके समुदायसे घिरे हुए और अपनेको गदायुद्धका गुरु समझनेवाले बलरामको पतली-सी छड़ीसे ही जीतकर और अभिमानपूर्वक उसका गान करते हुए श्रीदामाके क्रीड़ा-युद्धकी चतुरताको देखकर विकसित कपोल वाले पुलकित तथा विस्तृत आँखोंसे युक्त कृष्ण शोभित हो रहे थे।

यहाँ गौण [अद्भुतरस] में मुख्य [प्रेयोरस] तथा गौण, [वीर तथा हास्य] की [अंगता दिखलाई गई है]।

एतावतीमेव विधाय टीकामाचार्यविश्वेश्वरनामधेयाः।
गीर्वाणवाणीविदुषां वरेण्याः कथावशेषत्वप्रथां प्रयाताः॥
तदसमाप्तिजं दुःखं विनिभाल्य विपश्चिताम्।
शास्त्रिवंशीधरेणासौ व्याख्येतः पूर्यते मया॥

पूर्वोक्त प्रकारके अनुसार इस प्रकरणमें कवियों [विद्वानों] द्वारा गौण [अप्रमुख] रसकी अंगिता [प्रधानता] तथा मुख्य एवं गौण रसोंकी अंगता [अप्रधानता] भी जाननी चाहिए ॥२१॥

जो मुख्य अथवा गौण रस सर्वाधिक मात्रामें रहता है वह रस अङ्गी [प्रधान] होता है, तथा जो मुख्य या गौण रस संचारिभावको प्राप्त होकर अंगी रसकी पुष्टि करता है वह

तथा च नाट्याचार्य्याः पठन्ति—

"एक एव भवेत्स्थायी रसो मुख्यतमो हि यः।
रसास्तदनुयायित्वादन्ये स्युर्व्यभिचारिणः॥"

श्रीविष्णुधर्मोत्तरे च—

"रसानां समवेतानां यस्य रूपं भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः" इति।

स्तोकाद्विभावनाज्जातः सम्प्राप्य व्यभिचारिताम्।
पुष्णन्निजप्रभुं मुख्यं गौणस्तत्रैव लीयते ॥२३॥

ही अंग माना जाता है ॥२२॥

तात्पर्य यह है कि शान्तादि पाँच भेद वाला मुख्य भक्ति रस ही सर्वत्र प्रधान होता हो, तथा अमुख्यतया प्रतिपादित हास्यादि सात भेद युक्त भक्तिरस सर्वत्र अप्रधान ही रहता हो यह नियम नहीं है, किन्तु जो मुख्य अथवा गौण रस काव्यमें दृश्यमान रसोंमें सबसे अधिक मात्रामें रहता है वह प्रधान होता है एवं संचारिभावताको प्राप्त जो मुख्य या अमुख्य अन्य रस (प्रधान रस) का परिपोष करता है वह अंग माना जाता है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि अनेक स्थायी भावोंके समुदायमें जो,स्थायी भाव विभावादिसे अन्योंकी अपेक्षा अधिक परिपुष्ट होता है वह ही 'रस' पदसे कहा जाता है तथा अन्योंको जो कि उसका परिपोष करते हैं, संचारिभाव कहा जाता है क्योंकि एक स्थल पर एक कालमें अनेक रस नहीं रह सकते हैं।

यहाँ ज्ञातव्य यह भी है कि संचारिभावताको प्राप्त भी उसका 'रस' पदसे व्यवहार 'ब्राह्मण श्रमण' न्यायसे होता है। 'ब्राह्मण श्रमण' न्यायका तात्पर्य यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण बौद्ध धर्म स्वीकार कर 'श्रमण' हो जाता है तो भी (श्रमण होने पर भी जबकि उसमें ब्राह्मणत्व नहीं रहता है) उसे 'ब्राह्मण श्रमण' कह कर निर्दिष्ट किया जाता है, उसी प्रकार स्थायिभावोंको जबकि वे संचारिभावकी अवस्थामें रहते हैं अंगरस कहा जाता है।

इसमें प्रमाणस्वरूप दो वाक्योंका उल्लेख करते हैं :

जैसा कि नाट्यशास्त्रके आचार्य कहते हैं—

जो स्थायिभाव मुख्यतम होता है, एकमात्र वह ही स्थायी 'रस' होता है। अन्य स्थायी भाव उसके अनुयायी होनेसे व्यभिचारी होते हैं।

और भी, श्रीविष्णुधर्मोत्तरमें कहा है—

एकत्र मिले हुए स्थायिभावोंमें जिसका स्वरूप अधिक होता है उस स्थायिभावको ही 'रस' मानना चाहिए एवं शेष भाव व्यभिचारिभाव माने जाते हैं।

पूर्व श्लोकमें रसताको अप्राप्त भी भावोंके लिए जो 'रस' पदका प्रयोग किया गया है, वह 'रसनाद् रसाः' इसके अनुसार हुआ है। इस व्युत्पत्तिसे रस, रसाभास, भाव एवं भावाभास भी 'रस' पदसे कहे जा सकते हैं।

अब मुख्य एवं गौण रसोंकी अंगतामें वैषम्य दिखलाते हैं :—

अल्प विभावादिसे उत्पन्न गौण रस व्यभिचारिभावताको प्राप्त कर अपने स्वामी मुख्य रसकी पुष्टि करता हुआ उसी मुख्य रसमें लीन हो जाता है ॥२३॥

प्रोद्यन्विभावनोत्कर्षात्पुष्टिं मुख्येन लम्भितः ।
कुञ्चता निजनाथेन गौणोऽप्यङ्गित्वमश्नुते ।।२४।।
मुख्यस्त्वङ्गत्वमासाद्य पुष्णन्निन्द्रमुपेन्द्रवत् ।
गौणमेवाङ्गिनं कृत्वा निगूढनिजवैभवः ।।२५।।
अनादिवासनोद्भासवासिते भक्तचेतसि ।
भात्येव न तु लीनः स्यादेष संचारिगौणवत् ।।२६।।
अङ्गं मुख्यः स्वमत्राङ्गैर्भावैस्तैरभिवर्द्धयन् ।
सजातीयैर्विजातीयैः स्वतन्त्रः सन् विराजते ।।२७।।
यस्य मुख्यस्य यो भक्तो भवेन्नित्यनिजाश्रयः ।
अङ्गी स एव तत्र स्यान्मुख्योऽप्यन्योऽङ्गतां व्रजेत् ।।२८।।

[गौणके] विभावनकी अधिकता होनेसे स्वयं संकुचित होते हुए अपने स्वामी मुख्यरस के द्वारा पुष्टिको प्राप्त कराया गया गौण रस भी अङ्गिता [प्रधानता] को प्राप्त कर लेता है ।। २४ ।।

विष्णु भगवान् जैसे अपने वैभवको छिपाकर इन्द्रकी सहायता करते हैं, उसी तरह मुख्य रस स्वयं अपने वैभवको छिपाता हुआ तथा स्वयं अंगताको प्राप्त कर एवं गौणको ही अंगी [प्रधान] बनाकर उसका परिपोष करता हुआ, अनादिवासनासे वासित [युक्त] भक्तके हृदयमें भासित होता ही है । यह संचारी गौण रसके समान लीन नहीं होता ।।२५-२६।।

ऐसे स्थलों पर मुख्य रस अंगभूत सजातीय एवं विजातीय भावोंसे अंगरसकी पुष्टि करता हुआ स्वतन्त्र रूपसे सुशोभित होता है ।।२७।।

जिस मुख्य रसका जो भक्त नित्य आश्रय होता है, वहाँ [उस भक्तके लिए] वह ही रस अंगी [प्रधान] होता है तथा अन्य मुख्य भी अंगताको प्राप्त हो जाता है ।।२८।।

रसोंकी अप्रधानता या प्रधानता विभावादि सामग्रीके आधीन होती है, अतः जिस स्थल पर मुख्य भक्तिरसकी अपेक्षा गौणरसकी विभावादि सामग्री अल्प मात्रामें उपलब्ध होती है वहाँ गौणरस व्यभिचारिभावताको प्राप्त कर एवं अपने स्वामीकी पुष्टि करता हुआ उसी मुख्य रसमें लीन भी हो जाता है ।

इसी प्रकार जहाँ मुख्य रसकी अपेक्षा गौणरसकी विभावादि सामग्री अधिक मात्रामें उपलब्ध होती है, वहाँ विभावनके आधिक्य से स्वयं संकुचित अपने स्वामी मुख्यरसके द्वारा पुष्टिको प्राप्त गौणरस भी प्रधान हो जाता है ।

'उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः' इस कोश-वाक्यके प्रमाणानुसार भगवान् विष्णु इन्द्रके छोटे भाई माने जाते हैं, अतः बलवीर्यादिमें इन्द्रसे प्रधानताको धारण करते हुए भी वे जिस प्रकार अपने वैभवको गुप्त करते हुए इन्द्रकी सहायता करते हैं, अर्थात् इन्द्रके ही महत्त्वको प्रदर्शित करते हैं; उसी प्रकार मुख्य भक्ति रस भी अपने प्रभावको छिपाकर तथा स्वयं अप्रधानताको प्राप्त करके गौणरसको प्रधान बनाकर भी अनादि वासनापूर्ण

किञ्च—

आस्वादोद्रेकहेतुत्वमङ्गस्याङ्गत्वमङ्गिनि ।
तद्विना तस्य सम्पातो वैफल्यायैव कल्पते ॥२९॥
यथा मृष्टरसालायां यवसादेः कथंचन ।
तच्चर्वणे भवेदेव सतृणाभ्यवहारिता ॥३०॥

भक्ति हृदयमें भासित होता ही है, यह संचारिभावताको प्राप्त गौणरसके समान प्रधानमें लीन नहीं होता है।

इस प्रकार मुख्य एवं गौणरसकी अप्रधानतामें अन्तर यह हुआ कि गौणरस जहाँ अंग होता है वहाँ प्रधानभूत मुख्य रसमें लीन हो जाता है, अर्थात् मुख्यके अतिरिक्त प्रतीत नहीं होता किन्तु दूधमें पानीकी भाँति उसीमें मिल जाता है। परन्तु मुख्य भक्तिरस जहाँ अंग होता है वहाँ वह प्रधानता प्राप्त गौणरसमें लीन नहीं होता किन्तु अलग प्रतीत होता है।

जैसे विवाह-यात्रामें वर ही प्रधान होता हैं, उस स्थान पर अन्य सामान्य जन वर-यात्रामें मिले रहने पर अलग प्रतीत नहीं होते, परन्तु राजा इत्यादि प्रधान पुरुष यदि वर-यात्रामें सम्मिलित हो जाते हैं तो वरकी प्रधानताको पुष्ट करते हुए भी स्वयं पृथक् प्रतीत होते ही हैं। यह ही मुख्य एवं गौणरसकी अंगतामें अन्तर है। ऐसे स्थलों पर जहाँ कि मुख्य रस अंग तथा गौण रस अंगी होता है वहाँ सजातीय एवं विरोधी रसोंके अतिरिक्त विजातीय रसोंसे अंगीभूत गौणरसकी पुष्टि करता हुआ भी मुख्य रस स्वतन्त्र ही प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त एक नियम यह भी है कि जिस भक्तके हृदयमें जिस मुख्य रसकी वासना रहती है, उस स्थल पर यदि वह रस अंग होता हैं, तो भी प्रधान हो जाता है एवं अंगीभूत भी अन्य रस अंग हो जाता है।

पहले शान्तादि भेदयुक्त प्रधान भक्तिरस एवं अप्रधान भक्तिरसके पृथक्-पृथक् भक्त बतलाये हैं, जैसे शान्तिभक्तरसके आत्माराम सनक सनन्दनादि एवं तापसजन।

किसी प्रकारकी भक्तिसे परिपूर्ण हृदय भक्त जब आस्वादक होता है तब वह भक्त जिस प्रकारकी भक्तिसे युक्त होता है वह (रस) यदि काव्यादिमें अप्रधान होता है तब भी उस भक्त के लिए वह प्रधान ही प्रतीत होता है, एवं प्रधान होते हुए भी अन्य रस अप्रधान होता है।

इस प्रकार अंगांगिभावका निरूपण करनेके बाद अब अंगिताका फल प्रधान रसके आस्वादोद्रेकताका हेतुत्व ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी अन्य फल नहीं है यह विवेचन करते हैं।

और भी—

अंगीरसमें आस्वादकी वृद्धि करना ही अंगरसकी अंगता है। उसके [अंगिरसमें आस्वाद वृद्धि के] बिना अंगरस का सम्मिश्रण विफल हो जाता है ॥२९॥

जैसे स्वच्छतासे बनाये हुए अमरस [आमके रससे निर्मित मिष्ठान्न विशेष] में यदि भूसा आदि गिर पड़े तब उसके आस्वादमें बाधा ही होती है ॥३०॥

अथ वैरिकृत्यम्—

जनयत्येव वैरस्यं रसानां वैरिणा युतिः ।
सुमृष्टपानकादीनां क्षारतिक्तादिना यथा ।।३१।।

तथा हि—

ब्रह्मज्ञाया निष्फलम् मे व्यतीतः
कालो भूयान् हा समाधिव्रतेन ।
सान्द्रानन्दं तन्मया ब्रह्म मूर्त्तं-
कोणेनाक्ष्णः साचिसव्यस्य नैक्षि ।।९९३।।

अब यह है कि यथा लोकमें प्रधानकी सहायता करने वाला ही अप्रधान सार्थक होता है, उसी प्रकार शास्त्रमें भी व्यवस्था है कि जो अंग रस अंगिरसकी आस्वाद वृद्धिका कारण होता है, वह ही अंगरस सार्थक होता है, अन्यथा अंगरसका मिलना निष्फल ही होता है ।

उदाहरण, अन्वय एवं व्यतिरेक दो प्रकारके होते हैं, यहाँ इसमें व्यक्तिरेक उदाहरण देते हैं कि जैसे साफ़ अमरस (रसालस्य इयं रसाला) में यदि भूसाका कोई कण भी मिल जाये तब उसके चबानेसे आस्वाद भंग ही होता है ।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि प्रधानमें पुष्टि न करनेवाला रस ग्रन्थकारकी दृष्टिमें केवल व्यर्थ ही नहीं है, प्रत्युत आस्वादमें बाधक भी है । अतः वह सर्वथा त्याज्य है ।

अब विरोधी रसके कार्यको बताते हैं—

विरोधी रससे रसोंका सम्मेलन विरसता [कटुता] को उसी प्रकार उत्पन्न कर देता है जैसे कि स्वच्छ पानकादि रसमें क्षार एवं कड़वे पदार्थोंका मिश्रण ।।३१।।

जैसे कि मधुर रस प्रधान पानक रसमें यदि लवण रस प्रधान क्षार इत्यादि अथवा कड़वे पदार्थ मिल जाएँ तो उससे विरसता हो जाती है, उसी प्रकार विरोधी रसोंका प्रकृत रसमें सम्मिश्रण विरसता ही उत्पन्न कर देता है ।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इस प्रकरणमें जोकि रसके आस्वादमें वृद्धि या हानि यह व्यवहार किया गया उसमें यह भी शंका होती है कि रस एवं आस्वाद ये दोनों तो 'रस्यते इति रस, आस्वाद्यते इति आस्वाद' इस व्युत्पत्तिसे एक ही हैं तब अलग-अलग व्यवहार कैसे संगत होता है । इसका समाधान यह है कि 'राहोः शिरः' इत्यादि स्थलोंके सदृश, यहाँ भी अभिन्न पदार्थमें भेद विवक्षासे षष्ठी प्रयुक्त है ।

'राहोः शिरः' का तात्पर्य यह है कि राहु तो केवल शिरमात्रका ही नाम है, इस प्रकार राहु एवं शिर भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं, प्रत्युत अभिन्न ही हैं ।

किन्तु फिर भी, अभेदमें भेद विवक्षासे काल्पनिक भेद कर 'राहोः शिरः' इत्यादि वाक्य जैसे प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार आस्वाद एवं रस दोनोंके अभिन्न होने पर भी काल्पनिक भेद कर दिया गया है ।

जैसे कि—

हाय ! ब्रह्मज्ञान सम्पन्न मेरा बहुत-सा समय समाधिव्रतसे व्यर्थमें ही बीत गया जो कि मैंने अपने दक्षिण नेत्रके तिरछे कोने [कटाक्ष] से वह आनन्दघन मूर्त्त ब्रह्म [श्रीकृष्ण] नहीं देखा ।९९३।

अत्र शान्तस्योज्ज्वलेन वैरस्यम्,

क्षणमपि पितृकोटिवत्सलं तं-
सुरमुनिवन्दितपादमिन्दिरेशम्।
अभिलषति वराङ्गनानखाङ्कैः
स्फुरिततनुम् प्रभुमीक्षितु मनो मे ॥६६४॥

अत्र प्रीतस्योज्ज्वलेनैव,

दोर्भ्यामर्गलदीर्घाभ्यां सखे ! परिरभस्व माम्।
शिरः कृष्ण ! तवाघ्राय विहरिष्ये ततस्त्वया ॥६६५॥

अत्र प्रेयसो वत्सलेन,

यं समस्तनिगमाः परमेशं-
सात्त्वतास्तु भगवन्तमुशन्ति।
तं सुतेति वत साहसिकीं त्वां-
व्याजिहीर्षतु कथं मम जिह्वा ॥६६६॥

यहाँ शान्तका उज्ज्वलसे संयोग होनेसे विरसता है।

इस पद्यमें पूर्वार्धसे शान्तभक्तिरस एवं उत्तरार्धसे उज्ज्वल रस प्रतीत होता है, किन्तु उज्ज्वल रस शान्तका विरोधी है, अतः शान्तका उज्ज्वलसे योग होनेसे विरसता उत्पन्न हो गयी है।

यहाँ 'सव्यं वामे पि' दक्षिणो इस विश्वकोशके अनुसार सव्यका दक्षिण (दाहिना) अर्थ किया गया है।

पिताके समान वत्सल या करोड़ों पिताओंके समान वत्सल, देवता एवं मुनियोंसे वन्दित चरण एवं लक्ष्मीपति उन प्रभु [श्रीकृष्ण] को श्रेष्ठ स्त्रियोंके नखक्षतोंसे शोभित शरीरवाले रूपमें क्षणमात्र भी देखनेको मेरा मन चाहता है।६६४।

यहाँ प्रीतका उज्ज्वलसे संयोग है।

प्रस्तुत पद्यमें पूर्वार्धसे प्रीतरस एवं उत्तरार्धसे उज्ज्वल रस प्रतीत होता है। ये दोनों आपसमें विरोधी हैं। अतः प्रीतका उज्ज्वलसे संयोग विरसता उत्पन्न कर रहा है।

हे मित्र अर्गलाके समान लम्बे हाथोंसे मेरा आलिंगन करो। अनन्तर हे कृष्ण तेरे शिरको सूँघकर तेरे साथमें विहार करूँगा।६६५।

यहाँ प्रेयका वत्सलसे योग है।

यहाँ 'सखे' इस सम्बोधन तथा मिलनेकी प्रार्थनासे प्रेयोरस तथा उत्तरार्धमें केवल नाम के सम्बोधन एवं शिर सूँघनेकी क्रियासे वत्सल रस प्रतीत होता है।

ये परस्पर विरोधी हैं, अतः प्रेयरसका वत्सलसे संयोग विरसता वह ही है।

सम्पूर्ण वेद जिनको 'परमेश' कहते हैं एवं पंचरात्र [वैष्णवतन्त्र] सिद्धान्तानुयायी वैष्णव जिनको 'भगवान्' कहते हैं, उन तुमको साहसिक मेरी जिह्वा 'बेटा' इस प्रकार कहने की इच्छा कैसे करे ?।६६६।

अत्र वत्सलस्य प्रीतेन,

तडिद्विलासतरला नवयौवनसम्पदः ।
अद्यैव दूति ! तेन त्वं मया रमय माधवम् ॥६६७॥

अत्रोज्ज्वलस्य शान्तेन—

चिरं जीवेति संयुज्य का चिदाशीभिरच्युते ।
कैलासस्था विलासेन कामुकी परिषष्वजे ॥६६८॥

अत्र शुचेर्वत्सलेन,

शुचेः सम्बन्धगन्धोऽपि कथं चिद्यदि वत्सले ।
क्व चिद्भवेत्ततः सुष्ठु वैरस्यायैव कल्पते ॥३२॥

यहाँ प्रीतका वत्सलसे—

यहाँ पूर्वार्धमें प्रीत तथा उत्तरार्धमें वत्सल रस प्रतीत होता है, अतः यहाँ वत्सलका प्रीतके साथ संयोग विरसताजनक ही है ।

हे दूती ! बिजलीके विलास [चमकने] के सदृश ही नौजवानीकी सम्पत्ति है । अतः आज ही तू मेरे साथ माधवका रमण करा दे ।६६७।

यहाँ उज्ज्वलका शान्तसे [योग है] ।

पूर्वार्धमें यौवन सम्पत्तिकी अतीव अस्थिरता प्रतिपादन करनेसे शान्तरस प्रतीत होता है तथा उत्तरार्धमें रमण प्रार्थनासे उज्ज्वल, अतः विरोधी शान्तके योग से उज्ज्वलकी विरसता हो गई है ।

किसी कैलास स्थित कामिनीने बहुत दिन तक जीओ, इस प्रकार आशीर्वाद देकर अच्युतका विलासपूर्वक आलिंगन कर लिया ।६६८।

यहाँ शुचिका वत्सलसे [योग है] ।

यहाँ पूर्वार्धमें आशीर्वाद प्रदानादिसे वत्सल रस प्रतीत होता है एवं उत्तरार्धमें आलिंगनसे शुचि रस ।

ये दोनों रस परस्पर विरोधी हैं, अतः एकत्र इन दोनोंका संयोग विरसता उत्पन्न कर रहा है ।

श्रीकृष्ण व्रजमें थे तब उनका कैलाश स्थित कामिनीसे किस प्रकार संयोग हो गया—इस शंकाका समाधान इस प्रकार है ।—व्रजमें समस्त तीर्थोंका निवास है, यह पौराणिकोंका मत है । उस मतानुसार व्रजमें तत्तत्स्थलों पर तत्तत्तीर्थ बने हुए हैं ।

उसी परम्परानुसार 'कामवन' के पास कैलास नामक स्थान भी है । यहाँ उसी कैलाससे तात्पर्य है न कि हिमालय स्थित कैलाससे ।

दूसरे—'केलीनां समूह कैलं, कैलमास्ते अस्मिन्निति कैलासो यौवनं तस्मिन् तिष्ठतीति कैलासस्था' इस प्रकार कैलासस्था का अर्थ यौवनसम्पन्न भी हो सकता है ।

किन्तु इस प्रकारकी क्लिष्ट कल्पनासे पूर्वोक्त समाधान ही रुचिकर है ।

अन्य रसोंके संयोगकी अपेक्षा वत्सलमें शुचिके संयोगकी असाधारण विशेषता बताते हैं ।

शुचिका यदि वत्सलमें सम्बन्ध गन्ध भी होता है तो उससे विरसता ही उत्पन्न हो जाती है ॥ ३२ ॥

पिशिताम्रमयी नाहं सत्यमस्मि तवोचिता।
स्वापाङ्गविद्धां श्यामाङ्ग ! कृपयाऽङ्गीकुरुष्व माम् ॥६६६॥

अत्र शुचेर्बीभत्सेन,

एवमन्याऽपि विज्ञेया प्राज्ञै रसविरोधिता।
प्रायेणेयं रसाभासकक्षायां पर्य्यवस्यति ॥३३॥

अन्य विरोधियोंके संयोगके अतिरिक्त वत्सलमें यदि शुचिरसके सम्बन्धीकी गन्ध भी आ जाती है तो उससे एकदम विरसता उत्पन्न हो जाती है।

इसमें कारण यह है कि वत्सलका आलम्बन पुत्रादि तथा शुचिका आलम्बन पति होता है, अतः एक ही व्यक्तिमें पुत्रत्व एवं पतित्व इन दो विरुद्ध धर्मोंका थोड़ा भी समावेश होनेसे सहृदयके हृदयमें अनौचित्यजन्य विरसता उत्पन्न हो जाती है।

हे श्यामांग, यह सत्य है कि मांस-शोणितमयी मैं तेरे योग्य नहीं हूँ तथापि अपने कटाक्षोंसे वेधी हुई मुझे कृपापूर्वक स्वीकार कर लो।६६६।

यहाँ शुचिका बीभत्ससे—

मांस-रक्तमयी स्त्री आलम्बन होनेसे बीभत्स प्रतीत होता है तथा अपने कटाक्षविद्ध मुझे स्वीकार कर लो इस प्रार्थनासे शुचिरस प्रतीत होता है।

अतः यहाँ शुचिका बीभत्ससे योग वैरस्यजनक है। इनकी विरोधतामें कारण यह है कि बीभत्सका स्थायी है जुगुप्सा तथा शुचिका स्थायी है रति।

अतः जिससे हम जुगुप्सा (घृणा) करते हैं, उससे प्रेम कभी नहीं कर सकते, अतः इनके परस्पर योगसे विरसता ही उत्पन्न हो जाती है।

इसी प्रकार विद्वानों द्वारा अन्य भी रसोंकी विरोधिता जाननी चाहिये। यह रस-विरोधिता प्रायः रसाभास श्रेणीमें अन्तर्भूत हो जाती है ॥३३॥

रसोंके विरोधके अन्य उदाहरण भी विद्वानों द्वारा समझ लेने चाहिएँ।

इस स्थलपर यह शंका होती है कि इस रसविरोधिताका अन्तर्भाव कहाँ होता है क्योंकि इसमें विरसता रहती है, अतः इसका रसमें तो अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इसलिए ग्रन्थकार इस विषयमें अपना मत प्रकट करते हैं कि प्रायः यह 'रसाभास' श्रेणीमें सन्निविष्ट हो जाती है।

यहाँ प्रायः पद ग्रहणसे तात्पर्य यह है कि अन्य कुछ आचार्य इसको रसाभाससे भी अधम श्रेणीमें मानते हैं पर ग्रन्थकार इसको रसाभास कक्षामें ही मानते हैं।

इसको रसाभास कक्षामें ही माननेमें ग्रन्थकारका आशय यह है कि 'एकदेश विकृत-मनन्यवत्' इस न्यायानुसार जैसे पूँछके टूट जानेसे घोड़ेकी उपादेयतामें न्यूनता भले ही आ जाये परन्तु वह रहता घोड़ा ही है, गधा नहीं हो जाता, ठीक उसी प्रकार विरोधी दो रसोंके मिलनेसे रसोंकी उपादेयतामें न्यूनता आ जानेसे वे प्रथम श्रेणीमें न रहकर 'रसाभास' नामक द्वितीय श्रेणीमें आ जाते हैं परन्तु उससे अधम कक्षामें नहीं चले जाते।

इस प्रकार रसोंकी विरुद्धता तथा उससे उत्पन्न विरसताका प्रतिपादन करनेके बाद अब इसका परिहार बतलाते हैं कि कहाँ एवं किस प्रकार दो विरोधी रसोंके समावेशसे विरसता नहीं होती है।

किञ्च—

द्वयोरेकतरस्येह बाध्यत्वेनोपवर्णने ।
स्मर्य्यमाणतयाऽप्युक्तौ साम्येन रचनेऽपि च ॥३४॥
रसान्तरेण व्यवधौ तटस्थेन प्रियेण वा ।
विषयाश्रयभेदे च गौणेन द्विषता सह ॥३५॥
इत्यादिषु न वैरस्यं वैरिणोर्जनयेद्युतिः ।

तत्रैकतरस्य बाध्यत्वेन वर्णने यथा विदग्धमाधवे—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते ।
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः ।
यस्य स्फूर्त्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥१०००॥

और भी—

यहाँ दो [विरोधी रसों] के मध्यमें एक विरोधी रसका बाध्यतासे वर्णन करनेपर, स्मर्यमाण रूपसे कहनेपर, समानतासे रचना करनेपर, तटस्थ [उदासीन] या प्रिय [सुहृद] रसके द्वारा व्यवधान होने पर विरोधी गौणरसके साथ विषय या आश्रयका भेद कर देनेपर इत्यादि [स्थलों] में विरोधी दो रसोंका संयोग विरसता उत्पन्न नहीं करता है ॥३४-३५॥

प्रथम रसोंका परस्पर विरोध निरूपण कर चुके हैं, अब उनका परिहार बतलाते हैं। रसोंके विरोध भी अनेक प्रकारसे होते हैं, अतः जिनका जिस प्रकार समावेश करनेसे विरोध होता है, उससे भिन्न प्रकारसे उनका संयोग करनेसे वह विरोध हट जाता है। इसके प्रमुख प्रकार निम्नांकित हैं—

१. विरोधी दो रसोंमेंसे एकका बाधक रूपसे तथा दूसरेका बाध्य रूपसे वर्णन करने से विरोध नहीं रहता।
२. विरोधी रसका स्मरण-विषयक वर्णन करने पर भी विरोध नहीं रहता। (इसमें विरोधाभावका कारण यह है कि जब दो विरुद्ध रस वर्तमान रहते हैं तब भी उनका विरोध हो सकता है किन्तु जब एक रस स्मरण विषयमें (भूतावस्थामें) रहता है तब उसका वर्तमान अन्य रससे विरोध कैसे सम्भव है।)
३. समानता से प्रतिपादन करने पर विरुद्ध दो रसोंका विरोध हट जाता है।
४. जिन दो रसोंका अव्यवहित वर्णन करने पर विरोध है, उनके मध्यमें अन्य किसी उदासीन या दोनोंके प्रिय (मित्र) रसके समावेशसे भी विरोध समाप्त हो जाता है।
५. गौणविरुद्ध रसका विषय या आश्रय अलग कर देने पर भी विरोध हट जाता है।

इत्यादि प्रकारोंसे समावेश हो जाने पर विरोधी रसोंमें विरसता नहीं होती।

वहाँ एकके बाध्यतासे वर्णनमें [विरोध परिहारमें] उदाहरण जैसे विदग्धमाधवमें—

मुनि मनको विषयोंसे हटाकर जिसमें लगाना चाहता है, यह बाला [अपने] मनको उससे हटाकर विषयोंमें लगाना चाहती है। हन्त [बड़े आश्चर्यकी बात है] कि योगी हृदयमें

बाध्यत्वमत्र शान्तस्य शुचेरुत्कर्षवर्णनात् ॥३६॥

स्मर्यमाणत्वे यथा—

स एष वैहासिकताविनोदै-
र्व्रजस्य हासोद्गमसंविधाता।
फणीश्वरेणाद्य विकृष्यमाणः
करोति हा नः परिदेवनानि ॥१००१॥

साम्येन वचने यथा—

विश्रान्तषोडशकला निर्विकल्पा निरावृतिः।
सुखात्मा भवती राधे! ब्रह्मविद्येव राजते ॥१००२॥

जिसके स्फूर्तिलव [चमक] के लिए उत्सुक है, देखो यह मुग्धा अपने हृदयसे उसको निकालना चाहती है।१०००।

यहाँ शुचिके उत्कर्ष वर्णन करनेसे शान्तकी बाध्यता है ॥३६॥

तात्पर्य यह है कि यहाँ क्रमसे प्रथम पादमें शान्त, द्वितीयमें शुचि, तृतीयमें पुनः शान्त तथा चतुर्थमें शुचि वर्णित हैं। अतः शुचिका उत्कर्ष वर्णन होनेसे शान्त बाधित है।

स्मर्यमाणतामें [विरोधका अभाव] जैसे

सर्पराज कालियके द्वारा खींचा जा रहा, विदूषकता और विनोदोंसे व्रजका हासोत्पत्ति करने वाला [अर्थात् व्रजको हँसाने वाला] वह यह श्रीकृष्ण हाय आज हमको क्लेश दे रहा है ॥१००१॥

यहाँ हास एवं करुण दो प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु इनमें भूतकाल विषयक होनेसे हास का तो स्मरण किया जा रहा है, अतः वह स्मर्यमाण है, किन्तु करुण रस वर्तमान कालविषयक होनेसे प्रस्तुत है। यद्यपि इन दोनों में विरोध है, यह पहले वतला चुके हैं, तथापि हासके स्मर्यमाण होनेसे तथा करुणके प्रस्तुत होने से विरोध नहीं होता।

समतासे प्रतिपादन करनेमें [विरोधी रसोंके विरोधका अभाव] जैसे—

हे राधे जिसमें सोलह कला विश्रान्त हो रही हैं, ऐसी, विकल्पसे रहित एवं आवरण से शून्य तथा सुखात्मा आप ब्रह्मविद्याके समान सुशोभित हो रही हैं ॥१००२॥

यहाँ राधा एवं ब्रह्मविद्या में श्लेषके द्वारा समता दिखाई गई है, अतः इसका अलग अलग अर्थ इस प्रकार है। राधा पक्ष में—विश्रान्त षोडश कला—

श्रृंगारादि सोलह कलायें जिसमें विश्रान्त हैं [अर्थात् श्रृंगारादि सोलहों कलाओंकी आश्रयभूत], निर्विकल्पों—किसी भी प्रकारके विकल्पसे रहित [अर्थात् प्रत्यक्ष देखनेसे किसी तरहके सन्देहसे रहित] निरावृत्तिः लतादिके व्यवधानसे रहित, सुखात्मा-सुखस्वरूपा।

यहाँ लतादि आवरणका न होना ही विकल्पके अभाव में कारण है क्योंकि कोई भी इन्द्रिय निम्नांकित आतद्रूर्णदवाधाओंके अतिरिक्त स्थलमें ही विषयका ग्रहण कर सकता है।

जैसा कि कहा है—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रिय घातान्मनोनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥

—"सांख्यकारिका"

यथा वा—

राधा शान्तिरिवोन्निद्रं निर्निमेषेक्षणं च माम् ।
कुर्वती ध्यानलग्नं च वासयत्यद्रिकन्दरे ॥१००३॥

रसान्तरेण व्यवधौ यथा—

त्वं काऽसि शान्ता किमिहान्तरिक्षे
द्रष्टुं परं ब्रह्म कुतस्तताक्षी ।
अस्यातिरूपात् किमिवाकुलात्मा
रम्भे ! समारम्भि भिदा स्मरेण ॥१००४॥

अत्राद्भुतेन व्यवधिः,

विषयभिन्नत्वे यथा श्रीदशमे—

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥१००५॥

ब्रह्मविद्या पक्ष में—

[विश्रान्त षोडशकला]—

जिसमें षोडशकलात्मक लिंग शरीर विश्रान्त हो गया है, [निर्विकल्पा] एवं भेदसे रहित, [निरावृत्ति] सत्वादिगुणोंके आवरणसे रहित, सुखस्वरूप ।

यहाँ शान्त एवं शृंगार दोनोंका समानतासे वर्णन किया है । अतः विरोधी भी इन दोनों रसोंका साम्यतासे वर्णन करनेसे विरोधका अभाव हो गया है ।

अथवा

शान्तिके समान राधा मुझे उन्निद्र, अपलक दृष्टि वाला एवं ध्यानमें लग्न बनाती हुई, पर्वतकी गुफामें रखवा रही है ॥१००३॥

यहाँ पूर्ववत् शान्त एवं शुचि [शृंगार] दोनोंका समानतासे वर्णन किया गया है, अतः दोनों विरोधी रसोंका एकत्र समावेश होने पर भी विरोधका अभाव हो गया है ।

दूसरे रसके मध्यमें आनेसे [विरोधका अभाव], जैसे—

हे रम्भे तुम कौन हो और यहाँ अन्तरिक्ष में शान्त होकर परब्रह्म को देखने के लिए क्यों और कहां से नेत्र फैलाये हुए इनके (कृष्ण के) अधिक रूप के कारण व्याकुल आत्मा वाली हो गई हो और कामदेव ने (तुम्हारे हृदयको) विदीर्ण करना प्रारम्भ कर दिया है ॥१००४॥

यहाँ (शान्त के बाद शृंगार आ गया है, किन्तु रूप की अधिकता जन्य) अद्भुत के कारण (दोनों में) व्यवधान आ गया है ।

[विरोधी रसोंकी] भिन्न विषयतामें [विरोधका अभाव] जैसे दशम स्कन्धमें—

जो तेरे चरण कमलके मकरन्दको न सूँघने वाली मूढ़ स्त्री है वह ही, ऊपर त्वचा श्मश्रु, लोम, नख एवं केशोंसे आवृत, तथा भीतर मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, कफ, वात, पित्त से परिपूर्ण जीवित शवको (पुरुषको) कान्तभावसे (अच्छा समझकर) भजती है ॥१००५॥

यथा वा विदग्धमाधवे—

तस्याः कान्तद्युतिनि वदने मञ्जुले चाक्षियुग्मे
तत्रास्माकं यदवधि सखे ! दृष्टिरेषा निविष्टा ।
सत्यं ब्रूमस्तदवधि भवेदिन्दुमिन्दीवरं च ।
स्मारं स्मारं मुखकुटिलताकारिणीयं ह्रणीया ॥१००६॥

उभयत्र शुचिवीभत्सयोः,

आश्रयभिन्नत्वे यथा—

विजयिनमजितं विलोक्य रङ्ग—
स्थलभुवि सम्भृतसांयुगीनलीलम् ।
पशुपसवयसां वपूंषि भेजुः
पुलककुलं द्विषतां तु कालिमानम् ॥१००७॥

अत्र वीरभयानकयोः,

विषयाश्रयभेदेऽपि मुख्येन द्विषता सह ॥
सङ्गतिः किल मुख्यस्य वैरस्यायैव जायते ॥३७॥

यहाँ वीभत्स एवं शुचि दो रस प्रतीत हो रहे हैं । इनमें वीभत्सका आश्रय पति है एवं शुचिका आश्रय श्रीकृष्ण हैं । अतः आश्रय अलग-अलग होनेसे विरोधी दोनों रसोंका विरोध नहीं रहा ।

अथवा विदग्धमाधवमें—

हे मित्र, जबसे उसके सुन्दर कान्ति वाले मुख एवं मनोज्ञ नेत्रोंमें हमारी यह दृष्टि लगी है, हम सत्य कहते हैं तबसे चन्द्र एवं कमलको याद कर-करके यह मुखको कुटिल करने वाली लज्जा हो रही है ॥१००६॥

दोनों स्थलों पर शुचि तथा बीभत्सका विरोधाभाव है ।

यहाँ शुचि एवं वीभत्स दो रस प्रतीत हो रहे हैं ।

इनमें शुचि नायिका-विषयक एवं वीभत्स चन्द्र एवं कमलविषयक है । अतः विषय-भेद होनेसे दोनों विरोधी रसोंके विरोधका अभाव हो गया है ।

आश्रयके भेदसे [विरोधी रसोंके विरोधका अभाव] जैसे—

रंगस्थलकी भूमि पर [कंसके द्वारा आयोजित धनुषयज्ञादिकी स्थली पर] युद्धकी लीलासे सज्जित अजित श्रीकृष्णको विजयी देखकर मित्र ग्वालाओंके शरीर रोमांचको तथा शत्रुओंके शरीर कालिमा को प्राप्त हो गये ॥१००७॥

यहाँ वीर और भयानकका [विरोधाभाव है] । यहाँ वीरका आश्रय ग्वाला एवं भयानकके आश्रय शत्रु हैं । अतः आश्रय-भेदसे दोनों विरोधी रसोंका विरोध नहीं रहा ।

इस प्रकार विरोधाभाव निरूपण कर उसके अपरिहार्य स्थलोंका निर्देश करते हैं ।

विषय एवं आश्रयके भेद होने पर भी मुख्य विरोधीके साथमें मुख्यकी संगति निश्चय ही विरसताके लिए ही हो जाती है ॥३७॥

रस मुख्य एवं गौण दो प्रकारके होते हैं, यह पहले ही निरूपण हो चुका है । इनके

तत्र विषयभेदे यथा—

विमोचयार्गलाबन्धं विलम्बं तात ! नाचर ॥
यामि काश्यगृहं यूना मनः श्यामेन मे हृतम् ॥१००८॥

अत्र शुचेः प्रीतेन,

आश्रयभेदे यथा—

रुक्मिणीकुचकाश्मीरपङ्किलोरःस्थलं कदा ।
सदानन्दं परं ब्रह्म दृष्ट्या सेविष्यते मया ॥१००९॥

अत्र शान्तस्य शुचिना,

अनुरक्तधियो भक्ताः के चन ज्ञानवर्त्मनि ।
शान्तस्याश्रयभिन्नत्वे वैरस्यं नानुमन्वते ॥३८॥

किस प्रकारसे एकत्र होने पर विरोध नहीं होता, यह प्रसंग प्रस्तुत था, अब कहाँ विरोध रहता ही है यह बतला रहे हैं कि विरोधी गौणके विषय या आश्रय भिन्न हो जानेसे जैसे विरोध नहीं रहता, उसी प्रकार विषय या आश्रयके पृथक् होने पर भी यदि विरोधी मुख्य रसका समावेश हो जाता है, तो उससे विरसता ही हो जाती है ।

तात्पर्य यह है कि विषयाश्रय भेद हो जाने से जैसे विरोधी गौणकी संगतिमें विरोध का अभाव हो जाता है वैसे ही विषयाश्रय भेद होने पर भी विरोधी मुख्यकी संगतिमें विरोध रहता ही है, वह हटता नहीं है ।

वहाँ विषयभेद में [विरोधकी स्थिति] जैसे—

तात ! सांकल खोल दो, विलम्ब मत करो । सान्दीपनिके घर जाती हूँ क्योंकि युवक श्याम [श्रीकृष्ण] ने मेरा मन चुरा लिया है ॥१००८॥

यहाँ शुचिका प्रीतसे [विरोध है ही] ।

यहाँ प्रीतका विषय पिता एवं शुचिका विषय युवक श्याम है । इस प्रकार यद्यपि दोनों विरोधी रसोंका विषय अलग-अलग है तथापि ये मुख्य रस हैं, अतः विरोध रहता ही है ।

आश्रयके भेदमें [विरोधस्थिति] जैसे—

रुक्मिणीके स्तनोंकी केशरसे पंकिल वक्षस्थल वाले, सदानन्दस्वरूप, परब्रह्मको कब मैं दृष्टिसे सेवन करूँगा ।१००९।

यहाँ शान्तका शुचिसे [विरोध है ही]

यहाँ शुचिका आश्रय रुक्मिणी तथा शान्तका आश्रय वक्ता है । अतः दोनों विरोधी रसोंका आश्रय अलग-अलग है तथापि ये दोनों मुख्य रस हैं, अतः विरोध है ही ।

ज्ञानमार्गमें अनुरक्त बुद्धिवाले कुछ भक्त शान्तके आश्रय भिन्न होने पर विरसता नहीं मानते हैं ॥३८॥

ज्ञानमार्गमें लगी बुद्धिवाले कुछ भक्त यह मानते हैं कि शान्तका आश्रय जहाँ भिन्न हो जाता है वहाँ कोई भी विरसता नहीं होती है ।

किञ्च—

भृत्ययोर्नायकस्येव निसर्गद्वेषिणोरपि ।
अङ्गयोरङ्गिनः पुष्टौ भवेदेकत्र सङ्गतिः ॥३९॥

यथा—

कुमारस्ते मल्लीकुसुमसुकुमारः प्रियतमे !
गरिष्ठोऽयं केशी गिरिवदिति मे वेल्लति मनः ।
शिवं भूयात्पश्योन्नमितभुजमेधिर्मुहुरमुं-
खलं चुन्दन् कुर्य्यां व्रजमतितरां शालिनमहम् ॥१०१०॥

अत्र विद्विषौ वीरभयानकौ वत्सलं पुष्णीतः,

यथा वा—

"कम्प्रास्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे" इत्यादि ॥१०११॥

अत्र हास्यकरुणौ वत्सलमेव पुष्णीतः,

और भी—

स्वभावसे द्वेषी भी सेवकोंकी एकत्र संगति जैसे नायककी पुष्टिके ही लिए होती है, उसी प्रकार परस्पर विरोधी भी दो अंग [अप्रधान] रसोंकी एकत्र संगति मुख्य रसकी पुष्टि के लिए ही होती है ॥३९॥

तात्पर्य यह है कि जैसे किसी राज्यके सेनापति एवं मन्त्रीमें यदि परस्पर विरोध हो तो वे परस्पर विरोधी होते हुए भी राजाकी पुष्टि ही करते हैं, उसी प्रकार अमुख्य रस विरोधी होते हुए भी प्रधान रसका परिपोष ही करते हैं ।

जैसे [विरोधी अङ्ग रसों द्वारा प्रधानरसकी पुष्टि]—

प्रियतमे, तेरा कुमार चमेलीके पुष्पके समान कोमल है तथा यह केशी [कंस द्वारा श्रीकृष्णके वधके लिए प्रेषित दैत्य] पहाड़के समान गरिष्ठ है, अतः मेरा मन घबड़ा रहा है। कल्याण हो, देख भुजस्तम्भको उठानेवाला, इस दुष्टको मारता हुआ मैं व्रजको अत्यन्त श्लाघ्य कर दूंगा ।१०१०।

यहाँ परस्पर विरोधी वीर और भयानक वत्सलको ही पुष्ट कर रहे हैं ।

यहाँ वीर, भयानक, वत्सल ये तीन रस प्रतीत हो रहे हैं । इनके वीर तथा भयानक अप्रधान एवं परस्पर विरोधी रस हैं । वत्सल रस यहाँ प्रधान है ।

ऐसी अवस्थामें परस्पर विरोधी भी ये दोनों अप्रधान रस प्रधान वत्सलका ही परिपोष कर रहे हैं ।

कम्प्रास्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे—।१०११।

यहाँ हास्य एवं करुण वत्सलको ही परिपुष्ट कर रहे हैं ।

यहाँ हास्य, करुण और वत्सल ये तीन रस प्रतीत होते हैं । इनमें हास्य तथा करुण अप्रधान एवं परस्पर विरोधी रस हैं, एवं वत्सल प्रधान रस है । ऐसी स्थितिमें अप्रधान ये दोनों रस परस्पर विरोधी होते हुए भी प्रधान वत्सल रसकी ही पुष्टि कर रहे हैं ।

अपि च—

मिथो वैरावपि द्वौ यौ भावौ धर्म्मसुतादिषु ।
कालादिभेदात्प्राकट्यं तौ बिन्दन्तौ न दुष्यतः ॥४०॥

अधिरूढे महाभावे विरुद्धैर्विरसा युतिः ।
न स्यादित्युज्ज्वले राधाकृष्णयोर्दर्शितं पुरा ॥४१॥

क्वाप्यचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुषशेखरे ।
रसावलिसमावेशः स्वादायैवोपजायते ॥४२॥

तत्र रसानां विषयत्वे यथा ललितमाधवे—

दैत्याचार्यास्तदाऽऽस्ये विकृतिमरुणतां मल्लवर्य्याः सखायो-
गण्डौन्नत्यं खलेशाः प्रलयमृषिगणा ध्यानमुष्णास्रमम्बाः ।
रोमाञ्चं सांयुगीनाः कमपि नवचमत्कारमन्तः सुरेशा—
लास्यं दासाः कटाक्षं ययुरसितदृशः प्रेक्ष्य रङ्गे मुकुन्दम् ॥१०१२॥

और भी—

परस्पर विरोधी भी जो दो भाव युधिष्ठिर आदिमें कालादि भेदसे प्रकट होते हैं, वे दोषी नहीं होते ॥४०॥

युधिष्ठिरादिमें प्रीत, वात्सल्य, सख्य आदि परस्पर विरोधी भाव देखे जाते हैं, किन्तु उनका विरोध क्यों नहीं होता इस शंकाका समाधान ग्रन्थकार इस प्रकारसे करते हैं कि काल इत्यादिके भेद होनेसे वहाँ दोष नहीं होता ।

अर्थात् यदि एक ही समयमें दो विरुद्ध रस प्रतीत होते तो विरोध होता किन्तु वहाँ (युधिष्ठिरादिमें) तो भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न रस प्रतीत होते हैं, अतः दोष नहीं होता । यदि एक समयमें ही दो रस वर्तमान होते तो विरोध होता किन्तु एक की विद्यमानतामें दूसरेका अभाव दूसरेकी विद्यमानतामें प्रथमका अभाव है, अतः उनका विरोध कैसे हो सकेगा ?

महाभावके अधिरूढ़ होने पर विरोधियोंका संयोग विरसताजनक होता है किन्तु राधाकृष्णके उज्ज्वल रसमें नहीं होता है, यह पहले दिखा चुके हैं ॥४१॥

कहीं अचिन्तनीय महाशक्ति सम्पन्न महापुरुषोंके शेखरमें अनेक रसोंका समावेश आस्वादजनक ही होता है ॥४२॥

पूर्वोक्त रसोंके विरोध एवं अविरोधके विषयमें एक विशेष बात यह भी है कि अवर्णनीय महाशक्तियुक्त महापुरुष श्रेष्ठमें (श्रीकृष्णादिमें) अनेक रसोंका विषयतया अथवा आश्रयतया समावेश होने पर विरोधी रस समावेशसे उत्पन्न किंचिन्मात्र भी विरसता नहीं होती, प्रत्युत आस्वाद ही होता है ।

वहाँ रसोंकी विषयतामें [विरोधीभाव] जैसे ललितमाधवमें—

रंगभूमिमें मुकुन्दको देखकर कंसके आचार्य मुखमें विकारको, मल्लवर लालिमाको, मित्र गण्डस्थलकी उन्नतिको, दुष्ट लोग प्रलयको, ऋषि लोग ध्यानको, माता गरम-गरम

आश्रयत्वे यथा—

स्वस्मिन् धुर्य्येऽप्यमानी शिशुषु गिरिधृतावुद्यतेषु स्मितास्य-
स्थूत्कारी दध्नि विस्रे प्रणयिषु विवृतप्रौढिरिन्द्रेऽरुणाक्षः ।
गोष्ठे साश्रुर्विदूने गुरुषु हरिमखं प्रास्य कम्प्रः स पाया-
दासारे स्फारदृष्टिर्युवतिषु पुलकी बिभ्रदद्रिं विभुर्वः ॥१०१३॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे रसानां-मैत्रीवैरस्थितिलहरी ॥ ८ ॥



आँसुओंको, योद्धा रोमांचको, देवेश्वर अन्तः [मनमें] किसी नवीन चमत्कारको, दास लास्य को, और वनिता कटाक्षको प्राप्त हुई ।१०१२।

यहाँ दैत्याचार्योंने (कुवलयापीड़के मद, रक्त आदिसे युक्त होनेसे) बीभत्सका, मल्लोंने रौद्रका, सखाओंने हास्य एवं प्रेमका, दुष्टोंने भयका, ऋषियोंने शान्तका, माता देवकी आदि ने वत्सल तथा करुणका, योद्धाओंने वीरका, दासोंने दास्यका, स्त्रियोंने मधुरका अनुभव श्रीकृष्णको देखकर किया— ऐसा वर्णन है ।

किन्तु परस्पर विरोध आदिसे युक्त भी इन सब रसोंके विषय श्रीकृष्ण ही हैं ।

श्रीकृष्ण पूर्वोक्त लक्षणादियुक्त महापुरुष हैं, अतः इनमें अनेक विरुद्ध रसोंकी विषयता होने पर भी आस्वाद ही होता है । परस्पर विरोधी रसोंके एकत्र समावेशसे उत्पन्न विरसताका अनुभव किंचिन्मात्र भी नहीं होता ।

आश्रयतामें जैसे—

धुरन्धर भी अपने विषयमें अहंकाररहित, पहाड़के उठानेमें उद्यत बालकोंके विषयमें स्मितयुक्त, दुर्गन्धित दहीके विषयमें [दहीको देखकर] थूकनेवाला, प्रेमियोंके प्रेममें प्रौढ़ियुत, इन्द्रके विषयमें लाल नेत्रवाला, गोष्ठके विषयमें आँसुओंसे युक्त, इन्द्रके यज्ञका भंग कर गुरुओं के विषयमें कम्पयुत, वर्षाके विषयमें नेत्रोंको फैलानेवाला, युवतियोंके विषयमें रोमांचयुक्त पर्वत [गोवर्धन] को धारण करता हुआ वह विभु तुम्हारी रक्षा करे ।१०१३।

यह वर्णन गोवर्धनपर्वतके धारणके समयका है ।

यहाँ श्रीकृष्णको अपनेमें शान्तरसका, शिशुओंको देखकर हास्यरसका, दुर्गन्धित दही को देखकर बीभत्सका, मित्रोंको देखकर सख्यका, इन्द्रको देखकर रौद्रका, गोष्ठको देखकर करुणका, गुरुओंको देखकर भयानकका, वर्षाको देखकर अद्भुतका, स्त्रियोंको देखकर मधुर का अनुभव हो रहा है ।

किन्तु, वे महापुरुष हैं, अतः अनेक रसोंके आश्रय होने पर भी कोई दोष नहीं होता है ।

भक्तिरसामृतसिन्धुके उत्तरविभागमें मैत्रीवैरस्थितिरसलहरी समाप्त हुई ॥ ८ ॥



अथ रसाभासाः

पूर्वमेवानुशिष्टेन विकला: रसलक्ष्मणा ।
रसा एव रसाभासा रसज्ञैरनुकीत्तिताः ।।१।।

स्युस्त्रिधोपरसाश्चानुरसाश्चापरसाश्च ते ।
उत्तमा मध्यमाः प्रोक्ताः कनिष्ठाश्चेत्यमी क्रमात् ।।२।।

इस प्रकार मुख्य एवं अमुख्य रसोंका परस्पर विरोधका तथा अविरोध एवं विरोध-परिहारादिका निरूपण करनेके उपरान्त ग्रन्थकार रसाभासोंका निरूपण करते हैं।

पहले ही निरूपित रसलक्षण से हीन रस ही रसज्ञोंके द्वारा रसाभास कहे गये हैं ।।१।।

वे उपरस, अनुरस और अपरस (इस प्रकार) तीन तरहके होते हैं। **ये क्रम से उत्तम मध्यम और कनिष्ठ होते हैं ।।२।।**

जिन रसों में पूर्वप्रतिपादित रसलक्षण उपलब्ध नहीं होते हैं उन रसोंको ही रसज्ञोंके द्वारा रसाभास कहा गया है। "रसवद् आभासते इति रसाभासः" इस व्युत्पत्तिसे रसाभास उनको कहा जाता है जो रस न होते हुए भी रसके समान सहसा प्रतीत होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि जैसे अग्निके द्वारा धूम सिद्ध करने वाले अनुमान में [पर्वतो धूम-वान् वह्नेः] वह्नि यद्यपि सद्हेतु-सा प्रतीत होता है तदपि विचार करने पर तप्त अयोगोलक [तपे लोहे] में इसका व्यभिचार स्पष्ट ज्ञात होता है क्योंकि वहाँ वह्नि रूप हेतु तो है किन्तु धूमरूप साध्य नहीं है। अतः सद्हेतु-सा प्रतीत होने पर भी वास्तव में यह सद्हेतु नहीं है। अतएव इसे हेत्वाभास कहा जाता है; वैसे ही जो स्थायी भाव रस न होते हुए रसके समान सहसा मालूम पड़ता है उसको ही रसशास्त्रज्ञ विद्वान् रसाभास कहते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने रसज्ञोंके मत-प्रदर्शन से यह दर्शाया है कि यह बात वे अपने मन से ही नहीं कह रहे हैं, किन्तु रसज्ञ विद्वानोंकी भी इसमें सम्मति है।

इसी प्रकार रसज्ञ पद से विद्वानों की उक्ति में प्रामाण्याधिक्य प्रतीत कराया गया है। अन्य शास्त्रज्ञ विद्वान् की अन्य शास्त्र में सम्मति उतनी प्रामाणिक नहीं होती जितनी कि उसी शास्त्रके विद्वान् की उसी शास्त्रके विषय की सम्मति।

यहाँ रस प्रकरण है, अतः रसज्ञ विद्वानों की सम्मति अन्य शास्त्रज्ञ विद्वानों की सम्मति की अपेक्षा अधिक मूल्य रखती है।

"रसज्ञैः" इस पद में बहुवचन से अनेक विद्वानोंकी सम्मति दिखाई है अर्थात् एक-दो विद्वान् ही यह नहीं बतलाते, किन्तु रसज्ञ सब विद्वानोंका यह ही मत है।

रसाभासके उपरस, अनुरस तथा अपरस ये तीन भेद होते हैं तथा क्रम से उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ होते हैं अर्थात् रसाभासों में उपरस उत्तम, अनुरस मध्यम और अपरस कनिष्ठ होता है।

तत्रोपरसाः—

प्राप्तैः स्थायिविभावानुभावाद्यैस्तु विरूपताम् ।
शान्तादयो रसा एव द्वादशोपरसा मताः ॥३॥

तत्र शान्तोपरसः—

ब्रह्मभावात्परब्रह्मण्यद्वैताधिक्ययोगतः ।
तथा बीभत्सभूमादेः शान्तो ह्युपरसो भवेत् ॥४॥

तत्राद्यं यथा—

विज्ञानसुपमाधौते समाधौ यदुदञ्चति ।
सुखं दृष्टे तदेवाद्य पुराणपुरुषे त्वयि ॥१०१५॥

वहाँ उपरस [का लक्षण]

विरूपताको प्राप्त स्थायी भाव, विभाव एवं अनुभाव आदि से युक्त बारहों शान्त आदि रस ही उपरस माने गये हैं ॥३॥

शान्त इत्यादि पाँच मुख्य रसों एवं हास्य इत्यादि सात अमुख्य रसोंके विभाव, अनुभाव तथा स्थायी भाव आदि में जहाँ विरूपता होती है वहाँ उनको उपरस कहा जाता है।

विभाव इत्यादिकी विरूपता आगे बतलाई जा रही है।

वहाँ शान्तोपरस [जैसे]—

परब्रह्म में निर्विशेषता-दृष्टि से एवं अद्वैतभावकी अधिकताके योग से, तथा बीभत्साधिक्य आदि से शान्त उपरस हो जाता है ॥४॥

परब्रह्म [श्रीकृष्ण] के विषय में सामान्य दृष्टि से तथा समस्त वस्तुओंके कारण उनसे [परब्रह्म श्रीकृष्ण] सबका अभेद ही है, इस प्रकार अद्वैतके आधिक्य से तथा देहादि में निरन्तर जुगुप्साभावनादि से शान्त उपरस हो जाता है। दुर्गसंगमिनी टीकाकार का मत यहाँ यह है कि—

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १४ श्लोक २७

इस भगवद्वाक्यानुसार श्रीकृष्ण ब्रह्म इत्यादि समस्त पदार्थोंके आश्रय हैं। अतः वे ब्रह्म से भी उच्च कोटिके होनेसे परब्रह्म माने जाते हैं। अतः उनमें सामान्य दृष्टि अनुचित ही है, यह ही विभावकी विरूपता है।

एवं श्रीकृष्ण सबके कारण हैं, अन्य सब पदार्थ कार्य हैं; किन्तु अद्वैतके आधिक्यसे सबके कारणीभूत उनसे कार्यादिका अत्यन्ताभेद प्रतिपादन करने पर विभाव में अनौचित्य आ जाता है।

तथा यहाँ आदि पद से चिद् तथा अचिद् विवेकका ग्रहण भी वे करते हैं।

यहाँ से आगे जितने भी उदाहरण हैं वे सब प्रायः एकांश में ही हैं।

वहाँ आद्य [परब्रह्म में सामान्य दृष्टि से उदाहरण] जैसे—

विज्ञान की अपूर्व शोभा से स्वच्छ समाधि में जो [सुख] उपलब्ध होता है वह ही

द्वितीयं यथा—

यत्र यत्र विषये मम दृष्टि-
स्तं तमेव कलयामि भवन्तम् ।
यन्निरञ्जन ! परापरबीजं-
त्वां विना किमपि नापरमस्ति ॥१०१६॥

अथ प्रीतोपरसः—

कृष्णस्याग्रेऽतिधाष्टर्येन तद्भक्तेष्ववहेलया ।
स्वाभीष्टदेवतोऽन्यत्र परमोत्कर्षवीक्षया ॥५॥
मर्यादाऽतिक्रमाद्यैश्च प्रीतोपरसता मता ।

प्रथयन् वपुर्विवशतां सतां कुलै-
रवधीर्य्यमाणनटनोऽप्यनर्गलः ।
विकिर प्रभो ! दृशमिहेत्यकुण्ठवाक्
चटुलो बटुर्व्यवृणुतात्मनो रतिम् ॥१०१७॥

सुख पुराणपुरुष तुम्हारे देखने पर आज उपलब्ध हो रहा है ॥१०१५॥

यहाँ शान्त रस है तथा पुराण पुरुष (श्रीकृष्ण) आलम्बन विभाव हैं; सुख-प्राप्ति अनुभाव है।

समाधि में ब्रह्मके अनुभव से जो आनन्द होता है वह परब्रह्म (श्रीकृष्ण)के दर्शनजन्य आनन्द से न्यून ही है। किन्तु यहाँ उसको (ब्रह्मानन्द को) इस आनन्दके समान ही प्रतिपादित किया है। अतः विरूपता है।

विरूप विभावादि से युक्त होने से यह 'शान्तरस' 'रस' न होकर 'उपरस' कहा है। इस प्रकार यह परब्रह्म में सामान्य दृष्टिका उदाहरण है।

द्वितीय (अद्वैतभावकी अधिकता से) जैसे—

जिस जिस वस्तु में मेरी दृष्टि है मैं उसको-उसको ही आपको समझता हूँ। क्योंकि हे निरंजन, पर तथा अपर सबके बीज (कारण) तुम्हारे बिना कुछ भी नहीं है ॥१०१६॥

यहाँ उत्तरार्ध में निरंजनको समस्त पदार्थोंका कारण बतलाया गया है, किन्तु पूर्वार्ध में सबको उसका ही रूप अर्थात् उससे अभिन्न कहा गया है। इस प्रकार यहाँ अद्वैतकी अधिकता प्रतीत होती है।

अतएव यह शान्त रस 'उपरस' कहा गया है। शान्तकी उपरसता में तीन कारण ग्रन्थकर्ता ने निरूपित किये हैं, किन्तु उदाहरण केवल प्रथम तथा द्वितायके ही दिये हैं, तृतीय एवं आदि पद से सूचित चतुर्थका कोई उदाहरण नहीं दिया है।

अब प्रीत उपरस (निरूपण)

कृष्णके आगे अत्यन्त धृष्टता से, उनके भक्तोंके प्रति अवहेलना करने से, अपने अभीष्ट देव से अन्य में परम उत्कर्षके देखने से एवं मर्यादालंघन आदि से प्रीत की उपरसता मानी गई है ॥५३॥

शरीरकी विवशता को बढ़ाते हुए (अर्थात् थोड़ी भी विवशता को अधिककी तरह

अथ प्रेयोपरसः—

एकस्मिन्नेव सख्येन हरिमित्राद्यवज्ञया ।।६।।
युद्धभूमादिना चापि प्रेयानुपरसो भवेत् ।

तत्राद्यं यथा—

सुहृदित्युदितो भिया चकम्पे
छलितो नर्मगिरा स्तुतिं चकार ।
स नृपः परिरिप्सितो भुजाभ्यां-
हरिणा दण्डवदग्रतः पपात ।।१०१८।।

दिखलाते हुए) तथा सज्जनोंके कुलों द्वारा तिरस्कृत नृत्य होने पर भी अनर्गल (उच्छृंखल) और हे प्रभो यहाँ [मेरे ऊपर] दृष्टि दीजिये—इस तरह निरन्तर कहने वाले चंचल वटु ने अपनी रति को दिखलाया ।।१०१७।।

यह कृष्ण-प्रतिमाके सम्मुखस्थ किसी भक्तका वर्णन है। यहाँ विवशताकी अधिकता दिखलाने एवं वारम्वार कथन आदि से धृष्टता प्रतीत होती है एवं सज्जनोंके निषेध करने पर भी नृत्य आदि करने से भगवद्भक्तों में तिरस्कार-सा भी प्रतीत होता है।

इस प्रकार उपरिलिखित लक्षणों में से एक-दो के उपलब्ध होने से यह प्रीतोपरसका उदाहरण है।

यहाँ भी द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थके उदाहरण ग्रन्थकर्ता ने नहीं दिये हैं।

अब प्रेय उपरस [निरूपण]

एक में ही सख्यभाव होने से, हरिके मित्र आदिकी अवज्ञा से तथा युद्धकी अधिकता आदि से प्रेयान् उपरस हो जाता है ।।६½।।

जबकि दोनों में सख्यभाव नहीं रहता अपितु एक में सख्यभाव रहता है तथा दूसरे में वह नहीं रहता है तब तथा मित्र आदिके तिरस्कार में एवं युद्धाधिक्य आदि में प्रेयान् को उपरस माना ज.ता है।

यहाँ मूल बात यह है कि सख्यभाव दो व्यक्तियों में रहने वाला एक भाव है किन्तु जब एक में सख्यभाव रहता है तथा दूसरे व्यक्ति में वह भाव नहीं रहता है अर्थात् द्वितीय व्यक्ति प्रथमको अपने से उच्चकोटिका अथवा निम्नकोटिका मानता है तब वहाँ सख्यभाव नहीं रहता क्योंकि यह भाव परस्पर समानता में ही होता है। ऐसी अवस्था में विभावादि में विरूपता स्वाभाविक है ही, उसी विरूपताग्रस्त विभावादि से युक्त प्रेय रस पदवीको प्राप्त न करने से उपरस कहा जाता है।

इसी प्रकार मित्रादिकी अवज्ञा में युद्ध आदि में भी सख्यभावके विभाव आदि में विरूपता उत्पन्न हो ही जाती है। अतएव ऐसे विभावादि से युक्त प्रेयको उपरस माना जाता है।

वहाँ पहले [एक में ही सख्य भाव] जैसे—

'मित्र' इस प्रकार कहा गया वह राजाके डर से काँपने लगा तथा नर्म वाणी से [हँसी-दिल्लगी] कथन करने पर स्तुति करने लगा एवं हरिके द्वारा दोनों हाथों से आलिंगन करने पर दण्डके समान उनके आगे गिर पड़ा ।।१०१८।।

अथ वत्सलोपरसः—

सामर्थ्याधिक्यविज्ञानाल्लालनाद्यप्रयत्नतः ।।७।।
करुणस्यातिरेकादेस्तुर्य्यश्चोपरसो भवेत् ।

तत्राद्यं यथा—

मल्लानां यदवधि पर्वतोद्भटाना-
मुन्माथं सपदि तवात्मजादपश्यम् ।
नोद्वेगं तदवधि यामि जामि ! तस्मिन्
द्राघिष्ठामपि समितिं प्रपद्यमाने ।।१०१६।।

यह श्रीकृष्णके सम्बन्धी (पुत्र अथवा पुत्रीके श्वसुर) किसी राजाका वर्णन है ।

श्रीकृष्ण उसमें सख्यभाव करके उससे मित्र कह रहे हैं, उससे हँसी कर रहे हैं एवं उसका आलिंगन कर रहे हैं । इस प्रकार श्रीकृष्ण में सख्यभाव प्रतीत होता है । किन्तु वह राजा श्रीकृष्ण से स्वयंको निम्नकोटिका एवं अपने से श्रीकृष्णको उच्चकोटिका मानता है । अतः उनके मित्र कहने पर काँपने लगता है, हँसी करने पर उसे वास्तविक जानकर स्तुति करने लगता है एवं आलिंगन करने पर पृथ्वी पर प्रणत हो जाता है; इस प्रकार राजा में सख्यभावका अभाव ही है ।

अतएव यह एकनिष्ठ सख्यभाव से प्रेय उपरसका उदाहरण है ।

यहाँ भी ग्रन्थकार ने द्वितीय तथा तृतीयका उदाहरण नहीं दिया है ।

अथ वत्सल उपरस—

सामर्थ्यकी अधिकताके ज्ञान से, लालनादि [लाड़-चाव] में प्रयत्न न करने से एवं करुणके अतिरेक से चतुर्थ [वत्सल] उपरस हो जाता है ।।७½।।

बालक आदिकी समर्थताके आधिक्यका ज्ञान हो जाने से एवं लालन आदि में प्रयत्नका परित्याग कर देने से और करुणरसकी वृद्धि होने से वत्सल उपरस होता है । यहाँ भी यह ही बात है कि मनुष्यको जब तक अपने बालक आदि में अधिक समर्थताका ज्ञान नहीं होता तब तक ही वह उसमें अधिक वत्सलताका भाव रखता है, किन्तु जब बालकको अधिक शक्ति का ज्ञान हो जाता है तब वह उसकी ओर से निश्चिन्त-सा हो जाता है एवं वात्सल्यभाव भी कम हो जाता है । अतः ऐसी अवस्था में विभावादि विरूपता से संगत वत्सल रस भी उपरस हो जाता है । वत्सलताके लालनादि परिपोषक हैं, अतएव लालनादि प्रयत्न न करने पर भी वत्सल उपरस हो जाता है । ऐसे ही जब करुणकी अधिकता हो जाती है तब भी वत्सल उपरस हो जाता है ।

वहाँ [वत्सल उपरस में] प्रथम [समर्थकी अधिकता-ज्ञानका उदाहरण] जैसे—

हे बहिन, जब से मैंने तेरे पुत्र से पर्वतोंके समान बड़े-बड़े मल्लोंका [चाणूर इत्यादि पहलवानोंका] विनाश देखा है, तब से बड़ी भी समिति [युद्ध या सभा] में उसके [तेरे पुत्र के] जाने पर मैं उद्विग्न नहीं होता हूँ ।।१०१६।।

यह कृष्णमाता देवकीके प्रति किसीकी उक्ति है । यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा बड़े-बड़े मल्लों के विनाश कर देने से वक्ताको श्रीकृष्णकी समर्थताके आधिक्यका ज्ञान हो गया है । अर्थात्

अथ शृङ्गारोपरसः, तत्र स्थायिवैरूप्यं—

द्वयोरेकतरस्यैव रतिर्या खलु दृश्यते ॥८॥

याऽनेकत्र तथैकस्य स्थायिनः सा विरूपता ।

विभावस्यैव वैरूप्यं स्थायिन्यत्रोपचर्य्यते ॥९॥

वह श्रीकृष्णके अतुलबल से पूर्ण परिचित हो चुका है। अतएव उसको कहीं भी युद्धादि में उनके जाने पर किसी प्रकारका उद्वेग नहीं होता है। अतः यह वत्सल उपरसका उदाहरण है। यहाँ भी द्वितीय तथा तृतीय प्रकारका उदाहरण नहीं दिया गया है।

अब शृंगार उपरस [का निरूपण आरम्भ करते हैं।]

वहाँ [शृंगार उपरस में] स्थायी भावकी विरूपता [बतलाते है]

दोनों में से [नायक एवं नायिका में से] यदि एक की ही रति प्रतीत होती है वह स्थायी भावकी विरूपता है।

विभावकी विरूपता ही यहां स्थायी भाव में उपचरितकी जाती है ॥९॥

अन्य रसोंकी उपरसावस्थाका निरूपण करनेके अनन्तर अब ग्रन्थकार शृंगाररसकी उपरसताका निरूपण करते हैं।

शृंगार सर्वत्र सर्वरसों में प्रधान है। अतः ग्रन्थकार ने सर्वाधिक विस्तार से इसकी उपरसताका भी विवेचन किया है।

स्थायी भाव इत्यादि में विरूपता से रस उपरसावस्थाको प्राप्त हो जाता है, यह पहले कह चुके हैं। यहाँ क्रमशः स्थायीभावादिकी विरूपताका विवेचन करते हुए ग्रन्थकार सर्वप्रथम स्थायीभावकी विरूपताका निरूपण करते हैं।

शृंगार में नायक-नायिका आलम्बन विभाव माने जाते हैं, यह सर्वविदित है ही तथा जब उन दोनों में परस्पर रतिभाव रहता है तब ही शृंगार परिपुष्ट होता है।

किन्तु जब नायक या नायिका में से किसी एक में ही रति हो दूसरे में रति न हो तो वहाँ स्थायीभाव [रति] में विरूपता मानी जाती है।

ऐसे ही यदि एक की [नायक या नायिकाकी] अनेकोंमें रति हो तब भी विरूपता ही मानी जाती हैं।

इस प्रकार दो तरहसे शृङ्गार में स्थायीभावकी विरूपता होती है।

एक की अनेकोंमें रतिके विषय में इतना और विशेष ज्ञातव्य है कि प्रायः एक नायिका की ही अनेक नायकों में रति होती है।

एक नायककी अनेक नायिकाओंमें रति कहीं-कहीं ही उत्तमाधमके ज्ञानके अभावमें ही होती है।

यहाँ यह शंका होती है कि वस्तुतः यह विरूपता विभाव [आलम्बन विभाव] की ही है, स्थायीभावकी तो विरूपता यह नहीं है, तो इसको स्थायीभावकी विरूपता क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं कि यद्यपि यह विरूपता आलम्बन विभावकी ही है तदपि उपचार सें [सामीप्यादि सम्बन्ध-मूलक लक्षणावृत्तिसे] यह स्थायीभावकी ही विरूपता कही जाती है।

तत्रैकत्र रतिर्यथा ललितमाधवे—

मन्दस्मितं प्रकृतिसिद्धमपि व्युदस्तं-
सङ्गोपितश्च सहजोऽपि दृशोस्तरङ्गः
धूमायिते द्विजवधूमदनार्त्तिवन्हा—
वन्हाय काऽपि गतिरङ्कुरितामयासीत् ॥१०२०॥

अत्यन्ताभाव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः ॥
एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत् ॥१०॥

इस प्रकार स्थायीभावनिष्ठ विरूपताका निरूपण समाप्त होता है।

वहाँ [स्थायीभावकी विरूपतावश श्रृंगार उपरसमें] एक में ही रति [का उदाहरण] जैसे ललितमाधवमें—

स्वभावसिद्ध भी मन्द मुस्कराहट हटा दी एवं सहज भी नेत्रकी चंचलता छुपा ली। [इस प्रकार] विप्र-स्त्रियों में कामाग्निको धूमायित [प्रारम्भित] होने पर शीघ्र ही कोई दशा अंकुरित हो गई ॥१०२०॥

यह ब्राह्मण-वधुओं में [यज्ञ-पत्नीमें] कृष्णविषयक काम उत्पन्न होनेपर श्रीकृष्ण की अवस्था का वर्णन है। श्रीकृष्णके दर्शनान्तर विप्रस्त्री में कामाग्नि आरम्भ हो गई, किन्तु श्रीकृष्ण की देह वैरूप्य से [ये ब्राह्मणी हैं, अतः पूज्य हैं; इनमें रति करना अनुचित है। इसलिये] उनमें रति नहीं हुई।

मेरी स्वाभाविक मुस्कराहट आदि को देखकर ये [विप्रस्त्री] कहीं मुझे अनुरक्त न समझ लें इस भ्रम के निराकरणार्थ श्रीकृष्ण ने उनको छुपा लिया। यहाँ केवल विप्रस्त्रियों में ही रति है, श्रीकृष्ण में नहीं। अतः यह दोनों में से [नायक-नायिका में से] केवल एक में [नायिका] स्थित रतिका उदाहरण है।

यहाँ रति का अत्यन्ताभाव ही विवक्षित है। रतिके प्रागभाव में तो शुचि उपरस नहीं होता है ॥१०॥

इस उदाहरणमें रतिका अत्यन्ताभाव ही विवक्षाका विषय है। अत्यन्ताभाव उस अभाव को कहते हैं जो कि तीनों समयों [भूत, भविष्य, वर्तमान] में रहता है जैसे कि खरगोश के सींगों का अभाव अर्थात् खरगोशके सींग न थे, न हैं, न भविष्यमें होंगे ही। ऐसे ही यहाँ श्रीकृष्णकी ब्राह्मण-वधुओंमें रति न थी, न है, एवं न होगी ही।

किन्तु जहाँ रतिका प्रागभाव होता है वहाँ शुचि उपरस नहीं होता है।

प्रागभाव उस अभाव को कहते हैं जो कि पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व उसके कारण में रहता है। जैसे कि घट की उत्पत्ति के पूर्व कपालों में घट का अभाव तथा पट की उत्पत्ति के पूर्व तन्तुओं में पट का अभाव। यह अभाव प्रागभाव कहा जाता है।

यह अभाव "इह घटो भविष्यति" [यहाँ घड़ा होगा] इस तरह बोला जाता है।

अतः जहाँ रतिका प्रागभाव [उत्पत्तिसे पूर्वका अभाव] होता है वहाँ शुचि उपरस नहीं होता। क्योंकि किसीकी रति जन्मसे तो किसी में रहती नहीं है, अपितु बादमें ही उत्पन्न होती है। और कार्यके उत्पत्ति से पूर्व उसका प्रागभाव रहता ही है। ऐसी दशा में रतिकी उत्पत्ति से पूर्व प्रागभावके निश्चित रूप से रहने से प्रागभावको विभाव रूप वैरूप्यका कारण

अनेकत्र रतिर्यथा—

गान्धर्वि ! कुर्वाणमवेक्ष्य लीला—
मग्रे धरण्यां सखि ! कामपालम् ।
आकर्णयन्ती च मुकुन्दवेणुं—
भिन्नाऽद्य साध्वि ! स्मरतो द्विधाऽसि ॥१०२१॥

केचित्तु नायकस्यापि सर्वथा तुल्यरागतः ॥
नायिकास्वप्यनेकासु वदन्त्युपरसं शुचिम् ॥११॥

विभाववैरूप्यम्—

वैदग्ध्यौज्ज्वल्यविरहो विभावस्य विरूपता ॥
लतापशुपुलिन्दीषु वृद्धास्वपि स वर्तते ॥१२॥

नहीं माना जाता; यदि वह कारण हो तो सर्वत्र शुचि उपरस ही माना जायेगा। वह कहीं भी रस नहीं हो सकेगा। अतः रतिके प्रागभाव में शुचिकी उपरसता नहीं होती यह बात युक्ति-संगत है।

अनेकों में [एक की अनेकों में] रति जैसे—

हे सखि गान्धर्वि, सम्मुख पृथ्वी पर लीला करते हुए बलराम को देखकर और हे साध्वि, मुकुन्द की वेणु को सुनती हुई तू आज काम से दो तरह भिन्न हो रही है ॥१०२१॥

यहाँ एक ही नायिकाकी बलरामके दर्शन से बलराम में एवं श्रीकृष्णके वंशीनाद से श्रीकृष्ण में रति प्रतीत होती है।

अतः यह एक की अनेकों में रति होने से स्थायीभावकी विरूपताका उदाहरण है। इस प्रकार यहाँ शृंगार उपरस है।

कोई [आचार्य] अनेक नायिकाओं में नायक के भी सर्वथा तुल्य अनुराग होने से शुचि को उपरस कहते हैं ॥११॥

किन्हीं आचार्योंका मत यह है कि यदि एक ही नायकका अनेकविध की अनेक नायि-काओं में समान रूप से अनुराग होता है तो वहाँ भी शुचि उपरस माना जाता है।

इस प्रकार स्थायीभावकी विरूपताका निरूपण समाप्त होता है।

विभाव की विरूपता [का निरूपण]

वैदग्ध [चतुरता] उज्ज्वलता का अभाव ही विभाव की विरूपता [होती है] यह [अभाव] लता, पशु, पुलिन्दी [म्लेच्छ स्त्री] और वृद्धाओं में भी होता है ॥१२॥

इस प्रकार वस्तुतः विभावकी किन्तु उपचार से स्थायीभावकी विरूपताका निरूपण कर साक्षात् विभावकी विरूपताका निरूपण कर रहे हैं, जिसकी अवस्थिति से शृंगार रस पदवी को प्राप्त न कर उपरस पदवाच्य हो जाता है। चातुर्य, उज्ज्वलता इत्यादिका न होना ही विभाव [आलम्बन विभाव] की विरूपता होती है। अर्थात् शृंगारके आलम्बन विभाव में चातुर्य एवं उज्ज्वलता वर्तमान रहना आवश्यक है, किन्तु इनसे रहित अचेतन लतावृक्षादि, जड़ पशु इत्यादि, शृंगारके सर्वथा अयोग्य वृद्धा स्त्री एवं निम्नकोटिकी पुलिन्दी इत्यादि जहाँ शृंगारके आल-म्बन होते हैं वहाँ शृंगार उपरस ही माना जाता है। क्योंकि लता, पशुओं में तो विदग्धता

तत्र लता यथा—

सखि ! मधु किरती निशम्य वंशीं—
मधुमथनेन कटाक्षिताऽथ मृद्वी ।
मुकुलपुलकिता लतावलीयं—
रतिमिह पल्लवितां हृदि व्यनक्ति ॥१०२२॥

पशुर्यथा—

पश्याद्भुतास्तुङ्गमुदः तुरङ्गीः
पतङ्गकन्यापुलिनेऽद्य धन्याः ।
याः केशवाङ्गे तदपाङ्गपूताः
सानङ्गरङ्गां दृशमर्पयन्ति ॥१०२३॥

पुलिन्दी यथा—

कालिन्दीपुलिने पश्य पुलिन्दी पुलकाञ्चिता ।
हरेर्दृक्चापलं प्रेक्ष्य सहजं या विघूर्णते ॥१०२४॥

होती नहीं है; वृद्धाओं में विदग्धताकी प्रतिकूलता रहती है; पुलिन्दियों में भी उसकी सम्भावना नहीं होती ।

"किरातशवरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः"

अमरकोश २ काण्ड, १० वर्ग, २० श्लोक

इस श्लोकसे पुलिन्दोंकी म्लेच्छ जाति वतलाई गई है। ये गोमांसादि अभक्ष्यभक्षण करते हैं, लोकविरुद्ध कहते हैं तथा सब प्रकारके आचरणों से हीन होते हैं । जैसाकि कहा है—

गोमांसभक्षको यस्तु लोकवाह्यं च भाषते ।
सर्वाचारविहीनोऽसौम्लेच्छ इत्याभिधीयते ॥

अतः इनकी विभावता में विरूपता होने से शृंगारकी उपरसता उचित ही है ।

वहाँ [विभाव की विरूपताजन्य शृंगार की उपरसता में] लता [आलम्बन विभाव] जैसे—

हे सखि, मधुवर्षण करनेवाली वंशीको श्रवण कर एवं मधुमथन श्रीकृष्णके द्वारा कटाक्षों से अवलोकित, कोमल एवं कलीरूपी रोमाचों से युक्त यह लतावली हृदय में पल्लवित रति को प्रकट कर रही है ॥१०२२॥

यहाँ श्रीकृष्ण विषयक रतिकी आलम्वनविभावता लतावली में वर्णित है । अतः शृंगार उपरस है ।

पशु [विभाव] जैसे—

आज सूर्यकन्या यमुनाके किनारे धन्य, अत्यन्त प्रसन्न एवं अद्भुत इन घोड़ियोंको तो देखो, श्रीकृष्णके अपांग [कटाक्ष] से पवित्र जो केशवके शरीर पर कामयुक्त दृष्टि समर्पित कर रही हैं ॥१०२३॥

यहाँ श्रीकृष्णका अवलोकन कर घोड़ियों में शृंगारका आविर्भाव वर्णित है । घोड़ी पशु हैं, अतः उनके आलम्वन विभाव होने से यहाँ शृंगार उपरस माना जाता है ।

पुलिन्दी [आलम्बन विभाव] जैसे—

यमुना किनारे रोमांचित पुलिन्दीको देखो जो कि हरिकी स्वाभाविक नेत्रचंचलताको

वृद्धा यथा—

कज्जलेन कृतकेशकालिमा बिल्वयुग्मरचितोन्नतस्तनी ।
पश्य गौरि! किरती दृगञ्चलंस्मेरयत्यघहरं जरत्यसौ ॥१०२५॥

स्थायिऽनोत्र विरूपत्वमेकरागतयाऽपि चेत् ॥
घटेतासौ विभावस्य विरूपत्वेऽप्युदाहृतिः ॥१३॥
शुचित्वौज्ज्वल्यवैदग्ध्यात्सुवेषत्वाच्च कथ्यते ॥
शृङ्गारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः ॥१४॥

अथानुभाववैरूप्यम्

समयानां व्यतिक्रान्तिर्ग्राम्यत्वं धृष्टताऽपि च ॥
वैरूप्यमनुभावादेर्मनीषिभिरुदीरितम् ॥१५॥

देखकर विघूर्णन कर रही है ॥१०२४॥

यहाँ पुलिन्दीकी शृंगारकी आलम्बनविभावता वर्णित है। अतः यहाँ भी उपरसता ही है।

जैसे पूर्व उदाहृत यज्ञपत्नियों में [ब्राह्मणवधुओं में] उच्चवर्णकी होने से श्रीकृष्णकी उनमें रति उत्पन्न नहीं हुई थी, ऐसे ही यहाँ पुलिन्दिओंके निम्नवर्णकी होने से श्रीकृष्णकी रतिका उनमें सर्वथा अभाव ही है।

वृद्धा [आलम्बन विभाव] जैसे—

काजलके द्वारा बालोंको काला कर लेने वाली, दो बिल्वों [बेल के फलों] के द्वारा उच्च कुच बना लेने वाली एवं कटाक्षपात करनेवाली यह वृद्धा अघहरको [पापनाशक श्रीकृष्ण को] स्मितयुक्त बना रही है ॥१०२५॥

यहाँ वृद्धा आलम्बन विभाव है। अतएव यहाँ शृंगार उपरस ही है।

यहाँ यदि एकके रागत्व से स्थायीभाव की विरूपता हो तो यह [विरूपता] ही विभाव की विरूपता में उदाहरणरूप से घटित हो जाती है ॥१३॥

पहले नायक-नायिका दोनों में से एकके अनुरक्त होने पर स्थायीभावकी विरूपता बतलाई जा चुकी है। वह ही विभावकी विरूपताका उदाहरण भी हो सकता है। क्योंकि वहाँ यह भी बतला चुके हैं कि वस्तुतः विभावकी विरूपता होने पर भी यह लक्षणा से स्थायीभावकी विरूपता कही जाती है।

शुचिता [पवित्रता], उज्ज्वलता, चतुरता एवं सुवेषता से शृंगारका विभावत्व कहा जाता है, इससे अन्यत्र स्थलों पर शृंगाराभासता [कही जाती है] ॥१४॥

पवित्रता, उज्ज्वलता इत्यादि गुणों से सम्पन्न पदार्थको ही शृंगारका विभाव माना जाता है। किन्तु पूर्वोक्त गुणों से रहितकी भी जहाँ विभावता वर्णित होती है वहाँ वह रस न होकर रसाभास कहा जाता है।

अब अनुभाव का वैरूप्य [बतलाते हैं]

आचारोंके उल्लंघन, ग्राम्यता और धृष्टताको भी विद्वानों ने अनुभावादि की विरूपता कहा है ॥१५॥

तत्र समयव्यतिक्रान्तिः—

समयाः खण्डिताऽऽदीनां प्रिये रोषोदितादयः ॥
पुंसः स्मितादयश्चात्र प्रियया ताडनादिषु ॥१६॥
एतेषामन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः ॥

स्थायीभाव तथा विभावकी विरूपताका निरूपण करनेके अनन्तर अनुभावकी विरूपताका ग्रन्थकार इस प्रकार निरूपण करते हैं कि साहित्यिकों द्वारा निर्धारित मर्यादाओं [आचरणों] का उल्लंघन करना, ग्राम्यता [गंवारूपन] तथा धृष्टता ये तीनों अनुभावकी विरूपता होती हैं, यह विद्वानों ने कहा है ।

यहाँ भी स्वयंके कथन में प्रामाणिकता-प्रदर्शनके लिये ग्रन्थकर्ता ने 'मनीषिभिः' इस पदका उपादान किया है ।

साहित्यशास्त्रके विद्वानों द्वारा निर्धारित समय [मर्यादा] क्या हैं इस जिज्ञासाके शान्त्यर्थ साहित्यिक समय बतलाते हैं ।

वहाँ [अनुभावविरूपता में] समयोल्लंघन [जैसे]

खण्डिता आदि नायिकाओं का नायकके विषय में क्रोधोदय इत्यादि तथा नायक का प्रिया [नायिका] द्वारा ताड़ना आदि में स्मित इत्यादि करना समय कहा जाता है ।

इनका अन्यथाभाव [विपरीतभाव] समयों का व्यतिक्रम होता है ॥१६½॥

साहित्यमर्मज्ञ विद्वानों ने तत्तत्स्थलोंकी पृथक्-पृथक् मर्यादा स्थापित की हैं ।

जैसे कि खण्डिता नायिका पति पर रोष कर प्रहार इत्यादि करती है, किन्तु नायक इससे रुष्ट न होकर स्मित ही करता है एवं नायिकाके सोषोपनोदके प्रयत्न करता है ।

खण्डिताका लक्षण यह है—

पार्श्वमेतिप्रियोयस्या अन्यसंयोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥

सा० द०, तृ० परिच्छेदः

अन्य स्त्रीके सम्भोग-चिह्नों से युक्त जिसका पति पास में आता है, ईर्ष्यायुक्त वह नायिका खण्डिता कही जाती है ।

इसी प्रकार मुग्धा नायिका सर्वदा सर्वथा संभोगादि प्रार्थना करने पर निषेध-तत्पर ही होती है । अभिसारिका कामवशंवद हो स्वयं ही अभिसरण करती है अथवा पतिको अभिसरण में प्रयुक्त करती है ।

इस प्रकार धीरोदात्त इत्यादि नायकोंकी तथा खण्डिता, मुग्धा, कलहान्तरिता, अभिसारिका इत्यादि नायिकाओंकी पृथक्-पृथक् व्यवस्थाएँ साहित्यिकों ने निर्धारितकी हैं । इनका विशेष वर्णन दशरूपक इत्यादि ग्रन्थों में देखा जा सकता है । इनके विपरीत अर्थ-प्रतिपादन करने पर तथा ग्राम्यत्वपूर्ण अर्थके वर्णन करने पर एवं धृष्टता-वर्णन करने पर अनुभावकी विरूपता कही जाती है । ऐसे अनुभावादिसे युक्त शृंगारको उपरस कहा जाता है ।

तत्राद्यं यथा—

कान्तानखाङ्कितोऽप्यद्य परिहृत्य हरे ! ह्रियम् ।
कैलासवासिनीं दासीं कृपादृष्ट्या भजस्व माम् ॥१०२६॥

अथ ग्राम्यत्वम्—

बालशब्दाद्युपन्यासो विरसोक्तिप्रपञ्चनम् ॥१७॥
कटीकण्डूतिरित्याद्यं ग्राम्यत्वं कथितं बुधैः ॥

तत्राद्यं यथा—

किं नः फणिकिशोरीणां त्वं पुष्करसदां सदा ।
मुरलीध्वनिना नीविं गोपबाल ! विलुम्पसि ॥१०२७॥

अथ धृष्टता—

प्रकटप्रार्थनाऽऽदिः स्यात्सम्भोगादेस्तु धृष्टता ॥१८॥

वहाँ प्रथम [समय व्यतिक्रान्ति] जैसे

हे हरे, कान्ताके नख-चिह्नों से अंकित भी आप आज लज्जाको छोड़कर कैलास-वासिनी दासी मेरा कृपादृष्टि से सेवन करो ॥१०२६॥

यहाँ श्रीहरि आलम्बन विभाव हैं, किन्तु वह प्रस्तुत नायिका से भिन्न नायिकाके नख-क्षतादिसे अंकित हैं। अतः यह नायिका साहित्यिक परिभाषानुसार खण्डिता नायिका हुई। खण्डिता नायिका सर्वत्र नायकका तिरस्कार ही करती है, किन्तु यहाँ इसके विपरीत अर्थका प्रतिपादन किया गया है। अतः समयव्यतिक्रान्ति होनेसे अनुभवकी विरूपता है और उसके कारण शृंगार उपरस ही है।

अब ग्राम्यता—[जैसे]

'बाल' इत्यादि शब्दका कथन, नीरस उक्तियोंका विस्तार एवं कटिस्थलकी खुजली इत्यादि [चेष्टाएँ] विद्वानों द्वारा ग्राम्यता कही गई हैं ॥१७½॥

वहाँ प्रथम [बाल शब्दका कथन] जैसे—

हे गोपबाल तुम क्यों मुरलीके शब्दसे सदा जलमें रहनेवाली हम नागकिशोरियोंकी नीवीको [वस्त्रग्रन्थिको] शिथिल कर रहे हो ॥१०२७॥

यह कालियह्रदमें रहने वाली नाग-बालाओंकी श्रीकृष्णके प्रति उक्ति है। यहाँ श्रीकृष्ण नागबालाओंमें स्थित शृंगारके आलम्बन हैं, किन्तु ये उनको 'गोपबाल' पदसे सम्बोधित कर रही हैं, अतः 'बाल' पदका उपादान होनेसे ग्राम्यता प्रतीत होती है।

ग्राम्यतारूप विरूपता युक्त अनुभाव होनेसे शृंगार उपरस हो गया है।

अब धृष्टता [जैसे]—

सम्भोग इत्यादिकी स्पष्ट प्रार्थनादि धृष्टता होती है ॥१८॥

सम्भोग आदि गोप्य क्रियाओंकी स्पष्ट प्रार्थना इत्यादि होने पर धृष्टता कही जाती है।

यथा—

कान्तः कैलासकुञ्जोऽयं रम्याऽहं नवयौवना।
त्वं विदग्धोऽसि गोविन्द ! किं वा वाच्यमतः परम् ॥१०२८॥

एवमेव तु गौणानां हासादीनामपि स्वयम् ॥
विज्ञेयोपरसत्वस्य मनीषिभिरुदाहृतिः ॥१६॥

अथानुरसाः—

भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः ॥
रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः ॥२०॥

जैसे—

यह रमणीय कैलासकुंज है, मैं रम्य नवयौवनवती हूँ, और हे गोविन्द तुम चतुर हो। इससे अधिक क्या कहना चाहिये ! ॥१०२८॥

यह किसी कृष्णानुरक्ता स्त्रीकी कृष्णके प्रति उक्ति है। इसके कथनसे स्पष्ट ही सम्भोग की प्रार्थना प्रकट होती है। अतः यहाँ धृष्टता है। धृष्टतारूपी विरूपतासे युक्त अनुभाव वाला होनेसे यहाँ शृंगार उपरस ही माना जाता है।

ऐसे ही गौण हासादि रसोंके भी उपरसताके उदाहरण विद्वानों द्वारा स्वयं जानने चाहियें ॥१६॥

ग्रन्थकारने प्रधान रसोंकी उपरसावस्थाके उदाहरण तो दे ही दिये हैं; इसके अनन्तर वे कहते हैं कि ऐसे ही गौण हासादि रसोंकी उपरसतामें विद्वानोंको स्वयं ही उदाहरण समझ लेने चाहियें। इतना दिग्दर्शन ही पर्याप्त है। इसी दृष्टिकोणसे विद्वान् स्वयं ही अन्य गौण रसोंकी उपरसताके उदाहरण ज्ञात कर लेंगे।

इस प्रकार उपरसताका प्रकरण समाप्त हुआ। अब अनुरसोंका निरूपण करते हैं।

अब अनुरस—

कृष्णके सम्बन्धसे रहित भक्त इत्यादि विभावादिसे हास इत्यादि गौण सातों रस एवं शान्त अनुरस माने गये हैं ॥२०॥

जहाँ हास्य इत्यादि सातों गौण रसोंके एवं शान्त रसके विभावादि भक्त इत्यादि हों तथा विभावादियोंका श्रीकृष्णसे सम्बन्ध न हो, अर्थात् जहाँ साक्षात् श्रीकृष्ण विभावादि न हों, किन्तु भक्त आदि ही विभावादि हों तो वहाँ ये रस अनुरस कहे जाते हैं।

साहित्यशास्त्रके आचार्य काव्यके प्रयोजन यश इत्यादि मानते हैं जैसा कि श्री मम्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' में कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

किन्तु श्री चैतन्यमतानुयायी श्री रूपगोस्वामी प्रभृति आचार्य काव्यका मुख्य प्रयोजन भगवद्भक्तिही मानते हैं। जैसाकि अलंकार कौस्तुभादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट प्रतिपादन किया ही है। अतः वे ही रसादि उत्कृष्ट कोटिके हैं जिनके श्रीकृष्ण साक्षात् विभावादि हों, किन्तु जिन रसोंके विभावादि श्रीकृष्ण नहीं होते उनको वे रस नहीं मानते।

तत्र हास्यानुरसः —

ताण्डवं व्यधित हन्त कक्खटी
सर्कटी भ्रुकुटिभिस्तथोद्धुरम् ।
येन वल्लवकदम्बकं बभौ
हासडम्बरकरम्बिताननम् ॥१०२६॥

अथाद्भुतानुरसः—

भाण्डीरकक्षे बहुधा वितण्डां-
वेदान्ततन्त्रे शुकमण्डलस्य ।
आकर्णयन्निर्निमिषाक्षिपद्मा
रोमाञ्चिताङ्गश्च सुरर्षिरासीत् ॥१०३०॥

एवमेवात्र विज्ञेया वीरादेरप्युदाहृतिः ॥

श्रीकृष्णके अतिरिक्त भक्तादिके विभाव होने पर वे रसोंको अनुरस ही मानते हैं ।

वहाँ [अनुरस निरूपणमें] हास्यानुरस [जैसे]

कक्खटी नामक वानरी ने भ्रकुटियोंसे ऐसे जोरसे ताण्डव किया जिससे कि गोपका समुदाय हाससे युक्त मुख वाला होकर सुशोभित हुआ ॥१०२९॥

यहाँ हासके विभावादि श्रीकृष्णसे रहित हैं । अतः हास्य अनुरस ही है ।

अब [हास्यानुरसके उदाहरणके बाद] अद्भुत अनुरस [जैसे]—

भाण्डीर वन में [लतादियों पर बैठे हुए] तोतोंके समुदाय की वेदान्तशास्त्रमें अनेक प्रकारकी वितण्डाको सुनते हुए देवर्षि [नारदजी] निर्निमेष लोचन एवं रोमांचयुक्त शरीर वाले हो गये ॥१०३०॥

"स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा"

न्यायदर्शन १ अ०, २ आ०, ३ सूत्र

इस सूत्रानुसार प्रतिपक्षस्थापनाहीन 'वाद' वितण्डा कहा जाता है । भाण्डीर वनमें तोते भी इसी प्रकार वेदान्तोंके विषयमें वितण्डा कर रहे थे । 'वाद' चेतनायुक्त एवं विज्ञ व्यक्ति ही कर सकता है क्योंकि 'वाद' का लक्षण न्यायदर्शनमें इस प्रकार बतलाया है—

"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः"

न्यायदर्शन १ अ०, २ आह्निक, १ सूत्र

अर्थ—प्रमाण एवं तर्कों द्वारा स्वपक्ष-साधन एवं परिपक्ष-खण्डन तत्पर सिद्धान्तका अविरोधी प्रतिज्ञा आदि पाँचों अंकोंसे युक्त पक्ष तथा प्रतिपक्षके परिग्रहको वाद कहते हैं ।

वह शुकादि पक्षियों द्वारा अशक्य ही है, किन्तु वेदान्त जैसे गहन सिद्धान्तमें शुकसमूहका वितण्डावादमें प्रवीण होना आश्चर्यजनक है ही क्योंकि लोकातीत वस्तु ही आश्चर्यजनक होती है । अतः यहाँ नारदजीमें अद्भुत रस परिलक्षित हो रहा है । उसका आलम्बनविभाव शुक-मण्डल, वेदान्तसिद्धान्तके विषयमें बहुधा वितण्डाश्रवण उद्दीपन रोमांचादि अनुभाव हैं ।

आलम्बन शुक हैं, अतः यहाँ अद्भुत अनुरस है ।

ऐसे ही यहाँ [अनुरस में] वीर इत्यादि रसोंके उदाहरण जानने चाहियें ॥२०½॥

अष्टावमी तटस्थेषु प्राकट्यं यदि बिभ्रति ॥२१॥
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदाऽप्यनुरसा मताः ॥

अथापरसः—

कृष्णतत्प्रतिपक्षाश्चेद्विषयाश्रयतां गताः ॥२२॥
हासादीनां तदा तत्र प्राज्ञैरपरसा मताः ॥

तत्र हास्यापरसः—

पलायमानमुद्वीक्ष्य चपलायतलोचनम् ।
कृष्णमाराज्जरासन्धः सोल्लुण्ठमहसीन्मुहुः ॥१०३१॥

एवमन्येऽपि विज्ञेयास्तेऽद्भुतापरसादयः ॥२३॥
उत्तमास्तु रसाभासाः कैश्चिद्रसतयोदिताः ॥

तथा हि—

भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन ॥२४॥

कृष्णादि विभाव इत्यादिके द्वारा भी यदि ये आठों रस तटस्थोंमें प्रकटताको धारण करते हैं, तो भी अनुरस ही माने जाते हैं ॥२१½॥

पहले प्रतिपादित हास्य इत्यादि सातों गौण रस एवं शान्तरस यदि कृष्णादि विभावादि के द्वारा भी तटस्थोंमें प्रकट होते हैं तो भी इनको अनुरस ही माना जाता है ।

अब [अनुरसनिरूपणके अनन्तर] अपरस [निरूपण करते हैं]

जब हासादि रसोंके कृष्ण और उनके प्रतिपक्षी विषय एवं आश्रय होते हैं तब वहाँ विज्ञों ने उन्हें अपरस माना है ॥२२½॥

यदि हास इत्यादिके विषय श्रीकृष्ण और उनके विरोधी (शत्रु) उस रसके आश्रय होते हैं तो वे अपरस होते हैं, यह विज्ञोंका मत है ।

अर्थात् जहाँ श्रीकृष्णको देखकर शत्रुओं द्वारा किये हासादिका वर्णन होता है वहाँ वे हासादि अपरस माने जाते हैं ।

वहाँ हास्य अपरस [जैसे]—

चंचल एवं विशाल नेत्रों वाले कृष्णको [युद्ध में से] दूरसे भागता हुआ देखकर जरासन्ध बारम्बार जोर-जोर से हँसा ॥१०३१॥

यहाँ हासका आश्रय जरासन्ध एवं विषय (आलम्बन विभाव) श्रीकृष्ण हैं । अतः यह हासापरसका उदाहरण है । 'आराद् दूरसमीपयोः' इस कोशानुसार 'आरात्' पदका समीप अर्थ भी हो सकता है ।

ऐसे ही अन्य अद्भुतापरस इत्यादि होते हैं जो [स्वयं] जानने चाहियें ॥२३॥

किन्हीं [आचार्यों] ने रसाभासोंको रसताके कारण उत्तम कहा है ॥२३½॥

कोई-कोई आचार्य यह भी कहते हैं कि रसाभास निम्न श्रेणीके नहीं होते क्योंकि उनमें भी रसता रहती है । अतः वे भी रसके समकक्ष ही होते हैं ।

जैसा [रसाभासोंकी रससे समकक्षता में प्रमाण] कि

सम्पूर्ण भाव तथा भावाभास एवं रसाभास, ये सब ही रसनके कारण रसज्ञों ने रस ही कहे हैं ॥२४½॥

अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥
भारत्याद्याश्चतस्रस्तु रसावस्थानसूचिकाः ॥२५॥
वृत्तयो नाट्यमातृत्वादुक्ता नाटकलक्षणे ॥

रसाभासोंके विषयमें साहित्यशास्त्रमें दो मत दृग्गोचर होते हैं। एक मत तो यह है कि जैसे सद्हेतुता एवं हेत्वाभासता एक ही हेतु में नहीं रह सकती वैसे ही रसता एवं रसाभासता एक में नहीं रह सकती अर्थात् रस एवं रसाभास पृथक्-पृथक् होते हैं। रसाभास रस नहीं होते, किन्तु वे उनसे पृथक् तथा निम्न श्रेणीके होते हैं। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि निर्मल ही रस होता है, किन्तु रसाभासोंमें निर्मलता न होकर अनुचितता ही रहती है। अतएव वे रस नहीं होते। अतएव 'अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्' (रसगंगाधर, प्रथमानन) यह वे रसाभासका लक्षण भी करते हैं।

जहाँ अनुचितता है वहाँ रसता कभी भी रह नहीं सकती क्योंकि अनुचितता ही रसभंगका सबसे प्रमुख कारण है, जिसका ध्वन्यालोककार श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यका निर्देश है—

"अनौचित्याद्दते नास्ति रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिवन्धस्तु रसस्यौपनिषत्परा ॥"

द्वितीय मत यह है कि जैसे कि घोड़ेमें अनुचित दोषादि होनेसे उसके स्वरूपका नाश नहीं होता, प्रत्युत् वह घोड़ा ही रहता है; वैसे ही यहाँ दोष होने पर आभास (रसाभास) यह व्यवहार होता है, किन्तु वह रहता रस ही है।

जैसा कि रसगंगाधरके प्रथमाननमें रसाभास प्रकरणमें स्पष्ट उल्लिखित है—

"तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्, निर्मलस्यैव रसत्वात्, हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन इत्येके। नह्यनुचितत्वेनात्मह्यानिः, अपितु सदोषत्वादाभास व्यवहारः, अश्वाभासादिव्यवहारवत्, इत्यपरे ॥"

ग्रन्थकर्ताने इन दोनों मतोंका दिग्दर्शन इस लहरीमें करा दिया है, क्योंकि इस लहरी की प्रथम कारिकामें उन्होंने रसाभासोंका जो लक्षण किया है, उसमें रसाभास रसलक्षणोंसे विकल होते हैं, यह स्पष्ट ही है।

अतः वे रसलक्षणोंसे विकल होनेसे रसोंसे पृथक् होते हैं, इस प्रकार प्रथम मत दर्शित करा दिया है। अब यहाँ वे रस ही होते हैं इस प्रतिपादनसे द्वितीय मत बतला दिया है।

इस प्रकार रसाभास प्रकरण समाप्त होता है। इसमें रसाभासके उपरस, अनुरस एवं अपरस इन भेदोंका निरूपण तथा क्रमशः उनकी उत्तमता, मध्यमता एवं कनिष्ठता सोदाहरण बतलाई गई।

साथ-ही-साथ रसाभासके स्वरूपके विषय में आचार्योंके मत भी प्रदर्शित कर दिये गये हैं। रसकी स्थितिकी सूचक भारती इत्यादि चारों वृत्तियाँ नाट्यमाता [नाट्योपकारिका] हैं। अतः वे नाटकलक्षण में कह दी गई हैं ॥२५½॥

काव्य दृश्य एवं श्रव्य इन दो भागोंमें विभक्त है। जैसा कि आचार्य विश्वनाथने साहित्यदर्पणमें कहा है "दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्।"

इनमें दृश्य अभिनेय होता है एवं नाटकादि इसके ही अन्तर्गत आते हैं।

इति रसामृतसिन्धावुत्तरविभागे रसाभासलहरी ।।९।।

ग्रन्थस्य गौरवभयादस्या भक्तिरसश्रियः ।।
समाहृतिः समासेन मया सेयं विनिर्मिता ।।१।।
गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।।
तुष्यतु सनातनोऽस्मिन्नुत्तरभागे रसामृताम्भोधेः ।।२।।

दृश्यमें भारती, आरभटी, सात्वती, कैशिकी—ये चार वृत्तियाँ रसकी अवस्थितिकी सूचक होती हैं। अतः इनका निरूपण भी आवश्यक है, वह यहाँ क्यों नहीं हुआ—इस शंकाका समाधान ग्रन्थकार इस कारिकामें करते हैं। अथवा वृत्तियोंके निरूपणके बिना ग्रन्थमें न्यूनता दोष रहेगा, अतः वृत्तियोंका निरूपण करना चाहिये, वह यहाँ क्यों नहीं किया गया—इस जिज्ञासाकी निवृत्यर्थ ग्रन्थकार कहते हैं।

वे वृत्तियाँ नाट्यमात्रमें ही उपयोगिनी हैं, अतः मैंने उनका निरूपण "नाटकचन्द्रिका" नामक ग्रन्थमें पृथक् कर दिया है। इससे पूर्वोक्त शंकाका समाधान भी हो जाता है एवं न्यूनता दोषका परिहार भी हो जाता है।

पाठकोंके विनोदार्थ संक्षेपमें इन चारों वृत्तियोंका परिचय दिया जाता है।

श्रृंगारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ।।
चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः।
स्युर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ।।

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लो० १२२-१२३

श्रृंगारमें कैशिकी वृत्ति होती है, वीररसमें सात्वती वृत्ति होती है, रौद्र और बीभत्समें आरभटी वृत्ति होती है एवं भारती वृत्ति सब रसोंमें रहती है।

ये चार वृत्तियाँ सब प्रकारके नाट्योंकी माताके समान हितकारिणी हैं। ये नाटकादिमें नायिकादिके व्यापार-विशेष हैं।

इन वृत्तियोंका उद्गम वेदोंसे हुआ है जैसा कि श्री भरतमुनिने कहा है—

ऋग्वेदाद्भारतीवृत्तिर्यजुर्वेदान्तु सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषाचाथर्वणीमता ।।

ऋग्वेदसे भारती, यजुर्वेदसे सात्वती एवं सामवेदसे कैशिकी वृत्ति उत्पन्न हुई, शेष (आरभटी) अथर्ववेदसे उत्पन्न हुई।

इनका विशेष विस्तार, लक्षणोदाहरणादि दशरूपक, भरतनाट्यशास्त्रादिमें देखना चाहिये।

[इस प्रकार] रसामृत सिन्धुके उत्तर विभाग में रसाभास लहरी समाप्त हुई।

ग्रन्थके गौरवके भयसे इस भक्ति रस-श्री की संक्षेपसे यह समाहृति मैंने रचित कर दी ।।१।।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें गौणभक्तिरसादिनिरूपण नामक चतुर्थ विभाग समाप्त हुआ।

गोपाल [श्रीकृष्ण] के रूपकी शोभाको धारण करते हुए भी रघुनाथ [राम] के भाव

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ गौणभक्तिरसादिनिरूपण-
नामा चतुर्थोविभागः ।

रामाङ्गशक्र १४६३ गणिते शाके गोकुलमधिष्ठितेनायम् ।।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्विटङ्कितः क्षुद्ररूपेण। ।१।।

※ इति श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः ※

।। समाप्तः ।।



[स्वरूप अथवा प्रेम] को प्रकाशित करनेवाले सनातन स्वरूप [भगवान् और सनातन देव] भक्तिरसामृतसिन्धुके इस उत्तरभाग [के समाप्त होने] पर प्रसन्न हों ।।२।।

इसका विशद वर्णन पृ० सं० ११० पर देखना चाहिये ।

राम, अंक, शक्र, इनसे गणित शकवत्सर में गोकुल में रहते हुए मैंने यह भक्तिरसामृतसिन्धु छोटे रूपसे लिख दिया ।।१।।

राम शब्द तीनका वाचक है क्योंकि परशुराम, दाशरथि राम एवं बलराम ये तीनों 'राम' नामसे प्रसिद्ध हैं। अंग शब्द ६ का वाचक है क्योंकि शरीर षडंक ही होता है; एवं इन्द्र चौदह होते हैं ।

'अंकानां वामतो गतिः' इस वचनानुसार १४६३ शक सम्वत् निकलता है। विक्रम संवत् शक संवत्से १३५ वर्ष प्राचीन है। अतः शक संवत्में १३५ वर्ष जोड़नेसे १५९८ विक्रम संवत् होता है। इस प्रकार इस ग्रन्थका निर्माण अबसे ४२१ वर्ष पूर्व गोकुलमें रहते हुए श्री रूप गोस्वामीने किया ।

श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु समाप्त हुआ ।

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, एम० ए० द्वारा विरचित
दीपिका हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।



